सम्पादिका—

राजमाता श्री रूपकुमारी देवी

ओ३म्

वेदान्तपुष्पांजलि

निर्मात्री

राणावत क्षत्रियवंशसमुद्रसमुद्भूत कामधेनु

जयपुर नगराधीश सवाई रामसिंह जी

K.G.C.S.I. की सहधर्म्मिणी, श्री १०८ युत

मेजर जनरल सरसवाई माधवसिंह

देव नरपति G.C.S.I G. G.

I.E.G.C.V.O O'B.E L L.D.

की माता जयपुराधीश्वरी

श्री रूपकुमारीदेवी

जिसको श्रीमती की आज्ञानुसार

पं० छुट्टनलाल स्वामी ने

स्वामी प्रेस मेरठ में छाप कर प्रकाशित

किया

प्रथम संस्करण, सवत् १९७८

ओ३म्

वेदान्तपुष्पाञ्जलि
की
भूमिका ।

वेद का अन्त अथवा वेद का निर्णय है। जिस में उसे वेदान्त कहते हैं। विशेष कर वेदान्तशास्त्र केवल १०. (दश) उपनिषदों के आश्रय से वेदव्यास द्वारा प्रणीत हुआ। वे दश उपनिषद् ये हैं-

ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक। इन के अतिरिक्त अन्यान्य उपनिषदों की भी कहीं २ अति स्वल्प चर्चा आई है। वेदान्त में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय मे चार २ पाद हैं। इस समय वेदान्त सूत्र के ऊपर अनेक भाष्य पाये जाते हैं। उन में श्रीशङ्कराचार्यकृत शारीरक भाष्य अति प्रसिद्ध है। उस शाङ्कर भाष्य के ऊपर भी अनेक व्याख्यायें लिखी गई हैं। उन में रत्नप्रभा और भामती व्याख्यायें देखने योग्य हैं। वेदान्तसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त के संस्कृत भाषा में और प्राकृत (वर्तमान हिन्दी) भाषा में बहुत से ग्रन्थ हैं। वेदान्तशास्त्र के लेखक प्रायः संन्यासी ही हुये हैं। इस शास्त्र पर संन्यासियों ने बहुत कुछ विचार किया है। जिस हेतु यह आध्यात्मिक और ब्रह्मप्रदर्शक शास्त्र है इस कारण इस को भारतवर्षीय ज्ञानी, विज्ञानी, गृहत्यागी, विरागि, वृद्धावस्था में पढते हैं। काशीमें प्रायः संन्यासी महोदय ही इस के पाठक अधिक देख पड़ते हैं।

" ब्रह्मजिज्ञासा "

ब्रह्म किस को कहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि

"जन्माद्यस्य यतः"

जिस से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और भङ्ग होता रहे, उसे ब्रह्म कहते हैं। इस में वक्ष्यमाण श्रुति प्रमाण हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

जिस से ये भूत होते हैं। उत्पन्न ये भूत जिस से जीते हैं और जिस में ये भूत प्रविष्ट होते हैं। उस को जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है।

यहां कोई शुद्ध ब्रह्म को उपादान कारण मानते हैं, कोई ईश्वर को जगत्स्रष्टा कहते हैं और कोई माया का परिणाम यह जगत् है—ऐसा बतलाते हैं और कोई कहते हैं कि न यह सृष्टि हुई, न है और न होगी। केवल भ्रममात्र स्वप्नवत् यह सृष्टि भासती है वास्तविक यह जगत् नहीं है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी कहते हैं और इस प्रसङ्ग में वेदान्तशास्त्र का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है प्रथम अध्याय चतुर्थपाद का

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

यह सूत्र है इस से वेदव्यास सिद्ध करते हैं कि इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही ब्रह्म नहीं, किन्तु उपादान कारण भी वही ब्रह्म है। क्योंकि यह विषय श्रुति की प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से सिद्ध होता है। प्रतिज्ञा वाक्य यह है—

उत तमादेशमप्राक्ष्यो। २। येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्

छा० ६। १। २

अर्थ—क्या तू ने अपने गुरु से इस आदेश को पूछा था जिस से अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है और अविज्ञात ज्ञात होता है।

इस से विदित होता है कि किसी एक के ज्ञान से अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान होजाता है वह उपादान कारण के विज्ञान से सर्व विज्ञान होना सम्भव है, क्योंकि कार्य्य उपादान कारण से भिन्न नहीं होता। किन्तु निमित्त कारण से कार्य्य भिन्न होता है—यह लोक में प्रसिद्ध है। कुम्भकार से घट सर्वथा भिन्न है। कुम्भकार के ज्ञान से घट का ज्ञान नहीं होता; किन्तु मृत्तिका के ज्ञान से घट का ज्ञान होता है। यहां कुम्भकार (कुम्हार) निमित्त कारण और मृत्तिका उपादान कारण है। इसी प्रकार इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है जिस एक के ज्ञान से सर्व वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव है। दृष्टान्त वाक्य ये हैं—

यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्।

छा० ६। १। ४, ५, ६

अर्थ—हे सौम्य! जैसे एक मृत्तिका के पिण्ड के ज्ञान से सब ही मृत्तिकामय वस्तु विदित हो जाती हैं क्योंकि विकार, वचन के बढ़ाने वाला ही है। मृत्तिका ही सत्य है। इसी प्रकार एक लोह के ज्ञान से सब ही लोहमय वस्तु विज्ञात हो जाती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के उपादान कारण के ज्ञान से उसके कार्य्य का ज्ञान हो जाता है। यह लोक में प्रसिद्ध है।

इस से सिद्ध है कि इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है जिस एक के ज्ञान से सकल ज्ञान हो सकता है। श्रुति का प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से जब ब्रह्म उपादान कारण सिद्ध है तो इस से विपरीत ज्ञान करना त्याज्य है। पुनः—

आत्मकृतेः परिणामात्। वे० १। ४। २६

इस सूत्र के भाष्य में श्री शङ्कर कहते हैं। ब्रह्म के विकारस्वरूप से यह जगत् परिणाम है। क्योंकि "तदात्मानम् स्वयमकुरुत" इस वाक्य से ब्रह्म के कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों सिद्ध होते हैं क्योंकि उस ने अपने को किया। यहा "अपना" कर्म है और "किया" इस से उस का कर्तृत्व सिद्ध होता है। पुनः-

योनिश्च गीयते। वे० १। ४। २७

इस से भी ब्रह्म उपादान कारण सिद्ध होता है क्योंकि वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्म योनि अर्थात् उपादान कारण कहा गया है। यथा-

कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। मुण्ड० ३। १। ३

यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। मुण्ड०१।१।६

इत्यादि वाक्यों में योनि शब्द का प्रयोग है। यह शब्द प्रकृति (उपादान) वाचक है यह लोक में प्रसिद्ध है। इत्यादि वेदान्त वाक्य द्वारा उपादान और निमित्त कारण दोनों ब्रह्म हैं-यह दिखलाया गया। इस अर्थ में, जो २ शङ्कायें हो सकती हैं उनका उत्तर प्रत्युत्तर वेदान्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में विस्तार से बतलाया गया है। इस प्रकार वेदान्त शास्त्र द्वारा ब्रह्म का ज्ञान करना उचित है।

जीवविवेक।

ब्रह्म से भिन्न जीव नहीं-यह वेदान्त का सिद्धान्त है। वेदान्त शास्त्र में इसका बहुत कुछ निर्णय किया गया है। प्रथम 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह जीवात्मा ब्रह्म है। 'तत्वमसि श्वेतकेतो' हे श्वेतकेतु वह ब्रह्म तू है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है-इत्यादि श्रुतिवाक्यों से दिखलाया गया है कि जीव और ब्रह्म में अभेद है। पुनः—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाश-कितवादित्वमधीयत एके। वे० २।३।४३

इस सूत्र द्वारा दिखलाते हैं कि ईश्वर का अंश जीव है। जैसे अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग है। जल का अंश बिन्दु है। पृथिवी का अंश मृत्तिका, समुद्र का अंश बुद्बुद, फेन और तरङ्गादिक हैं तद्वत् ईश्वर का अंश जीव है। आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त में कहते हैं कि—

ब्रह्म दासा ब्रह्म दासा ब्रह्मेवेमे कितवाः

कैवर्त का नाम दास है जो ये कैवर्त और अन्यान्य सेवक दासादिक हैं और कितव द्यूत खेलने वाले अति नीच पुरुष हैं वे भी ब्रह्म हैं। यहां हीन जन्तुओं के उदाहरण से नामरूपमय जो यह संसार उसमें प्रविष्ट जो जीव वे सब ब्रह्म ही हैं इसको दिखलाया है। अन्यत्र भी ब्रह्मप्रक्रिया में इसी अर्थ का विस्तार किया गया है। यथा——

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। श्वे० ४।३

तू स्त्री, तू पुरुष, तू कुमार और तू कुमारी है। तू वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है और तू ही सर्वव्यापी होता है। इसी अर्थ को मन्त्र भी कहता है—

पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

यह सर्व स्थावर जङ्गम इस परमेश्वर के अंश हैं और इसके अमृतरूप तीन अंश अपने स्वरूप में स्थित हैं। इस मन्त्र से भी जीव ईश्वर का अंश प्रतीत होता है। यहां पाद नाम अंश का है। गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

हे अर्जुन ! इस जीवलोक में मेरा ही अंश यह सनातन जीव है।

शङ्का—जैसे हस्तपादादिक एक अङ्ग में दुःख होने से अङ्गी देवदत्त दुःखी होता है वैसे जीव अंश में दुःख होने से अंशी ईश्वर भी दुःखी होना चाहिये। इस शङ्का के उत्तर में वेदव्यास कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः। वे० २। ३। ४६

जैसे अङ्गुल्यादि उपाधियों के ऋजु अथवा वक्र होने से आकाश में स्थित सूर्य्यादिप्रकाश ऋजु और वक्र भाषित होता है। परन्तु परमार्थ से न वह ऋजु होता और न वक्र ही। वैसे ही अविद्यादि उपाधि वाले जीव के दुःखी होनेसे ईश्वर दुःखी नहीं होता। इस में स्मृतियों का भी प्रमाण है।

यथा—तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥

अर्थ—जो यह परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण है। वह फलों से लिप्त नहीं होता। जैसे जल से पद्मपत्र अलिप्त रहता और जो यह कर्मपरायण जीव है वह बन्ध और मोक्ष से युक्त होता है। वह लिङ्ग शरीर से युक्तहो गमनागमन करता है। दश इन्द्रिय, पांच प्राण, मन और बुद्धि ये सप्तदश मिलकर लिङ्ग शरीर होता है इसी को यहां राशि कहा है। इसमें श्रुतियां भी प्रमाण हैं।

यथा—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति। श्वे०। ४। ६

अर्थ—उनमें अन्य जीवात्मा स्वादु फल को खाता है किन्तु दूसरा परमात्मा फल को न भोगता हुआ केवल देखता है। पुनः—

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न
लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । कठ । ५ । ११

अर्थ—वह एक है सब प्राणियों का अन्तरात्मा है। वह बाहर है किन्तु लोक के दुःख से वह दुःखित नहीं होता।

अथवा यह जीव आभास माना गया है जैसे जलमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब सूर्य्य का आभास है। वैसे अन्तःकरण में परमात्मा का प्रतिबिम्ब जीव आभास है और जैसे एक जलप्रतिबिम्ब के कांपने से दूसरा नहीं कांपता। वैसे एक जीव के कर्मफल को दूसरा जीव नहीं भोगता। इत्यादि जीव के सम्बन्ध में सिद्धान्त हैं। सिद्धान्तलेश नामके ग्रन्थ में भी अनेक मत दिखलाये गये हैं। संक्षेप से यह हैं। अनादि, अनिर्वचनीया, भूतप्रकृति और चिन्मात्र–सम्बन्धिनी माया है, उसी माया का एक भेद अविद्या है। जो आवरण और विक्षेप शक्तियों से युक्त है और उस का प्रदेश अन्तःकरण रूप भी परिच्छिन्न है। उस माया में जो चित्त प्रतिबिम्ब वह जीवहै। इत्यादि वर्णन इस ग्रन्थ मे विस्तार से किया गया है। इस लिये भूमिका में इस को नहीं बढ़ाती हूं।

मायाविवेक

माया क्या वस्तु है—यह वेदान्त मे विस्पष्ट रूप से निर्णीत है। वेदान्त सिद्धान्त में केवल एक ही वस्तु ब्रह्म है, द्वितीय नही। यदि माया, जीव और मायाविशिष्ट ईश्वर पृथक् २ वस्तु मानी जांय तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी। किन्तु जगत् मे माया का कार्य्य भी देखा जाता है अतः वेदान्त मे कहा जाता है कि यह एक अनादि मिथ्या भूत वस्तु है। यह न सती, न असती, न उभयात्मिका कोई वस्तु है किन्तु अनिर्वचनीया मिथ्याभूता सनातनी भी कही जा सकती है। जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होती है। यदि पूछा जाय कि वह भ्रान्ति कौन सी वस्तु है तो उस का उत्तर जो होगा वही

उत्तर माया के सम्बन्ध में है। यदि भ्रमावस्था में रज्जु को सर्प ही कहें तो भ्रमनिवृत्ति के अनन्तर भी उसे सर्प बना रहना चाहिये। इसहेतु रज्जु सर्प नहीं, यह तो ठीक ही है। किन्तु वह सर्प नहीं तो उस से डर ही क्यों हो अतः वह सर्प है ऐसा कहा जायगा किन्तु वास्तविक सर्प नहीं। यदि वास्तविक हो तो भ्रम के पश्चात् भी वह रहे। इस हेतु भ्रमावस्था में अनिर्वचनीय एक नवीन सर्प की उत्पत्ति होती है। यह कहा जायगा। अधिष्ठान के ज्ञान से उस नवीन सर्प की निवृत्ति हो जाती है अतः इस को अनिर्वचनीय कहते हैं। वैसे ही माया है। अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से उस माया की नि-वृत्ति हो जाती है। इत्यादि वर्णन इस वेदान्तपुष्पाञ्जलि में विस्तार रूपसे किया गया है। ऐ कुमारियो तथा राजपुत्रियो! इस ग्रन्थको ध्यानसे पढ़ो। वेदान्त की समस्त बातें संक्षेप से प्रतीत होजायँगी। मैं उस में कह चुकी हूं कि वेदान्त एक पवित्र ग्रन्थ है इस के पढ़ने से ही इस जीवात्मा का उद्धार हो सकता है। जो नर अथवा नारी इस वेदान्त को पढ़ती हैं उनका कुल और परिवार भी पवित्र होता है, ऐसा कहा गया है। यथा–

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन। अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।

जिसका चित्त परमानन्द परमात्मा में लीन होता है उसका कुल पवित्र हो जाता है, मातृकृतार्था होती और उस से यह पृथ्वी भी पुण्यवती होती है। अन्त में मैं एक श्लोक कह कर इस भूमिका को समाप्त करूंगी और मैं नरनारी समुदाय से निवेदन करती हूं कि इस ग्रन्थ को एक स्त्रीरचित समझ कर ध्यान से पढ़ें और पढ़ावें। मैं अपने निकट न किसी को दुर्जन और न सज्जन ही समझती हूं। जो किसी के लिये दुर्जनता दिखलाता है वह अन्य किसी के लिये सुजनता भी प्रगट करता है। संसार में ऐसा कोई

र नारी नहीं जो सबके लिये दुर्जनही हो। रावण भारतवर्षके लिये अथवा त्रिलोक के लिये राक्षस था, किन्तु लङ्का के लिये अभ्युदय-कारी हितैषी था। वर्तमान उदाहरण लीजिये। भारतवर्षका बादशाह औरङ्गज़ेब मुसलमानी धर्म के लिये और मुसलमानों के लिये अधिक प्रिय था। हां, हिन्दुस्थान के लिये वह हानिकारी था, इस में सन्देह नहीं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। मैं तो यह आशा करती हूं कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से असन्त, शठ, खल और नीचातिनीच, चोर, डाकू, लम्पट इत्यादि भी थोड़े ही काल में सुधर सकते हैं। किसी प्रकार यदि इस ग्रन्थ को सुन भी लेंगे तो भी वे अपने दुष्कर्मों से निवृत्त होकर सुकर्म मे प्रवृत्त हो जायेंगे। परमात्मा से भी मैं यही आशीर्वाद मांगती हूं कि इस ग्रन्थ को पढ़ कर सब कोई शीघ्र शुभ कर्म में निरत हों। यदि ग्रन्थ के पढ़ने से भी अथवा श्रवण से भी शठादिक न सुधरें तो मैं कह सकती हूं कि वह ग्रन्थ स्वयं निष्फल है। सन्त, साधु, ज्ञानी, विज्ञानी तो प्रथम से ही सुधरे हुये हैं, उन्हें ग्रन्थों से केवल कुछ सहायता मिलती है। जब शठादिक भी ग्रन्थ के श्रवण मात्र से सत्पथ में आजांय तब ही उस ग्रन्थ की प्रशंसा है।

अन्त में मैं अपने सब भाइयों और बहिनों से सविनय निवेदन करतीहूं कि इससंसारको तुच्छ समझें और इसजीवनको अति चञ्चल और क्षणिक जान उसपरमात्मामें अपना मन लगावें। उसकी आज्ञा-नुसारचलें, सदा वही ध्यानमें रहे। किसी क्षणमें वह परमप्रिय न भूल जाय। प्रत्येक श्वासप्रश्वास उस परमात्माके स्मरणके साथ गमना-गमन करे। जैसे अति कृपण की प्रीति धनमें, युवा की प्रीति युवती में, योगी का प्रेम परमात्मा में होता है तद्वत् सब का प्रेम उस ईश्वर में हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणिपश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्

सब कोई सुखी हों, सब ही नीरोग हों, सब ही कल्याण देखें, कोई दुःखभागी न हो—यह मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूं। अन्त में यह श्लोक देकर इस भूमिका को समाप्त करती हूं।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले
सर्वापि दत्ताऽवनिः,
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला
देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः
त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि
स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

जिस का मन ब्रह्मविचार में एक क्षण भी स्थिर होता है उसी ने समस्त तीर्थों के जल में स्नान कर लिया। उसको सम्पूर्ण पृथ्वी के दान का फल मिल चुका। वह सहस्रों यज्ञ कर चुका। वह अखिल देव पूज चुका, उस ने संसार से अपने पितरों को उद्धार किया, वही वास्तव में त्रैलोकी द्वारा पूजनीय है। निस्सन्देह वेदान्त शास्त्र वैसा ही है। जिस ने ब्रह्म में अपने मन को स्थिर किया उस के लिये सब कर्म समाप्त हो गये। क्योंकि ब्रह्म से पर कोई वस्तु नहीं।

अन्त में मैं अपनी अध्यापिका श्रीमती गङ्गादेवी जी को शतशः धन्यवाद देती हूं कि जिन के साहाय्य से मैं इस शुभ कर्म को समाप्त कर सकी। श्री अध्यापिका जी ने इस पुस्तक के लिखने की समस्त आयोजना की और संशोधन आदि का भार श्री अध्यापिका जी के ऊपर ही था और जहां २ सन्देह उपस्थित होता था, वहां २ श्री अध्यापिका जी अपने उपदेश से उस को झट से

दूर कर देती थीं। विशेष कर श्री अध्यापिका गङ्गादेवी जी को मैं इस लिये ऋणिनी हूं कि उन्हों ने मुझे ब्रह्मदर्शन करवाया और मैं उन की कृपा से अद्वैतवाद का तत्व समझने लगी। जब से मुझे अभेद ज्ञान हुआ तब से जो आनन्द मुझे प्राप्त हुआ उस के पहले यह आनन्द कभी नहीं मिला था। अतः नमः परमर्षिभ्यः। नमोऽध्यापिकायै। यह कह कर इस भूमिका को समाप्त करती हूं।

इति शुभंभूयात्

निवेदिका—

श्री रूपकुमारी देवी

जयपुरनगराधीश सवाई रामसिंह K. G. C. S. I.

की सहधर्मिणी

तथा

श्री १०८ युत मेजर जनरल सर सवाई माधवसिंह देव नरपति

G. C. S. I. G. C. I. E. G C. V. O., O. D. E.

L. L. D. की माता

स्थान जयपुर]
मास १७ अक्तूबर]

[सं० १९७८ कार्तिक
[सन् १९२१ ई०

ग्रन्थकर्तृ परिचय

भारतवर्ष में जयपुरनगर बहुत दिनों से सुप्रसिद्ध है। इस नगर की रचना के समान उदयपुर आदिक की भी नहीं है। यहांके महाराज सदा सम्राट् के अनुकूल वर्ताव करते चले आये हैं। महाराज की ओर से बहुतसी मन्दिर, पाठशालायें, धर्मशालायें, अनाथालय और चित्रशाला इत्यादि अनेक जनतोपकारिणी संस्थायें विद्यमान हैं। महाराजोचित सदैव दान प्रदान, पूजा पाठ, धर्मानुष्ठान और महोत्सव नित्य होते रहते हैं। इस राजकुल में भगवान् की अति कृपा से श्रीरूपकुमारी देवी जी का आगमन हुआ। जब से श्रीमती जी जयपुर में पधारीं तब से इसका अभ्युदय नित्य बढ़ता ही गया पूर्वजन्मोपार्जित पुण्यबलसे श्रीमतीजी का मन सदैव अधिकतर धर्म्म ही में रहा करता है। संस्कृत, साहित्य और भाषा के ग्रन्थों से आप का बहुत प्रेम रहता है। श्रीमती जी इस कारण सदैव ग्रंथ कर्त्ताओं को किसी न किसी प्रकार साहाय्य पहुंचाती रहती हैं। थोड़े दिन हुये कि अष्टाध्यायी के ऊपर वृत्ति एक पण्डित से बनवायी। इस प्रकार के कार्य्य करवाती रहती हैं। अन्त में श्री रामचन्द्र जी की माता श्री गङ्गादेवी जी के सङ्ग से श्रीमती जी अधिकतर वेदान्तशास्त्र में परिश्रम करने लगीं। प्रायः वेदान्त के तत्वों की आप जैसी विदुषी और पारङ्गता हैं वैसी दूसरी भारत में कोई नहीं है। यह इस ग्रन्थ के अवलोकन से ही विद्वानों को विदित होगा। यद्यपि इस समय श्रीमती जी अति वृद्धा हो गई हैं तथापि सदैव नित्यक्रिया और ध्यान में परायणा रहती हैं। आशा है कि इस ग्रन्थ को पढ़कर लोग पारलौकिक लाभ उठावेंगे। किस परिश्रम से और किस अन्वेषण के साथ यह ग्रन्थ लिखा गया है। पाठक इस को स्वयं पढ़कर जान सकते हैं। ब्रह्म विद्या सर्वविद्या प्रतिष्ठा कहलाती है। इस की श्रेष्ठता स्वयं श्रुति गाती है। यह ब्रह्मविद्या केवल श्रुति के आश्रित है। इस लिये

श्रीमती ग्रन्थकर्त्री महोदया की अधिक और शुभ इच्छा है कि भारतवर्षीय इस के पठन पाठन से लाभ उठावें।

निवेदक—

पं० रुद्रदत्त शर्म्मा

८ कार्तिक संवत् १९७८ स्थान जयपुर

अध्यापिका-परिचय

श्रीमती जी की अध्यापिका का नाम श्री गङ्गादेवी जी है। आप गौड़ब्राह्मण-कुलकमलिनी हैं। इन का जन्मदिन से आज तक सम्पूर्ण काल पवित्र धार्म्मिक अनुष्ठान ही में बीत रहा है। चलते, फिरते, सोते, जागते में यदि यह अपने सामने किसी को देखती हैं तो वह सच्चिदानन्द परमात्मा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय इन्हें प्रतीत होता है। ब्रह्म से क्षणमात्र भी यह अलग नहीं होतीं। इन की मैं कहां तक प्रशंसा करूं।

जब श्री गङ्गादेवी जी ५, ७ वर्ष की हुईं तब से ही विद्या में इन की रुचि अधिक पाई गई। दोहे, चौपाई और संस्कृत के छोटे २ श्लोक झट स्मरण कर लिया करती थीं। अपनी कन्या की तीक्ष्ण बुद्धि और शास्त्र की ओर झुकाव देख संस्कृत और हिन्दी भाषा दोनों स्वयं पिता पढ़ाने लगे। भाषा में थोड़े ही दिनों में अतिशय निपुण हो गईं। संस्कृत का अध्ययन भी बराबर श्री गङ्गादेवी जी करती रहीं।

जब श्वशुरकुल में आईं तब भी अपने सकल गृहकर्म्म को करके अवकाश पाने पर वेदान्तसम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ा करती थीं। वेदान्तशास्त्र ने इन के मन को अपनी ओर बहुत आकृष्ट किया। स्वाध्याय में यह सदा लीना हैं। अग्निहोत्र, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नियमपूर्वक होने लगे। यद्यपि ब्राह्मण के गृह पर सदा नित्य नैमित्तिक इत्यादि कर्म होते ही रहते हैं तथापि श्रीमती जी

का जब से श्वशुरकुल में प्रवेश हुआ तब से धार्मिक अनुष्ठान और भी बढ़ते हो गये। पूजा, पाठ, यज्ञ और व्रत इत्यादि शुभ कर्मों से गृह और भी पवित्र होता गया।

जब इनके उदर से श्री रामचन्द्र जी की उत्पत्ति हुई तब से इन के अभ्युदय, धन, धान्य, सम्पन्नता अधिक २ बढ़ती गई। श्रीमती जी अपने बालक को ५ वर्ष के पश्चात् स्वयं संस्कृत और भाषा पढ़ाने लगीं। पश्चात् रामचन्द्र जी की शिक्षा कुछ दिन पिता के अधीन तत्पश्चात् अपने आचार्य्य के अधीन रही। जैसा कहा है कि "मातृमान्, पितृमान्, आचार्य्यवान्, पुरुषोवेद" तदनुसार सब शास्त्रोंके तत्ववित् श्रीरामचन्द्र जी हुये, जयपुरके कोई पं० उनके साथ ठीक तर्क नहीं करसकते थे; तर्कद्वारा सब पंडितोंको परास्त करदिया करतेथे। जयपुरमें पं० श्री रामचन्द्र जी तर्कशिरोमणि नाम से प्रसिद्ध हुये। जयपुराधीश की ओर से उच्च अधिकार पर नियुक्त हुये। श्री गङ्गादेवी जी के पौत्र श्री प्रभाकर जी भी बड़े सुयोग्य हैं। वङ्ग विद्या में श्री प्रभाकरजी ने अच्छी निपुणता प्राप्त की है। यद्यपि इस समय रामचन्द्र जी का इस लोक में वास नहीं है परलोक में विराजमान हैं। सुपुत्र रामचन्द्र जी की मृत्यु से श्री गङ्गादेवी जी को असह्य वेदना हुई तथापि "बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा" यह जान किसी प्रकार मन को थांभा और अपने सामने पौत्रों को देख पुत्रशोक को भूल परमात्मा के ध्यान में लीन रहती हैं। पुत्रवत् ही श्रीमती जी की सेवा में पुत्रवधू और पौत्र श्री प्रभाकर जी इत्यादि रहते हैं। आप सदा जयपुराधीश्वरी के अध्ययन में सहायता देती हैं। इनकी सहायता से यह वेदान्तपुष्पाञ्जलि ग्रन्थ लिखा गया है।

। इति शुभम् ।

ओ३म्

वेदान्तपुष्पांजलिः

संज्ञाप्रकरणम्

वेदान्त की कुछ उपयोगिनी संज्ञाओं के लक्षण,* लक्ष्य और भेद यहां सक्षेप से लिखे जाते हैं।

द्विविध संज्ञाएं

ये वक्ष्यमाण संज्ञाएं दो प्रकार की हैं—

१—अध्यारोप २—अज्ञान ३—अज्ञानशक्ति

"नोट*—असाधारणधर्मो लक्षणम्।" जिसका जो असाधारण धर्म होता है वही उस का लक्षण कहलाता है। जैसे—गन्धवती पृथिवी। पृथिवी का असाधारण धर्म गन्ध है अर्थात् आकाश, वायु, तेज और जल इन चार महाभूतों का गन्ध गुण नहीं। गन्ध केवल समवाय सम्बन्ध से पृथिवी में ही रहता है इस हेतु पृथिवी को गन्धवती कहते हैं। न्यायशास्त्रकी रीतिसे "गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्।" इस प्रकार भी कर सकते हैं। लक्षण भी दो प्रकार का है "१—तटस्थ, २—स्वरूप" प्रायः तटस्थ लक्षण ही सर्वत्र किया जाता है क्योंकि स्वरूप का ज्ञान अति कठिन है। पृथिवी के कारण परमाणु से लेकर विस्तृत और विकसित सूर्यादि पर्यन्त उसका क्या स्वरूप है इस का निर्वचन करना सहज कार्य्य नहीं। तथापि बाह्य आकृति और जाति आदि भेदों को लेकर स्वरूप लक्षण किया जाता है॥

४-ज्ञान ५-जगत् ६-परिणाम ७-विभूति ८-देह ९-कैवल्य १०-पदार्थ ११-अविद्या १२-संशय१३-असंभावना१४-विपरीतभावना १५-संन्यास १६-वैराग्य १७-निग्रह १८-अहङ्कार, इत्यादि ।

१ अध्यारोप

सू०-वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः ।

वस्तु में अवस्तु के आरोप का नाम अध्यारोप है उदाहरण-जैसे रज्जु में सर्प का, शुक्ति में रजत का, किरण सम्मिलित बालुका आदिकों में जल का जो आरोप और इस प्रकार के अन्यान्य भ्रम उसी का नाम अध्यारोप है। वेदान्त पक्ष में एक ही वस्तु है जिस का नाम "ब्रह्म" है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् अवस्तु है। उस ब्रह्म में इस जगत् का आरोप करना या जगत् को भासित समझना आरोपहै इसीको "भ्रम।विभ्रम विपर्यय" और "अध्यास" भी कहते हैं। वस्तु एक ही है इस पर जितना विचार करते जायंगे उतनी ही सत्यता मालूम होती जायगी। जरायुज मनुष्यादि, अण्डज विहङ्गादि और ऊष्मज यूका (खटमल) आदि मे समान रूप से खाने, पीने, सोने,भोग विलास करने और राग द्वेष आदि की चेष्टा पाते हैं केवल शरीर की रचना में भेद देखते हैं यह वास्तविक भेद नहीं। जैसे कहीं एक पाठशाला में दो सौ बालक उतने ही प्रकार के वस्त्रादिक पहिने हुए पढ रहे हों सब का एक उद्देश विद्योपार्जन करना है। उसी के लिये शिशुगण चेष्टा कर रहे हैं। यदि उन के ऊपर से वेष उतार लिये जायँ तो समस्त बालक समान दीखेंगे। इसी प्रकार यदि तीनों प्रकार के जीवों के ऊपरी शरीररूप ढांकन या वेष अलग कर दिये जांय तो एक ही प्रकार का कोई चेष्टाकारी जीव प्रतीत होगा। इस लिये शरीररूप ढांकनों से

जो भेद प्रतीत हो रहा है वह वास्तविक नहीं क्योंकि सब की चेष्टा सामन है। अथवा कहीं एक ही प्रकार की बहुतसी मोमवत्तिआं जली हुई विद्यमान हैं किन्तु उन के ऊपर काच के ढांकन सबही भिन्न २ रङ्गों के हैं। इस अवस्था में जितने प्रकार के ढांकनों के रङ्गहोंगे उतनेही प्रकार के मोमबत्तियों के रङ्ग बाहरसे प्रतीत होंगे इसी प्रकार जीवों के कलेवर भिन्न २ हैं किन्तु जीव एक ही हैं क्यों कि सब की चेष्टा समान है। यदि इस पर कोई कहे कि इस के विपरीत भी उदाहरण पाए जाते हैं जैसे एक ही प्रकार के स्वच्छ कांच के बोतलों में जितने रङ्गों के फूल रखते जांयगे उसी २ रङ्ग की बोतल दीखने लगेंगे इसी प्रकार शरीररूपी बोतलो में भिन्न २ प्रकार के कोई चेष्टाकारी चेतन हैं जिन के भेद से शरीरमें भेदहै।-

उत्तर-यह दृष्टान्त अदृष्टान्त है क्योंकि हम ने कहा है कि सब अन्तःकरणों का क्षुधा पिपासा आदि समान धर्म हैं। यदि आन्तरिक चेष्टाकारी जीव कुसुमवत् भिन्न २ होते तो चेष्टा मे भी भेद होता। यदि कहैं कि यद्यपि तीनों प्रकार के जीवों ने आहार निद्रा आदि समान धर्म है तथापि धर्म्माधर्म्म की प्रवृत्ति से मनुष्य चेष्टा में तो बहुत भेद है॥

उत्तर-यह भी भेद सूक्ष्म दृष्टि से विचारित होने पर अभेद ही प्रतीत होगा। प्रथम तो प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थो के देखने से धर्माधर्म का निर्णय करना ही कठिन है। क्योंकि वेद, पुराण, तन्त्र, स्मृति, बायबिल, कुरान, जेन्दावस्था और त्रिपिटक आदि ग्रन्थोंमें परस्पर विरुद्ध धर्म्म व्यवस्था देखते हैं। इसी भारतवर्ष मे शाक, वैष्णव, तान्त्रिक और स्मार्तों मे अनैक्य है और वेदान्त और गीता आदि के बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो ज्ञान होने पर धर्माधर्म की सारी व्यवस्थाओं की समाप्ति हो जाती है "सर्वकर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" इत्यादि इसहेतु कल्पित धर्माधर्म की चेष्टा भेद से भेद मानना उचित नहीं। इस सब का वर्णन विस्तार से तर्काञ्जलि मे रहेगा॥

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इन तीनों में स्वाभाविक या आगन्तुक

दोष होने से ही अध्यारोप होता है। व्यवहार में देखा जाता है कि जो २ वस्तुएं सदृश हैं उनमें ही प्रायः अध्यारोप होता। जैसे रज्जु और सर्प, शुक्ति और रजत बहुत अंशों मे सदृश हैं अतः इन में विभ्रम होता है। एक बात और विचित्र यहां देखते हैं कि सर्प में रज्जु का और रजत में शुक्ति का विपर्य्य नही होता इस का क्या कारण ?

उत्तर–जिस वस्तु का प्रबल संस्कार हो और हानि लाभ का भी प्रबल ज्ञान हो उसीका भ्रम होता है। सर्प के काटने से मनुष्य मरता और चान्दी की प्राप्ति से धनिक होता है अतः सर्पादिकों का संस्कार मनुष्यों के अन्तःकरण पर अधिक सचित है इस लिये दोष रहने से बलिष्ठ वस्तु का निर्बल वस्तु के ऊपर आभास पड़ता है।

यद्यपि भ्रमस्थान शतशः हैं तथापि जिन से प्रत्यक्ष हानि वा लाभ नही प्रतीत होता उस ओर ध्यान भी नहीं जाता। जैसे मेघके श्याम, नील, पीत, श्वेतादि अनेक रूप बदलते रहते हैं। चलती हुई पृथिवी स्थिर भासती है। पूर्व से पश्चिम में आता हुआ सूर्य्य ज्ञात होता है इत्यादि २ शतशः भ्रम हम जीवों को क्लेशित नहीं करते किन्तु स्वल्प सर्परज्जुभ्रम कितना क्लेश देताहै इसका एक मात्र कारण अनादिकालानुभूत मृत्यु संस्कार है। इस लिये रज्जु सर्पका दृष्टांत शास्त्रों के बहुत स्थलो में कहागया है॥

यद्यपि "अध्यारोप अध्यास विभ्रम" और "विपर्य्यय" इत्यादि समानार्थक हैं तथापि कहने में कुछ २ शब्दों का भेद पड़ता है अतः इन का स्वरूप भी यहां दिखलाते हैं॥

ल०–अध्यासो द्विधा ज्ञानाध्यासार्थाध्यास भेदात् अवस्तुनिवस्तुबुद्धिर्ज्ञानाध्यासः असस्तस्मिंस्तद्बुद्धिर्वा अस्वरूपे स्वरूपबुद्धिर्वा।

इत्यादि॥

"ज्ञानाध्यास" और "अर्थाध्यास" भेद से "अध्यास" दो प्रकार का है। इस को शास्त्र में अनेक प्रकार से कहते हैं जैसे जो सर्प नहीं

है उस को सर्प समझना । रज्जु सर्प नहीं है किन्तु उस को सर्प समझलेना ही "अध्यास" है । इसी प्रकार आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का बोध "अध्यास" है । अथवा इस से विपरीत भी कह सकते हैं कि "वस्तुनि अवस्तुज्ञानम् ।" वस्तु में अवस्तु ज्ञान । रज्जुरूप वस्तु में अवस्तु सर्प का ज्ञान । आत्म रूप वस्तु में अनात्मरूप वस्तु का ज्ञान इत्यादि । असरूप मे स्वरूप का ज्ञान इत्यादि शब्दों के हेर फेर से कई प्रकार के लक्षण कह सकते हैं ।

ल०--पूर्वदृष्टसजातीयोऽर्थाध्यासः ॥

जिस वस्तु को पहले देखा है उसी के समान वस्तु का भ्रम होना "अर्थाध्यास" है । जैसे शुक्ति (सीपी) और रजत (रूपा) इन दोनों का पूर्णज्ञान है । तब कहीं पर चमकती हुई शुक्ति देख पड़ी किन्तु शुक्ति का बोध हुआ नहीं उस को रजत समझकर उठाने के लिये दौड़ पड़े इसी का नाम "अर्थाध्यास" है । अथवा "स्वरूपाध्यास" और "संसर्गाध्यास" भेद से "अध्यास" दो प्रकार का है । रज्जु में सर्प का ज्ञान "स्वरूपाध्यास" कहलाता और जहां किसी वस्तु, के सम्बन्ध से भ्रम होता वहां "संसर्गाध्यास" जानना । जैसे स्वच्छ स्फटिक के समीप लाल पुष्प रख दिया जाय तो वह स्फटिक लाल प्रतीत होगा । अथवा "सोपाधिक" और "निरुपाधिक" भेद से "अध्यास" दो प्रकार का है जैसे रक्त कुसुम के संसर्ग से जहां स्फटिक रक्त मालूम होता है वहां "सोपाधिक अध्यास" है और जहां उपाधि के बिना ही भ्रम हो वहां "निरुपाधिक अध्यास" है जैसे रज्जु में सर्प का । पुनः "बाह्याध्यास" और "आन्तरिकाध्यास" के भेद से "अध्यास" दो प्रकार का है । स्फटिक में लोहित भ्रम "बाह्याध्यास" है और आत्मा में कर्तृत्वादि का भ्रम "आन्तराध्यास" है ।

२ अज्ञान

ल०--अध्यासहेतुरज्ञानं कीर्तितं विदुषांवरैः ।
अतोऽज्ञानं समासेन लक्ष्यतेऽत्र विशुद्धये ॥
अनादि भावरूपत्वे सति विज्ञाननिरास्यम् ।

जगदुपादानत्वे सति सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्वम् । विस्पष्टं भासमानत्वे सति अनाद्यनिर्वाच्यत्वम् साक्षाज्ज्ञाननिरास्यत्वम् । इत्यादि ।

पूर्व में जो अध्यारोप या "अध्यास" कहा है, उस का कारण "अज्ञान" ही है ऐसा विलक्षण कहते हैं । वेदान्त शास्त्र में "अज्ञान" शब्द का अर्थ बहुत विलक्षण है इसी अज्ञान का कार्य्य यह सम्पूर्ण जगत् है । इस हेतु इस का लक्षण यहां दिखलाते हैं । १–जो अनादि और भाव रूप वस्तु हो और ज्ञान से जिस का "निरास (नाश)" हो उस को "अज्ञान" कहते हैं । २–अथवा जो जगत्का "उपादान" कारण हो और जिस को न सत् न असत् किन्तु "अनिर्वचनीय" कहते हैं वह "अज्ञान" है । ३–अथवा जो विस्पष्ट भासित हो और अनादि भी हो । तथापि वह क्या है इस प्रकार जिस का निर्देश नहीं कर सकते वही "अज्ञान" है । ४–अथवा जिस का "ज्ञान" बाधक हो वह "अज्ञान" । वेदान्तसार में इस प्रकार कहते हैं ।

अज्ञानन्तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम् ॥

अर्थ–जो सत् और असत् से अनिर्वचनीय हो, त्रिगुणात्मक हो, ज्ञान का प्रतिबन्धक हो और भावरूप हो वह "अज्ञान" है । इसी को पुनः इस प्रकार कोई कहते हैं ।

**नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥**

जिस को न सत् न असत् और न सदसदुभयात्मक कह सकते हैं किन्तु सत् से और असत् से विलक्षण मिथ्या भूत किन्तु सनातन जो वस्तु है उसी को माया कहते हैं "अज्ञान" का ही नाम माया भी है । इसी प्रकार भिन्न २ शब्दों में किन्तु एकार्थद्योतक

अनेक लक्षण उसके हैं। इसी "अज्ञान" को "मूलप्रकृति, अक्षर, अविद्या, तम, माया" आदि भी कहते हैं। यह दो प्रकार का है एक "समष्ट्यज्ञान" और दूसरा "व्यष्ट्यज्ञान।" जैसे वृक्षों के समूह को एक मान लेने से एक वन कहलाता किन्तु उस २ वृक्ष को पृथक् २ समझें तो एक ही वन में सहस्रशः वृक्ष हैं। वृक्षों के समुदाय को "समष्टि" और भिन्न २ एक २ वृक्षको "व्यष्टि" कहते हैं। इस उदाहरण से आप यह फलित निकालें कि कहीं बहुत सी वस्तुवों को मिलाकर एक नाम होता है और कहीं एक ही पदार्थ का एक नाम होता है जैसे "वन, सरोवर, गृह, बाग, ग्राम, नगर, व्याकरण, न्याय" आदि "शास्त्र, जगत्, संसार" आदि "समष्टि" है और "वृक्ष, गौ, महिष, चन्द्र, सूर्य्य, देवदत्त, यज्ञदत्त" इत्यादि "व्यष्टि"। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सबही पदार्थ प्रायः "समष्टि" रूपमें ही भासता है। जैसे "काण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, फल" इत्यादि समुदाय का नाम वृक्ष है पुनः वृक्ष में "वायु, आकाश, पृथिवी, ताप" आदिक भी हैं। तथापि समुदाययुक्त होने पर भी वृक्ष एक वस्तु प्रतीत होती है और ऐसे २ शतशः वृक्षो के एक समुदाय का नाम वन रखते हैं। इत्यादि। यह "समष्ट्यज्ञान" शुद्ध पवित्र है अतः यही ईश्वर का "उपाधि" है। इसी से त्रिभुवन की उत्पत्ति होती है अतः इस को "माया" और "कारणशरीर" कहते हैं। इस में आनन्द की अधिकता है। आत्मा का "आच्छादन" भी करता है अतः "आनन्दमयकोश" और सर्वज्ञानों का लय होने से "सुषुप्ति" और "सूक्ष्म स्थूलप्रपञ्चलयस्थान" कहते हैं और "व्यष्ट्यज्ञान" को "जीव का उपाधि" मलिनता के कारण "अविद्या, आनन्दमयकोश, सुषुप्ति" और "सूक्ष्म स्थूलशरीर लय स्थान" कहते हैं इस समष्टिरूप उपाधि से युक्त चैतन्य को "सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता सर्वान्तर्य्यामी" और "जगत् कारण" कहते हैं और व्यष्टिरूप उपाधि से युक्त चैतन्य को "जीव, प्राज्ञ, अल्पज्ञ, अवच्छिन्न, अन्तःकरणावच्छिन्न" आदि शब्दों से पुकारते हैं। अतएव—

कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

जीव को कार्य्योपाधि और ईश्वर को कारणोपाधि कहते हैं इस कार्य्यकारणता को त्यागकर केवल पूर्णबोध रह जाता है॥

३--अज्ञानशक्ति

तस्याज्ञानस्य द्वे शक्ति विक्षेपावरणे स्मृते।
उद्भावयति यःसर्वं सविक्षेपो निगद्यते॥
आवृणोति यदात्मानं तदावरणमुच्यते॥

व्याख्याः--उस अज्ञान की दो शक्तियां हैं "१—विक्षेपशक्ति" और "२—आवरणशक्ति" कार्य्यजननानुकूल कारणनिष्ठ सामर्थ्यको यहां 'शक्ति" कहते हैं। आकाशादि विविध कार्य्यों को उत्पन्न करने वाले अज्ञान सामर्थ्य को "विक्षेपशक्ति" और आत्मा आदि वस्तुओं का आवरण करनेवाले अज्ञान सामर्थ्यको "आवरणशक्ति" कहते हैं। इस आवरण शक्ति के अनेक दृष्टान्त जानने चाहियें।

१—जैसे सूर्य्य इस पृथिवी से कई एक गुणित बड़ा है तथापि जब अति लघु मेघ बीच मे आजाता है तब वह नहीं दीखता २—जल के अन्तर बहुत मत्स्य आदि प्राणी पड़े रहते हैं किन्तु जलावरण के कारण वे नहीं दीखे जाते ३—पृथिवी के उदर मे अनेकशः कोयले आदि पदार्थ निहित हैं किन्तु वे नहीं जाने जाते। ४—इसी प्रकार अज्ञानरूप आवरण से आत्मा का ज्ञान हम जीवों को नहीं होता। "आवरण" विविध प्रकार के हैं। रात्रि का "अन्धकारछाया" आदि भी "आवरण" है "विक्षेपशक्ति" के सम्बन्ध मे आचार्य्यगण कहते हैं कि:—

विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तंजगत्सृजेत्।

अज्ञान की विक्षेपशक्ति ही सूक्ष्म शरीर से लेकर स्थूल ब्रह्माण्ड को रचती है।

आवरण दो प्रकार का है "१—असत्वापादक २—अभानापादक" वस्तु नहीं है ऐसी प्रतीति कराने वाली जो शक्ति वह "असत्वापादक" और वस्तु का भान नहीं होता ऐसी प्रतीत कराने वाली जो शक्ति वह "अभानापादक*"। ब्रह्म नहीं है इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की "असत्वापादकशक्ति" है और "ब्रह्म भासित नहीं होता" इस व्यवहार

टि०*—मल, विक्षेप और आवरण ये तीनों अन्तःकरणके दोष हैं।

की हेतु अज्ञानको "अभानापादकशक्ति" है। ये दोनों आवरणही हैं। इस को "असदावरण" और "अभानावरण" कहते हैं।

४ ज्ञान
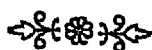
अज्ञाननाशकं ज्ञानं पवित्रं परमं महत्।
सम्यक्परिचयो ज्ञानं पदार्थानां परीक्षया॥
परोक्षं चापरोक्षं च द्विविधं ज्ञानमीरितम्।
अस्ति ब्रह्मेति यज्ज्ञानं तत्परोक्षं विधीयते॥
अहं ब्रह्मेति विज्ञानमपरोक्षन्तु गीयते॥ २॥

उस अज्ञान का निवर्तक केवल ज्ञान है। वह परमपवित्र और महान् है। परीक्षा के द्वारा पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करने का नाम ज्ञान है वह दो प्रकार का है "१-परोक्ष २-अपरोक्ष" "ब्रह्म है" इस प्रकार का ज्ञान "परोक्ष" और "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार का ज्ञान "अपरोक्ष" है। "असत्वापादक" अज्ञान का "परोक्ष" ज्ञान से और "अभानापादक" आवरण का "अपरोक्ष ज्ञान" से विनाश होता है। वेदान्त पक्ष में ज्ञान एक ही है जो "परमात्मस्वरूप" है तथापि व्यवहार दशामें इसके विविध भेद होते हैं। अज्ञान की "आवरणशक्ति" और "विक्षेपशक्ति" पूर्व में कही गई हैं। अब विक्षेपशक्ति की कार्य्य सम्बन्धी संज्ञा कहती हूं।

५--जगत् (१)

उस "विक्षेपशक्ति" का कार्य्य यह अखिल जगत् है। यद्यपि व्यक्ति भेद से यह असंख्य है। तथापि बोध के लिये इसके विभाग कर

टि०—१—"जगत्स्वरूप"

प्रसङ्गतः यहां अति संक्षेप से इस का स्वरूप दिखलाती हूं। यद्यपि अद्वैत पक्ष में अविद्या का परिणाम और ब्रह्म का विवर्तमात्र यह जगत् है। तथापि इस में आचार्य्यों का मतभेद है। रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्व, निम्बार्क, यादव, भास्कर, नीलकण्ठ, आदि अनेक आचार्य मत प्रवर्तक हुए हैं। सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में माधवाचार्य्य ने यादव, भास्कर और नीलकण्ठ के मतों का उल्लेख नहीं कियाहै किन्तु रामानुजाचार्य्य ने वेदार्थसंग्रहमें उनके सिद्धान्त का भी वर्णन किया है अतः उन का मत भी संग्रहणीय है उन में से बौधायनमतानुयायी रामानुजाचार्य्य विशिष्टाद्वैतवादी कहलाते हैं।

(विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टा द्वैतम्)

अव्यक्तनामरूप सहित जो "चित" और "अचित" वह एक विशिष्ट और व्यक्त नाम सहित जो चित् और अचित् वह दूसरा 'विशिष्ट" इन दोनों का जो अद्वैत वह "विशिष्टाद्वैत" ॥ माध्व भेदवादी हैं और निम्बार्क भेदाभेद वादी हैं क्योंकि कार्य्यरूप से जगत् में भेद और कारणरूप से अभेद है अतः भेदाभेद वाद भी एक सिद्धान्त है। विष्णुस्वामी विशुद्धाद्वैत वादी हैं। वल्लभाचार्य इन के ही मतानुयायी कहे जातेहैं। वल्लभ मतभी बहुत प्रसिद्धहै। येही चार सम्प्रदाय हैं। इन चारों सम्प्रदायों में परिणाम वाद काही स्वीकार है। भेद इतना ही है कि रामानुज मत में यह जगत् प्रकृति का परिणाम है और विष्णुस्वामी के मत में ब्रह्म का परिणाम है॥

सकती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलते हैं अतः इन को "चर" और वृक्ष नहीं चलते अतः वे "अचर" हैं। इस प्रकार से "चर" और "अचर" इसके दो भेद हैं। इसी को "स्थावर" और "जङ्गम" कहते हैं जो अपने स्थानको त्याग अन्यत्र गमन नहीं कर सकता वह "स्थावर" और शेष "जङ्गम"। पुनः इस जगत्में कीटसे लेकर सूर्य्य तक अतिस्थूल पदार्थहैं और परमाणु,आकाशआदि अतिसूक्ष्महैं अतः "स्थूल" और "सूक्ष्म" भेद से पुनः यह दो प्रकार का होगा एवं बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् के भेद से दो प्रकार का है।

६ परिणाम

पूर्वरूपविनाशेन रूपान्तरोपलम्भनम्।
परिणामोऽस्ति विख्यातो विज्ञेयोवेदवित्तमैः॥

पूर्वरूप के विनाश से अन्यरूप में प्राप्त होने का नाम "परिणाम" है। यह सर्वत्र विख्यात है और वेदज्ञ पुरुषों को यह अच्छे प्रकार ज्ञातव्य है क्योंकि अज्ञान का परिणाम यह सम्पूर्ण जगत् है। जैसे दूध से दही का और जल से हिम का होना परिणाम है। अंकुर से वृक्ष होना इत्यादि भी परिणाम के उदाहरण हैं, इस का लक्षण इस प्रकार भी है।

१—उपादानसमसत्ताकत्वे सति अन्यथा भावः। २—यद्वाउपादानसलक्षणत्वे सति अन्यथाभावः परिणामः। ३—यद्वाउपादानस्य समस्वभाववान् अन्यथाभावः परिणामः।

उपादान कारणकेसमस्वभाव वाला विकृत रूपका नाम "परिणाम" है। सांख्यशास्त्र मे परिणामवाद की विशेषता है।

परिणाम के भेद

यह परिणाम दो प्रकार का है "१-विकृत २—अविकृत" दुग्ध से दही होना विकृत "परिणाम" और ब्रह्म से जगत् होना अविकृत परिणाम है। यह विष्णुस्वामी का मत है। इस मे शङ्का होती है कि अविकृत ब्रह्म का परिणाम कैसे ? इस पर कहते हैं जैसे सुवर्ण से कुण्डलादि परिणाम अविकृत होता है।

७ विभूति

"विभूति" दो प्रकार की है "१-नित्यविभूति २—अनित्याविभूति"।

"पादोऽस्य सार्वभूतानित्रिपादस्यामृतं दिवि"

इस श्रुतिके अनुसार यह समस्त जगत् "एकपादविभूति" है इसी को "अनित्यविभूति" और "लीलाविभूती" भी कहते हैं। और अवशिष्ट जो त्रिपाद्विभूति वह "नित्याविभूति" है। नित्यविभूति अधः परिच्छिन्न और अनित्यविभूति ऊर्ध्वपरिच्छिन्न है। इस का आशय यह है कि कार्य्यरूप यह जगत् अनित्याविभूतिहै और कारणरूप नित्याविभूतिहै।

८ देह
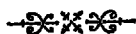
"१-सूक्ष्म २-स्थूल" भेद से देह दो प्रकार का है जिस से सुख वा दुःख का अनुभव है। यद्वा इन्द्रियों और भोगों के आयतन (आश्रय) का नाम "देह" है।

"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"

न्यायसूत्र। चेष्टाओं, इन्द्रियों और तदर्थों के आश्रय का नाम शरीर है अपञ्चीकृत पञ्चभूतो का "कार्य्यसूक्ष्मदेह" और पञ्चीकृत पञ्चभूतो का "कार्य्यस्थूलदेह"। पुनः वह देह दो प्रकार का है। १-समष्टिदेह और २-व्यष्टिदेह।

९ कैवल्य (मुक्ति)

कैवल्य दो प्रकार का है '१-सर्वदुःखों की निवृत्ति २-परमानन्द की प्राप्ति।' ज्ञान से अज्ञान का और उस के कार्य्यों के ध्वंस के अनन्तर शुद्ध ब्रह्मरूप से स्थिति के नाम "कैवल्य, निःश्रेयस, मोक्ष, मुक्ति" आदि हैं। यद्यपि वह एक ही है तथापि इस में दो अंश भासते हैं। लौकिक पुरुष भी कहते है कि अमुक आदमी के सर्व क्लेश निवृत्त होगए अब वह सुखी है। दुःख की निवृत्ति के पश्चात् सुख कहा जाता है अतः कैवल्य दो प्रकार कहा गया है यद्वा "जीवन्मुक्ति' और "विदेहमुक्ति" भेद से कैवल्य दो प्रकार का है।

१०-पदार्थ

पदार्थ दो प्रकार का है "१-दृग् २-दृश्य। एक देखने वाला चैतन्यात्मा दृक् (द्रष्टा) और दूसरा देखने योग्य यह समस्त जगत् "दृश्य" कहा जाता है। "दृग्" को भोक्ता और "दृश्य" को भोग्य कहते हैं।

११-अविद्या

अविद्या दो प्रकार की है "१-मूलाऽविद्या २-तूलाऽविद्या" जो मूल शुद्ध ब्रह्म को ही अच्छादित करे वह "मूलाऽविद्या" और जो घटाद्य-

पहित चेतन को ढांके वह "तूलाऽविद्या" इनमें मूला अविद्या "कार्य्य॰कारणभेदसे" दो प्रकार की है। वस्तु में अवस्तुरूप बुद्धि "कार्य्य॰रूपाअविद्या" और आवरण विक्षेपशक्ति वाली अनादिभावरूपा अविद्या "कारणरूपा है"।

१२ संशय

संशय दो प्रकार का है "१–प्रमाणगत २–प्रमेयगत" यह स्थाणु है या पुरुष है वा कोई बैठा पशु है इत्याकारक जो एक वस्तु मे नाना॰प्रकार का ज्ञान वह "संशय"। ब्रह्ममें वेद की प्रमाणताहै या नहीं यह "प्रमाणगतसंशय" ब्रह्म ही कोई वस्तु है या नही वह एक है वा दो इत्यादि 'संशयप्रमेयगत है।

१३ असम्भावना

असम्भावना दो प्रकार की है '१–प्रमाणगत २–प्रमेयगत" निषेधा॰त्मक संशयका नामही "असम्भावनाहै।" यदि ब्रह्मघटपटादिवत् सिद्ध वस्तु है तो उस के लिये श्रुतिकी आवश्यकता नही प्रत्यक्षादिप्रमाण ही अपेक्षित है इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'प्रमाणगत असम्भा॰वना है।" और ब्रह्म शुद्ध आनन्दरूप है वह इस अशुद्ध जड जगत्का कारण कैसे हो सकता। नहीं है। इत्याकारक चित्तवृत्तिका नाम "प्रमेयगत असम्भावना' है॥

१४ विपरीत भावना

विपरीत भावना दो प्रकार की है "१–प्रमाणगत २–प्रमेयगत।" अवस्तु में वस्तुबुद्धि का नाम विपरीत भावना है। इस को 'अध्या॰ध्यास" भी कहते हैं। शुद्ध ब्रह्म न तो त्याज्य है और न ग्राह्य है ऐसे अनिर्वचनीय ब्रह्म की प्रतिपादिका यदि श्रुति है भी यह स्वर्ग होहै।

अतः श्रुति कर्मपरक है ज्ञानपरक नहीं इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम "प्रमाणगत विपरीत भावना" है। यह जगत् त्रिगुणात्मक अशुद्ध और जड़ है अतः इस का कारण भी कोई वैसो ही है शुद्ध ब्रह्म नहीं इस प्रकार की जो निश्चयात्मिका चित्तवृत्ति वह ब्रह्मात्मक "प्रमेयगत विपरीतभावना" है। इन सबको लौकिक दृष्टान्तों में घटाना चाहिये।

१५ संन्यास

संन्यास दो प्रकार का है "१-विद्वत्संन्यास २-विविदिषासंन्यास" विधिपूर्वक विहित कर्मों के त्याग का नाम "सन्यास" है प्रथम श्रवण मननादि द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार करके चित्तविश्रान्ति के लिये जीवन्मुक्ति के उद्देश से जो संन्यास किया जाता है वह "विद्वत्सन्यास" और विवेकादि साधनसम्पन्न हो कर तत्वज्ञान के उद्देश से जो सन्यास किया जाता है वह "विविदिषासन्यास" है।

१६ वैराग्य

"१-पर २-अपर" भेद से दो प्रकार का है। कहा गया है कि-

यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ।।

जब ही मन में वैराग्य हो तब ही सन्यास लेवे अन्यथा मनुष्य पतित हो जाता है। विषयवैतृष्ण्य का नाम "वैराग्य" ब्रह्मज्ञान को छोड़ अन्यान्य विषयों से वितृष्णता का नाम "अपरवैराग्य" है और ब्रह्मज्ञान साधारण विषय में वैतृष्ण्य का नाम पर वैराग्य है।

१७ निग्रह

निग्रह दो प्रकार का है १-"हठनिग्रह २-क्रमनिग्रह" विषयों से इन्द्रियोंको पृथक् करना निग्रह कहाता है। ये दोनों निग्रह वैराग्य और अभ्यास से सिद्ध होता है।

१८ अहङ्कार

अहङ्कार दो प्रकार का है १–"सामान्य २–विशेष" अभिमानात्मिका चित्तवृत्ति का नाम "अहङ्कार" है। सामान्यरूप से, मैं विद्वान् हूं मैं ज्ञानी हूं इत्यादि प्रकार की चित्तवृत्ति "सामान्याऽहङ्कार"। मैं ब्राह्मण हूं मैं क्षत्रिय हूं इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम "विशेषाऽहङ्कार है।

इस प्रकार अति सक्षेप से द्विविध संज्ञाओं का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इस के अतिरिक्त द्विविध संज्ञाएं बहुत हैं। जैसे सौरभ और असौरभ भेद से गन्ध दो प्रकार का है। वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेदसे शब्द दो प्रकार का है। स्वर और व्यञ्जन भेद से अक्षर दो प्रकार का है। इत्यादि

ये नीचे कथित संज्ञाएं तीन प्रकार की हैं:–

१–ताप २-ब्रह्म ३–जीव ४-शरीर ५–अवस्था ६–कारण ७-कर्म ८–पुण्य ९-प्रारब्ध १०-संबंध ११-दुःख १२-गुण १३-माया १४-सत्ता १५-त्रिपुटी १६-प्रतिबन्धक १७-प्रपञ्च १८-परिच्छेद १९-भेद २०–वासना–२१–तत्त्व २२–आनन्द २३–दोष २४–लक्षणादोष २५--प्रमात्रादि दोष २६–कर्म २७–आत्मा।

१–ताप

जिस वस्तु से यह जीव त्रास पाता है वह ताप :सन्ताप आदि कहलाता है। इस जगत् में सन्ताप नहीं है यह भी नहीं कह सकते

केवल ताप ही है यह भी नहीं। केवल सुख ही है सो भी नहीं। यह प्रपञ्च मिश्रित है इस में सन्देह नही। यदि कोई जिज्ञासा करे कि इस जगत् में भय कहां से आया तो इस का उत्तर अति सरल है। आस्तिकगणों के विचार के अनुसार क्रूर अतिक्रूर और मृदु अतिमृदु आदि सब प्रकारके जीव स्व स्व कर्म्म के अनुसार उत्पन्न किए गए। वे क्रूर हिन्सक जन्तु मृदु दुर्बल जन्तु को खाने लगे अतः खाद्य प्राणियोंमें महात्रास उत्पन्न हुआ। अथवा यों कहिये कि ईश्वर ने किन्हीं प्राणियों को खाद्य और किन्ही को खादक ही रचा, अतः अनादि काल से यह ताप भी चला आता है। यद्वा प्राणीमात्र में क्षुधा स्वभावतः विद्यमान है। अतः क्षुधा की निवृत्ति के लिये जिस जन्तु को अनायास जो वस्तु मिलने लगी वही उस का भोजन बन गया। क्या आश्चर्य्य है कि बहुत से प्राणी अपने बच्चोंको भी खालेते हैं। सुना है कि केकरों (१) के बच्चे अपनी माता को ही खाजाते हैं। अतिविचारशील मनुष्य जातियां भी स्वेतर सकल प्राणियोंको खाकर भी नहीं अघाती। इतना ही नहीं किन्तु मनुष्य को मनुष्य से जितनी हानि पहुंची है उतनी किसी से भी नहीं हुई। पूर्व समयसे यह रीति चली आती है कि एक देशवासी दूसरे देशवासियों को अपना महाशत्रु समझते आए। इस लिये जो देशबलिष्ठ हुआ वह अन्यान्य देशों के मनुष्यों के संहार करने में तत्पर होता आया। कभी २ एक २ राजा पृथ्वी पर के आधे मनुष्यों को संहार कर गए। दुर्बल जातियां सर्वदा सताई गई। इस अवस्था में अनुमान कर सकते हैं कि मनुष्य में कितना त्रास उत्पन्न हो सकता है अभी (१९१४) में जर्मन और अङ्गरेज़ों मे कैसा रोमहर्षण महासंग्राम उपस्थित हुआ। कहा जाता है कि पृथिवी पर के चार भागों में से तीन भागों के पुरुष महाभारतमें मारे गए। रामचन्द्र के युद्धसे लङ्का देश का ही क्षय होगया। तब से ही कहने लगे कि–

---

(१) कर्कट, कुलीरक

" रामरावणयोर्युद्धम् राम रावणयोरिव "

इस के अतिरिक्त नाना प्रकार के क्लेश इस में देखे जाते हैं जो "आध्यात्मिक आधिभौतिक" और " आधिदैविक" भेद से तीन प्रकार के गिने गए हैं जिनका निरूपण आगे किया जायगा आध्यात्मिक ताप दो प्रकार का है "१-शारीर २-मानस" ज्वर, प्लेग, विसूचिका आदि "शारीरताप" और धन हरण, पुत्रादि मरण, आदिकों से जो मन के ऊपर आघात पहुंचता है उस से जो नाना क्लेश होता है वह " मानसिकताप हैं "। भाव यह है कि प्रतिकूल वेदनीय को " ताप " कहते हैं॥

क्षयातिशयच्युतितापभेदात्तापस्त्रिधा ।

वह तीन प्रकार का है "१-क्षयताप २-अतिशयताप ३-च्युतिताप"। धन सन्तान आदिकों के नाश जन्य ताप " क्षयताप " स्वजातियों की उत्कर्षता और अपनी अपकर्षता देख जो मनस्ताप वह "अतिशयताप" और निज उत्कर्षता पाकर पुनः उस से पतन का जो भय वह "च्युतिताप" है।

२-ब्रह्म

विराड् हिरण्यगर्भेश भेदाद्ब्रह्म त्रिधा ।

उन तापों की निवृत्त्यर्थ जो सदाध्येय है वह ब्रह्म उपाधि भेद से तीन प्रकार का है "१-विराट् २-हिरण्यगर्भ ३-ईश"जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयका जो कारण वह "ब्रह्म"। यह उसका तटस्थ लक्षण है, सत्य ज्ञान और आनन्द इत्यादि उसका स्वरूप लक्षण है। समष्टि (१) स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोपहित चैतन्य को " विराट् " समष्टि

(१) टि०-समष्टि स्थूल शरीर २-समष्टिसूक्ष्म शरीर ३-समष्टि कारण शरीर।

सूक्ष्म कारण शरीरोपहित चैतन्य को "हिरण्यगर्भ" और समष्टिकारण शरीरोपहित चैतन्य को "ईश" कहते हैं ॥

३-जीव

प्राज्ञतैजसविश्वभेदाज्जीवस्त्रिधा ।

उपाधि भेद से जीव तीन प्रकार का है "१-प्राज्ञ २-तैजस ३-विश्व" ।अविद्योपहित चैतन्य को । यद्वा अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को। यद्वा अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य को। यद्वाअन्तःकरणोपहित चैतन्य को । यद्वा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को । यद्वा अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य "जीव" कहते हैं । यह जीव तीन शरीरों से युक्त है "व्यष्टिस्थूलशरीर, व्यष्टिसूक्ष्मशरीर और व्यष्टिकारणशरीर" । इन में व्यष्टि स्थूल सूक्ष्मकारण शरीरत्रयोपहित चैतन्य को "विश्व" व्यष्टिसूक्ष्म-कारण शरीर द्वयोपहित चैतन्य को "तैजस" और व्यष्टि कारण शरीर मात्रोपहित चैतन्यको "प्राज्ञ" कहते हैं । जीव ध्याता और ब्रह्मध्येय है।

४-शरीर

स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरभेदाच्छरीरं त्रिधा ।

उस जीव का भोगायतन शरीर तीन प्रकार का है "१-स्थूल २-सूक्ष्म ३-कारण" यह शरीर क्षेत्र क्योंकि इस में धर्माधर्म बीज बोए जाते हैं और शरीरी क्षेत्रज्ञ कहाता है ॥

५-अवस्था

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदादवस्थात्रिधा ।

उस जीव की तीन अवस्थाएं हैं "१-जाग्रत् २-स्वप्न ३-सुषुप्ति"

जिस में इन्द्रियों की सहायता से "शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध," विषयों को क्रम और विवेक पूर्वक भोग करते हैं वह "जाग्रदवस्था" । जिसमें बाह्येन्द्रिय के विषयों की समाप्तिकर शरीर के अभ्यन्तर ही कुछ काल के लिये यह जीव नाना सृष्टियों को रच २ कर सुख दुःखमय सागर में निमग्न होता है वह "स्वप्नावस्था" । और जिस में दोनों अवस्थाओं की क्रीडाओं को समाप्त कर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है वह "सुषुप्त्यवस्था" कहलाती है । कोई २ पूर्वोक्त तीनअवस्थाएं और "१-मूर्छा २-मरण और ३-समाधि" मिला कर छः अवस्थाएं कहते हैं ।

६- करण

मनोवाक्काय भेदात्करणं त्रिधा ।

करण तीन प्रकार का है "१-मन २-वाक् ३-काय" इन तीनों से जीवात्मा नाना व्यवहार करता है ।

७-कर्म

पुण्यपापमिश्रितभेदात्कर्म त्रिधा ।

जीव का निष्पादनीय कर्म तीन प्रकार का है "१-पुण्य २-पाप३-पुण्यपापमिश्रित" शुभाशुभ क्रियाजन्य जो अदृष्ट वह कर्म कहलाता है । वेदविहित क्रिया जन्य "पुण्यकर्म" इसीको धर्म कहते हैं । जो वेदप्रतिषिद्ध क्रिया जन्य हो वह "पापकर्म" इसी को अधर्म कहते हैं । जो विहित निषिद्धोभयात्मक क्रिया जन्य कर्म हो वह मिश्रित ।

८-पुण्य

उत्कृष्टमध्यम सामान्य भेदात्पुण्यं त्रिधा ।

पुण्य तीन प्रकारकाहै "१-उत्कृष्ट २-मध्यम ३-सामान्य" जिससे

परमोत्तम शरीर की प्राप्ति हो वह "उत्कृष्टपुण्य" जिससे मध्यम शरीर की प्राप्ति हो वह "मध्यम पुण्य" और जिस से सामान्य शरीर की प्राप्ति हो वह "सामान्यपुण्य" इसी प्रकार पाप तीन प्रकार का है "१–उत्कृष्ट २–मध्यम ३–सामान्य" जिससे गुच्छ, गुल्म, वृश्चिक, सर्पादिकों का देह मिले वह "उत्कृष्टपाप" जिससे वनस्पति आम्रादि, उद्भिज्जका देह मिले वह "मध्यमपाप" और जिससे लोकमान्य, गौ अश्व आदि का देह मिले वह "सामान्यपाप" इसी प्रकार मिश्रित भी तीन प्रकार का हो सकता है।

९–प्रारब्ध

इच्छाऽनिच्छापरेच्छा भेदात्प्रारब्धं त्रिधा।

प्रारब्ध कर्म तीन प्रकार का है "१–इच्छाप्रारब्ध २–अनिच्छाप्रारब्ध ३–परेच्छाप्रारब्ध" फलोन्मुख कर्म का नाम प्रारब्ध है। अपनी इच्छा से भिक्षा मांग लेना "इच्छाप्रारब्ध" समाधि आदि अवस्था में शिष्यों द्वारा जो भोजनादि प्राप्त हो वह "परेच्छाप्रारब्ध" अकस्मात् जो कण्टकादिजन्य वेधादि वह "अनिच्छाप्रारब्ध है।"

१०–सम्बन्ध

सामानाधिकरण्य विशेषणविशेष्यता लक्ष्य लक्षणभावभेदात्सम्बन्धस्त्रिधा।

"१–सामानाधिकरण्य २–विशेषणविशेष्यता ३–लक्ष्यलक्षणभाव" भेद से सम्बन्ध तीन प्रकार का है। प्रवृत्ति और निमित्त भिन्न २ भी हो तथापि जिन शब्दों का एकार्थ में अन्वय हो वह "सामानाधिकरण्य" इन ही तीन सम्बन्धों से युक्त वाक्यद्वारा लक्षणा करके "अखण्डार्थ"

बोध होता है। जो अर्थ सजातीय विजातीय और स्वगत भेद शून्य हो वह "अखण्ड" कहलाता है। यद्वा सत्य, ज्ञान, अनन्त इत्यादि जो अनेक अपर्य्याय शब्द उन से जो प्रकाश्य अर्थ हो। यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थ अर्थात् एक ही वस्तु परक हो उसे "अखण्डार्थ" कहते हैं। वह "भागत्यागलक्षण" से होता है। यथा "शक्य, वाच्य, अभिधेय" आदिशब्द एकार्थक हैं। जिस अर्थमें पद की शक्ति हो वह अर्थ शक्य कहलाता है। जैसे मनुष्य एकपद है इसकी शक्ति मनन करने वाले मनुष्य व्यक्ति में है अतः मनुष्य व्यक्ति को शक्य, वाच्य और अभिधेय आदि कहते हैं। और मनुष्य शब्द को पद, वाचक, अभिधान, नाम, संज्ञा आदि कहते हैं। शक्य के सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। जहां पद की शक्ति से अर्थ का बोध न हो वहां ही लक्षणा होतीहै जिस का बोध लक्षणासे हो वह "लक्ष्यार्थ" कहलाताहै। लक्षणा दो प्रकार की है "१-केवललक्षणा २-लक्षितलक्षणा" शक्य के साक्षात्सम्बन्ध को केवललक्षणा और परम्परा सम्बन्ध को लक्षित लक्षणा कहते हैं। लक्षितलक्षणा का उदाहरण "द्विरेफ" है। जिस में दो रेफ हो वह द्विरेफ। द्विरेफ पद का सम्बन्ध भ्रमर शब्द से है क्योंकि इसमें दो रेफ है। और भ्रमर का सम्बन्ध मधुकर से है। अतः यहां परम्परा सम्बन्ध होने से "लक्षितलक्षणा" है। केवल लक्षणा तीन प्रकार कीहै "१-जहल्लक्षणा २-अजहल्लक्षणा ३-जहदजहल्लक्षणा" जहां शक्यार्थ का परित्याग हो और उसके सम्बन्धी अर्थ का ग्रहण हो वहां "जहल्लक्षणा" होती है जैसे गङ्गा में ग्राम है। यहां गङ्गा पद का तीरमें लक्षण है। जहां शक्यार्थ का परित्याग न हो और उसी के सम्बन्धी अर्थ का ग्रहण हो वहां "अजहल्लक्षणा" जैसे शोण (लाल) दौड़रहा है। यहां लालका दौड़ना हो नहीं सकता है। अतः शोण पद का शोणगुण विशिष्ट अश्वादि द्रव्य में लक्षणा है। जहां शक्यार्थ के किसी एक देश का परित्याग और किसी एकदेशका ग्रहणहो वहां "जहदजहल्लक्षणा" होती है इसीको "भागत्यागलक्षणा" कहते हैं। जैसे "सदयह

देवदत्तहै" यहां "यह" पद भूत काल और दूर देशका बोधकहै। और "यह" पदवर्तमानकालऔरसमीप देशकाबोधकहै।इनदोनोंकासम्बन्ध हो नहीं सकता अतः दोनों का त्याग करके केवल देवदत्त रूप पिण्ड-मात्र का ग्रहण करना "भागत्यागलक्षणा" है वैसे ही ' तत्त्वमसि" तू वह है यहां सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि विरुद्धांश को परित्याग कर चिन्मात्र जीव ब्रह्म के अभेद का ग्रहण करना ।उचित है ।यहां "तत्+त्वं+असि" येतीन पद हैं। इन में "तत् और त्वम्" पदों का सामानाधिकरण्य और अर्थ के साथ विशेषण विशेषता है। और विरुद्धांश के परित्याग से चिन्मात्र में लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध है ।

A1428

११-दुःख

आध्यात्मिकाधिभौतिका, धिदैविकभेदाद्दुः खंत्रिधा ।

दुःख तीन प्रकार का है "१-आध्यात्मिक २-आधिभौतिक ३-आधिदैविक" इन में शारीरिक और मानसिक दुःखको "आध्यात्मिक" । व्याघ्र सर्प आदि प्राणियोंसे जो दुःख उस को "आधिभौतिक" । और विद्युत अग्नि अतिवृष्टि आदि उपद्रवोंसे जो दुःख उस को "आधिदैविक" कहते हैं । इन दुःखों का विनाश महावाक्य जन्य विज्ञान से होता है । महावाक्य ये हैः-

तत्त्वमसिश्वेतकेतो । सर्वंखल्विदं ब्रह्म । अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि ।

१२-गुण

सत्त्वरजस्तमो भेदाद्गुणास्त्रिधा ।

गुण तीन प्रकार का है " १-सत्व २-रज ३-तम "। ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। वेदान्त में माया को प्रकृति कहते हैं। इसी को विशुद्धसत्व प्रधाना अविद्या भी कहते हैं। रज्जु का भी नाम गुण है जैसे गुण (रज्जु) से पशुवों को बांधते हैं तद्वत् माया या अविद्या तीन गुणों से इस जीव को फसाती है अतः इन का नाम गुण है।

" सुख, दान, तप, यज्ञ, ज्ञान, कर्म, और आहार ' आदि सब ही त्रिगुणात्मक हैं। इसी गुणत्रयमयी मायाको लेकर ब्रह्म "जगत्कारण" (कहलाता) है। कार्योत्पत्तिक अव्यवहित पूर्व में जिस वस्तु की विद्यमानता अवश्य हो वह कारण कहा जाता है। कारण दो हैं:- " १-उपादान २-निमित्त," कार्य्य में अन्वित कारण को उपादान कहते हैं। अर्थात् कार्य में जिस का प्रवेश हो वह उपादान। जैसे घटादि का उपादान मृत्तिका आदि है उस से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं। घट आदि के कुम्भकार और चक्र आदि निमित्त कारण हैं। इस जगत् का उर्णनाभ वत् ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

१३-माया

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवीचेतिभेदतः।
मायाज्ञेयात्रिधा बोधैःश्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥

माया तीन प्रकार की है "१-तुच्छा २-अनिर्वचनीया ३-वास्तवी" श्रौतदृष्टि से तुच्छा। यौगिक दृष्टि से अनिर्वचनीया और लौकिक दृष्टि से वास्तवी है।

१४-सत्ता

पारमार्थिकीव्यावहारिकी प्रातिभासिकी
भेदात्सत्तात्रिधा।

सत्ता तीन प्रकार की है । १-पारमार्थिकी २-व्यावहारिकी ३-प्रातिभासिकी । ब्रह्मकी सत्ता पारमार्थिकी । जगत् की सत्ता व्यावहारिकी और भ्रमोत्पादक शुक्ति रजतादिकोंकी प्रातिभासिकी सत्ता हैं । उन में व्यावहारिक सत्ताको अज्ञात सत्ता और प्रातिभासिकसत्ता को ज्ञात सत्ता भी कहते हैं ।

१५--त्रिपुटि
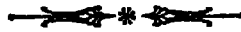
ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदात् त्रिपुटी

१-ज्ञाता २-ज्ञान ३-ज्ञेय इन तीनोंका नाम त्रिपुटी । विषय चैतन्य की प्रकाशिका जो अन्तःकरण और अज्ञान की परिणामरूपा वृत्ति उसको ज्ञान कहते हैं । उस ज्ञान का आश्रय जो आत्मा वह ज्ञाता और उस ज्ञान का जो विषय घटादि वह ज्ञेय कहाता है । ये तीनों आत्मा को कदापि त्यागते नहीं ।

१६ प्रतिबन्धक

संशय विपरीतभावना ऽसंभावना भेदात्प्रतिबन्धकं त्रिधा ।

ज्ञान का प्रतिबन्धक तीन प्रकार का है । १-संशय २-विपरीतभावना ३-असम्भावना । एक वस्तु में दो प्रकार के अथवा नाना प्रकार के विरुद्ध ज्ञान ही संशय है । जैसे यह स्थाणु (खूंटा) है या पुरुष है या कोई बैठा हुआ पशु है या कोई कल्पित भूत प्रेत है इत्यादि । ये दो हैं । १-मानग २-मेयग कभी वेदादि प्रमाणों में और कभी जीवादि प्रमेय मे संशय होता है इस लिये संशय दो प्रकार

का है (बलवन्निषेधकोटिक ज्ञान का नाम असम्भावना है) यहभी प्रमाणगत और प्रमेयगत भेद से दो प्रकार का है।

१७ प्रपञ्च

स्थूल सूक्ष्मकारण भेदात्प्रपञ्चस्त्रिधा।

प्रपञ्च तीन प्रकार का है। १-स्थूल २-सूक्ष्म ३-कारण। जो दृश्य, जड़, परिच्छिन्न और चिद्भिन्न हो वह प्रपञ्च। पञ्चीकृत को स्थूल, अप्रपञ्चीकृत को सूक्ष्म और स्थूल और सूक्ष्म दोनों को कारण प्रपञ्च (जगत्) कहते हैं।

१८ परिच्छेद

देशिक कालिकवास्तविकभेदात्परिच्छेदस्त्रिधा॥

परिच्छेद तीन प्रकार का है। १-दैशिक २-कालिक ३-वास्तविक। किसी एक देशमें हो अन्यत्र न हो वह दैशिक परिच्छेद। किसी एक काल में हो अन्यकाल में नहीं, वह कालिक परिच्छेद। किसी एक वस्तु में हो अन्यवस्तु में नहीं वह वस्तु परिच्छेद।

१९ भेद

सजातीय विजातीय स्वगतभेदाद्भेदस्त्रिधा।

भेद तीन हैं। १-सजातीय २-विजातीय ३-स्वगत। समानजातिकृत भेद सजातीय भेद। जैसे वृक्ष का अन्य वृक्ष से भेद। विरुद्ध जातिकृतभेद विजातीय भेद जैसे वृक्ष का प्रस्तर से भेद। अपने ही अवयवों से जो भेद वह स्वगत भेद जैसे वृक्ष का अपने पत्र पुष्प और फलों से भेद। ब्रह्म में ये तीनों भेद नहीं हैं।

२० वासना

वासनाएं तीन हैं। १-देहवासना २-लोकवासना ३-शास्त्र वासना। इस देह को सदा पुष्ट बना रखना चाहिये इसी की सदा चिन्तना का नाम देहवासना। लोक की प्रसन्नता के लिये सदा चेष्टा करनी लोकवासना। वादियों के जय के लिये ही शास्त्राऽभ्यास करना शास्त्र वासना। ये तीनों ही अनर्थ करी हैं। अतः त्याज्य हैं। इनके नाश के लिये ज्ञान उपरति और वैराग्य ग्राह्य हैं।

२१ तत्व

रामानुजमते तत्वत्रयं चिदचिदीश्वराः॥ श्रीरामानुजके सिद्धान्त के अनुसार तत्व तीन प्रकार का हैं १-चित् २-अचित् ३-ईश्वर।

२२ आनन्द

आनन्द तीन प्रकार का है १-वासनानन्द २-विषयानन्द ३-ब्रह्मानन्द जैसे भाण्ड से लशुन को अलग करने पर भी उसमें कुछ गन्ध रह जाता है तद्वत् ब्रह्मध्यान करके जिसने आनन्द का अनुभव किया हो पश्चात् उसे त्याग ने पर भी उस मे जो आनन्द का संस्कार रह जाता है वह वासनानन्द। स्त्री पुत्र धन धान्यादिक से जो आनन्द वह विषयानन्द। जीव ब्रह्मैक्य भावनाजन्य ब्रह्मानन्द।

२३ दोष

अनावस्था के अङ्गीकार करने से १-प्राग्लोप २-अविनिगम्य ३-अप्रगम ये तीन दोष होते हैं। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

२४ लक्षण दोष

लक्षण के तीन दोषहै। १-अतिव्याप्ति २-अव्याप्ति ३-असम्भव ये तीनोसर्व लक्षणों के दूषकहैं " लक्ष्यवृत्तित्वेसति + अलक्ष्यवृतित्व-

मति व्याप्तिः " लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में यदि लक्षण का प्रवेश हो तो यह अतिव्याप्ति दोष है यथा गौ का शृङ्गत्व लक्षण लक्ष्य गौ में और अलक्ष्य महिष हरिणादिकों में भी प्रविष्ट होता है। अतः यह अतिव्याप्ति दोष है। " लक्ष्यैक देशा वृत्तित्वमव्याप्तिः॥ लक्ष्य के किसी एक देशमे लक्षण का प्रवेश न हो तो वह अव्याप्ति दोष है जैसे गौ का कपिलत्व लक्षण श्वेत गौ में प्रविष्ठ न होगा। अतः यह अव्याप्ति दोष है " लक्ष्यमात्र वृत्तित्वमसम्भवः " किसी लक्ष्य में जिसकी प्रवृत्ति न हो वह असम्भव। जैसे गौ का एक शफत्व लक्षण किसी गौ मे प्रवृत्त न होगा क्यों कि गौ के दो शफ (खुर) होते हैं।

२५ प्रमात्रादि दोष

दोष तीन प्रकार का है १-प्रमातृगत दोष २-प्रमाणगत दोष ३-प्रमेयगत दोष। प्रमाता में भय लोभादि दोष। प्रमाण में तमोव्याप्त्यादि दोष, प्रमेय में चाकचक्यादि सादृश्यादि दोष होने से भ्रम होता है।

२६ कर्म

कर्म तीन प्रकार का है १-आगामी २-सञ्चित ३- प्रारब्ध। वर्तमान जन्म में क्रियमाण जो कर्म वह आगामी। पूर्व जन्मार्जित कर्म सञ्चित और वर्तमान शरीरारम्भक कर्म प्रारब्ध है

२७ आत्मा

वेदान्त शास्त्र में आत्मा तीन हैं। १-ज्ञानात्मा २- महानात्मा ३-शान्तात्मा। ज्ञातृत्वोपाधियुक्त अहङ्कारावच्छिन्नचैतन्य ज्ञानात्मा। सर्वव्यक्तियों में व्याप्त चैतन्य महानात्मा। सर्व वस्तु के बाहर भीतर अनुगत चैतन्य वह शान्तात्मा।

इसके अतिरिक्त भूत भविष्यत् और वर्तमान भेद से काल तीन हैं। वेदान्त में श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीनों ब्रह्म साधक और परमोपयोगी हैं। देवयान, पितृयाण और जायस्व म्रियस्व येतीनों मार्ग विशेष रूपसे ज्ञातव्यहैं। इत्यादि अनेक त्रिविध संज्ञाएंहैं। इति

चतुर्विध सञ्ज्ञाएं

नीचे लिखी सञ्ज्ञाएं चतुर्विध हैं।

१-वाणी २-पुरुषार्थ ३-वर्ण ४-आश्रम ५-अनुबन्ध ६-साधन ७-वेद ८-अन्तः करण ९-वृत्ति १०-प्रमाण ११-विघ्न १२-चतुर्व्यूह १३-जीव १४- मन्त्र्यादि १५- भूतग्राम इत्यादि :—

१ वाणी

वाणी चतुर्विधा ज्ञेया नरैस्तत्त्र बुभुत्सुभिः।
मध्यमा वैखरी चेव पश्यन्ती च परातथा॥

वाणी चार प्रकार की है १-मध्यमा २-वैखरी ३-पश्यन्ती ४-परा मूलाधारस्थित वायु से प्रेरित अतिसूक्ष्म और अलक्षित जो वाणी वह परा। नाभिचक्रस्थितवायु से प्रेरित और योगि प्रत्यक्ष गोचर जो वाणी वह पश्यन्ती। हृदय चक्रस्थ वायु से प्रेरित स्थूल जो वाणी वह मध्यमा और कण्ठादिस्थिति वायु से प्रेरित और सर्वश्रुतिगोचर जो वाणी वह वैखरी कहलाती है।

२-पुरुषार्थ
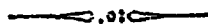
१-धर्म २-अर्थ ३-काम ४-मोक्ष ये चार पुरुषार्थ अति प्रसिद्ध हैं।

३-वर्ण

१-ब्राह्मण २-क्षत्रिय ३-वैश्य ४-शूद्र ये भी चार वर्ण अति विख्यात हैं।

४-आश्रम

१-ब्रह्मचर्य २-गार्हस्थ्य ३-वानप्रस्थ ४-और संन्यास ये चार आश्रम हैं।

५-अनुबन्ध

अनुबन्ध चार प्रकार का है। १-सम्बन्ध २-अधिकारी ३-विषय ४-प्रयोजन। सम्बन्ध बहुत प्रकार का है। ब्रह्म के साथ वेदान्तशास्त्र का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है क्योंकि ब्रह्मवाच्य और शास्त्रवाचक है। प्रयोजन के साथ अधिकारी का प्राप्य प्रापक भावसम्बन्ध क्योंकि पाने योग्य वस्तु का नाम प्राप्त है और पानेवाले का नाम प्रापक है। अतः प्रयोजन प्राप्य और अधिकारी प्रापक है। ब्रह्मरूप प्रमेय के साथ अधिकारी का अनुष्ठेयानुष्ठातृभाव सम्बन्ध है। क्योंकि ब्रह्म अनुष्ठेय (ध्येय) है और अधिकारी अनुष्ठाता (ध्याता) हैं। पुनः ब्रह्म के साथ उपनिषदादिशास्त्रों का बोध्यबोधक भावादि सम्बन्ध भी कह सकते हैं। तत्वज्ञान के साथ शास्त्र का हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध। तत्वज्ञान के साथ प्रमाणादिकों का विषय विषयीभाव इत्यादि।

अधिकारी वह है जिसको प्रथम व्याकरण, न्याय ज्योतिष

भुगोल, खगोल और सम्पूर्ण प्राकृतविज्ञान का परिचय हो। वेदों और उपनिषदों के अर्थों में निपुण हो। मनोविज्ञान में अति कुशल हो इसके अतिरिक्त वैराग्य श्रद्धा विश्वासादि युक्त हो। और रागद्वेषादि विवर्जित हो। जीव ब्रह्म की एकता ही इस का मुख्य विषय है अज्ञान की निवृत्ति और उसका फल रूप आनन्द की प्राप्ति प्रयोजन है। इस सब का वर्णन आगे विस्तार से रहेगा अतः यहां विशेष उल्लेख नहीं कियागया।

६—साधन

साधन चार हैं १—विवेक २—विराग ३—षट्सम्पत्ति ४—मुमुक्षुत्व नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार का नाम विवेक। इसलोक में तथा परलोक मे फलभोगराहित्यं का नाम विराग। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा का नाम षट्सम्पत्ति॥ और मोक्षेच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है।

७—वेद

१—ऋग् २—यजु ३—साम, और ४—अथर्व ये चार वेद हैं।

८—अन्तःकरण

यद्यपि अन्तःकरण एक ही है तथापि वृत्ति भेद से १—मन २—बुद्धि ३—अहङ्कार ४—चित्त ये चार हैं। सकल्प और विकल्प करनेवाले का नाम मन। निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम बुद्धि अभिमानात्मि का वृत्ति का नाम अहङ्कार और अनुसन्धानात्मिका वृत्ति का नाम चित्त है।

चतुर्विध
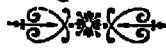
९ वृत्ति।

१-सङ्कल्प २-विकल्प ३-गर्व ४-चिन्तन ये चार मन आदि चारों की वृत्तिया हैं।

१० प्रमाण

१-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-शब्द ४ उपमान ये चार प्रमाण हैं जिन से समस्त वस्तुओं की सिद्धि होती है। ये चार नैयायिकाभिमत हैं किन्तु वेदान्त मे अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये दो प्रमाण भी माने जाते हैं। षड्विध सञ्ज्ञा में वे दिखलाए जायगे। जिस से यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। यद्वा अज्ञान का ज्ञापक प्रमाण यद्वा प्रमाण करण प्रमाण। प्रत्यक्षप्रमा का जो करण वह प्रत्यक्षप्रमाण नयन, नासिका, श्रोत, रसना और त्वचा इन इन्द्रियों का वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण है। यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमा है। लिङ्गज्ञानजन्य जो ज्ञान उसे अनुमिति कहते हैं। वह जिससे हो वह अनुमान है। वा अनुमिति करण का नाम अनुमान॥

जिसके ज्ञान से साध्य का ज्ञान हो वह लिङ्ग। अनुमितिज्ञान के विषय का नाम साध्य है। व्याप्य के ज्ञानसे व्यापक का ज्ञान होता है अतः व्याप्य को लिङ्ग और व्यापक को साध्य कहते हैं। जिसमें व्याप्तिहो वह व्याप्य व्याप्तिका निरूपक व्यापक। अविनाभावरूप सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जिसके विना जो न हो उस में उस का अविनाभाव सम्ब होता है। जैसे वन्हि के विना धूम नहीं होता है अतः धूम में वन्हि का अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः धूम लिङ्ग है

और वन्हि साध्य है। " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् " यहां धूम के देखने से पर्वत में अग्नि है यह ज्ञान होता है इसी का नाम अनुमिति है। अनुमान के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान की अत्यावश्यकता है। प्रत्यक्षरूप से यदि व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो तो वह अनुमान भी नहीं कर सकता। अग्नि से धूम निकलता है इस को पामर भी जानता है। दूरस्थ धूम देखकर मूर्ख भी कह सकता है कि जहां से धूम निकलता है वहां अग्नि अवश्य है। किन्तु भूकम्प क्यों होता है। जल के भीतर डूबने पर जल का भार क्यों नहीं प्रतीत होता। जल में क्योंकर कोई वस्तु डूब जाती और कोई तैरती रहती है। सूर्य के चारों तरफ कभी २ जो परिधि प्रतीत होती है वह क्या वस्तु है और यह क्या है। इत्यादि शतशः पदार्थ हैं जहां पर महा महानैयायिक मौनी बन जाते हैं क्यों कि प्रत्यक्षरूप से उन्हें पदार्थ ज्ञान नहीं है शब्द और उपमान प्रमाणों का वर्णन आगे किया जायगा।

११-विघ्न

लयविक्षेपरसास्वादकषायभेदाद्विघ्नश्चतुर्धा

१-लय २-विक्षेप ३-रसास्वाद ४-कषाय ये चार विघ्न हैं। जब साधक ब्रह्म के ध्यान में निमग्न होता है तब ये चार विघ्न उपस्थित होते हैं। लय=निद्रा। विक्षेप=पुनः २-विषयों का अनुसन्धान। रसास्वाद=समाधिके आरम्भ के समय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न होने पर भी कुछ २ जो रस की प्राप्ति। कषाय=रागादि की उत्पत्ति से चित्त में आलस्य की उत्पत्ति ये चारों योगियों के हेय हैं।

१२ चतुर्व्यूह

१-वासुदेव २-संकर्षण ३-प्रद्युम्न ४-अनिरुद्ध। इस चतुर्व्यूह का निरूपण रामानुज और माध्व आदिकों ने अपने २ ग्रन्थों में किया है। वासुदेव=परमात्मा। संकर्षण=जीव। प्रद्युम्न=मन। अनिरुद्ध=अहङ्कार।

१३ जीव

रामानुज के सिद्धान्त में जीव चार हैं। १-बद्ध २-मुमुक्षु ३-मुक्त ४-नित्यमुक्त। बद्ध और मुमुक्षु जीव-हम लोग। मुक्त जीव=वामदेव आदि। नित्यमुक्तजीव=गरुड़ विष्वक्सेन आदि।

चतुर्विध

रागद्वेषादि दोषाणां शमार्थं चाथभावयेत्।
मैत्र्यादिभावनां सर्वं भूतेषु बुद्धिमान्नरः।

रागद्वेषादि क्लेशों के शमनार्थ मैत्र्यादिकों की सदा भावनाकरै

१४ मैत्र्यादि

ज्ञानियों और ईश्वरीय विभूति दर्शकों के साथ दुःखियों के दुःखनाशार्थदया पुण्यवानों के नामश्रवण से मुदिता और पापियों के लिये उपेक्षा। इसी को योग सूत्र में इस प्रकार कहा गया है॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या-पुण्यभावनातश्चित्त प्रसादनम्।

१५ भूतग्राम

१-जरायुज २-अण्डज ३-स्वेदज ४-उद्भिज्ज ये चार प्राणी हैं।

जरायुज=मनुष्य और पशु आदि। क्योंकि वे जरायु से उत्पन्न होते हैं। अण्डज=पक्षी और सर्पादिक क्योंकि ये सब अण्डे से होते हैं। स्वेदज=यूक और लिक्ष आदि। स्वेद से अर्थात् शीतोष्ण की सहायता से ये शरीरधारी होते हैं और उद्भिज्ज=वृक्ष वनस्पति आदि। जो पृथिवी को फोड़ कर निकलें॥

इसके अतिरिक्त चार प्रकार की और भी संज्ञाएं हैं वेदान्त में उनका उतना उपयोग नहीं। कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, ये चार प्रकार के यति इत्यादि।

"पञ्चविध संज्ञाए"

१-कोश

अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयभेदात्कोशः पञ्चधा ॥

"१-अन्नमय २-प्राणमय ३-मनोमय ४-विज्ञानमय ५-आनन्दमय" ये वेदान्त में पांच कोश कहलाते हैं। क्योंकि जैसे खड्ग के ढांकने वाला कोश (मियान) होता है। तद्वत् आत्मा के आच्छादक होने से ये भी कोशवत् कोश हैं "अन्नमयकोश" यहस्थूल शरीर। क्योंकि माता और पिता से खाए और पीए हुए अन्नों और जलों से जो शुक्र और शोणित आदि बनते हैं उन से ही इस स्थूल शरीर की रचना होती है। अतः यह स्थूल शरीर ही अन्नमय कोष है "प्राणमय-कोश'=कर्मेन्द्रियों सहित प्राण। शरीर के इस विभाग में प्राण की अधिक क्रिया रहती है। 'मनोमयकोश'=कर्मेन्द्रियों सहित मन। इस विभाग में मन के कार्य्यों की अधिकता के कारण यह मनोमय कोश है। "विज्ञानमयकोश"=ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि। इस मे बुद्धिके व्यापारों का बाहुल्य है। "आनन्दमयकोश"=जहां अद्वैत दशा में यह आत्मा निज आनन्दरूप ब्रह्म का अनुभव करता है" आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र के अनुसार आनन्दमय ब्रह्म ही है। जीवों के शरीर स्थूलरूप से चार प्रकार से बनते हैं १-प्रथम उद्भिज्ज शरीर वह है जिस की माता मुख्यतया पृथिवी है। यद्यपि यह पृथिवी सब की माता है तथापि वृक्ष, लता वनस्पति आदिको की साक्षात् माता है और मनुष्य पक्षी और खटमल आदिकों की परम्परा सम्बन्ध से माता है। ये वृक्षादिक अपनी माता पृथिवी के रस प्रतिक्षण चसते रहते हैं। और उस से जब ही अलग कर दिए जाते हैं तब ही ये सूख जाते हैं उद्भिज्ज शरीरों के अनन्त कौशल युक्त आश्चर्य

जनक असंख्य भेद हैं। ये वनस्पति शास्त्र द्वारा अवश्य अध्येतव्य हैं। आम्रादिकों का माधुर्य्य गोधूमादिकों का विलक्षण स्वाद, पुष्पों की कोमलता सौन्दर्य्य और सौरभ, इत्यादि २ अनन्त गुण कीर्तनीय हैं। द्वितीय ऊष्मज शरीर भी बड़े ही कौतुक जनक हैं। वे कैसे उत्पन्न होजाते हैं इन की उत्पत्ति सम्बन्धी इतिहास अद्भुत है। इन में कोई शरीर ऐसे होते हैं जो एक घटिका में एक आध लाख उत्पन्न हो जाते हैं वे प्रायः रोग सम्बन्धी अति सूक्ष्म कीट हैं। तृतीय अण्डज शरीर भी आश्चर्य्यमय हैं यदि कोई बुद्धिमान् केवल सर्प शरीरों का ही अध्ययन करे या मत्स्य शरीरों के ही पठन में तत्पर हो तो आयु समाप्त होजायगी किन्तु उस २ विद्या के अन्त तक वह न पहुंच सकेगा। चतुर्थ पशु से लेकर मानव शरीर जरायुज हैं ये कितने आश्चर्य्य जनक हैं इसकी इयत्ता कौन लगा सकता है। क्योंकि इन में एक ही मानव शरीर क्या २ लीलाएं रचता है अपने भाइयों के ऊपर इनका अत्याचार, दया, भोग विलास इत्यादि कितने हैं। इस का पता लगाना अति कठिन है। जो कुछ हम पढ़ते पढ़ाते वे प्रायः मानव इतिहास हैं। इन चतुर्विध शरीरों को देख २ कर अनेक भ्रम उत्पन्न हुए और हो रहा है इन का अति संक्षेप वर्णन यह है।

"आत्मावै जायते पुत्रः" इस श्रुति के बल से अति मूर्खजन समझते हैं कि जैसे बीज से बीज होने पर प्रथम बीज की समाप्ति हो जाती है। तद्वत् अपने से पुत्र होने पर अपना अस्तित्व नष्ट होकर केवल पुत्ररूप आत्मा ही रह जाता है यही पुत्र आत्मा है। अन्य आत्मा कोई नहीं। जैसे गेहू के बीज से जब पुनः बीज बन कर सुपक्व हो जाता है तब गेहू का काण्ड सूख जाता है अर्थात् निज प्रतिनिधि छोड़ कर वह नष्ट होजाता है। तद्वत् मनुष्य भी निज प्रतिनिधि पुत्र को रच स्वयं विनष्ट हो जाता है। अनादि काल से यही अनवच्छिन्न प्रवाह चला आता है इस के अतिरिक्त आत्मा नहीं।

"सवा एष पुरुषोऽन्नमयः" वह यह पुरुष निश्चय अन्नमय है। इसश्रुति के बल से चार्वाक कहतेहैं कि यह स्थूल शरीर ही आत्मा है क्योंकि मैं स्थूल हूं मैं कृश हूं शरीर के रुग्ण और नोरोग होने से मैं मरता हूं मैं जीता हूं इत्यादि अनुभव भी प्रमाण है। और जब गृह में अग्नि लगती है तब पुत्र को उपेक्षा से अपनी रक्षा को चिन्ता ही बलवती होती है। अतः पुत्र आत्मा न होकर यह स्थूल शरीर ही आत्मा है।

"तेह प्राणाः प्रजापतिं समेत्योचुः" वे इन्द्रिय गण प्रजापति के निकट पहुंचकर बोले। इस श्रुति के अनुसार कोई नास्तिक नयनादि इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं क्योंकि इन्द्रियों के न रहने से यह शरीर सर्वथा अकर्मण्य और मृत है। मैं काण हूं मैं बधिर हूं इत्यादि अनुभव भी इस में प्रमाण है।

अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। प्राणमय ही आत्मा है जो शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है। इस श्रुति के बल से प्राणमय कोश को ही कोई नास्तिक आत्मा मानते हैं। मैं बुभुक्षु और पिपासु हूं इस अनुभव से भी प्राणमय कोश ही आत्मा सिद्ध होता है। और जब इस देह में प्राण नहीं रहता तब इन्द्रियगण कोई क्रिया नहीं करते।

"अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" मनोमय कोश ही आत्मा है जो प्राणादिकों से भिन्न है। क्योंकि मन के सोजाने पर प्राण इन्द्रियों की कोई क्रिया नहीं देखो जाती और मैं संकल्प करता, मैं विकल्प करता इत्यादि अनुभव से ही मनोमय कोश ही आत्मा है ऐसा कोई नास्तिक कहते हैं।

अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। इस श्रुति के अनुसार बौद्धगण विज्ञानमय कोश को ही आत्मा मानतेहैं। क्योंकि जब कर्ता का अभाव होता है तब ही करण का शक्ति का अभाव होता है और बुद्धि के अभाव से इन्द्रियों की शक्ति का अभाव देखते हैं। अतः विज्ञान ही आत्मा है। शरीर आदिक नहीं।

"अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" इस श्रुति के अनुसार कोई अज्ञान को ही आत्मा कहते हैं क्योंकि सुषुप्ति में सकल इन्द्रिय सहित बुद्धि का अज्ञान मे ही लय होता है। मैं अज्ञ हूं मैं मूर्ख हूं इत्यादि अनुभव ही प्रमाण है।

"प्रज्ञानघनएवानन्दमय आत्मा" इस श्रुति के अनुसार कहते हैं कि अज्ञान समष्टि द्वारा उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर चैतन्य ही आत्मा है और श्रुति का प्रमाण देते हैं "प्रज्ञानघन और आनन्दमय ही आत्मा है" और इस प्रकार युक्ति प्रमाण देते हैं कि सुषुप्तिकाल में सब के लीन होने पर भी अज्ञानोपहित चैतन्य का प्रकाश रहता है और मैं अपने को नहीं जानता ऐसा अनुभव भी होता, इस कारण अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है। इस प्रकार जीवात्मा का भी यथार्थ बोध नहीं। अतः जिन उपायों से आत्मबोध हो, वे अवश्य कर्तव्य हैं।

२ कर्म

१-नित्य २-नैमित्तिक ३-काम्य ४-प्रायश्चित्त ५-निषिद्ध ये पांच कर्म हैं। शुभ वा अशुभ अदृष्टोत्पादक जो व्यापार वह "कर्म"। "नित्यकर्म" जिस के न करने से प्रत्यवाय अवश्य हो जैसे सन्ध्योपासनादि। प्रतिदिन प्रत्येक नर और नारी को उचित है कि कुछ काल मन को समाहित कर ईश्वर की उपासना करे इससे आत्मपवित्रता का संग्रह होता है। "नैमित्तिककर्म"=जो किसी निमित्त से किया जाय जैसे पुत्रेष्टि इत्यादि। 'काम्य'=सुख लाभ के लिये जिस का अनुष्ठान हो। "प्रायश्चित्त"=पापक्षय साधन। "निषिद्ध"=पापोत्पादककर्म॥

३-कर्मेन्द्रिय

कर्मों के साधक पांच कर्मेन्द्रिय ये हैं "१-वाणी २-हस्त ३-पाद ४-पायु (मलत्यागेन्द्रिय) ५-उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)।

४-ज्ञानेन्द्रिय

सकल ज्ञानों के साधक पांच ज्ञानेन्द्रिय ये हैं। "१-नयन २-नासिका ३-कर्ण ४-जिह्वा ५-त्वचा।

५-विषय

पांचों ज्ञानेन्द्रियों के ये पांच विषय हैं। १-रूप २-गन्ध ३-शब्द ४-रस ५-स्पर्श"

६-प्राण

"१-प्राण २-अपान ३-समान ४-व्यान ५-उदान" ये पांच प्राण कहलाते हैं। कोई नाग, कूर्म देवदत्त, धनञ्जय, और कृकल इन पांचों को मिला दश १० प्राण कहते हैं।

७-महाभूत

"१-पृथिवी २-जल ३-तेज ४-वायु ५-आकाश" ये पञ्चमहाभूत कहाते हैं। इनको स्थूल भूत और पञ्चीकृत भी कहते हैं।

८-तन्मात्र

१-गन्ध तन्मात्र २-रस तन्मात्र ३-रूप तन्मात्र ४-स्पर्शतन्मात्र ५-शब्दतन्मात्र" इन को "पञ्चतन्मात्र, सूक्ष्म भूत और" अपञ्चीकृत कहते हैं।

९-यम

अहिंसासत्यस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।

"१-अहिंसा" किसी सूक्ष्माति सूक्ष्म जन्तुको भी प्राण हरणानुकूल व्यापार न करना। और मन और कर्म से परपीड़ा करने को

चेष्टा का त्याग। " २ सत्य " वाणी और मनो वृत्ति की यथार्थता। " ३ अस्तेय " दूसरे की वस्तुका अनपहरण। " ४ ब्रह्मचर्य " इन्द्रिय संयम। ५ " अपरिग्रह " भोगसाधनों का असंग्रह। ये पांच यम कहाते हैं।

१०-नियम

शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

" १-शौच " शरीर और मन की शुद्धि। " २-सन्तोष " यदृच्छा लाभ से सन्तुष्टि। " ३-तपः " मन और इन्द्रियों की एकाग्रता " ४-स्वाध्याय " प्रतिदिन विज्ञान शास्त्रों का अभ्यास। " ५ ईश्वर-प्रणिधान " नियम पूर्वक ईश्वरीय गुणों का अपने में स्थापना ये नियम कहलातेहैं। यम नियम का विशेषवर्णन योगशास्त्र में देखें।

११ चित्तभूमि

क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रनिरुद्धाश्चित्तभूमयः।

चित्त की अवस्थाएं पांच प्रकार की हैं। १-" क्षिप्त " अति-चञ्चलहोकर जब चित्त किसी विषय का निश्चय नहीं कर सकता, वह क्षिप्त भूमि। " २-मूढभूमि वह वह अवस्था है जिस में ध्येय अथवा अभीष्ट विषय का कुछ बोध भी न हो। " ३-विक्षिप्त भूमि " यह कि एक भी पुरुष त्रिभुवन के भोगों को भोगने की चेष्टा करे जैसे रावणादिकों का दृष्टान्त कहा जाता है। ये तीनों भूमियां राक्षसादिकों की हैं। "एकाग्रभूमि" -

संप्रज्ञात समाधि की अवस्था। ५ "निरुद्धा" असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था। योगिगण इन चित्तवृत्तियों को जानकर इससे अद्भुत अद्भुत कार्य्य करते हैं।

१२-प्रलय

नित्यनैमित्तिकदैनंदिनमहदात्यन्तिकाःप्रलयाः

"१-नित्य २-नैमित्तिक ३-दैनंदिन ४-महान् ५-आत्यन्तिक" भेदसे प्रलय पञ्चविध होते हैं। "प्रलय" सकल कार्यों का विनाश। "१-नित्यप्रलय" प्राणियों की सुषुप्तिअवस्था। "२ नैमित्तिकप्र०" मन्वन्तरप्रलय "३-दैनंदिनप्र" ब्रह्मा की सुषुप्ति "४-महाप्रलय" ब्रह्मा की नाशावस्था। इसी को ब्रह्म-प्रलय भी कहते हैं। "५ आत्यन्तिक प्रलय" अज्ञान और उसके सकल कार्यों की नाशावस्था।

१३-भ्रम

वेदान्तमें ये पांच भेद भ्रम नाम से विख्यातहैं। "१-जीव ईश का भेद। "२-जीवों का परस्पर भेद। ३- जीव जड़का भेद। ४-ईश जड़ का भेद। ५-जड़ों का परस्पर भेद।

१४-दृष्टान्त

उक्त भ्रम निरासार्थ पांच दृष्टान्त भी कहते कहाते आते हैं। "१ जीवब्रह्म का भेद" मिथ्या है। औपाधिक होने से। घटाकाश महाकाश के भेद के समान। जो मिथ्या नहीं वह औपाधिक भी नहीं जैसे घटपटका व्यावहार दशामें भेदहै। "२जीवों का परस्पर भेद" मिथ्या है क्योंकि साभास अन्तःकरणरूप उपाधिकृत होने से।

नाना घटाकाशों के भेद के समान। ३-जीवजड़का भेद कल्पित है। साभास अन्तःकरण और निराभास नामरूपमय उपाधिकृत होने से। स्वप्नगत चराचर के समान। " ४-ईशजड़का भेद " कल्पित है क्योंकि साभासमाया और नामरूप उपधिकृत होने से। साक्षी और स्वप्नप्रपञ्च के भेदवत्। " ५-जड़ों का परस्पर भेद " मिथ्याहै। नामरूपमय उपाधिकृत होनेसे रज्जुमेंकल्पितसर्पदण्डादिकभेदवत्॥

अथवा ये पांच भ्रम हैं। " १-ब्रह्म से जीव का भेद २-जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि वास्तविक है ३-यह आत्मा शरीरत्रय से युक्त है ४-जगद्धेतु यदि ब्रह्म है तो वह विकार युक्त ही होगा ५-यह सृष्टि कारणसे पृथक् है और सत्य है " इन पांचों भ्रमों को दूर करने के लिये ये पांच दृष्टान्त ग्राह्य हैं १-ब्रह्मसे जीव का भेद वास्तविक नहीं क्योंकि जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न नही। ब्रह्म बिम्ब और यह जीव उसका प्रतिबिम्ब है अतः दोनो में वास्तविक भेद नहीं। २-जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्वादि सर्वथा कल्पित है क्योंकि जैसे स्वच्छ स्फटिक के समीप रक्तपुष्प के रखने से वह भी रक्त ही प्रतीत होता है। किन्तु स्फटिक रक्त नहीं तद्वत्। अन्तःकरण की छाया से यह जीवात्मा कर्ता भोक्ता भासता है। ३-यह आत्मा शरीरत्रय से संयुक्त है सो कल्पित उपाधिमात्र है। जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद नहीं तद्वत् शरीररूप उपाधि से वास्तविक भेद नही। ४-ब्रह्म भी विकारयुक्त है यह कथन रज्जु सर्प के समान ही है और ५-यह सृष्टि कारण से पृथक् है यह कथन भी मिथ्या है। ईश्वरोपादानकारण प्रकरण में इस को विस्तार से देखिये। इति संक्षेपतः।

१५-दृष्टान्त

" १-शुक्ति में रजत। २-रज्जु में सर्प। ३-स्थाणु में पुरुष। ४-आकाश में नीलिमा। ५-मरीचि में जल। इन पांच दृष्टान्तों से वेदान्त शास्त्र में अधिक उपयोग लिया गया है।

१६ अविद्यापर्व

"१–तम २–मोह ३–महामोह ४–तामिस्र ५–अन्ध"
ये अविद्या के पांच पर्व कहलाते हैं।

१७ क्लेश
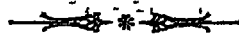
"१–अविद्या २–अस्मिता ३–राग ४–द्वेष ५–अभिनिवेश"।
ये पांच क्लेश हैं क्योंकि जीव को इन पांचों से क्लेश पहुंचता है।

अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या।

अनित्य कार्य्य में नित्य बुद्धि। जैसे यह पृथिवी ध्रुवा है। यह द्युलोक नित्य है। ये देवगण अमृत हैं॥ इसी प्रकार अशुचि देहादिक में शुचिबुद्धि। दुःख में सुख बुद्धि और अनात्मा में आत्म बुद्धि। इस प्रकार विपरीत ज्ञान का नाम अविद्या है। आत्मा और बुद्धि को एक ही मानना अस्मिता है। किसी वस्तुविशेष में आसक्ति का नाम राग और किसी से निष्प्रयोजन घृणा करना द्वेष है। स्वीकृत वस्तु के त्यागमें मोह होना अभिनिवेश है। इन पांचोंको अविद्या, अस्मिता, असूया, स्पर्धा और अभिनिवेश नाम से भी कहते हैं।

१८ ख्याति
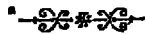
"१–आत्मख्याति। २–असत्ख्याति। ३–अख्याति ४–अन्यथाख्याति। ५–अनिर्वचनीयाख्याति" भेद से ख्यातियां पांच हैं। ख्याति नाम भ्रमका है। इन पांचों के उदाहरण अन्य प्रकरण में रहेंगे।

षड्विध संज्ञाएं

१ अरिवर्ग

कामः क्रोधस्तथा लोभो मदमोहौ च मत्सरः ।
गणोऽयमरिषड्वर्गो वेदान्ते परिभाषितः ॥

"१–काम २–क्रोध ३–लोभ ४–मद ५–मोह ६–मत्सर"

ये अरिवर्ग कहलाते हैं इन्हें न जीत योगी विजयी नहीं होता इस में सन्देह नहीं कि ये महाशत्रु हैं।

२ लिङ्ग

उपक्रमोप संहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगषट्कमिदम्मतम् ॥

"१–उपक्रमोपसंहार २–अभ्यास ३–अपूर्वता ४–फल ५–अर्थवाद ६–उपपत्ति" यह वेदान्त शास्त्र में "लिङ्गषट्क" कहलाता है। तात्पर्य्य प्रकाश को लिङ्ग कहते हैं। उपक्रम नाम आरम्भ का है और उपसंहार नाम अन्त का है। जिस वस्तु का वर्णन आरम्भ में हो उसका वर्णन संक्षेप से अन्त में भी कर देना चाहिये। इसी का नाम उपक्रमोपसंहार की एकता है। पाठकके मन में अच्छी तरह से खचित और दृढ होजाय इस कारण मुख्य विषय को पुनः २ कहना अभ्यास कहलाता है। अपनी उक्ति या वर्णित वस्तु की प्रमाणता अनान्य आधार पर न छोड़ना अपूर्वता है। अमुक विषय के प्रतिपादन से किस प्रयोजन की सिद्धि होगी इस को अच्छी तरह से दिखलाने का नाम फल है। प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ की प्रशंसा अर्थवाद कहाता है। अभीष्ट विषय को नाना युक्तियों और दृष्टान्तों से भूषित करना उपपत्ति है॥

३—प्रमाण

वेदान्त में ये छः प्रमाण माने गए हैं। "१-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-शब्द ४-उपमान ५-अर्थापत्ति ६-अनुपलब्धि" इस सब का वर्णन प्रमाण प्रकरण में विस्तार से देखिये।

४—दोष

"१-आत्माश्रय २-अन्योन्याश्रय ३-चक्रक ४-अनवस्था ५-प्रागलोप ६-अविनिगम"। ये छः दोष हैं। इन के उदाहरण ये हैं। दृष्टान्तः—ईश्वर को एक देशी मानने पर ये छवों दोषों की प्राप्ति होगी। जैसे यदि ईश्वर किसी एक स्थान में है अर्थात् वह सर्वत्र व्यापक नहीं है। तब वह अनित्य होगा क्योंकि देश से और काल से परिछिन्न वस्तु अनित्य होताहै यह नियमहै। जोअनित्यहोताहै वह किसीकर्त्ता से जन्य होता है। अब प्रश्न होगा कि यदि ईश्वर अनित्य है तो उस का जन्मदाता कौन। इस का अन्य कोई जन्मदाता हो नहीं सकता। यदि कहो कि वह अपना कर्त्ता आपही है तो "आत्माश्रय"दोष होगा" क्योंकि जहां आप ही क्रिया का कर्ता और आप ही क्रिया का कर्म हो वहां 'आत्माश्रयदोष' होता है। जैसे कुलाल क्रिया का कर्ता है और घट कर्म है। इस प्रकार कर्ता और कर्म भिन्न २ होताहै। एक कदापि नहीं होता अतः आत्माश्रय दोषहै। कर्मनाम कार्य्य काहै और कार्यके विरोधी का नाम दोष। आत्माश्रय कार्य्य का विरोधी है अतः यह दोष है। इस हेतु ईश्वर का कर्ता कोई अन्य ईश्वर मानना पड़ेगा। पुनः प्रथमेश्वर के समान द्वितीय ईश्वर का कर्ताभी स्वीकार करना होगा। यदि कहा जाय कि प्रथम ईश्वर द्वितीय ईश्वर का कर्ता है तोअन्योन्याश्रय दोषहोगा क्योंकि प्रथमका कर्ताद्वितीय और द्वितीय का कर्ता प्रथम हो नहीं सकता जैसे पुत्र का कर्ता पिता और पिता का कर्ता पुत्र कदापि नहीं होता। यदि कहैं कि द्वितीय का कर्ता कोई तीसरा ईश्वर होगा तब तो अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। ठीक। तब पुनः तृतीय का कर्ता कौन यह प्रश्न होगा। यदि कहैं

कि तृतीय का कर्ता प्रथम मान लेवेंगे। इस व्यवस्था में चक्रिक दोष होगा जैसे चक्र का भ्रमण होता है तद्वत् यहां भी होगा क्योंकि प्रथम का कर्ता द्वितीय और द्वितीय का कर्ता तृतीय और तृतीय का कर्ता प्रथम पुनः प्रथम का कर्ता द्वितीय। द्वितीय का तृतीय और तृतीय का प्रथम। इस रीति से कार्य्य कारणभाव का भ्रमण होगा चक्रिका स्थान में कोई सिद्ध होता नहीं। इन दोषों को दूर करने के लिये यदि तृतीय का कोई चतुर्थ ईश्वर मानें और चतुर्थ का पञ्चम और पञ्चम का षष्ठ इस प्रकार मानते चले जांय तो अनवस्था दोष होगा ('धारा का नाम अनवस्था है) यदि अन्त में किसी एक को मान लेवें तो यहां अविनिगमन दोष होगा क्योंकि अन्त में किसी एक पर निर्भर करने में कोई युक्ति नहीं। तब प्रथम को ही सर्वकर्ता ईश्वर मान लेने में क्या हानि है। अत एक को मानना दूसरे को न मानना ही विनिगमन विरह है। क्योंकि युक्ति के अभाव का ही नाम विनिगमन विरह है। यदि कहें कि विश्रान्ति के लिये एक को ही सर्वकर्ता मान लेवेंगे तो वही ईश्वर है दूसरे ईश्वरों को मानने का प्रयोजन ही कुछ नहीं। यदि मानते ही चले जांय तो प्राग्लोप दोष होगा क्योंकि उस अन्तिम ईश्वर को छोड़ अन्य का लोप करना ही ठीक है क्योंकि उनसे प्रयोजन नहीं। अतः कोई एक ही ईश्वर मानना पड़ेगा। वह सर्वत्र व्यापक समझा जायगा इति संक्षेपतः।

५—शमादि

"१—शम २—दम ३—तितिक्षा ४—श्रद्धा ५—उपरति ६—समाधान"

यह शमादि षट्क हैं। शम=अन्तरिन्द्रिय निग्रह। दम=बाह्येन्द्रियनिग्रह। तितिक्षा=शीत उष्णादि द्वन्द्वसहिष्णुता। श्रद्धा=गुरु और वेदान्त वाक्यों पर विश्वास। उपरति विषयों से उपराम (वैराग्य)। समाधान=श्रवण मनन और निदिध्यासन में चित्त की एकाग्रता।

६–भिक्षु

"१–अजिह्व २–षण्डक ३–पंगु ४–अन्ध ५–बधिर ६–मुग्ध" यह भिक्षु षट्क कहलाता है। इन का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार है यथा–

१ अजिह्व

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते
हितं सत्यं मितं वक्ति मजिह्वं तं प्रचक्षते।

भोजन में जो इष्ट अनिष्ट मधुर कटु इत्यादि का विचार नहीं रखता और हित मित सत्य बोलता है वह अजिह्व है।

२ षण्डक

अद्य जातां तथा नारीं तथा षोडश वार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः॥

अतिस्वल्पवयस्का हो या परम सुन्दरी षोडशवार्षिकी युवती हो या अतिवृद्धा या पद्मिनी आदि स्त्रियां हों किसी प्रकार की स्त्री को देख जो निर्विकार रहता है वह षण्डक।

३ पंगु

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव च॥

जो भिक्षार्थ और मलमूत्रादि त्यागार्थ एक योजन से अधिक नहीं जाता वह पंगु भिक्षु।

४ अन्ध

तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥

खड़े या बैठे या चलते हुए जिस का नयन दो चार हाथ परि-मित स्थान से दूर नहीं जाता वह अन्ध भिक्षु।

५ बधिर

हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत्।
श्रुत्वापि यो न शृणुते बधिरः स प्रकीर्त्तितः॥

हित अहित मनोहर, शोकप्रद और किसी प्रकार का वचन सुन कर भी मानो जो नहीं सुनता वह बधिरभिक्षु।

६ मुग्ध

सन्निध्ये विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः।
सुप्तवद् वर्त्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते॥

विषयों की प्राप्ति होने पर भी जो निर्विकार और सुप्तवत् रहता वह मुग्ध भिक्षु।

७ बहिर्मद

"१-कुलशील २-वित्तरूप ३-यौवन ४-विद्या ५-राज्य ६-तप ये छः बहिर्मद हैं। ये त्याज्य हैं।

८ भ्रम

"१-जात्यभिमान २-वर्णाभिमान ३-आश्रमाभिमान ४-गोत्राभिमान ५-नामाभिमान ६-कुलाभिमान"।

ये वेदान्त मे भ्रम कहलाते हैं।

९ ऐश्वर्य्यादि

ऐश्वर्यं श्रीर्यशो वीर्यं ज्ञानं वैराग्यमेव च।
एतद्वेदान्तिकैः प्रोक्तमैश्वर्य्यादीह षड्विधम्॥

"१–ऐश्वर्य २–श्री ३–यश ४–वीर्य ५–ज्ञान ६–वैराग्य

यह ऐश्वर्यादि षट्क कहलाता है। इस को भग भी कहते है अतः भगवान् यह नाम प्रसिद्ध हुआ है।

इस के अतिरिक्त १–जायते २–अस्ति ३–वर्धते ४–अपक्षयते ५–नश्यति और ६–परिणमते ये षट् भावविकार कहलाते हैं।

"१–त्वचा २–मास ३–रुधिर ४–मेद ५–मज्जा ६–अस्थि"

ये स्थूल देह के षट् कोश हैं।

"१–जरा २–मरण ३–क्षुधा ४–पिपासा ५–शोक ६–मोह"

ये छः वेदान्त में ऊर्मिसंज्ञक है।

"१–वैशेषिक २–न्याय ३–सांख्य ४–योग ५–पूर्वमीमांसा ६–उत्तरमीमांसा" ये छः शास्त्र हैं।

महर्षियों के रचित ये छः "श्रौत" शास्त्र हैं १–वैखानस २–सत्याषाढीय ३–कात्यायन ४–बोधायन ५–आपस्तम्ब ६–आश्वलायन।

"१–शिक्षा २–कल्प ३–व्याकरण ४–निरुक्त ५–छन्द ६–ज्योतिष" ये छः वेदाङ्ग संज्ञक हैं।

"१–स्नान २–सन्ध्या ३–जप ४–होम ५–आतिथ्य ६–देवार्चन" ये छः शुभ कर्म संज्ञक हैं।

"१–उत्पत्ति २–निधन [विनाश] ३–अगति ४–गति ५–विद्या ६–अविद्या यह उत्पत्ति षट्क संज्ञक है।

इत्यादि संज्ञाएं भी विज्ञान की वृद्धि के लिये संग्रहणीय हैं।

इति षड्विध संज्ञाः।

अथ सप्तविध संज्ञा

१–चैतन्य

"१–शुद्धचैतन्य २–ईश्वरचैतन्य ३–जीवचैतन्य ४–प्रमातृचैतन्य ५–प्रमाणचैतन्य ६–प्रमेयचैतन्य ७–फलचैतन्य यह चैतन्य सप्तक है। निरवच्छिन्न मायोपाधिरहित ब्रह्म शुद्ध चैतन्य। मायोपहितचैतन्य ईश्वरचैतन्य। अविद्योपहित चैतन्य जीवचैतन्य। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ

चैतन्य। अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चेतन्य प्रमाणचैतन्य। घटाद्यवच्छिन्नचै० प्रमेयचैतन्य (विषयचैतन्य) अन्तःकरणवृत्यभिव्यक्तचैतन्य फलचैतन्य। यद्यपि चैतन्य एक ही है तथापि उपाधिभेदसे चैतन्य का बाहुल्य है।

२-भूरादि

१-भू २-भुवः ३-स्व ४-महः ५-जन ६-तप ७-सत्यम्। यह भूरादि सप्तक हैं इस को ऊर्ध्व सप्तलोक भी कहते हैं।

३ पाताल

१-अतल २-वितल ३-सुतल४-तलातल५-रसातल६-महातल७-पाताल ये सप्त पाताल हैं।

४ ज्ञान भूमि

१-शुभेच्छा २-विचारणा ३-तनुमानसा ४-सत्त्वापत्ति ५-असंसक्ति ६-पदार्थाभाविनी ७-तुर्य्यगा ये सात ज्ञानभूमि हैं। जैसे उच्च भवन पर चढ़ने के लिये सीढ़ियां लगाई जाती हैं तद्वत् मोक्षाख्य गृह की उपलब्धि के लिये ये सात सोपान हैं। प्रथम शुभेच्छा=जीवमात्र सुखी हों जगत् में कोई भी दुःखी न हों ऐसी मनः कामना का नाम शुभेच्छा है कर्त्तव्याकर्तव्य का निर्धारण विचारणा कहाती है। एकान्त वास से सत्पुरुषों के संग से उत्तमोत्तम ग्रन्थों के अभ्यास से नित्य प्राकृत घटनाओं के अवलोकन से मन की एकाग्रता से इत्यादि उपायों से सुविचार उत्पन्न होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु में भी जब मन का प्रवेश होने लगता है तब वह तनुमानसा भूमि कहाती है। इन तीनों भूमियों में ज्ञानोत्पादन की योग्यता होती है, सदा नवीन वस्तु की जिज्ञासा कर्तव्य है। तब ही पुरुष को शुभेच्छा आदि भूमित्रय प्राप्त होता है। सत्त्वापत्ति वह है जिस में साधक आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व को अच्छे प्रकार जान अपने में ईश्वरीयगुणों का धारण करने लगता है। (सत्त्व= निजसत्ता उस की आपत्ति=प्राप्ति) लौकिक अथवा पारमार्थिक

कर्म्मों के त्याग का नाम "असक्ति" है। पदार्थाभाविनी " वह भूमि का है जिस में समस्तपदार्थों की सत्यता स्वयं भासित होने लगे। तुर्य्यगा वा तुरीया वा चतुर्थी भूमि वह है जिस में सर्वव्यवहार का उच्छेद हो शत्रु मित्र समान दीखे। सुख दुःख तुल्य भासित हो सदा आनन्दमय रहै। स्वार्थ का लेश भी न हो। मानो, जगत् में वह एक अद्वितीय उदाहरण हो।

५-मौनादि सप्तक

१-मौन २-योगासन ३-योग ४-तितिक्षा ५-एकान्तशीलता ६-निस्पृहत्व ७ समत्व इन का अर्थ स्पष्ट है।

६-धातु

" १-रस २-रुधिर ३-मांस ४-मेद ५-मज्जा ६-अस्थि ७-रत " ये सात धातु हैं स्थूल देह इन से ही बना हुआ है।

७-शीर्षण्यप्राण

दो नयन दो घ्राण दो कर्ण और एक मुख ये सात शीर्षण्यप्राण कहलाते हैं।

८-व्यसन

"१-उत्साह व्यसन २-विश्व व्यसन ३-सेवक व्यसन ४-मनो व्यसन ५-राज्यव्यसन ६-धन व्यसन ७-शरीर व्यसन" येसात व्यसन ज्ञान नाशक हैं। नृत्य, गीत, नाटकादि दर्शनेच्छा का नाम उत्साहव्यसन है। गृह, क्षेत्र स्त्री पुत्रादि सग्रह करने का नाम विश्वव्यसन। परद्रोहार्थ सेवकों की वृद्धि सेवकव्यसन। चौर्य्यादि नीच कर्मों में प्रवृत्ति मनोव्यसन। अन्यान्यराज्योंकोछीननेकी इच्छा राज्यव्यसन। सदा शरीर की ही पुष्टि निमित्त चेष्टा का नाम तनुव्यसन।

इति सप्तविध संज्ञा

अथाष्टविध संज्ञा

अष्टविध संज्ञाएं वेदान्तोपयोगिनी बहुत स्वल्प हैं।

१-अष्टमूर्त्ति

"१-पृथिवी २-जल ३-अग्नि ४-वायु ५ आकाश ६-सूर्य ७-चन्द्र ८-आत्मा" ये अष्टमूर्त्तियां कहलाती हैं।

२-पाश

१-घृणा २-शङ्का ३-भय ४-लज्जा ५-जुगुप्सा ६-कुल ७-शील ८-वित्त ये आठ पाश सञ्ज्ञक हैं। घृणा=दया। घृणा इस लिये पाश है कि किस पर दया करनी किस पर नहीं इस का विचार न करके कोई लो चोर डाकू आदि नीच कर्मकारी जनों पर भी दया दिखलाते हैं यह दया नहीं प्रत्युत वह पाश इस लिये है इस से जगत् में हानि होती है। कोई पुरुष चर्मकार डोम आदि वर्णों के मनुष्यों से घृणा करते हैं यह भी एक पाश ही है क्योंकि सद्व्यापार करने से कोई मनुष्य नीच नहीं होता। कोई अपनी स्त्री पुत्रादिकों से भी घृणा करने लगते हैं अपनी साधुता प्रकट करने के लिये उन के हाथ की कोई वस्तु न खाकर स्वयम् पाकी बनते हैं। इत्यादि विविध प्रकार के घृणी पुरुष हैं। वे सब ही पृथिवी परके कण्टक हैं। इसी प्रकार शङ्का भयादिके सम्बन्ध में अनुशीलन और चिन्तन करना उचितहै। "१-यम २-नियम ३-आसन ४-प्राणायाम ५-प्रत्याहार ६-धारणा ७-ध्यान ८-समाधि" ये आठ योगाङ्ग वेदान्त में भी उपयोगी हैं।

इत्यष्टविध सञ्ज्ञा।

अथ नवविधसंज्ञा

ज्ञातृज्ञाने च ज्ञेयश्च भोक्तृभोग्ये च भोजनम्।
कर्त्ता च करणं कर्म्म संसारो नवधा भवेत्॥

"१–ज्ञाता २–ज्ञान ३–ज्ञेय ४–भोक्ता ५–भोग्य ६–भोजन ७–कर्ता ८–करण ९–कर्म" । यही नवधा संसार है । इस जगत् में कोई जानने वाला है जैसे प्रत्येक प्राणी कुछ अवश्य जानता है । खान, पान, भयादि सब को ज्ञात है अतः प्राणीमात्र ज्ञाता है । जिससे वह ज्ञाता जानता है वह ज्ञान और जिस वस्तु को वह ज्ञाता जानता है वह वस्तु ज्ञेय है । इसी प्रकार भोक्ता खाने वाला । भोग्य = खाने के पदार्थ । भोजन = भोग कर्ता = करने वाला । करण = जिस साधन से कर्ता काम करता है । कर्म = प्रसिद्ध है । वेदान्त में इन को इस प्रकार कहेंगे । विषयरूप चैतन्य का प्रकाशक जो अन्तःकरण और अज्ञान का परिणाम तद्रूप जो वृत्ति तदुपहित जो चैतन्य वह "ज्ञाता" । इसी प्रकार विषय चैतन्य प्रकाशक जो अन्तःकरण और अज्ञान का परिणाम विशेष वह "ज्ञान" घटाद्यवच्छिन्न जो चैतन्य वह "ज्ञेय" । इत्यादि लक्षण ज्ञातव्य हैं ।

नवधारन्ध्र

इस शरीररूप पुर में नव या दश या एकादश रन्ध्र हैं वे ये हैं:– दो नयन रन्ध्र दो नासिका रन्ध्र दो कर्णरन्ध्र एक मुख रन्ध्र मूत्रेन्द्रिय रन्ध्र और १ गुदरन्ध्र ये ही नवधा रन्ध्र हैं । इस में ब्रह्मरन्ध्र मिलाने से दश और नाभिरन्ध्र से एकादश होते हैं । यद्यपि प्रत्येक रोम कूप एक प्रकार रन्ध्र ही है तथापि वह अति सूक्ष्म होने से रन्ध्र नहीं कहाता । इति नवविध संज्ञा

अथ दशसंज्ञा

१–दशधा नाड़ी

इस स्थूल देह में मुख्य ये दश नाडियां हैं "१–इडा" = वाम नासिका की नाडी । इस को चन्द्र नाडी भी कहते हैं । "२–पिङ्गला" दक्षिणनासिकास्थितनाड़ी (सूर्यनाडी) ३–"सुषुम्णा" = वाम और दक्षिण नासिकाके मध्यवर्तिनी नाड़ी । "४–गान्धारी = दक्षिणनेत्ररन्ध्र

"५-हस्तिजिह्वा"=वामनेत्रस्थानाडी। "६-पूषा"=दक्षिणकर्णस्था।
"७-पयस्विनी"=वाम कर्णस्था "८-कुहू"=गुदप्रदेशस्था
"९-शम्बुषा"=मूत्रेन्द्रियनाडी "१०-शङ्खिनी"=नाभिनाडी।।

इति दशधा संज्ञा।

चतुर्दश भुवन

भूरादि सप्त लोक और सप्त पाताल मिलकर चतुर्दश भुवन कहलाता है।

षोडशक लिङ्ग शरीर

श्लोक

इन्द्रियाणि दश प्राणाः पञ्चान्तःकरणं तथा।
इति षोडशकं लिंगमाहुर्वेदान्त वेदिनः॥

पञ्च कर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्च प्राण एक अन्तःकरण यह सब मिलकर षोडशक लिङ्ग शरीर कहाता है। इति षोडशक।

अथ सप्तलिंग शरीर

पञ्चप्राण मनो बुद्धि दशेन्द्रिय समन्वितम्।
लिंग सप्तदशात्मैतद् ह्याचार्याःकेचिदूचिरे॥

कोई आचार्य कहते हैं दश इन्द्रिय पञ्च प्राण मन और बुद्धि यह सत दश मिलकर लिङ्ग शरीर कहलाता है। कोई अन्तःकरण के चार भेद मान और पूर्वोक्त पञ्चदश मिलाकर १९ उन्नीस को लिङ्ग शरीर कहते हैं।
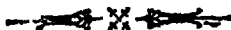
१—अपवाद

शास्त्रीय यौक्तिक और प्रत्यक्ष भेद से अपवाद तीन प्रकार का है। अध्यारोप का बाधक अपवाद है। रज्जु शुक्ति प्रभृति में जैसे सर्प और रजत का भ्रम होता है तद्वत् एक परमार्थ ब्रह्मरूप वस्तु में भी इस समस्त प्रपञ्च का भ्रम हो रहा है। इस महा भ्रम को दूरकर वस्तु को जान लेने का नाम अपवाद है। रज्जु में सर्प भ्रम मिटने पर केवल यथार्थ रज्जु का ही बोध रह जाता है। तद्वत् जीवगत अथवा ब्रह्मगत विपर्य्यय को निरस्त कर निजरूप को पहिचानना यही अपवाद है। सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र की प्रवृति एतदर्थ है यदि यह कार्य्य सिद्ध न हुआ तो शास्त्राध्ययन व्यर्थ है।

"अथात आदेशो नेति नेति"

इस श्रुति द्वारा अध्यस्त प्रपञ्चको मिथ्या जान केवल ब्रह्मस्वरूप निश्चय करना शास्त्रीय अपवाद है। पुनः जैसे मृत्तिका से भिन्नघट की सत्ता नहीं तद्वत् निखिल कारणी भूत ब्रह्माऽतिरिक्त वस्तुकी भी सत्ता नहीं इस निश्चय का नाम यौक्तिक अपवाद है। पुनः "तत्त्वमसि" "अहम्ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य द्वारा आत्म साक्षात्कार होने पर निखिल अज्ञान उस के कार्यों की जो निवृत्ति वह प्रत्यक्ष अपवाद है।

२—जीव

पारमार्थिक, व्यावहारिक, और प्रातिभासिक भेद से जीव तीन हैं।

३—आत्मा

पुत्रादिक गौणात्मा, देह मिथ्यात्मा और कूटस्थ मुख्यात्मा है इस प्रकार भी आत्मा तीन हैं।

४—अधीनता

जन्यत्व, आश्रयत्व, और भास्यत्व के कारण अधीनता तीन

प्रकार की होती है यथा पुत्रादिको की अधीनता इस लिये होती है कि जन्म समय वे सर्वथा अपने पालन पोषण मे असमर्थ रहते हैं इस लिये जन्यत्व के कारण अधीनता है। द्वितीय अधीनता वह है जिस को सभ्य असभ्य दोनों प्रकार की मनुष्य जातियां बलात्कार भोग रही हैं। मनुष्यमात्र ही राजा के अधीन है यह आश्रयत्व के कारण अधीनता है। क्योंकि राजा आश्रय और इतर जन आश्रयिता हैं। इसके कारण दो मुख्य हैं एक बल, शक्ति, सामर्थ्य, बलात्कारता इत्यादि दूसरा प्रजाओं की अज्ञानता। तृतीय अधीनता जड़ात्मा का है अर्थात् यह सम्पूर्ण जड़ प्रपञ्च भास्य है अथवा अधीन हैं। और आत्मा भासक और स्वामी है यह आत्मा अपनी महती शक्तिसे इन जड़ वस्तुयें को अधीनता में रखता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक पारिवारिक "इत्यादिक" अधीनता भी प्रबल है और अज्ञान की शक्ति इतनी है कि इस कूटस्थ ब्रह्म को भी जब ढांक लेता है तब इन व्यावहारिक जीवो की बात ही क्या। ये तो इसके दासानुदास हैं।

५—व्यावर्त्तक

व्यावर्तक भी तीन हैं अमुक वस्तु अमुक वस्तु से भिन्न है इस भेद परिचायक का नाम व्यावर्तक है। कहीं उपाधियों से भेद ग्रहण होता है यथा रक्तपुष्पोपाधि सहित स्वच्छस्फटिक अन्यान्यस्फटिकों से भिन्न प्रतीत होंगे इसी प्रकार उपाध्याय, आचार्य्य पाठक, पुरोहित आदि शब्द भी मनुष्यों में परस्पर भेद परिचायक हैं। जीवों के जरायुजादि चतुर्विध शरीररूप उपाधि परस्पर व्यावर्तक (भेदक) हैं। कही विशेषण से भेद ग्रहण होता है। जैसे यह गौ कपिला है वह कृष्णा गौ है यहां कपिलत्व और कृष्णत्व विशेषण होनेके कारण व्यावर्तक है। और कहीं उपलक्षण से भेद ग्रहण होता हैं जैसे जिस प्रासाद के ऊपर सब से उच्च पताका फहराती हो वह राजगृह है। यहां पता का उपलक्षण है।

६ वाक्यार्थहेतु

१—आकाङ्क्षा २—योग्यता ३—तात्पर्य्य ४—आसत्ति ये चार वाक्यार्थ

समझने में हेतु हैं। जिस पद के बिना जिस की कर्तव्यता और अन्वय का बोध न हो उसके साथ उस पद की आकांक्षा होती है। जैसे " द्वार " इतने कथन से न कर्तव्यता का ज्ञान न अन्वय ही होता है। किन्तु उसके साथ (बन्द करो) इतना जोड़ देने से अन्वय और कर्तव्यता दोनों का बोध होता है अतः 'द्वार' पद के उच्चारण के साथ यदि 'बन्द करो' या खोलो या टूट गया है इत्यादि पद न जोड़े जायं तो वह अप्रमाण है। गौ बैल आम, धान आदि पद भी तबतक अप्रमाण हैं जब तक इन के साथ आकांक्षित पद न लगाए जांय। एक पदार्थ का पदार्थान्तर से जो सम्बन्ध वह योग्यता है " अग्नि से सींचो " यह वाक्य योग्यता रहित है क्योंकि आग से जला सकते हैं न कि सींच सकते हैं। वक्ता की इच्छा को तात्पर्य्य कहते हैं। जैसे (सैन्धवमानय) सैन्धव लाओ। यहां लवण और अश्व दोनोंका नाम सैन्धव है। यदि भोजन काल में भृत्य से स्वामी कहता है कि " सैन्धवमानय " तब यहां वक्ता का लवण से तात्पर्य्य है और यदि यात्रा के समय कहता है तब अश्व से तात्पर्य्य है इस हेतु तात्पर्य्य भी शब्दार्थ का हेतु है। शक्ति वा लक्षणा सम्बन्ध से जो पदजन्य पदार्थोपस्थिति उसे आसत्ति कहते हैं। यद्वा सान्निध्य का नाम आसत्ति है। जैसे " ग्राम् " इतना कहकर एकप्रहर के पश्चात् आनय कहे तो यहां आसत्ति न होने से वाक्यार्थ ज्ञान न होगा।

७—अनादि षट् पदार्थ

१—शुद्धब्रह्म २—ईश्वर ३—जीव ४—अविद्या ५—अविद्या और चेतन्य का सम्बन्ध ६—अनादि वस्तु का भेद।

८ चतुर्दशविद्याएं

ऋगादयस्तु वेदाःस्युश्चत्वारोऽङ्गानिषट् तथा।
तथोपांगानि चत्वारि विद्या एताश्चतुर्दश॥

चार वेद चार उपवेद और छः अङ्ग ये चतुर्दश विद्याएं कह लाती हैं।

९—कारणत्रयवाद

१—आरम्भकारण। २—परिणामकारण। ३—विवर्तकारण

इस प्रकार तीन कारण वाद हैं। नैयायिक और वैशेषिकों का आरम्भ कारणवाद है। वे कहते हैं कि प्रथम ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है पश्चात् द्वयणुक तब त्रसरेणु तब चतुरणु इत्यादि क्रम से यह समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है। सांख्य वेत्ता परिणाम कारणवाद मानते हैं वे कहते हैं कि उपादान कारण के समान स्वभाव वाला जो अन्यथा स्वरूप उसे परिणाम कहते हैं। कारण के समान कार्य होता है। यह जगद्रूप कार्य्य अशुद्ध अपवित्र सुख दुःख मोहात्मक है अतः इसका उपादान कारण भी तत्समान ही होना चाहिये। तत्समान प्रकृति है उसी से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। वेदान्तियों का विवर्त्त "कारण" वाद है अधिष्ठान से विपरीत स्वभाव वाला अन्यथा रूप का नाम विवर्त है। इस मत मे यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है।

इति वेदान्त पुष्पाञ्जलौ संज्ञाप्रकरणम् समाप्तम्
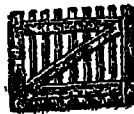
ओश्मोब्रह्मणे

अथ

वेदान्त पुष्पांजलि

मंगलाचरण

प्रथम सत्याकार ज्ञानस्वरूप आनन्दघन सर्वरस (१) सर्वगन्ध प्रियतम प्रेमाकार परमपवित्र सर्वगत अखण्ड अचल अदृश्य हृदयस्थ अन्तर्य्यामी सर्वकर्मद्रष्टा सर्वानुग्रहाकांक्षी दयालु न्यायवान् उस परमात्मा को नमस्कार हो जिस की अनिर्वाच्या अकथनीया सद्-सद्विलक्षण सनातनी माया के ये आकाश, वायु, तेज जल और पृथिवी प्रभृति समस्त जगत् परिणाम हैं। जिस से यह चराचर विश्व होता है जिस का निःश्वास वेद, वीक्षित पञ्चभूत, स्मित चराचर जगत्, और स्वप्न महाप्रलय हैं। उस परम मातापितृरूप स्नेही वत्सल परमदेव को वन्दना हो। जिस की छटा ये सकल सूर्य्यादि देव हैं। जिस से यह व्यावहारिक जगत् भी अस्ति भाति प्रिय नाम से और रूप से युक्त हो रहा है।

भगवन्! अन्तर्य्यामिन्! नाथ! मेरे हृदय से असत्य दम्भ और अज्ञानादिकों को निकाल उस मे सत्य, ज्ञान, प्रेम, उत्साह और आनन्द आदि सद्गुण स्थापित कर अतःशुद्ध परमपवित्र देव मुझ को असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर ले चल। व्रतपते! अनृत से दूर कर सत्य से सुसज्जित कर। भगवन्! मैं सदा तेरी कृपा से सर्वकाल, सर्वदेश

---

(१) टि०-सर्वकर्मा, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः। छां० ३-१४

और सर्वावस्था में सत्यग्रहणी सत्यव्रतिनी, सत्यदेवा, सत्यपरायण और सत्यनिमग्नाहोऊं । ।उस व्रत के पालन के लिये शक्ति दे। महेश ! मैं कदापि तुझे न छोड़ूं तू मुझे न छोड़। मुझ में मत, अध्ययन, श्रद्धा, विश्वास, भक्ति प्रेम और अनुराग स्थापित कर। महादेव ! यद्यपि तू मैं है और मैं तू हूं। तथापि तेरा मैं हूं तू मेरा नहीं। समुद्र का तरङ्ग है तरङ्ग का समुद्र नहीं। तुझे भूरि २ नमस्कार हो। तू धन्य २ है। तेरी आज्ञाएं प्रचलित हों। तेरी ही कीर्ति तेरे सब सन्तान गावें। तेरे मार्ग पर चलें। तुझ से क्षण मात्र भी पृथक् न होवें।

तदनन्तर वेद प्रवर्तक ब्रह्मवादी ब्रह्मपरायण महर्षि अगस्त्य गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, दीर्घतमा कक्षीवान् अर्थात् ऋग्वेदके प्रथम मधुछन्दा ऋषिसे लेकर यनन ऋषि तक, यजुर्वेद के परमेष्ठीप्रजापति से लेकर दीर्घतमा ऋषि तक। सामवेद के भरद्वाज ऋषि से लेकर अप्रतिरथ ऋषि तक एवं अथर्ववेद के जितने अथर्वा और अङ्गिरा आदि ऋषि हुए उन सबको नमस्कार करती हूं। तथा ब्रह्मवादिनी, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, रोमशा, शची, इन्द्राणी प्रभृति ऋषिकाओं की वन्दना हो।

तत्पश्चात् अद्वैतवादी ब्रह्मस्वरूप निदर्शनभूत महर्षि (२)

---

(२)–टि०–वेदों उपनिषदों और संस्कृत शास्त्रों में महर्षि और ब्रह्मवादी वामदेव की चर्चा और आख्यायिका अद्भुत रूपसे वर्णित है। उन के सम्बन्ध में दो चार बातें इस प्रकार हैं। ये ऋग्वेद के सम्पूर्ण चतुर्थ मण्डल के द्रष्टा ऋषि हैं। २–इसी मण्डल के सूक्त २६ के तीन मन्त्रों में ऋषि स्वयम् कहते हैं कि—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः। इत्यादि। १।

अहं भूमिमददामार्याय।…२। अहंपरो मन्दसानः। ३। (देखो पेज नम्बर ३)

वामदेव (२) कठ। मुण्डक, माण्डूक्य, महीदास, ऐतरेय, तित्तिरि, ताण्ड्य, और याज्ञवल्क्य एवं उदाहरणीय।

अर्थ-मैं मनु हूं मैं सूर्य हूं मैं मेधावी ऋषि कक्षीवान् हूं। मैं अर्जुनी के पुत्र कुत्स को ऋषि बनाता हूं। मैं उशना कवि हूं। हे मनुष्यो! मुझको सर्वात्मक देव समझो। १। मैं आर्य्य को भूमि देता हूं। मैं दानी मर्त्य को वृष्टि देता हूं। मैं जब चाहता तब जल लाता हूं। मेरी आज्ञा को सब देव मानतेहैं। २। अतिथि सत्काररत ऋषि दिवोदास को जब बचाता हूं तब उनके लिये प्रथम शम्बर के ६६ नगरों को विध्वस्त करता हूं और शततम नगर उन के रहने के लिये छोड़ता हूं। ३। इत्यादि पुनः-गर्भेनसन्नन्वेषाम्। इत्यादि। ४। २७। १ में वर्णन आता है कि ऋषि वामदेव मातृगर्भ ही में बोल ने लगे। और पश्चात् योग द्वारा श्येनरूपमें गर्भसे निकल पड़े। इत्यादि। पुनः ४ इनकी विपत्ति की। कथा भी ऋग्वेद में कही गईहै एक आपत्तिनमें विप्र इमके रक्षासे बहुतसी गौवोंको लेकरनिर्वाह किया। द्वितीयआपत्तिमें स्त्री सहित कुक्कुरके मांस खानेके लियेभी प्रस्तुत हुए। ४। १८। १३ यह चर्चा मनुस्मृति में भी आई है-शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशोवामदेववत्। वेदान्त सू० ३०। इस सूत्र में पूर्वोक्त विषय की चर्चा है पुनः बृह० १। ४। १० में भी देखिये। ५-यज्ञों में वामदेव्यगान अति प्रसिद्ध है यह परम सिद्ध ब्रह्मरूप ऋषि हुए हैं। प्रतीत होता है इन से ही अद्वैत सिद्धान्त का आरंभ हुआ है। वामदेव के चरित्र का अनुकरण बहुधा बुद्धमहाराज के जीवन में दिखलाया गया है।

(२) टि०-कठोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, माण्डूक्योपनिषद, ऐतरेयोपनिषद, तैत्तिरी यापनिषद इत्यादि कठ आदिकों के नामपर एक एक उपनिषद प्रसिद्ध है। छान्दोग्योपनि० कर्ता ताण्ड्य और बृहदारण्यकोपनिषद् कर्ता याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं। ये ही उपनिषदें वेदान्त है-इन ही उपनिषदों को लेकर बादरायण व्यास ने वेदान्त सूत्र रचा है। इनकी ही छाया पर वेदान्त के शतशः ग्रन्थ रचे गये हैं।

महाराज (४) जनक, अजातशत्रु, कौषीतकि। शालावत्य, शिलक, दाल्भ्यचैकितान, प्रवाहण, जैवलि, उषस्ति, चाक्रायण, ग्लाव, मैत्रेय। शाण्डिल्य, (५) घोराङ्गिरस (६) पौत्रायण जानश्रुति, (७) सयुग्वा रैक्व (८) सत्य काम जाबाल (९) कामलायन उपकोशल (१०) आरुणेय श्वेतकेतु (११) कैकेय अश्वपति (१२) भगवान् सनत्कुमार और नारद इत्यादिकों को बहुशः प्रणतिततिं विलसित होवें जो प्रातः स्मरणीय हैं और जिनके आत्मचरित्र पढ़ कर, अद्यतन पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं।

---

(४) टि० जनक और अजातशत्रु आदिकों का पक्ष उपनिषदों में वर्णित हैं।

(५) टि०-छान्दो० ३। १७ में ब्रह्मोपदेशक घोर ने देवकी पुत्र कृष्ण को ऐसी शिक्षा दी है जिससे वे अपिपास हो ब्रह्मरूप हुए।

(६) टि०-छान्दो ४। १ ये बहुदायी और श्रद्धापूर्वक दाता राजा थे जिन्हों ने कन्या देकर ऋषि रैक से ब्रह्मविद्या का अभ्यास कर " सब से ज्ञान ही श्रेष्ठ है " यह जाना।

(७) टि० छान्दो० ४। १। ये जानश्रुति के ब्रह्मोपदेशक थे।

(८) टि० छा० ४। ४। ये जाबाला के पुत्र अज्ञात कुलगोत्र के थे पश्चात् ब्रह्मवादी हुए।

(९) टि० छा० ४। १० ये सत्य काम जाबाल के शिष्य और ब्रह्मवित् हुए हैं।

(१०) टि० छान्दो० के सम्पूर्ण षष्ठ प्रपाठक में श्वेतकेतु और उनके पिता का संवाद है जो समस्त वेदान्त शास्त्र का बीज है।

(११) टि० ये महाराज और ब्रह्मवेत्ता थे। छान्दो० के पञ्चम प्रपाठक मे इन का रोचक संवाद है।

(१२) टि० छान्दो० के सम्पूर्ण सप्तम प्रपाठक में इन दोनों का परमपवित्र संवाद है।

पुनः वेदान्तसूत्ररचयिता बादरायण (१३) व्यास तदुपरि शारीरक भाष्यकर्ता शङ्कराचार्य्य। भाष्य के ऊपर टिप्पणी कारक और भाष्यविस्तारक भामतीकार वाचस्पतिमिश्र, भाष्यरत्न प्रभाकृत गोविन्दस्वामी और न्यायनिर्णयव्याख्याकर्ता आनन्दगिरि, तथा रामानुज, वल्लभ, मध्व, इत्यादि २ महापुरुष मेरे प्रणम्य और सम्माननीयहैं। इस पृथिवी पर पक्षपात रहित छल कपट हीन सत्यान्वेषी ज्ञान विज्ञानानुरागी मनुष्य हितचिन्तक जितने महापुरुष हुए हैं। वे सबही सबके आदरणीय होने चाहिये। जातिभेद और देशभेद को दूरकर समस्त पृथिवी पर के विद्वान् आचार्य्य धर्म्म के नाना शाखाओं के प्रवर्तक और शुभपथ प्रदर्शक महोदय वर्ग मेरे अर्चनीय और इन्हें निज उपदेष्टा मानती हूं। षट् शास्त्रके प्रणेता कपिल पतंञ्जलि, कणाद, गौतम, जैमिनि और बादरायण व्यास को, भारत के गुरु, आचार्य्य और तर्कों के प्रतिष्ठापक भविष्यत् सन्तानों को मार्गविधायक, जान उनके पवित्र नामों को प्रातः स्मरणीय समझती हूं।

इसी प्रकार जो जो महात्मा किसी कारण वश धर्म की किसी एक शाखा के भी स्थापक अथवा प्रचारक हुए हैं। वे भी अन्तःकरण में वन्दनीय हैं।

जैसे बुद्ध, जिन, शङ्कर, रामानुज, रामानन्द, कबीर, गौराङ्ग, नानक, दादू, सममोहन, दयानन्द और केशव आदि। मैं जिस आदर दृष्टि से भारतीय आचार्यों को देखती मानती और उनके यशोगान करती

---

(१३) टि० बादरायण, जैमिनि, बादरि, औडुलोभ आत्रेय, कार्ष्णाजिनि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न इत्यादि वेदान्ताचार्य्यों के नाम वेदा० सूत्र में पाए जाते हैं। इन में बादरायण यह नाम व्यास का ही है यह बहुतों की सम्मति है। पूर्वमीमांसाकर्त्ता जैमिनि हैं यह प्रसिद्ध ही है अन्यान्य आचार्यों के ग्रन्थ प्रायः सम्प्रति नहीं पाएजाते हैं।

उसी दृष्टिसे विदेशीय महापुरुषों को भी अपना पूज्य समझती हूं। मूसा, दाऊद, ईसा, मैथ्यु, जुरदस्त, साक्रेटीज, गैलेलियो, न्यटन, डार्विन, स्पेन्सर, मुहम्मद, अबूबकर प्रभृति भी मेरे श्लाघनीय और हृदय के श्रद्धास्पद हैं। धन्य वे हैं जिन के पवित्र चरित्र से और अमृत उपदेशों से एरभव सन्तान सुखी होते हैं और इस भूमि की शोभा बढ़ती है।

मैं पृथिवीपर के अखिल मनुष्यों को स्वकीय भ्राता समझतीहूं। समुद्रकृत अथवा पर्वतादिकृत देश भेद मेरे निकट घृणित है। क्या, भारतीय आर्य्य क्या चीन जापानीय बौद्ध क्या मुसलमान क्या क्रिस्तान और क्या पारसी आदि मेरे समीप समान हैं उसी प्रीति और श्रद्धा से भूमि पर की समस्त भाषाएं पहलवी, हिब्रू, ग्रीक, लाटिन, अरबिक, इङ्गलिश आदिकोंको देखती हूं जैसे संस्कृत भाषा को। विष्णु आदिकों के मन्दिर हों या क्रिस्तानों के गिरिजाघर हों अथवा मुहम्मदीय मसजित हों अथवा बौद्धादिकों के बिहार हों सब ही मेरे श्रद्धास्पद हैं। भेद से अभेद की ओर आओ। यही वेदान्त की शिक्षा है। तब ही सुख है। मेरे हृदयमें यह सदा निवास करता है कि समस्त मनुष्य नाम भेद को त्याग एक ही मन्दिर में बैठ उस ब्रह्म की उपासना करें। विद्वानो! उस परमपिता से डरते हुए स्वजाति के भी तो हित की चिन्ता करो। भेद क्या है। यह मानो महामारी प्लेग है। इसी भेद ने ही तो हिन्दुओं के असंख्य मन्दिरों को तुड़वाया। इन की लज्जा का हरण करवाया। इसी ने मुसलमानों और क्रिस्तानों में रोमहर्षण महासमर करवाया। इसी ने बुद्ध देव को यहां से निकाल बाहर किया। एवमस्तु। भेद से अभेद की ओर आइए, यही निवेदन है।

यह परमात्मा स्थावर-जङ्गम का आत्मा है। इसी को शैव शिव नामसे, वैष्णव विष्णु संज्ञासे, सौर सूर्य्याभिधान से, गाणपत्य गणपति नामधेय से, बौद्ध बुद्ध पद से, जैन जिन शब्द से, इसलामी अल्लाह कहकर, क्रस्तान गौड पुकार कर, कोई रामजान, कोई कृष्ण

मान पूजते हैं। इसी के नाम मित्र,वरुण,इन्द्र, अग्नि, वायु, सविता, सूर्य्य, मनु, यम, प्राण, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, विष्णु, शिव,अल्लाह अहुर, जिहोवा, गॉड, बुद्ध, जिन आदि २ अनन्त हैं। इसी के अंश अंशांश कोट से लेकर सूर्य्य तक है। इसी की कणिका का विवर्त्त या परिणाम यह सम्पूर्ण विश्व है। तब क्या इस के अन्तर्गत बुद्ध, जिन, ऋषभदेव, मुहम्मद, मूसा,ईसा आदिक नही हैं। सब ही इसी के अंशांश हैं। विद्वानो! ऐसा ही समझो। भेदसे अभेद की ओर आओ, यही वेदान्त की शिक्षा है।

यदि काली, दुर्गा, भुवनेश्वरी, तारा, आदि मूलामाया के नाम-मात्र हैं। यदि यह सृष्टि की कर्त्री पात्री और संहर्त्री हैं तो ब्रह्म से और इस से भेद क्या? जो नाम रूप का भेद मानते हो सो केवल कल्पित है। नामरूपोपाधि को त्याग इसी की उपासना से प्रथम अन्तःकरण के मलादि दोषों का प्रक्षालन करो। मानव सन्तानो! एक ही देव सब मे गूढ़ नानावर्ण, नानारूप और नानानाम से विख्यात और प्रकाशित होरहा है। क्या इसे नही देखते छलकपट एवं रागद्वेष पक्षपातादि दोषों को छोड़ इसी की शरण में आओ। मै मनुष्यजाति की उन्नति तब ही समझूंगी जब सब कोई परस्पर जाति देश सम्प्रदाय कुल वर्णादि भेदों का तिरस्कार कर मानवमात्र को अपने परिवार के समान समझेंगे।

प्रश्न-आपका उपदेश कार्य्य योग्य नहीं,जैसे स्वच्छन्दचारी अज्ञानी बालक अनर्गल भाषण करता है तत्समान ही आप को उक्ति है। क्या अग्निको जल जलको अग्नि मानना भी कोई बात है? परमार्थ में जो कुछ हो व्यवहार मे भेद ही भेद देखते हैं तब कैसे भेद को त्याग अभेदी बनें?-क्या स्त्री को पुरुष समझलें? भारत को इङ्गलैण्ड मान वहां की समस्त नदियों मे पवित्र भागारथी बुद्धि करलें और अङ्गरेजों को आज से ब्राह्मण कहा करें? यदि ऐसा हो तो अमेरिका के किसी कोट्याधिपति को निजस्वरूप समझलेता हूं। क्या इस से मैं

भी वैसा ही धन कुवेर बनजाऊंगा । मुहम्मद, मुहम्मद ही है राम राम ही है । इस भेद को कौन मिटा सकेगा ? पुनः आप कहते हैं कि विष्णु, शिव आदि उसी के नाम हैं । यह मैं कैसे मानूं, मान लीजिये कि किसी पुरुष के बीस नाम हैं तो क्या इस के प्रत्येक नाम के साथ भिन्न २ एक ॰ स्त्री एक २ परिवार आदिक होंगे । कदापि नहीं । यहां तो देखते हैं कि शिव की अर्धाङ्गिनी पार्वती, पुत्रगणेश, कार्तिकेय, वाहन वृषभ और भूषण चन्द्र, नाग, भस्म आदि । विष्णु की पत्नी लक्ष्मी, वाहन गरुड़ आदि । इस प्रकार प्रत्येक देवता की भिन्नता है । तब सब को समान कैसे समझूं । व्यवहार में यदि लाटसाहबको अभेददृष्टि से और शरीरोपाधि को दूर कर चपरासी मान उन्हे जूता लाने को आज्ञा देवें तो क्या दशा होगी । अतः ईदृश् उपदेश त्याज्य के अतिरिक्त और क्या है ?

समाधान-यहां उपासना विषय प्रकृत है । इस को लेकर आक्षेपों का समाधान किया जाता है । अन्यान्य अभेद सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर आगे विस्तार से रहेगा । जब सर्ववादी १० । २० सृष्टिकर्ता नही मानते । इस दृश्यादृश्य जगत् का एक ही कोई स्रष्टा, पाता, और संहर्ता है यह सर्व राद्धान्त है । तब इस से क्या सार निकलता है इस की मीमांसा कीजिये । निःसन्देह, इस से स्वतः सिद्ध होता है कि सृष्टिकर्ता अवश्य एक ही है किन्तु अपनी अपनी भाषा में उस के भिन्न २ नाम स्व २ विचार अनुकूल उस में नाना गुण और विशेषण लगा दिये हैं । जैसे एक ही महापुरुष के गुण नाना भाषाओं में नाना रीति से गाए जाने से वे दो चार न हो जायंगे । इस हेतु जब सब देशवासियों का सृष्टी पिता वही एक है तब भेद मान कर कलह करना कितना अनुचित और उन्मत्त का काम है, सोचिये उस के पत्नी वाहन आदिक जो भिन्न २ कहे जाते हैं वे सब ही भक्तजनों की कल्पना है क्योंकि- उस का शुद्ध पवित्र रूप है । वह निरुपाधि है । श्रुतियां और सर्वज्ञानी कहते हैं कि वह अदृश्य, अग्राह्य, अपाणि, अपाद, अकाय, अव्रण, पूर्ण,

मङ्गलाचरण

अखण्ड, नित्यतृप्त, निष्काम, असहाय, सर्वगत, सुसूक्ष्म, अन्तर्यामी, सर्वद्रष्टा इत्यादि २ प्रकार है। ज्ञान ग्रहण करने से ही विदित होने लगेगा कि उस के साथ कलत्रादि कल्पना सर्वथा हेय है। अतः पृथिवी पर के मनुष्य परस्पर भाई होने से उन के धर्म, कर्म बैठना उठना सभा समिति, विचार न्याय आदि समान ही होने से शुभ है। पारस्परिक भेद से केवल क्लेशों की ही वृद्धि है। यदि कहें कि जब सहोदर भी तो लड़ ही रहे हैं। एक देश वासी भी अन्योन्य एक दूसरे का मांस तक खारहे हैं। जितना ही सम्बन्ध निकटस्थ है उतना ही अधिक समर है। इसी का सूचक संस्कृत में भ्रातृव्य शब्द शत्रु का पर्याय है। इस से सिद्ध है झगड़ा प्रथम निज भाई से ही आरम्भ हुआ है। देवासुरसंग्राम इसका निदर्शन है। महाभारत भी वैसा ही है। तब उपासना एक होने से क्लेशों का प्रहार होगा यह कैसे। इस पर कथन है कि वे सब ही निन्द्य हैं जो मनुष्य होकर मनुष्य की हानि करते हैं। इस में सन्देह नहीं कि अपने २ स्वार्थ को ही पिता पुत्र पति पत्नी भी देखती है। किन्तु शास्त्र इन ही दोषों को दूर करने के लिये प्रवृत्त होता है। जो इस के निकट आते हैं वे बचते हैं अन्यान्य पुरुष सम्पूर्ण जीवन दुःखालय बने रहते हैं। यद्यपि परस्पर भाई भी द्वेष करते हैं तथापि इन में प्रेम की मात्रा अधिक है। उदाहरण देखिये। यहां ही देखते हैं कि हिन्दू से हिन्दू मुसलमान से मुसलमान और क्रिस्तानसे क्रिस्तान जितना प्रेम रखते हैं उसके शतांश भी क्रिस्तान को हिन्दू से नहीं। प्रत्युत क्रिस्तान और मुसलमान हिन्दू को निज शत्रु समझते हैं। जब मुहम्मदियों ने क्रिस्तान को पवित्र स्थान जेरुशेलम को लेलिया था तब सम्पूर्ण यूरोप निवासी क्रोधकर कालरूप-धारण कर अनेक वर्षतक घोर संग्राम करते रहे। इसलामियों ने भारत पर आक्रमणकर हिन्दूओं के लक्षों मन्दिरों को भूमिसात् करदिया। इसका एक ही कारण है। वह यह है कि हमारी उपासना भिन्न २ है और जैसे भारत-

वासी यहां के वेदों पुराणों और महाभारतादिकों के समझते हैं। तद्वत् कुराण बायबल आदिकों को नहीं। इसी प्रकार क्रिस्तान आदिकों में भी ऐसा ही ढंग का विचार है। विद्वानो! यह सब अज्ञानकृत है। इन्हें दूर करो। जहां तक हो अभेद से भेद की ओर आओ। श्रुति कहती है कि "तत्र को मोहः—कः शोकएकत्वमनुपश्यतः" "मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति" इत्यादि। इस में सन्देह नहीं किमानव लीला स्वार्थमयी और अज्ञान परिपूर्ण है। वर्तमानकालिक नतन २ आविष्कृत विद्याएं, सुप्रबन्धराज्य और ये सहस्त्र पाठशालाएं इस उन्नतिशीलजाति को दुःखों से बचा नहीं सकती। चारों तरफ मनुष्यों का ग्रह रोदनालय बन रहे हैं। प्रियहितचिन्तकज्ञानियों! जिन उपायों से मानव दुःख कुछ न्यून हों वे अनवरत विद्वज्जनों का कर्तव्य है। मैं समझती हूं वह यह कि सब कोई छल कपट छोड़ उस की शरण में आओ। समुद्रपर्वतजातिवर्णादिकृत भेदों की त्याग परस्पर भ्रातृभाव की स्थापना करो। इति॥

नामस्मरण-परमात्मा के नामों का स्मरण करना भी जीवन को पवित्रता की ओर लेजाता है। वे नाम विपत्ति में महान् आधार हैं। सुख में आनन्दप्रद हैं। हृदय के उल्लास और सन्तोष हैं। विश्वास का पुञ्ज हैं। मनुष्यों को जितना दान पुण्यादिकों से सन्तोष नहीं होता उतना नामस्मरण से होता है मरण काल में केवल नाम ही आधार है। वृद्धावस्था में विक्षेपों के रोकने वाला नाम है। किन्तु यदि नामके अनुसार आचरण नहीं हो तो परमात्मा के नाम कदापि रक्षक नहीं होते। उस पुरुष को मिथ्याचारी, आडम्बरी समझ ईश्वर त्याग देता है। सहस्त्रों नाम जपो, प्रतिक्षण जपते रहो परन्तु यदि तुम्हारा भाव दुष्ट है तो कदापि रक्षा नहीं।

गुणोपासना

नाम कल्पित [illegible] यह वेदान्त की शिक्षा है। परीक्षा से भी

यही प्रतीत होता है। क्योंकि जितनी भाषाएं उतने नाम हैं मनुष्य के ही भिन्न २ भाषाओं में भिन्न २ नाम हैं। अतः किसी एक ही नाम को मुख्य मानना भी यौक्तिक नहीं। किसी नाम से उसे पुकारो यदि तुम्हारा भाव और प्रेम सत्य है तो वह प्रसन्न होगा। अन्यथा नाम ही से क्या। मुख्य गुण ही है। गुण एक ही है। अग्नि के जो गुण यहां हैं वे ही समस्त पृथिवी पर है। किन्तु नाम भिन्न २ हैं। केवल नाम और रूप जानने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, किन्तु गुणों के जानने से कार्य्य की सिद्धि होती है। निम्ब के गुणों को जानकर ही विविध प्रयोगों में ला सकते है। वैज्ञानिक पुरुष इन वायु, अग्नि, जल, विद्युत् और धातु आदिकों के गुणों को जान इनसे कैसा २ अद्भुत काम ले रहे है। यहां भी भारतवासी इन नामों से परिचित होने पर भी इनसे उतना काम न ले सके। अतः संक्षेप से यह कहना है कि ईश्वर के गुणों का पूर्णरीति अध्ययन करो। श्रुति कहती है:—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा
तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति। छान्दो०।१।१।१०

ज्ञान, श्रद्धा और उपनिषद् से जो कर्म किया जाता है वही बलवत्तर होता है। स्वयं ऋग्वेद कहता है कि "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। "किमृचा करिष्यति य उ तद्विदुस्त इमे समासते" "नतं विदाथय इमाजजान०" इत्यादि। उसी को जान मृत्यु का पार जाता है दूसरा मार्ग नहीं ऋग्वेद से वह क्या करेगा यदि उसको न जान सका। जो उसे जानते हैं वे ही उसे पाते है। हे मनुष्यो! तुम उसे नहीं जानते हो जिसने इनको बनाया। तुम्हारा अन्तः करण अविद्या से आछन्न आडम्बर युक्त और विद्याभिमानी बन कल्याण से दूर २ जा रहा है। इत्यादि शतशः वाक्य ज्ञान की ही प्रशंसा करते हैं।

वेदान्त के ग्रन्थ

वास्तव में उपनिषदों का ही नाम वेदान्त है। अथवा उन के ही आधार पर वेदान्त शास्त्र की रचना हुई है। वेद का जो अन्त वह वेदान्त अथवा वेद का अन्त (निर्णय) हो जिस में वह वेदान्त कहाता है। ये दोनों अर्थ इस के हो सकते हैं। प्रतीत होता है कि यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय " ईशावास्यमिदं सर्वम् " इत्यादि में बीज रूप से अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश है। अतः इसका नाम वेदान्त रक्खागया। यही अध्याय उपनिषदों में प्रथम ईशोपनिषद् नाम से लिखा जाता है। अथवा मूल चारों ऋग्, यजु, साम और अथर्व वेद और इनके ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और गोपथ और अन्यान्य ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ये दोनों (वेद और ब्राह्मण) भी वेद के नाम ही से पुकारे गए हैं। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदके ऊपर टीका, टिप्पणी, विनियोग, कल्प, आदि करते हैं। वास्तव में वेदों के मूलमन्त्रों को ले लेकर यज्ञों में विनियोग दिखलाते हैं। तथापि ये वेद नाम से ही पुकारे गए हैं। इन ही ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग प्रायः उपनिषद् हैं। अतः यह वेदान्त कहाता है। ईशोपनि० को छोड़ कर ऋगादि वेदों के अन्त में उपनिषदें नहीं पाई जाती। १०८ उपनिषदें आजकल मुद्रित हुई हैं। इनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक्य, मांण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक, ये १० उपनिषदें ही परम प्रसिद्ध हैं। इनके समान श्वेताश्वतर, कौषीतकी और मैत्री ये तीन उपनिषदें भी हैं। इनको ही सूत्रकार और भाष्यकार आदि श्रुति और वेद नाम से पुकारते आए हैं। इन पर ही पूर्वाचार्य्योंके बडे२ सूत्र, कारिका और भाष्यआदि हैं। गौडपादकारिका, सर्वोपनिषत्सार, अनुभूतिप्रकाश और आत्मपुराण भी उपनिषदों के तत्वों का अपनी २ बुद्धि के अनुसार वर्णन करते हैं। अतः ये भी वेदान्त नाम से प्रख्यात हैं। आजकाल जितनी उपनिषदें पाई जाती हैं और जिस २ वेद की कहलातीहैं इन सबोंको यथाक्रमसे लिखतेहैं।

(१) सामवेद की षोडश १६ उपनिषदोंकेनाम

अव्यक्त उपनिषद्	७ जाबालीउपनिषद्	१३ वज्रसूचिक उपनि०
आरुणि *	८ महत *	१४ वासुदेव *
कुण्डिका	९ मैत्रायणी	१५ सन्यास
केन *	१० मैत्रेयी	१६ सावित्री[२]
छान्दोग्य *	११ योगचूड़ामणि	
जाबाल दर्शन	१२ रुद्राक्ष	

(२) ऋग्वेदीय १० उपनिषदों का नाम

अक्षमालिका उपनिषद्	५ त्रिपुरा	८ मुद्गला
आत्मप्रबोध *	६ नादबिन्दु *	९ बव्हृच
ऐतरेय *	७ निर्वाण	१० सौभ्य
कौषीतकी *		

(३) अथर्ववेदीय उपनिषदों के नाम

अथर्व शिखा उप०	९ दत्तात्रेय	१७ प्रश्न *
अथर्व शिर	१० देवी	१८ भस्म
कृष्ण *	११ नारदपरिव्राजक	१९ भावना
गणपति *	१२ नृसिंहतापिनी*[१]	२० महानारायण *
गारुड़	१३ परब्रह्म	२१ महावाक्य
गोपालतापन	१४ परिव्राजकान्नपूर्णा	२२ माण्डूक्य
जाबाल	१५ परमहंस	२३ मुण्डक *
त्रिपुरा	१६ पाशुपत	२४ रामतापिनी*[२]
५ रामरहस्य	२८ शाण्डिल्य	३० सूर्य्यात्म
६ बृहज्जाबाल	२९ सीता	३१ हयग्रीव
७ शरभ		

---

१ टि०—नृसिंह पूर्वतापिनी, नृसिंहोत्तरतापिनी पृथक् २ येदो उपनिषदें हैं और मिलती भी हैं।

२ टि०—रामपूर्वतापिनी रामोत्तरतापिनी ये भी दो उपनिषद् हैं।

(४) शुक्लयजुर्वेदीय १९ उपनिषदों के नाम

१ अतीताध्यात्म उप०	८ परमहंस *	१४ मुक्तिका *
२ ईशावस्य *	९ पैङ्गल	१५ याज्ञवल्क्य
३ जाबाल *	१० ब्राह्मण मण्डल	१६ बृहदारण्यक
४ तारसार	११ अद्वय तारक	१७ शाट्यायनी *
५ तुरीय	१२ भिक्षु	१८ सुबालय
६ शिखी	१३ मन्त्रिका	१९ हंस *
७ निरालम्ब		

(५) कृष्ण यजुर्वेदीय ३२ उपनिषदों के नाम

१ अक्षि उप०	१३ तेजोबिन्दु उप० *	२३ योगतत्त्व *
२ अमृतनाद	१४ तैत्तिरीय *	२४ योगशिखा *
३ अमृतबिन्दु *	१५ दक्षिणामूर्त्ति	२५ वराह
४ अवधूत	१६ ध्यानबिन्दु *	२६ शारीरक
५ एकाक्षर	१७ नारायण	२७ शुकरहस्य
६ कठरुद्र	१८ पञ्चब्रह्म	२८ श्वेताश्वतर
७ कठवल्ली	१९ प्राणाग्निहोत्र *	२९ सर्वसार
८ कलिसन्तारण	२० ब्रह्म *	३० स्कन्द *
९ कालाग्निरुद्र *	२१ ब्रह्मविद्या *	३१ सरस्वतीरहस्य *
१० कैवल्य *	२२ योगकुण्डलिनी	३२ हृदय
११ क्षुरिका *		
१२ गर्भ *		

टि० * इस चिन्हवाली उपनिषद् मुद्रित और भाष्य टीका प्रभृति सहित मिलती हैं इस के अतिरिक्त आश्रम (१) ब्रह्मबिन्दु (२) चूलिका (३) ध्यानबिन्दु (४) गोपीचन्दन (५) कठश्रुति (६) मैत्री (७) नीलरुद्र (पिण्ड) (८) ये सब उपनिषदें भी मुद्रित और टीका सहित मिलती हैं ॥

उपनिषत्तत्वनिर्णायक वेदान्तग्रन्थ

जैसे तैत्तिरीय और ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों पर जब लोग आक्षेप करने लगे तब जैमिनि ने पूर्वमीमांसा रच कर उनका समाधान किया। इसी प्रकार उपनिषदों पर भी विविध सन्देह जब उत्पन्न होने लगे तब बादरायण व्यास ने उत्तरमीमांसा रची। इसी का नाम आजकाल वेदान्तशास्त्र और ब्रह्मसूत्र भी है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि इस के समान अनेक वेदान्तसूत्र बनाए होंगे क्योंकि व्यास वेदान्तसूत्रों में अनेक आचार्यों के नाम पाए जाते हैं किन्तु इस समय केवल यही प्राप्त है और इसी का प्रचार है॥

१-वेदान्तसूत्र पर शङ्कराचार्य्य कृत शारीरकभाष्य, रामानुज कृत श्रीभाष्य, वल्लभकृत अणुभाष्य, मध्वकृत पूर्णप्रज्ञ भाष्य और सुदर्शनकृत श्रुतप्रकाशिका इत्यादि अनेक भाष्य हैं। शङ्कराचार्य्य कृत भाष्य के ऊपर भी तीन व्याख्याएं विख्यात हैं। गोविन्दानन्द कृत रत्नप्रभा, वाचस्पतिकृत भामिनी और आनन्दगिरिकृत न्यायनिर्णय। शङ्कराचार्य्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य्य (मण्डनमिश्र) कृत वार्तिक भी है। वर्णानुक्रम से प्रसिद्ध ये ग्रन्थ हैं। १-अद्वैत ब्रह्मसिद्धि २-अद्वैतसाम्राज्य ३-अद्वैतसिद्धि ४-अद्वैतानुभूति ५-अद्वैतामृत ६-अध्यात्मप्रदीपिका ७-अनुभूतिप्रकाश ८-अनुभूतिलेश ९-अपरोक्षानुभूति १०-अवधूतगीता ११-आत्मज्ञाननिर्णय १२-आत्मपुराण १३-उपदेशसहस्री १४-चित्सुखी १५-जीवन्मुक्तविवेक १६-तत्वबिन्दु १७-तत्वबोध १८-तत्वोपदेश १९-नैष्कर्म्यसिद्धि २०-पञ्चदशी २१-पञ्चपादिका २२-पञ्चशती २३-ब्रह्मसूत्र २४-वेदान्तकल्पतरु २५ महावाक्यविवेक २६-योगवासिष्ठ २७ विवेकचूड़ामणि २८-वेदान्तग्रन्थपञ्चक-२९-वेदान्तपरिभाषा ३०-वेदान्ततत्वसार ३१-वेदान्तत्रयी ३२-वेदान्तडिण्डिम ३३-वेदान्तसंज्ञा ३४-वेदान्तसार ३५-वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलि ३६-वेदान्तसिद्धान्तादर्श ३७-वेदान्तसंग्रह ३८-वैयासिकन्यायमालाविस्तर ३९-शास्त्रसिद्धान्तलेश ४०-शास्त्रसिद्धान्तलेशसंग्रह ४१-सिद्धान्तबिन्दु ४२-सिद्धान्तबिन्दुसार

४३-स्वाराज्यसिद्धि। इत्यादि २ अनेक ग्रन्थ इस समय मुद्रित हुए हैं। गोता भी वेदान्त में गिनो जाती है। किन्तु सूत्रकार और भाष्यकार आदि इसको स्मृति नाम से पुकारते हैं। विचारसागर और वृत्ति-प्रभाकर आदि भाषा में भी अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं॥

यद्यपि वेदान्त के शतशः ग्रन्थ विद्यमान हैं और वे इस देश के अनर्घ रत्न के समान आदरणीय, पाठ्य और जाप्य हो रहे हैं उन से जिज्ञासु लाभ भी उठा रहे हैं। तब जो मेरा यह ग्रन्थ प्रणयन का उद्योग है यह कदाचित् विद्वद्वृन्दमें योग्य न समझाजाय। तथापि आशा है कि गुणग्राही इसपर अनुग्रह अवश्य करेंगे। यद्यपि इस में न तो उतने गुण हैं न संस्कृत के पद लालित्य है न तर्कों की शृङ्खला है तथापि इस में बहुविध विशेषताएं हैं वे ये हैं। इस में व्यावहारिक सत्ता का तिरस्कार नहीं किया गया है। वेदान्त से व्यवहार में कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रत्येक मानवजीवन में इसकी उपयोगिता हो सकती है या नहीं। यह केवल शुष्कतर्क अटित परोक्षवाद ही है या पृथिवी पर के सर्वमानवग्राह्य सत्य और धर्म भी है। यह केवल सन्यासियों का ही सर्वस्व है वा इतराश्रमी भी इस के अधिकारी हैं। यदि सब ही अधिकारी हैं तो किस रूप से? सांख्य और न्याय आदिकों का केवल दूषण ही वेदान्त दिखलाता है या सर्वसारग्राही है। एवं किसी प्रकार का इसमें पक्षपात है या नहीं, इत्यादि बहुशः अनुक्त विषयों की चर्चा इसमे है। तथापि विद्वान् जब तक इस से प्रसन्न न होंगे तब तक अन्तःकरण अपने ग्रन्थ का विश्वासी कैसे हो सकता है? सब का मनोरथ उच्च रहता है किन्तु जिसकी शुभेच्छा को परमात्मा बढाता है वही धन्य होता है। यह ग्रन्थ विशेषकर अपने आत्मबोध के लिये प्रणीत होता है। इस में उन ग्रन्थों के सार के साथ स्वानुभव की बातें भी दिखलाई गई है इसे नवीन समझ विचक्षण सज्जन इस से उदासीन न होवें किन्तु इस की परीक्षा और समीक्षाकर संग्रह करें। या वेदान्तपुष्पाञ्जलि सबको सुगन्धि दे प्रमुदित करेगा यह आशा है॥

निरूपण

अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध कह-लाते हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में इन्हें जान लेना उचित है॥

अधिकारीनिरूपण

वेदान्त के अधिकारी पृथिवी पर के समस्त नर और नारियां हैं। किसी वर्ण, किसी सम्प्रदाय और किसी देश का कोई क्यों न हो जो स्त्री, पुरुष आत्मकल्याण, आत्मोद्धार और मानवधर्म और परमपिता को चाहें, जानने, मानने और करने की इच्छा करें वे इस के निकट आवें अवश्य कल्याण भागी होंगे। किन्तु जिस हेतु वेदांत के अध्ययन में चारों वेदों, शतपथादि ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनि-षदों, गीता, महाभारत और स्मृतियों के प्रमाण अधिक आते अतः यथाशक्ति इन्हें जान जो वेदान्ताध्ययन करते हैं। वे शीघ्र इस के तत्वों से सुपरिचित होते हैं। तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन षड् अङ्गों के आशय के भी अभिज्ञ हों। वर्त-मानकालिकसांख्यशास्त्र के न्याय-वैशेषिक के तथा आधुनिकों के तत्वों में निष्णात हों तथा नूतनाऽऽविष्कृतविज्ञानों, भूगोल, भूगर्भविद्या, यन्त्रविद्या, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, शारीरिकविज्ञान, पशुविद्या, पक्षिविद्या इत्यादि २ विद्याओं से घनिष्ठसम्बन्ध रखते हों। वे इसके अध्ययन में प्रविष्ट हों। इसके जानने के लिये प्राकृतविद्याओं की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि उसी की माया से यह व्यावहारिक महामहाऽद्भुत आश्चर्यकौशलयुक्त आकाश से लेकर कीट पर्य्यन्त जगत् भासित हो रहा है जिस को विद्वान् से लेकर मूर्खतक सत्य समझ लिप्त हो रहे हैं। इसी को परमार्थतत्व समझ, नाना क्लेशों में उलझ जीवन खोते हैं। यदि इस को तत्त्वतः न जानेंगे तब परम जिज्ञास्य ब्रह्म भी कल्पित ही प्रतीत होगा। अतः ये चराचर जगत् क्या हैं, कहां से आए, हम क्या हैं। इस बुद्धि का क्या प्रयोजन, इस जीवन का उद्देश क्या, यह भासित प्रपञ्च किस ओर जारहा

है इत्यादि तत्व जान लेने से अनन्त ब्रह्म की जिज्ञासा में मन लगता है, और तब वे असत्यपङ्क में कदापि नहीं फसते । तब ही परमदेव की परम कौशल अनन्त लीलाओं को जान २ कर परमानन्द में निमग्न हो सकते । अतः श्रुति कहती है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वाइव सारथेः ॥६॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः ।
सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

कठोपनिषद् १ । ३

जो समाहित मन से सदा विज्ञानवान् होता है उसी के इन्द्रिय वश्य होते हैं जैसे सारथि के सदश्व(१) ॥६॥ जो समनस्क शुचि हो सदा विज्ञानवान् होता है वह उस परमात्मपद को पाता है जिससे महान् अन्य वस्तु कोई नहीं है । अथवा जिस से पुनः नहीं होता ।८। जिस नर का विज्ञान ही सारथि और मन लगाम है वही मार्ग का पार पाता है । वही ईश्वर के उस परमपद को पाता है । इत्यादि विज्ञान की प्रशंसा स्वयं श्रुति करती है । ६ ।

और भी नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्म्मों और उपासना से जिस का अन्तःकरण शुद्ध है । वही इसका अधिकारी है । जिस कर्म को विधिपूर्वक न करने से प्रत्यवाय हो ऐसा जो सन्ध्यावन्दनादि वह नित्यकर्म कहाता है । पुत्र जन्मादि निमित्त से जो कर्म किया जाय वह नैमित्तक । पापक्षयों के साधन जो चान्द्रायण आदि व्रत वे प्रायश्चित्त परमपिता के गुणों के अनुसार जो मानसव्या·

---

१ अच्छे घोड़े ।

ध्यान वह उपासना कहाती है। नित्यादि कर्मों का मुख्य प्रयोजन बुद्धि शुद्धि है। उपासना का चित्तैकाग्रय ही प्रयोजन है क्योंकि श्रुति कहती है:-

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। बृहदारण्योपनिषद्।४।२२॥

उस परमात्मा को ब्राह्मण वेदाध्यन से, यज्ञ से, दान से, तप से, अनशनव्रत (चान्द्रायण आदि) से जानना चाहते हैं। इसी को जानकर मुनि होता है। इत्यादि

साधनचतुष्टय

और भी जो जन साधनचतुष्टय से युक्त है। वही इस का अधिकारी है। विवेक, विराग, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व ये चार साधन हैं।

विवेकनिरूपण

विवेकसम्पन्न पुरुष इस का अधिकारी है। नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार का नाम विवेक है इस प्रकार विचार को **नित्यानित्यवस्तुविवेक** कहते हैं। इस सम्बन्ध में दोचार जो बातें ज्ञातव्य हैं। वे ये हैं:-मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में ही लिखा है कि अङ्गिरा के निकट विधिवत् प्राप्त हो महाशाल (महोपाध्याय) शौनक पूछते हैं कि भगवन्! किस एक वस्तु के ज्ञानसे सब ही वस्तु विज्ञात होती हैं। इनसे अङ्गिरा कहने लगे-"ब्रह्मविद् कहते हैं कि प्रथम **परा** और **अपरा** दो विद्याएं जाननी चाहिये अपरा विद्याएं ये हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष।

परा विद्या वह है जिस से अक्षर (अविनाशी) का अधिगम[१] होता है। जो अक्षर अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र है। अपाणि, अपाद, नित्य, विभु, सर्वगत सुसूक्ष्म और अव्यय है इसी को धीर जगद्योनि २ समझते हैं। जैसे ऊर्णनाभि (मकरा) जाल बनाता और बिगाड़ता जैसे पृथिवी से ओषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे पुरुष के शरीर से केश, लोम होते हैं। वैसे ही इस अक्षर से यह चराचर विश्व होता है ३। इत्यादि"

इस से सिद्ध है कि **नित्यानित्यवस्तुविवेक** के लिये समस्त विद्याओं का पारदर्शी हो। तदनन्तर उस परमपिता का पूर्णबोध हो सकता है। यदि वह निरन्तर समाहित हो। इस की चिन्ता में लगा रहा हो। सोते जागते उठते बैठते खाते पीते चलते फिरते एवं बात करते हुए भी जैसे रसिक और कामी युवक के हृदय में केवल युवती ही एक वस्तु रहती है। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे वही एक देख पड़ती है। तद्वत् जिस का समाहित मन उसी परमब्रह्म में लीन रहता है। तब भेदज्ञान मिटकर अनायास उस के मुख से निकलने लगता है कि " अहम् ब्रह्मास्मि " " मैं ब्रह्म हूं। मेरी ही ये सारी लीलाएं हैं। मैंने ही यह सूर्य्य,चन्द्र, अग्नि, पृथिवी आदि प्रपञ्च रचा है। मैं ही रच रहा हूं। हे मनुष्यो ! मुझे जान" इत्यादि। इसी अवस्था में प्राप्त होकर ऋषि वामदेव, योगीराज श्रीकृष्ण, चैतन्य, शङ्कर आदिकों ने कहा है कि " मैं ब्रह्म हूं। अहं ब्रह्मास्मि " ॥

पुनः—छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक के आरम्भसे संवाद आता है कि " इस **नित्यानित्यवस्तुविवेक** के लिये अब

१—प्राप्ति, बोध, ज्ञान। २—जगत्कारण। ३यथोर्णनाभिःसृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केश लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्। मुण्ड०।

नारद प्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, वेदानांवेद, (व्याकरण) पित्र्य (ऋतुविद्या आदि) राशि (ज्योतिष) दैव, निधि, वाकोवाक्य (तर्कविद्या) एकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या देवयजनविद्या इत्यादि विद्याओं का अध्ययन कर गए। तदनन्तर उस की परम विभूतियां उस नारद को सूझने लगी। तब सनत्कुमार के निकट जा आत्मवित् हुए"। अद्यतन पुरुष दो चार शब्दों के ज्ञान लेने पर ही ब्रह्मवित् होना चाहते हैं यह आश्चर्य्य की बात है॥

इस आत्मविवेक के लिये इन्द्र को १०१ वर्ष प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य्य करना पड़ा। छान्दोग्योपनिषद् देखिये–

द्वादश वर्ष निरन्तर श्वेतकेतु आचार्यकुल में वेदादि अध्ययन करते रहे किन्तु ब्रह्मबोध न हुआ। तत्पश्चात् पुनः कतिपय वर्ष अपने पिता के समीप जब आत्मविद्या का अध्ययन किया तब वे आत्मदर्शी हो परोपदेशक हुए। छान्दोग्योपनि० देखिये–

इसी प्रकार वरुणपुत्र भृगु जी अपने पिता के सन्निधि वारम्वार ब्रह्मजिज्ञासा करते रहे। तप, ब्रह्मचर्य्य और भूयोभूयः मनन के पश्चात् उन्हें ब्रह्मबोध हुआ। श्रुतियों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन से विदित होता है कि प्रथम प्राकृत विज्ञान ही अध्येतव्य हैं। तत्पश्चात् विवेक उत्पन्न होता है॥

वैराग्यनिरूपण

वैराग्ययुक्त पुरुष इसका अधिकारी है। इस लोक में और परलोक में फल भोगने की इच्छा न करने का नाम वैराग्य है। इस को "इहामुत्रफलभोगविराग" कहते हैं। इसमें दो अंश हैं १–ऐहिक फल भोगविराग और २–पारलौकिक फल भोग विराग। इसी द्विविध भोगों की मृग तृष्णा में मानव सन्ततियाँ अहोरात्र चक्कर लगा रही हैं। अकिञ्चन नरनारियों को छोड़ मध्यम और उत्तम श्रेणियों में से सैकड़े निनान्नवे पुरुष स्त्रैणभोग (१) में

१ स्त्री सम्बन्धी भोगविलास।

भिमग्न हैं। इनके लिये परम उपास्य देवी यदि कोई है तो वह केवल सुन्दरी षोडशी भुवनेश्वरी नारी है। यद्यपि दाम्पत्यप्रेम स्वाभाविक है तथापि मनुष्यसन्तान ने इस प्राकृत धर्म को इतना बिगाड़ रक्खा है कि कहीं स्त्रियां और कहीं पुरुष नरककुण्ड बन गए हैं। प्रेक्षावानों ने परीक्षा कर देखा है कि कोई २ अतिसुन्दर बुद्धिमान् बालक इस व्यसन में असमय से ही फसकर ऐसा कुरूप और रोगी बन जाता है कि जिस के निकट दुर्गन्ध से स्वकीया पत्नी भी खड़ी नहीं हो सकती। राजवंश प्रायः सब ही इसी देवी की रात्रिन्दिवा उपासना करते रहते हैं। शोक की बात है कि मनुष्यों की यह क्या दुर्दशा है। भारतवासी ब्राह्मण और क्षत्रिय इस में इतने लीन हुए कि २०० । ४०० विवाह करने और दासिया रखने लगे। अबतक भी ऐसे उन्मत्त बहुत से राजा धनान्ध पृथिवी के नीचातिनीच कीड़े बने हुए हैं। यह व्यसन यहां इतना बढ़ा कि अपने सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता परम इष्टदेव को भी **स्त्री रूप में ही** समझने लगे और वनितोचित (१) अलङ्कारोंसे सुभूषित कर पूजने लगे। काली, दुर्गा, तारा, बगला, भुवनेश्वरी, भगवती आदि तन्त्राधि देवताएं इसी व्यसन के परिणाम हैं। जबलोग अथवा समग्रमानव जगत् इस स्त्रैणलीला में लीन, प्रलीन है तब वेदान्तोपदेशके प्रचारकी कौनसी आशा है वेदान्त कहता है कि परम वैराग्यवान् पुरुष इस का अधिकारी है। यद्यपि राजाययाति(१) और मुनि सौभरि (२) प्रभृति की आख्यायिका से

---

(१) टि०—ययातिकथा महाभारत आदि में उक्त है। वह काम में ऐसा लिप्त था कि अपने पुत्र की भी यौवनावस्था लेकर भोग भोगता हुआ सन्तुष्ट न हुआ।

(२) टि०—यह ऋषि मत्स्यराज की क्रीडा देख विवाहोत्सुक हो एक राजगृह में जा ५० राजपुत्रियों से परिणाय और प्रेम कर बहुत दिन तक विलासी बने रहे। अन्त में पुन ज्ञानोदय हुआ।

दिखलाया गया है कि भोगसे इन्द्रियों की मरणक्षण तक तृप्ति नहीं होती और यह केवल आसुरी प्रवृत्ति है। त्रिलोक की सुन्दरियों से रावण तृप्त न हुआ। भौमासुर (३) १६००० षोडशसहस्र कन्याओं को एक स्थान में एकत्रित कर विहार करना चाहता था इसका फल उसको मिला। (३) सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई इसी से नष्ट हुए। (४) वृकासुर की ऐसी ही कथा है। (५) असुरगण मोहिनी की बातों से मोहित हो अमृत से वञ्चित रहे। पौराणिक नारद कपिमुख हुए। दुहितृप्रणयी ब्रह्मा अपूज्य बने। वृन्दा के प्रति कपटाचारी विष्णु प्रस्तर हुए इत्यादि काल्पनिक और ऐतिहासिक कथाएं शतशः विद्यमान हैं। तथापि मनुष्यों का इस से उद्धार नहीं॥

६ प्रात्याहिक दृश्य सूचित करता है कि मनुष्य समाज में सैकड़े ७०, पचहत्तर पुरुषों का जीवन भोगविलास के लिये ही है। इस प्रकार एक ही विलास का अतिसंक्षिप्त दिग्दर्शन दिखलाया है। किन्तु भौमविषयक भोग बहुविध हैं। कोई उन्मत्त राजा पृथिवीपर के निखिल मनुष्यों को अधीन कर एक सम्राट् होना चाहता। कोई अपनी प्रतिमा के अपने जीवन में ही प्रति भवन पूजन का उत्कटाभिलाषी रहता है। अन्य महोदय विराट् सभाओं के अधिपति हो जय २ ध्वनि की आकांक्षा करते रहते हैं। इस प्रकार के समग्र व्यसनों से निवृत्ति पुरुष इस शास्त्र का अधिकारी है॥

---

(३) टि०- इस असुर की कथा भागवत एकादशस्कन्ध में आई है।

(४) टि०-सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई थे एक रमणी के लिये दोनों आपस में लड़ कर मर गये।

(५) टि०-वृकासुर महादेवसे ही वरदान पा पार्वती का हरण करना चाहता था। इत्यादि अनेकानेक काल्पनिक गाथाएं इतस्ततः वर्णित हैं॥

पारलौकिक भोगविराग

मनुष्य के अन्तःकरण में अदृश्य सुख की कामनाएं भी अधि-कतर हैं। अतः आगे कहा जायगा कि सकाम और निषिद्धकर्म कदापि न करे। इन्द्र की अप्सरोमण्डित नन्दनवन भूषित स्वर्गपुरी, कृष्ण की गोपिकाओं से पूर्ण गोलोक, भगवती की अनुचरी सर्ववि-भूतिसम्पन्ना योगिनी और काम विह्वला भैरवी प्रभृतिओं से सुस-ज्जित कैलासासन एवं वरुणलोक, प्रजापतिलोक इत्यादि की कथा किस मानव के हृदय को बलात् नहीं खेंचती। उदासको! इस मृग-तृष्णा से भी जब तुम्हारा चित्त विरागवान् होगा तब ही तुम सुखी और अनन्तानन्त ब्रह्मानन्द के योग्य होंगे। जिस आनन्द की अणु-तम मात्रा से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आनन्दालय भासित होता है॥

षट्सम्पत्तियां

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये षट् सम्पत्ति नाम से वेदान्त में कही जाती हैं। इन के अभ्यासी इस शास्त्र का अधिकारी होता है भूमि, कनक, पशु और अन्नादिक सम्पत्तियां क्षणिक असौख्यकर और कभी २ आत्मघातक भी होती हैं और इन से जगत् में जो अशान्ति की नदियां बह रही हैं, इन्हें प्रत्यक्ष नयनों से देखिये। वर्तमानकालिक एक ही जर्मन—फ्रांस युद्ध उदाहरण के लिये पर्य्याप्त है। जिस से समस्त पृथिवी के मनुष्यसमाज रोगों और भूखों मर रहे हैं। अति भयङ्कर प्रलयकाल सा प्रतीत होरहा है। क्या इसी का नाम जीवनोद्देश है? अतः अति संक्षेप इनका लक्षणमात्र यहां लिखते हैं क्योंकि ग्रन्थविस्तार से भी भय होरहा है। मनुष्यो! इन को हृदयस्थ और व्यवहारस्थ करो॥

शम

ईश्वर विषक श्रवण, मनन और निदिध्यासन से भिन्न जो अन्य

विषयों से मन को हटा लेना वह शम कहाता है। जैसे तीव्र बुभुक्षा जागृत होने पर भोजनातिरिक्त विषय मन को रुचिकर नहीं होते, भोजन विलम्ब को नहीं सह सकता वैसे ही जब तत्त्वज्ञान साधन श्रवण मननादिकों में अत्यन्त अभिरुचि और माला चन्दनादिकों में अत्यन्त अरुचि होती तब पूर्ववासनाओं के बल से श्रवणादिसाधनों से उड्डीयमान और भोगविलास में धावमान जो मन उस की निवृत्ति जिस अन्तःकरण की वृत्ति से होती है उसे शम कहते हैं। इसी का नाम शान्ति भी है॥

दम

व्यसनों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को हटा कर ईश्वर विषयक श्रवणादिक में लगाना दम कहाता है। यद्यपि इन्द्रियों का दमन करना अति कठिन है परन्तु अभ्यास से सरल हो जाता है। जितना ही इच्छा को बढ़ावेगा उतना ही आगे २ वह दौड़ती जायगी और जितना पीछे हटावेगा उतना ही वह पीछे हट भी जाती है। इस के उदाहरण जनक, शुक, व्यास, शङ्कर, रामानुज, दयानन्द और ईसा आदि एक ओर और अकिञ्चन कार्य्यासक्त पुरुष दूसरी ओर हैं। पृथिवी विजयी सिकन्दर इन्द्रियों का दास बन थोड़ी ही आयु में मर गया॥

उपरति

निगृहीत और वशीभूत जो श्रोत्रादिक इन्द्रिय वर्ग वे जिस चित्तवृत्ति विशेष से पुनः विषयों से जा न लिपटें किन्तु श्रवण मननादिक में स्थिर हो जांय उसे उपरति कहते हैं। अथवा विहित अनित्यकर्म्मों को त्याग और चतुर्थाश्रमोचित कर्म्मों का ग्रहण करना उपरति है॥

तितिक्षा

शीत, उष्ण, सुख, दुःखादिकों के सहने का नाम तितिक्षा है। सहिष्णुता मनुष्य का अमूल्यरत्न है॥

समाधान

शब्दादि विषयों से निगृहीत अन्तःकरण को ईश्वर विषयक श्रवणादिकों में और तदुपकारक निरभिमानित्वादि साधनों में लगाने का नाम समाधान है ॥

श्रद्धा

निष्कपट सत्यपरायण सत्यान्वेषी सत्यवक्ता आचार्यों और वेदान्तवाक्यों में विश्वास का नाम श्रद्धा है ॥

मुमुक्षुत्व

मोक्ष की इच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है। ब्रह्म की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति का नाम मोक्ष है इनके सम्बन्ध में श्रुति कहती है:-

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रक्षीणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सकलं मुमुक्षवे।

जिसका चित्त शान्त हो और जितेन्द्रिय हो और अमलिप्सादि दोषरहित, आज्ञाकारी, गुणवान्, सर्वदा अनुगत और मोक्ष की इच्छा करने वाला हो ऐसे शिष्य को सब विषय का उपदेश करना चाहिये ॥

शङ्का—आपने अभी कहा था कि प्रत्येक नर नारी का अधिकार वेदान्तशास्त्र में है किन्तु अनुबन्धचतुष्टय के एक अङ्ग के दिग्दर्शन से प्रतीत होता है कि यह शास्त्र सन्यासियों के लिये ही है। क्योंकि विवेक, विराग, षट्सम्पत्तियां और मुमुक्षुत्व का साधन गृहाश्रमी कैसे कर सकते हैं? विवेक का साधन कुछ अंश तक गृही कर भी सकें किन्तु विराग और षट् सम्पत्तियों का साधन इन से कैसे हो सकता है? कहा गया है कि जन्म लेते ही मनुष्य तीन ऋणों से निगृहीत हो जाता है। ऋषिऋण, पितृऋण और

देवऋण। वेद अध्ययन से ऋषिऋण से, सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण से और विविधयज्ञों से देवऋण से छूटना है। यहां वेदान्त में सब से विराग कहा है। इत्यादि।

समाधान—वेदान्त के उपदेशों के आशय से केवल आप ही नहीं किन्तु जगत् वञ्चित है। इस के उच्च आशय को लोग ग्रहण नहीं करते। वेदान्त शिक्षा बिना मानव जाति का उद्धार नहीं। विवेक-वृन्द! प्रत्येक आश्रम में, प्रत्येक व्यवहार में, प्रत्येक काल में और प्रत्येक जीवन में विवेक, विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा और मुमुक्षुत्व ग्राह्य हैं। इसके अभाव के कारण ही तो मनुष्यजाति में यह अशान्ति और दुःख समुद्रसम अपार हो रहे हैं। प्रत्येक कार्य्य यदि आसक्तित्याग पूर्वक और विवेक वैराग्यादियुक्त, किया जाय तो यह भूमि स्वर्ग हो जाय। क्या गृहस्थों को इन्द्रिय दमन करना नहीं चाहिये? एक स्त्रीव्रत अधर्म नहीं किन्तु धर्म और इन्द्रिय दमन ही है। "पुत्रप्रयोजनाभार्या" को लक्ष्य मे रखकर जो दाम्पत्य प्रेम के आकांक्षी बनते हैं। वे वास्तव में विरागी ही हैं। परमज्ञानी वामदेव, जनक, याज्ञवल्क्य, अगस्त्य, अत्रि, और वसिष्ठ आदिक सपत्नीक थे। प्रत्येक कार्य्य में आसक्ति पापजनक है। आत्मरक्षार्थ और जगत्कल्याणार्थ धन संग्रह करना विवेक ही है। जब स्वार्थ ही स्वार्थ मनुष्य को सूझता है तब ही अमङ्गल होता है। जब एक देश के लोग दूसरे देशवासियोंको जीत कर चूस लेना चाहते हैं। तब ही अनिष्ट होता है। यहां विचारना चाहिये कि इस से क्या लाभ!!!! यह जीवन सौ वर्ष से अधिक नहीं। इन्द्रियगण शिथिल होंगे। मृत्यु होगी। तब मनुष्यको मनुष्य क्यों खाय? फ्रांसमें राजवंश क्योंकर निर्मूल किए गए। क्या ऐतिहासिक विद्वान् यह नहीं कहते हैं कि भूपतिगण अत्यन्त स्वार्थी होगये थे। इसी प्रकार सर्वत्र की दशा है। क्या स्वार्थ के लिये

मनुष्यजाति को दास बनाना उचित है ? क्या एक समस्त देशवासियों की समस्त सामग्रियों को छीन दूसरे देश को सम्पत्ति पूर्ण करना राक्षसी वृत्ति नहीं ? एवमस्तु । अलमप्रसंगेन । विवेकादि के निकट जितना मनुष्यसमाज आवेगा उतना ही सुखी होगा वेदान्त ही जगत् का उद्धारक होगा ।

ज्ञान साधनाष्टक

पूर्वोक्त विवेक, विराग, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये चार और श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्पद के अर्थ का और त्वंपद के अर्थ का शोधन ये चार मिलकर आठ ज्ञान के साधन हैं । इन से युक्त वेदान्ताधिकारी है । शोधन का आशय यह है कि चेतनमें कारणता, अधिष्ठानता, अदृश्यता और साक्षित्व और जड़ जगत् में कार्यता, अध्यस्तता, दृश्यत्व और भास्यत्व आदिका विचार कर ज्ञान की प्राप्ति करना है ॥

अनधिकारनिरूपण

काम्यकर्म

काम्यकर्मकर्त्ता इस का अधिकारी नहीं । फलप्राप्ति की आकांक्षा से जो २ कर्म किये जाते हैं वे २ काम्यकर्म हैं । वास्तव में किसी फल की प्राप्ति के लिये ही अन्य देवताओं की पूजा लोग करते हैं । पुत्रकामीजन पुत्रेष्टि, स्वर्गकामो अग्निष्टोमादि यज्ञ करते ॥

शङ्का—फलप्राप्ति की आकाक्षा बिना ही यदि अग्निष्टोमादि यज्ञ करें तो कर सकते हैं या नहीं ? मान लीजिये फल की आकांक्षा न करें किन्तु जितने विहित कर्म हैं उन सब को करते जांय इस में क्या क्षति ? दूसरी बात संसार में देखते हैं कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" प्रयोजनको लक्ष्य में न रख कर मन्द पुरुष भी

भी प्रवृत्ति किसी में नहीं होती। दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति करना वेदान्त का प्रयोजन कहा जाता है। प्रयोजन ही फल है। तब काम्यकर्मकर्त्ता अधिकारी नहीं यह आप कैसे कहते हैं? कामना के विना कौनसा कर्म किया जाता। इसका निरूपण आप करें।

समाधान-इस शंका के अनेक अंश हैं।

क-प्रथम फलाभिलापके विना ही अग्निष्टोमादि यज्ञ कर सकते या नहीं। ख-२ द्वितीय कामनारहित कोई कर्मही नहीं है। ग-तृतीय वेदान्त का भी प्रयोजन बतलाया जाता है अतः यह भी एक कर्म ही है। घ-४ श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि आदि भी तो सकाम कर्म ही हैं वेदान्त इनका विधान करता है। इत्यादि भिन्न २ अंशों का वर्णन यथामति इस प्रकार है। फल के त्याग से अथवा फल के उद्देश से कर्म करने में क्षति नहीं। फलत्याग पूर्वक कर्म करें तो उत्तम और वेदान्ताधिकारी हैं। फल के लिये भी यदि सत्कर्म करें तो वह भी उत्तम ही है। वास्तव में मैं इन विचारोंकी यहां उपस्थित नहीं करती किन्तु बहुत से व्यर्थ कर्मों को कर्म मान लिया है। उनका निषेध करना मेरा उद्देश है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतवासी लौकिक विद्वान् "जीव क्या है? ईश्वर क्या है? नास्तिकों के मन्तव्य हेय हैं और मोक्ष के लिये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि पदार्थ अवश्य ज्ञातव्य हैं। यथार्थज्ञान से ही मुक्ति होती है। मिथ्याज्ञान से कदापि नहीं। इसके लिये षोडश पदार्थ जानने चाहिये। अथवा प्रकृति पुरुष का विवेक अत्यन्त अपेक्षित है"। इत्यादि २ विषयों की जहां चर्चा आवेगी वहां २ तर्कों का पुल बांधेंगे। हेतुओं की शृंखलाओं से प्रतिपक्षी को निगड़ित कर देवेंगे किन्तु जहां देवताविषयविवाद उपस्थित होगा वहां मौन साध बैठजायगे। मैं इस का कारण केवल आन्तरिक दौर्बल्य को ही समझती हूं देखिये,

जातीय पक्षपात, धर्म्मान्धता और परतन्त्रता आदि भी इसके शेष कारण हैं ॥

परन्तु मैं आपलोगों से यह कहती हूं कि जब तक निखिल-पक्षपात शून्य होकर सत्यासत्य का निर्णय नहीं करेंगे तबतक मानवसन्तान का उद्धार नहीं। लाखों तर्काभासों से **सत्य को छिपाकर** आप शास्त्र विवेचना करते हैं अतः इसका फल उत्तम कुछ भी नहीं होता किन्तु उत्तरोत्तर दुःख की वृद्धि ही होती जाती है। अतः मैं यहां यथामति कल्याणार्थ निरूपण करती हूं। हम देखती हैं कि प्रत्येक वैदिक वा लौकिक कर्म में इन्द्र, वरुण, अग्नि, विष्णु, सविता, वायु, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, काली दुर्गा, भैरव, गङ्गा, गोदावरी हनुमान, गरुड, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी इत्यादि २ देवताओं का आवाहन, आसन, पूजन, पाठ आदि कर्म होते हैं। और इन के नाम पर भोज्य पदार्थ भी रक्खे जाते हैं। परन्तु क्या ये देव यज्ञों में आते हैं ? क्या ये हमारी स्तुति प्रार्थनाओं को सुनते भी हैं ? क्या ये मनुष्य के समान चेतन हैं ? यदि चेतन हैं तो हम मनुष्यों से वार्तालाप क्यों न करते ? मैं कहती हूं कि इन में बहुत से देवताएं ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, मदन, इन्द्र, वरुण, अप्सरा, योगिनी आदि तो केवल मानवकल्पित हैं। वास्तव में ये सब कोई वस्तु नहीं हैं। योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार ये विकल्प हैं। योग कहता है है कि "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" जिस के लिये शब्द हों किन्तु वस्तु न हों वे विकल्प कहाते हैं। जैसे नरशृङ्ग (मनुष्य का सींग) वन्ध्यापुत्र, सर्पचरण इत्यादि के लिये शब्द तो बनजाते हैं किन्तु वे वस्तु नहीं हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णु आदि विकल्प हैं। इन की सत्ता का कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं। द्वितीय सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, पृथिवी और गङ्गा प्रभृति वस्तु तो हैं परन्तु वे हमारी स्तुति प्रार्थना को न सुन सकती और किसी निवेदित पदार्थ को न खा सकती हैं। क्योंकि वे पृथिवी वत् जड़देव हैं।

इन में समझने बोलने खाने पीने स्वयं चलने फिरने आदि की शक्ति नहीं हैं। ये जड़ हैं। आप देखते हैं कि जो २ मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट पतङ्ग, मत्स्य और अदृश्य सूक्ष्म जन्तु आदि हैं. ये सब स्वतन्त्र हैं। जहां चाहें वे जा सकते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार इन की गति और सबक्रियाएं होती हैं। ये जन्म लेते और मरते हैं। किन्तु सूर्य्यादि वैसे नहीं वे अपने नियत स्थान से पद मात्र भी विचलित नहीं होते। ये सब आकर्षण शक्ति के आधार से नियत मार्ग पर स्थित हैं अथवा घूम रहे हैं। यह पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र, घूम रहे हैं। वायु नियत कारण के वश में हो बहता है मेघादि भी वैसे ही हैं। यदि वे चेतन होते तो अवश्य ये बोलते क्योंकि हमारे साथ ये रहते हैं अतः यदि चेतन होते तो अवश्य हम से कुछ कहते और सुनते। अतः ये जड़ हैं। इन को यज्ञादि शुभ कर्मों में बुलाना बालक्रीड़ा है। इस में सन्देह नहीं कि मानव जगत् इस का विश्वासी है। ईदृश् विश्वास के कारण ही यह दुखी है अतः वेदान्त कहता है कि यह कामना ही आप की व्यर्थ है। अतः अकर्तव्य है। श्रुति कहती है:-

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

बृह० ३।७।३

जो पृथिवी में स्थित है तथापि वह पृथिवी से अन्तर भी (बाह्य बाहर) है। जिस को पृथिवी नहीं जानती है जिस का शरीर पृथिवी है जो भीतर और बाहर रहकर पृथिवी को कार्य्य में लगा रहा है। वह यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

इसी प्रकार:-

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः इत्यादि। ५।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः। ६। इत्यादि

जो अग्निमें स्थित है। तथापि वह अग्नि से बाहर भी है इत्यादि पूर्ववत्। जो सूर्य में स्थित है तथापि वह सूर्य्य से बाहर भी है। इत्यादि। इस अन्तर्यामि ब्राह्मण में दिखलाया गया है कि परमात्मा सब में व्यापक चेतन है और पृथिवी, सूर्य्य, वायु, अग्नि आदि अचेतन देव हैं। अतः ये किसी काल में उपास्य देव नहीं। अतएव गीता भी कहती है कि–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

विविध कामनाओं से जिन की मति मारी गई है वे उस उस नियम को धारण कर अपनी मूढ़ प्रकृति के वश्य हो उस २ देवता की आराधना करते हैं। यहां कहने का आशय यही है ये सब जड़ है। इन की उपासना से कुछ लाभ नहीं। अतः चेतन परमात्मा की उपासना करो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

सर्व कर्मों को त्याग मुझ ईश्वर की शरण मे आ। इत्यादि। इसी हेतु सांख्यकारिका कहती है।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥

जैसे लौकिक उपायों से दुःख की निवृत्ति नहीं होती। वैसे ही दर्शपौर्णमास आदि वैदिक कर्मों से भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उन कर्मों में भी अशुद्धि, क्षय और अतिशय दिखलाए गए हैं। काली, दुर्गा आदि देवियों के लिये बकरों की हिंसा करना अशुद्धि है। कैलाश वैकुण्ठ आदि लोकों में जा वहां पुण्यफल भोग पुनः नीचे गिरना उस फल का क्षय है। और कैलाश से वैकुण्ठ उत्तम, उस से गोलोक उत्तम, उस से भगवती का स्थान उत्तम इस

प्रकार अतिशय का वर्णन होने से दुःख का कारण ही है। अतः तद्विपरीत ही श्रेय मार्ग है। वह यह है कि व्यक्त जो यह कार्यभूत सम्पूर्णजगत्। अव्यक्त जो इस का कारण प्रधान और 'ज्ञ' जो ज्ञ आत्मा इन तीनों के विज्ञान से ही मंगल हो सकता है। अन्यथा नहीं। अतः विद्वानो! विवेक करो। देखो क्या ये सूर्य्य इत्यादि कोई चेतन देव हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देव कहां हैं?। लोक जिस ओर जा रहे हैं। उसी ओर विद्वानों को जाना उचित नहीं क्योंकि विद्वान् पुरुष मार्ग दिखलाने वाले होते हैं। यदि वे अज्ञानियों के भय के वश्य हो अथवा लोभ के वशीभूत हो किम्वा उपेक्षाबुद्धि के कारण उसी अन्धपरम्परा के प्रवाह में वह चलें तो कल्याण का मार्ग नष्ट हो जायगा, होगया और हो रहा है। अतः जिस से मनुष्योद्धार हो वह करो। श्रुति कहती है कि।

यद्वाचा नभ्युदितं येनवागभ्युद्यते।
तदेवब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म..............इत्यादि केनोपनिषद्

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता जिस ने वाणी का प्रकाश किया है। उसी को तू ब्रह्म जान। किन्तु जिस को ये लोक पूज रहे हैं वह यह ब्रह्म नहीं है। मन से जिस का मनन नहीं होता जिस ने मन का मनन किया है। उसी को तू ब्रह्म जान किन्तु जिस को ये लोग पूज रहे हैं वह यह ब्रह्म नहीं इत्यादि। यहां विस्पष्ट रूप से यह श्रुति गतानुगतिकता का निषेध करती है अर्थात् अज्ञपुरुषों के अनुसार चलना सर्वथा त्याज्यहै। यज्ञको लक्ष्यकर श्रुति कहतीहै।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशो-क्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति

मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥१॥ अवि-
द्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभि
मन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति
रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ति ॥ २ ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेद-
यन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥३॥ मुण्डकोपनिषद्

अर्थ—यज्ञ रूप नौकाएं अदृढ़ हैं जिस को होता, अध्वर्यु, उद्गाता, यजमान और पुरोहित आदि अष्टादश पुरुष चलाते हैं और तुच्छ हैं जो मूढ इसी को श्रेय मान आनन्दित होते हैं। वे सर्वदा जन्म लेकर जरावस्था और मृत्यु को पाते रहते हैं। १। अनेक अविद्याओं में वर्तमान रहने पर भी जो अपने को कृतार्थ समझते हैं वे बालक हैं। जिस कारण रागवश कर्मकाण्डी उस तत्व को नहीं जानते वे कर्मफल भोग पुनः आतुर हो नीचे गिरते हैं ॥ २ ॥ जो मूढ जन यज्ञादि कर्म्मों को और कूप तड़ागादिकों को ही श्रेय समझते हैं। वे शुभस्वर्ग को भोग पश्चात् हीनतर योनियों में प्रवेश करते हैं। इत्यादि। गीता भी अनेक स्थलों में द्रव्यमय यज्ञ का बहुत तिरस्कार करती है। यथा—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा
स्वर्गगतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र-
लोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देव भोगान्। ते तं
भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्य-
लोके विशन्ति। एवंत्रयी धर्म्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २ ॥

अर्थ-वैदिककर्मतत्परजन यज्ञों से मुझ को ही पूज सोमपान कर निष्पाप हो स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं। वे पवित्र इन्द्रलोक पाकर वहां दिव्यभोग भोगते हैं। वहां विशाल स्वर्ग लोक को भोग पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार कामासक्त याज्ञिक पुरुष सर्वदा गमनागमन चक्र में पड़े रहते हैं। इस प्रकार यज्ञफलों को विनाशी बतला आगे श्रीकृष्ण कहते हैं॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥१॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेवच।
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्तिते ॥२॥

अर्थ-जो जन अन्यान्य इन्द्रादि देवों का श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं। हे कौन्तेय वे भी मुझ को ही पूजते हैं। क्योंकि मैं ही सब का आत्मा हूं तथापि वह अविधिपूर्वक कर्म है (१) मैं ही यज्ञों का भोक्ता और प्रभू हूं किन्तु वे याज्ञिक मुझ को नहीं जानते हैं। इस हेतु वे गिरते रहते हैं। यहां विस्पष्टरूप से दिखलाते हैं कि वे यज्ञपरायण पुरुष अज्ञ हैं इसकारण अन्य देवों के सेवक वा पूजन करते हैं। ईश्वर का बोध उन्हें नहीं है अतः ये दुःख भागी हैं। इत्यादि पुनः—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥१॥

अर्थ—स्रुवा, चरु, पुरोडाश, घृत आदि द्रव्य सहित यज्ञ से श्रवण, मनन, निदिध्यासनयुक्त ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्ञान होने पर सबकर्म समाप्त हो जाते हैं॥ पुनः—

---

(१) गीता में अविधिपूर्वक कर्म करने का निषेध यथा—यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः न स सिद्धि मवाप्नोति न सुखम् न परांगतिम्॥ इत्यादि

त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

इत्यादि स्थलों में एक प्रकार से यज्ञों की तुच्छता ही दिखलाते हैं॥

अब शङ्का के प्रत्येक अंश का समाधान इस प्रकार है '१-अग्नि, वायु, सविता, इन्द्र विष्णु आदि देव कुछ जड़ कुछ [illegible] होने के कारण इनकी प्रसन्नता के लिये यज्ञ करना सर्वथा [illegible] और बालक्रीडावत् हैं । वास्तविक यज्ञ वह है जिस में [illegible] देव की ही उपासना हो क्योंकि वही एक सर्व का आत्मा [illegible]

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

वह ब्रह्म ही जङ्गम और स्थावर का आत्मा है ॥

कामनारहित कर्म

निष्काम कर्म कोई होता है या नहीं इस पर स्वल्प विचार यह है । हम प्रतिदिन उन उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज जीवों के निष्काम कर्म को अच्छी तरह से देख रहे हैं । फलदाता आम्र लीची कदली, द्राक्षा और नारिकेल आदि मनोहर किस कामना से नाना स्वादु फल दे रहे हैं । वे मालती चम्पा, गुलाब और चमेली आदि मनोहर कुसुम किस अभिप्राय से सुगन्ध फैला रहे हैं । कोकिलों की मधुर ध्वनि किस उद्देश से मानव हृदय को उल्लसित और प्रमुदित करती है । गौ, महिषी, आविका आदि किस वाञ्छा से इतना अधिक पयः प्रदान करती हैं । निपुणता से परीक्षा करते पर भी कोई उनका फलाभिसन्धि प्रतीत नहीं होती । जब इन सबों को कर्म निष्काम हो रहे हैं तो मनुष्यों का कामना रहित कर्म क्यों न होना चाहिये । यदि वे नहीं करते हैं तो उनका यह अज्ञान है । हम देखते हैं कि स्वभावतः इस शरीर में अनेक कर्म निष्काम हो रहे हैं । कभी २ किसी चीज को खोदने देह हिलाने और हाथ फैंकने आदि कर्म निष्प्रयोजन ही करने लग जाते हैं । जब अज्ञान पूर्वक निष्काम कर्म होते हैं तब ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म क्यों न करें । बहुत से महात्मा

ऐसे देखे भी जाते हैं किन्तु मेरा केवल निष्काम कर्म से प्रयोजन नहीं। अज्ञानावस्था में भले ही सकाम कर्म करें किन्तु मेरा अभिप्राय व्यर्थ कर्म के निषेध से है। जब यह आत्मा सर्वप्रकार से परिपूर्ण है तब किस उद्देश से कर्म करेगा। अतः गीता कहतीहैकि—

सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

जब तक वैसा ज्ञान नहीं हुआ है तब तक भी फल के उद्देश से विद्वान् को कर्म करना उचित नहीं। कृष्ण कहते हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन इत्यादि

अब इतने से विद्वान् समझ सकते हैं कि वेदान्त का प्रयोजन और श्रवण आदि किस प्रकार के कर्म हैं। इन सब का आगे भी निरूपण रहेगा। अतः यहां ही विराम करती हैं।

निषिद्धकर्म

निषिद्ध कर्म—हिंसा, चौर्य्य, लम्पटता, अन्य देवों की उपासना आदि कर्म करने वाले इसके अधिकारी नहीं।

शङ्का—विधिनिषेध का परिज्ञान किस प्रकार हो। जब इसी भारतवर्ष में भिन्न २ सम्प्रदायी ग्रन्थों में अनेक भिन्नता पाते हैं। जिसको एकसम्प्रदाय निषेध करता उसीका विधान दूसरा करता है। वैष्णवसमाज हिंसक के पीछे लाठी लेकर दौड़ता है किन्तु तान्त्रिकमहाशय कलकत्ते में काली को विन्ध्याचल में भगवती को और अपने प्रत्येक कर्म में देवी देव को छागदान दे २ खूबही उन का शिर काटते और खाते है। एवं आचारी वैष्णव यदि कहीं लिङ्गमय शिवका दर्शन भी पाले तो वह प्रायश्चित्त करेगा। इसी प्रकार कोई भी वैष्णव किसीअवस्थामें भस्म धारण न करेगा। एवं हिन्दू मुसलमान और क्रिस्तान आदिकों में महान् अन्तर पाते हैं। वर्तमानकाल में यदि हिन्दू किसी यवनादिक का पानी ज्ञान वा अज्ञान से पीले तो वह प्रायश्चित्ती होगा किन्तु तद्विपरीत यवनादिकों में स्पर्श दोष

का लेश भी नहीं। इत्यादि संदेह जागृत होते हैं। इन का क्या उत्तर है।

समाधान—यद्यपि ईश्वर प्रत्येक मनुष्य में एक विवेक ज्योति देता है उस को जो उत्तम रीति से काम में लाता है उसको स्वयं विधिनिषेध प्रतीत होने लगता है। किन्तु ऐसे विज्ञानी तत्त्वानुसन्धानी बहुत ही विरल हैं। अतः निर्णय की अपेक्षा होती है। वह यह है कि जिस से निज का और दूसरे का हित और हानि हो वह क्रमशः विधि और निषेध है। इसी को विवेकी पुरुष सर्वदा लिखते आए हैं। उनका ही लेख धर्मशास्त्र, न्यायव्यवस्था और अन्यान्य शास्त्र नाम से जगत्में प्रथितहै। तथापि सन्दिग्धावस्था में वैज्ञानिक तार्किक हैतुक धर्मतत्त्वज्ञ, निरपेक्ष, पक्षपातशून्य, साम्यदर्शी, सत्यवक्ता, आचार्य्य राजा और सामयिक बड़े २ विद्वानों इन सब की परिषद् हो। उस से जो निर्णय हो उसी को लोग विधि और निषेध मानें। इस रीति पर जगत् के विरोध का उपशमन होकर सुख का बीज सुपिक्व हुता रहेगा। वेदान्त के निकट सर्वदोषों से रहित हो जो जन आवेगा वह स्वकीय और परकीय दोनों हितों का साधक होगा॥ इति संक्षेपतः॥

विषय निरूपण

यद्यपि संक्षेप से ब्रह्म जीव की एकता ही इस का मुख्य विषय है। तथापि विचार दृष्टि से देखा जाय तो वस्तुमात्र ही इस का विषय है। क्योंकि ये परितः स्थित सूर्य्य से लेकर पृथिवी तक जितने दृश्यादृश्य पदार्थ हैं और मानवहृदयाविर्भूत जितने गणित, व्याकरण और काव्यादिक हैं इन में ही लिप्त और इनको ही परमार्थ वस्तु समझ कल्याण से विमुख हो रहे हैं। इस अवस्था में इस मायिक स्वप्नवत् मिथ्याभूत समस्त प्रपञ्च का जब तक मिथ्यात्व न बतलाया जाय तब तक परम-परमार्थ ब्रह्म का बोध होना अति दुस्तर है। अतःइसके अन्तर्गत सर्वविषय आजाते हैं। विवेकिपुरुषो!

जीवब्रह्मैक्य विषय कहना भी वेदान्त में शोभा नहीं पाता, क्योंकि जीव और ब्रह्म दो वस्तु हों तो उनकी एकता दिखलाईजाय। वास्तव में तो वस्तु ही एक है जिसको वेदान्त में ब्रह्म कहते हैं जैसे ब्रह्म से जीव वैसे यह जड़ जगत् भी उस से पृथक् भासित होता है अतः जीव, ब्रह्म और जड़ जगत् की भी एकता वाच्य होगी। पुनः भासमान जो जड़जगत् की नाना शाखाएं पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश काल, दिशा आदिकी भी एकता दिखलानी होगी। इस प्रकार एकता की शाखा बढ़ती जायगी। अब यद्यपि इस ब्रह्म में न अध्यास न आरोप न भ्रम न विपर्यय और न किसी प्रकारका भेद है। न संसार न संसारी न कार्य्य न कारण इत्यादि कुछभी नहीहै तथापि यह व्यावहारिक और प्रातीतिक जगत् अवश्य प्रतीत होरहा है। वह यह क्या है। यह कहां से आया इत्यादि विविध प्रमेय (पदार्थ) उपस्थित होते हैं। प्रथम थोड़ी देर तक मान लिया जाय कि यह जगत् सत्य ही है। तो क्या एक से ये अनेक हुए हैं या अनेकों से अनेक हुए हैं। अर्थात् इस व्यावहारिक जगत् का मूलकारण एक ही है या नाना वस्तुएं हैं। बहुत से तार्किक पृथिवी, अप्, तेज, वायु, इनके परमाणुओं को और आकाश, काल, दिशा को नित्य मानते हैं। इस सबका मेल यह जगत्है। इसीप्रकार कोई सांख्यवादी सत्व, रज और तम इन तीन शाखाओं से संयुक्त प्रकृति को मूल कारण मानते हैं। इत्यादि २ अनेक विचार हैं। यहां ब्रह्म ही एक वस्तु है उसी से यह प्रपञ्च भासित हो रहा है। अथवा यों कहिये कि एक ही वस्तु ब्रह्म से ये अनेक हुए हैं। इसका प्रतिपादन करना कितना दुष्कर है और इसके लिये कितनी सामग्रियों की अपेक्षा है आप विचार सकते हैं। अतः इस के अन्तर्गत वस्तुमात्र ही विषय प्रमेय है॥

सम्बन्धनिरूपण

जीव और ब्रह्म का ऐक्यरूप प्रमेयसहित तत्प्रतिपादक उपनि-

पदादि प्रमाण का बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध है। यह समझने की बातें हैं। समझ कर स्वयम् सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। यथा-ग्रन्थ जो उपनिषदादि और विषय जो जीव ब्रह्मैकता इन दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। ग्रन्थ प्रतिपादक होता है और विषय प्रतिपाद्य होता है। इसीको निरूप्य निरूपक भाव, व्याख्यातृ व्य.ख्येय भाव आदि सम्बन्ध भी कह सकते हैं। अधिकारी और फल का प्राप्य प्रापक भाव सम्बन्ध होता है। क्योंकि फल प्राप्य अर्थात् पाने योग्य है और अधिकारी प्रापक (पाने वाला) है। अधिकारी और विचार का कर्तृकर्तव्य भाव सम्बन्ध होता है। क्योंकि विचार कर्तव्य है और अधिकारी कर्ता है। ग्रन्थ और ज्ञानका जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। क्योंकि ज्ञान जन्य (उत्पन्न होने वाला) है और ग्रन्थ जनक (उत्पन्न करने वाला) है॥

प्रयोजननिरूपण

अज्ञान सहित अनर्थ की निवृत्ति और निरतिशय -ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है और अवान्तर प्रयोजन ज्ञान है। जिस वस्तु का अत्यन्त अभिलाषी पुरुष हो वही अत्यन्त पुरुषार्थ, परमपुरुषार्थ और परमप्रयोजन है वह मोक्ष स्वरूप है। अतः मोक्ष ही परमप्रयोजन है वेदान्त परिभाषा में 'धर्मराध्वरीन्द्र" के कथन का सार यह है कि बोध होने पर जिस वस्तु की कामना हो वह प्रयोजन है। वह दो प्रकार का है। १-मुख्य और २-गौण।। सुख और दुःखाभाव ये दोनों मुख्य प्रयोजन है। इन से भिन्न साधन गौण प्रयोजन है। सुख भी दो प्रकार का है। १-सातिशय और २-निरतिशय। सांसारिक विषयों से रञ्जित अन्तःकरण की वृत्तियों से तारतम्यजनित जो उच्चावच आनन्दों का लेश वह "सातिशय सुख है अर्थात् सांसारिक सुख सातिशय है। क्योंकि श्रुति कहती है कि-

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि।
मात्रामुपजीवन्ति॥

इसी आनन्द की मात्रा को लेकर ये प्राणी जीते हैं। और निरतिशय सुख ब्रह्म ही है। क्योंकि श्रुति कहती है:-

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। इत्यादि॥

ब्रह्म ही आनन्द है ऐसा जाना। विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है। आनन्दात्मक ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है किन्तु ब्रह्मलोक वा अन्यलोक की प्राप्ति मोक्ष नहीं अथवा उस २ लोक के विषयों को भोगना भी मोक्ष नहीं। क्योंकि वह कर्म जन्य होने के कारण अनित्य है इस हेतु यदि उस को मुक्ति मानोगे तो मुक्त की पुनरावृत्ति दोष होगा॥

शङ्का:-आप कहते हैं कि जन्य वस्तु (जिस की उत्पत्ति हो वह जन्य है) घटपटादिवत् अनित्य होती है। जिस हेतु लोकान्तर प्राप्ति कर्म-जन्य है। अतः वह अनित्य है इस हेतु वह मोक्ष भी नहीं किन्तु आप के मत में भी आनन्द की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति मोक्ष कही जाती है। अतः यह भी जन्य ही है क्योंकि अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की निवृत्ति होती है इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम इस जीव को आनन्द की प्राप्ति नहीं थी किन्तु दुःख की प्राप्ति थी जब साधनों से सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती है तब मोक्ष प्राप्त करता है। अतः मोक्ष भी जन्य ही है यदि कहें कि यह मोक्ष सदा प्राप्त ही है तब श्रवणादिकों में प्रवृत्त हो क्यों होना चाहिये।

समाधान-ब्रह्मस्वरूप जो मोक्ष है वह सर्वदा प्राप्त ही है। किन्तु इस जीव को यह ज्ञात नहीं है। अतः श्रवणादिक साधन में प्रवृत्ति आवश्यक है। अनर्थ की निवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः यह भी सिद्ध ही है। इस के दृष्टान्त से समझे यथा-लोक में भी "प्राप्तप्राप्ति" और "परिहृतपरिहार" प्रयोजन देखा जाता है। कभी २ ऐसी अवस्था हो जाती है कि देह पर विद्यमान

भी वस्त्र विस्मृत हो जाता है और व्याकुल होकर लोगों से वस्त्र पूछता है। अब कोई देख कर कहता है कि तू कैसा मूर्ख या प्रमादी है। देख तेरे शरीर पर ही यह वस्त्र है। तू क्यों व्याकुल होरहा है। यहा सोच कर देखिये "प्राप्तकी ही प्राप्ति है"। पुनः अन्धकारमें किसी पुरुष के चरण में रज्जु (रसरी) लिपट जाती तब वह सर्प के भय से हाहाकार रोता और अचेत हो जाता। तब दौड़कर कोई आता और देख कर कहता है कि अरे यह तो सर्प नहीं है किन्तु रज्जु है। तू क्यों डर रहा है। देख, यहां परिहृत परिहार है। एवं प्राप्त आनन्द की भी प्राप्ति और परिहृत अनर्थ की भी निवृत्ति होती है यही मेरे पक्ष में मोक्ष है॥

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण कल्पित वस्तु की निवृत्ति अधिष्ठान रूप होता है। पृथक् नहीं यह भाष्यकार का सिद्धान्त है। जैसे रज्जु में सर्प भ्रम होकर जब वह निवृत्त होता है तब निवृत्ति अधिष्ठान रज्जु रूप ही रहती है अन्य नहीं। अतः यहां अनर्थ की निवृत्ति ब्रह्मरूप है॥

ज्ञान का अष्टसाधन और फल

विवेक, विराग, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और "तत्वमसि" पद के अर्थ को शोधन ये आठ ज्ञान के साधन हैं। इन में प्रत्येक एक से एक उत्तम साधन हैं। किसी एक वस्तु में सब प्रकार से चित्तवृत्ति का लग जाना ही निदिध्यासन है। इसी का नाम समाधि भी है। लोग वेदान्त का आशय नहीं समझते हैं। इस की प्रवृत्ति आत्मबोध के लिये है। आत्मबोध स्वाभाविक है इस को भी अनेक आचार्य्यों ने कृत्रिम बना दिया है। लोक में देखते हैं कि अति मूर्ख जन मिथ्या ध्यान करते २ समझ लेते हैं कि मेरे देह पर भूत आगया है। भगवती मेरे शिरपर बैठी है। इस के पश्चात् वह ऊटपटांग बकने लगता है उस के चारों तरफ ज्ञानशून्य लोग इकट्ठे हो जाते हैं और उस भूतावेशी

पुरुष से नाना वर, आशीर्वाद, नैरोग्य, मारण, मोहन, धनधान्य पुत्र और कलत्र आदि पदार्थ मांगते हैं। वह भूताध्यासी भी मनमाने जो चाहता है वैसा लोगों को उत्तर देता जाता है। मूढ़ातिमूढ़जन इस को सत्य ही समझते हैं। इसी प्रकार कोई २ अज्ञानी वास्तव में आत्मप्रकाश न पाकर "अहम्ब्रह्मास्मि" कहने लगते हैं उन का अन्तःकरण रागद्वेष से पूर्ण रहता है। भेदज्ञान इतना रहता है कि किसी को ब्राह्मण और किसी को शूद्र किसी स्थान को परम पवित्र और किसी को अपवित्र मानते हैं। तथापि "अहम्ब्रह्मास्मि" ही चिन्तन करते हैं किन्तु ज्ञानी में भेद का लेश भी नहीं रहता है और न उसके कर्त्तव्याकर्तव्यों के कुछ नियम होते हैं। वह परमहंस आदि नाम से शास्त्र में उक्त है। ऐसे कोटियों में एक आध ही होता है। सृष्टि की आदि से अब तक वामदेव, जनक, शुक आदि अति स्वल्प ही पुरुष इस पद तक पहुंचे हैं। इतने लेख से मेरा आशय यह है कि भूताध्यासी के समान मिथ्याज्ञानी न बन जाय और उस से निज और पर की हानि न कर बैठें किन्तु वास्तव ज्ञानप्राप्ति का पूर्ण उद्योग करें। इस के लिये प्रथम व्यावहारिक पदार्थों का विशेष ज्ञान होना चाहिये। वह ज्ञान उक्त अष्टसाधनों में शीघ्र होता है। जिन २ महापुरुषों को ये साधन प्राप्त हुए हैं। वे इस जगत् के परमोपयोगी हुए हैं। उन के चरित्र के अध्ययन से उत्तर जन पवित्र होते हैं उन के ग्रन्थो के पठन से विद्वान् बनते हैं। इन में जब निदिध्यासन की प्रबलता होती है तो उनके आत्मा से ज्ञान की धारा निकलने लगती है। जिस में जितना समाधि होता है उतना ही वह तत्व को प्रकाशकर सकता और जान सकता है यहां वेदांत का पक्ष में ही उदाहरण लीजिये। वह यह है संस्कृत में षट्शास्त्रों का महा महिमा है। परन्तु वेदान्त के किसी ग्रन्थ को पढ़िये उस में उन पांचों के मन्तव्यों का खण्डन रहेगा। आप केवल निश्चलदास जी कृत विचार सागर के सप्तम तरङ्ग को ही पढ़ जाइये। उसी से इस कथन की सत्यता आप को प्रतीत होगी। तब उस से सिद्ध

हुआ कि कपिल आदि की अपेक्षा वेदान्त कर्ता व्यास ने अधिक समाहित होने के कारण तत्वों को समझा और तदनुसार उपनिषदों के तत्वों को प्रकाशित किया। इसी प्रकार यद्यपि वेदान्त सूत्र पर शङ्कराचार्य्य कृत भाष्य, रामानुज भाष्य, मध्व भाष्य, भास्करा-चार्य्य कृत भाष्य नीलकण्ठभाष्य, विष्णुस्वामीकृतभाष्य और विज्ञानेन्द्र भिक्षुकृत भाष्य,आदि अनेक हैं। किन्तु प्रसिद्ध शाङ्करभाष्य है और उसी की प्रशंसा भी सब करते हैं। इस का कारण क्या? निःसन्देह विवेक वैराग्य आदि ही इसका मुख्य हेतु है।

शास्त्र आदि वस्तु क्या है

यह निर्विवाद है कि ये सब शास्त्र व्याकरण, न्याय, मनुस्मृति, महाभारत और वाल्मीकीयरामायण आदि संस्कृत ग्रन्थों के कर्ता मनुष्य ही थे। और वे हमारे सदृश ही थे। तब इन में कौनसी विशेषता थी कि वे शास्त्रकार हुए। विशेषता गवेषणीय है। अन्वेषण से यह सिद्ध होगा कि किसी कारणवश उन में ज्ञान साधन विवेकादि प्राप्त हुवे उसी का फल ये शास्त्र हैं। एक २ महापुरुषों ने जो २ कुछ अनुभव किया उसी को उपकारार्थ लेखबद्ध भी कर दिया। अतः उन आचार्य्यों के अन्तःकरण का विकाश ही बाहर निकल कर, मानो, शास्त्ररूप में परिणत हुआ ज्ञानसाधनों से जिस की जैसी और जितनी वृत्ति बनी वैसा ही और उतना ही उन का ग्रन्थ हुआ। इस कारण प्रत्येक शास्त्र में तारतम्य और भेद भी होना आवश्यक है। किन्तु उस २ भेद के कारण वे निन्द्य नहीं हैं। उन्हों ने अपने अनुभव के अनुसार वैसा लिखा। अब आप उनके ग्रन्थों और निज साधनों के बल से उत्तरोत्तर बढ़ाते जांय इस में कोई क्षति नहीं। पूर्वाचार्य्यों को देव अवतार और सिद्ध मान लेना भी अवनति का कारण है। वे भी मनुष्य थे। हम भी मनुष्य हैं उन्हों ने जो कार्य्य किया उसे हम भी कर सकते हैं। ऐसी ही धारणा रख कर साधनों में प्रवृत्त हो। कार्य्य अवश्य सिद्ध होगा

यदि ऐसी धारणा न मानी जाय तो शास्त्रोपदेश ही व्यर्थ होजा-एगा। क्योंकि आचार्य कहते हैं कि हमारी प्रणाली पर चलने से तुम भी तत्वज्ञ ही होगे। अतः साधन सम्पन्न होने से प्रत्येक मनुष्य ग्रन्थकर्त्ता बन सकता अपेक्षित केवल साधन है॥

मनन का फल

एक यूरोप के विद्वान् ने फल को नीचे गिरते देख मनन कर परमोपयोगी आकर्षण शास्त्र का प्रकाश किया। किसीने पाक समय ढाकन को अन्न की गरमी से ऊपर उठना देख यह रेलगाड़ी का महाश्चर्य्य व्यापार रच दिया। किसी ने आकाशस्थ नक्षत्र को विचलित देख २ यह पृथिवी भी गतिमती है स्थिर नहीं यह सिद्ध किया। बुद्ध देव जी एक संन्यासी को मुदित देख परम वैराग्यवान् हो इस जगत् के कोटियों पुरुषों के उपदेष्टा हुए और यहां तक कि वे साक्षात् ईश्वर ही माने गए। दयानन्द जी शिवप्रस्तर पर चूहे को चढ़ते देख पौराणिक धर्म का मिथ्यात्व प्रकट कर आचार्य्य बने। इसी प्रकार शतशः महापुरुष हुए हैं और उनका जो २ अनुभव वही एक २ शास्त्र है। अतः उस २ शास्त्रको एक२ विकाश समझ कर अध्ययन करना चाहिये और उस से अपना अनुभव अधिक बढ़ाना उचित। तब ही मननादिक सफल होते जायेंगे।

"उत्तरोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्"

इस जन श्रुति के अनुसार सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि हो सकती है यदि पूर्ण अभ्यास किया जाय। केवल प्राचीन आचार्य्यों के ही उपदेश को परम प्रमाण मानना नवीनों का तिरस्कार करना यह भी अन्ध परम्परा ही है। ईर्ष्यालु मूर्ख और खल जन सदा प्रयत्न में रहते हैं, कि हम किसी को प्रतिष्ठा न देवेंगे किन्तु इनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। तुलसीदास का रामायण प्रमाण है। वह किसी के रुकने से न

रक्खा गृह गृह में उसको लोग पूंजते हैं। पाणिनि के पूर्व अनेक व्याकरण थे। किन्तु अष्टाध्यायी के प्रकाश के अनन्तर सब ही व्याकरण छिपगए। यह उत्तरोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम् का अत्युत्तम प्रमाण है॥

बहिरङ्ग साधन

बहिरङ्ग साधन बहुविध है यथा-अहिंसा, सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह ये पांच यम। शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ देवयज्ञ, भौतयज्ञ और नृयज्ञ ये पांच महायज्ञ। दर्शेष्टि पूर्णमासेष्टि, आग्रायणेष्टि, अग्निष्टोम, अश्वमेध ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ। मातृपितृ आचार्य्यादि सेवन तीर्थ, व्रत, सम्प्रदाय और देवोपासना आदि। गर्भाधान सीमन्तोनयन, पुंसवन जातकर्म, उपनयन, विवाह इत्यादि २ शतशः बहिरङ्गसाधन हैं। लोग अधिकतर बहिरङ्गसाधनों में ही लगे रहते हैं क्योंकि इस से कीर्त्ति प्रशंसा, नाम और प्रतिष्ठा होती है और देखने में भी बहुत मनोहर प्रतीत होता है॥

बहिरङ्ग साधन पर विचार

जिस हेतु बहिरङ्ग साधनों की इयत्ता नहीं है। इन पर अनेक विवाद उपस्थित होजाते हैं। अतः इस विषय का वेदान्त से जितना सम्बन्ध हो सकता उतना भी अति संक्षेप रूप से यहां निर्णय करना अत्यावश्यक है। क्योंकि इसी बाह्यसाधन के पोषक आपस्तम्भ श्रौत सूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र इसी प्रकार गृह्यसूत्र शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ, अष्टादशपुराण तन्त्र, महाभारत, रामायण, निर्णयसिन्धु आदि सहस्रशः ग्रन्थ यहां विद्यमान हैं। द्युलोकस्थ सूर्य्य से लेकर पाताल स्थ नाग तक असंख्य देवगण पूजे जाते हैं। तीर्थ भी असंख्य हैं। गङ्गा, गोदावरी, कृष्णा, गङ्गासङ्गम, जगन्नाथ, द्वारका, रामेश्वर, हरद्वार आदि और इनके अतिरिक्त ग्राम २ में तीर्थ हैं। सम्प्रदाय भी बहुत हैं। वैष्णव, शाक्त, शैव,

गाणपत्य सौर, रामानुजीयवैष्णव, वल्लभीयवैष्णव इत्यादि २ मैं कहां तक उनके नाम लिखूं। यदि सब के नाममात्र ही लिखे जांय तो उन से एक महापोथा बन जायगा। यहां इस विषय में वेदान्त का क्या मत है वह दिखलाना है। क्योंकि इस विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न कर दिए गए हैं जिन से तत्व गुप्त होगया और ब्रह्मोपासना जगत् से उठ गई है॥

मनुष्य क्या है

यद्यपि "तत्वमसि" वह ब्रह्म तू है "अहम्ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं "अयमात्माब्रह्म" यह जीव ब्रह्म है "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" उस को जानकर ही मोक्ष पाता है॥

"मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इहनानेवपश्यति"

मृत्यु से मृत्यु को पाता रहता है जो यहां विभिन्नता देखता है

"यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"।

जिस विज्ञानी और एकत्वदर्शी का सर्वप्राणी आत्मा होता है। वहां क्या शोक और क्या मोह "**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते**" जिस की उपासना ये अज्ञानी जन कर रहे हैं वह ब्रह्म नहीं है। तू उसको ब्रह्म जान जो सब इन्द्रियों से पर है। इत्यादि वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों को ओर न जाकर प्रथम तुम यदि मनुष्य क्या है इसी को अच्छी तरह से जान लो तो बहिरङ्ग साधनों की सत्यता और असत्यता का पता बहुत शीघ्र लग सकता है। अतः इस पर कुछ मीमांसा करो॥

मनुष्य और देवगण

प्रथम यह विवेक ज्योति से देखो कि मनुष्य श्रेष्ठ अथवा देव। निःसन्देह मनुष्य ही श्रेष्ठ है (क) क्योंकि सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, गङ्गा, गोदावरी और पृथिवी आदि देव ज्ञेयमात्र और अचेतन हैं। मनुष्य तद्विपरीत ज्ञाता और चेतन है। ज्ञेय से ज्ञाता और अचेतन से चेतन श्रेष्ठ होता है यह ईश्वरीय नियम है। यथा ज्ञेय घट से मनुष्य श्रेष्ठ है। ये सूर्य्यादि देव न सुने न बोले न खांय न पीवें न इच्छा न द्वेष न प्रयत्न आदि इन में हैं। हम मनुष्य इन के सब तत्वों को जानते हैं किन्तु वे हमारी एक बात भी नहीं जानते॥ अतः ये जड़ और ज्ञेयमात्र हैं। (ख) ये देव नियोज्य और मनुष्य नियोजक है। सर्वदा नियोज्य से नियोजक श्रेष्ठ होता है। सूर्य्य के ताप से जितना काम चाहते हैं उतना काम लेते हैं। बड़े २ भवन बनाकर उसके ताप को रोक रखते हैं। वैज्ञानिक रीति से आजकल सूर्य्य का ताप पाक के काम में आता है अर्थात् सूर्य्यताप इन्धन का काम दे रहा है। अग्नि से शतशः काम ले रहे हैं। गङ्गा नदी से विविध जल बनाकर क्षेत्र से क्षेत्र में पानी लेजाकर शस्य उत्पन्न कर रहे हैं। जहां चाहते वहां ही इन का प्रयोग करते हैं इत्यादि। इस हेतु देव नियोज्य और मनुष्य नियोजक है (ग)—देवगण भोग्य और मनुष्य भोक्ता है। भोग्य से भोक्ता श्रेष्ठ होता है। इस को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। गङ्गाजल हमारा पेय है। शीत ऋतु में सूर्य्यताप से अपने शरीर को सेकते हैं। अग्नि से नाना व्यञ्जन भोज्य बनाकर उसका स्वाद लेते हैं। श्वास प्रश्वास द्वारा जलवत् वायु भोज्य बन रहा है। अतः देव भोज्य और मनुष्य भोक्ता है। (घ)-देवगण परतन्त्र और मनुष्य स्वतन्त्र है। अतः मनुष्य श्रेष्ठ है। सूर्य्य, चन्द्र, वायु आदि अपने नियत मार्ग से अणुमात्र भी विचलित नहीं हो सकते। गङ्गादि जल वर्षाभाव से सूखने लगते हैं किन्तु मनुष्य इस पृथिवी पर जहां चाहे वहां गमनागमन कर सकता है

आकाश में भी विमान द्वारा उड़ा करता है। इत्यादि कारणवश देवापेक्षया मनुष्य श्रेष्ठ है। ये देव जड़ हैं इस हेतु इन के नाम पर जो २ कर्म किए जाते हैं वे सर्वथा व्यर्थ और शिशु क्रीडा है। जो ये ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, काली, दुर्गा, इन्द्र, वरुण और मन्मथ आदि पौराणिक देव हैं वे कल्पित हैं अर्थात् मनुष्यों ने इन्हें अपने मन से बनाया है। सूर्य के स्थान में विष्णु को, वायु के स्थान में ब्रह्मा को और अग्नि के स्थान में महादेव बनाए गए हैं। वास्तव में ये देव ब्रह्माण्ड मे कहीं विद्यमान नहीं हैं शशशृङ्ग समान इन का अत्यन्ताभाव है। इन के काल्पनिकत्व की सिद्धि में "त्रिदेवनिर्णय" नाम का बृहत् ग्रन्थ बनाया गया है जिस के अध्ययन से निर्विवाद उन का कल्पितत्व सिद्ध होता है। जो ये नाग, कूर्म, नीलकण्ठ, तुलसी, अश्वत्थ आदि देव माने जाते हैं वे मनुष्यों के दासवत् नियोज्य हैं। यह प्रत्यक्ष है मैं कहां तक लिखूं। मनुष्य निजमहत्व नहीं जानता। मनुष्यो! स्वकीय आत्मा का उद्धार करो। आकाशस्थ सूर्य्य से लेकर नाग तक की जो तुम पूजा कर रहे हो वह केवल तुम्हारा अज्ञान है अतः जितने कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। उनका वही भाग मन्तव्य है जितना परमात्मा से सम्बन्ध रखता है। इस कारण अपने को जान निष्फल कर्म त्याग ईश्वर की ही उपासना करो॥

सर्वलोकमय मनुष्य

भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, और सत्यलोक ये सात ऊपरके लोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सात नीचेके लोक, दोनों मिलकर चौदहलोक, कहीं बाहरके लोक नहीहैं। यह विश्व ब्रह्माण्डका वर्णन नहीं किन्तु मनुष्य शरीर का ही वर्णन है। इसी मनुष्य शरीर में ही ये चौदह भुवन हैं। यथा—दो नयन। दो कर्ण, दो नासिकाए, एक मुख। यही सात ऊपर के भूर्लोक आदि लोक है और दो हस्त,

दो चरण, एक मलेन्द्रिय, एक मुत्रेन्द्रिय और एक मध्य शरीर ये सात अतल आदि नीचे के लोक हैं क्योंकि इस असीम जगत् को चौदह भागों में बांटना न यौक्तिक और न प्रामाणिक है। जब पुराण भी कहता है कि ब्रह्म को मानो। एक एक रोम में कोटि २ ब्रह्माण्ड हैं। तब इसकी सीमा कहां? पुराणों का भी चतुर्दश भुवनों से यह शरीर ही अपेक्षित है क्योंकि इस देह में चौदह भाग प्रत्यक्ष हैं। शिर में नेत्र आदि सात ऊपर के और पवित्र लोक इस लिये कहाते हैं कि यहां से ही सर्वज्ञान का स्रोत निकलता है और हस्त, चरण आदि नीचे के और अधम लोक इस लिये कहाते हैं कि इन से ही पाप कर्म भी करते हैं। जिस हेतु यह शरीर चतुर्दश भागों में विभक्त है यह निःसन्देह है। अतः यह देह ही चतुर्दश भुवनमय है, अन्य नहीं। श्रुतियों मे भी इस को बहुत प्रकार से दिखलाया है। यहां उसका सहस्रांश भी नहीं लिख सकता क्योंकि ग्रन्थबहुत बढ़ जायगा। तथापि दो एक बातें ये हैं:—

सप्त ऋषि

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-
स्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्॥
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे।
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। बृह० उप०

इस श्रुति की व्याख्या में स्वयं श्रुति कहती है कि ये नयन आदि शिरस्थ सात इन्द्रिय ही सप्त ऋषि हैं। दोनों कर्ण गौतम और भरद्वाज। दोनों नयन विश्वामित्र और जमदग्नि। दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप और मुख अत्रि ऋषि है। नयनादि इन्द्रिय इस लिये ऋषि कहाते हैं कि इन से सदसद्विवेक उत्पन्न होता है। पुनः इस के पोषक अनेक श्रुतियां हैं। यथा—

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ।

इत्यादि इस शरीर में सात ऋषि प्रतिष्ठित हैं ।

सप्त शीर्षण्या वै प्राणाः ।

सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । इत्यादि

शिरस्थ सात प्राण हैं । यहां प्राण शब्द से नयन आदि सप्त इन्द्रियों का ग्रहण है ॥

सप्त होता

ये ही सात होता कहाते हैं यथा—

मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।

(मनु) मन्ता, बोद्धा यह जीवात्मा मन और नयन आदि सप्त होताओं के साथ प्रतिदिन इस शरीर में होम कररहा है ।

" येन यज्ञस्तायते सप्तहोता "

इत्यादि अनेकशः इस के प्रमाण हैं ॥

सप्त विप्र

सप्त विप्र भी ये ही नयनादिक कहाते हैं यथा—

स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः । इत्यादि

सप्त सिन्धु

ये ही सप्त समुद्र सप्त सिन्धु सप्त सागर सप्त द्वीप आदि नामों से पुकारे जाते हैं यथा—

यो हत्वाऽहिमरिणात् सप्तसिन्धून् ।

अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् । इत्यादि

सप्त नादियां

इन्हीं नयनादिकों को सप्त नदियां कहते हैं।

"अस्य स्त्रोतनद्यः सप्त विभ्रति"।

इत्यादि इसके यशको ये सात नदियां दिखलाती हैं। इनके ही नाम गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी और वितस्ता हैं। मैं ग्रन्थ विस्तार भयसे यहां अधिक लिखना नहीं चाहती, आपदेखें कि सूर्य्य भी सप्तरश्मि, सप्तकिरण, सप्तमयूख, सप्ताश्व आदि नामों से कहाजाता है जिस हेतु सूर्य्य के किरणों में सात प्रकार के लाल आदिवर्ण है। अतः वह सप्ताश्व आदिनामों से उक्त है। सूर्य्य मे सात प्रकार के वर्णों और इस मानवशरीर में सात प्रकार के नयन आदि इन्द्रियों को देख वेद और लोक नाना नाम रखतेहैं। सप्तलोक, सप्तसागर, सप्तपर्वत, सप्त नदियां, सप्त ऋषि, सप्त प्राण, सप्त असुर इत्यादि। पश्चात् इसके अनुसार अनेक सप्तक मानलिएगए। इसी के नाम से सातनरक भी प्रसिद्ध किये गए। वेद के सप्तछन्द, व्याकरण की सप्तविभक्तियां। न्याय के सप्त पदार्थ, ज्योतिष के सप्तदिन। गान के सप्तस्वर कर्म्मकाण्ड के सप्त यज्ञ, सप्तपाक यज्ञ. वैद्यक के सप्तधातु सप्त उपधातु, तन्त्र, की सप्त माताएं इत्यादि २ अनेक सप्तकों से संस्कृत साहित्य भरपूर हो गया। जिस हेतु नयन आदि एक सप्तक चरणादिक द्वितीय सप्तक इस कार्य में वास्तव रीति से विद्यमान हैं। और इस से शुभाशुभ दोनों कार्य्य सिद्ध होते हैं। अन्ततः इसी चतुर्दश भुवनमय देहव्यूह से मुक्ति भी प्राप्त होती है। अतः इस के नाना वर्णन, विविधमाहात्म्य अनेक आख्यान, भूरि २ पुराण बनने लगी। पश्चात् इस तत्व को न समझकर अज्ञानवश इस ब्रह्माण्ड को ही चतुर्दश भुवनमय मानलिया। यह भ्रममात्र है। विद्वानो! ऐसा पवित्र शरीर जब तुमको दिया गया है तब भी इधर उधर तुम भटकते फिरते हो यह कैसा आश्चर्य्य और कैसी प्रबल माया है॥

सर्वदेवमय नरशरीर

यह मनुष्य शरीर केवल सर्वलोकमय ही नहीं किन्तु सर्वदेवमय भी है। श्रुति कहती है यथाः—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षु- र्भूत्वा। इत्यादि। ऐ० उ०

अग्निदेव वाणी होकर मनुष्य शरीर के मुख में प्रविष्ट हुए। वायु प्राण होकर नासिकाओं में, आदित्य नयन होकर नेत्रों में, दिशाएं श्रोत्र होकर कर्णों में, औषधि और वनस्पति लोम होकर त्वचा में, चन्द्रमा मन होकर हृदय में, मृत्यु अपानवायु होकर नाभि में, और जलदेव रेत होकर इन्द्रिय में प्रविष्ट हुए।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वेदेवाः। इत्यादि० ऐ० उ०

यह हृदय ही ब्रह्म (श्रेष्ठ) है यही इन्द्र यही प्रजापति यही सर्वदेव है। इत्यादि श्रुति द्वारा सिद्ध है कि यह नरशरीर सर्वदेवमय है। और इस में ज्ञानमय आत्मा है। तब इसे छोड़ जडदेवों के उद्देश से कर्म करना केवल अज्ञान नहीं तो क्या, ? अतः अज्ञान से ज्ञान की ओर कर्म से श्रवणत्रय की ओर अनात्मा से आत्मा की ओर भेद से अभेद की ओर आना इत्यादि वेदान्त की शिक्षा है। संस्कृत साहित्य के तत्वानुसन्धान से भी यह शरीर सर्वदेवमय ही सिद्ध होता है। यहां केवल इन्द्र शब्द के ऊपर विचार से सर्वार्थ विदित हो जाता है॥

इन्द्र शब्द

उपनिषत्तत्त्ववित् जान सकते हैं कि इन्द्र नाम इसी जीवात्मा का है। १—नयनादिकों को इस लिये इन्द्रिय कहते हैं कि इन्द्र

(जीवात्मा) इनका पोषक है। अथवा नयनादि द्वारा जीवात्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है। अतः यह इन्द्र कहाता है। इसी शब्द से व्याकरणानुसार इन्द्रिय बनता है।

२—द्वितीय नाम इस का मरुत्वान् है यह भी इसी अर्थ का सूचक है क्योंकि मरुत् इसके साथी हैं। यह महाभारत और पुराणादिकों में अति विस्तृत और विख्यात कथा है। सार इसका यह है कि दिति ने कश्यप से वर पाया था कि तेरा एक सन्तान इन्द्रघातक होगा। इन्द्र ने यह सुन दिति के उदर में पैठ गर्भस्थ बालक को सात टुकड़े कर पुनः एक ७ को सात २ किए। इस प्रकार वे ४६ उनचास होगये। कई ग्रन्थोंमें सात खण्डों का वर्णन है। इस क्रिया से दिति प्रत्युत प्रसन्न हुई और इन्द्र से कहा कि मेरे इन पुत्रों को आप अपने साथ ही रक्खें। जिस हेतु काटने के साथ समय उस बालक से इन्द्रने कहाथा कि "मारोदीः" मत रो। इस कारण इस का नाम मरुत हुआ और इन्द्र मरुत्वान् हुआ। यह वर्णन जीवात्मा का ही है क्योंकि अखण्ड और समष्टि जगत् का नाम " अदिति " और खण्ड और व्यष्टि शरीर का नाम "दिति" है " दोअवखण्डने " खण्डनार्थक दो धातुसे दिति बनता है। जिस हेतु से प्रत्येक शरीर समष्टि जगत् का एक २ खण्ड है अतः यह शरीर ही दिति है जिसका सर्वदा नाश होता रहता है और सम्पूर्ण जगत् अदिति अर्थात् अखण्ड और अविनश्वर है। अब इस आख्यायिका का भाव समझ सकते हैं। दिति जो यह खण्डात्मक शरीर उस में जब यह जीव प्रवेश करता है तब एक गर्भ दो नयन दो कान दो नाकें और एक मुख इसप्रकार सात भागों में विभक्त है। पुनः एक इन्द्रिय के सात २ व्यापार होते हैं अतः ये ७ अथवा ७+७=४६ होते हैं ॥

शतक्रतु

इन्द्र का शतक्रतु यह नाम भी इसी अर्थ का द्योतक है क्योंकि

शत=अनेक अथवा १०० एक सौ। क्रतु=कर्म यज्ञ हों जिसके वह शतक्रतु "शतायुर्वैपुरुषः" "पश्येम शरदः शतम्" "जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यादि श्रुतिप्रमाणों से मनुष्य की आयु १०० वर्षो की मानी गई है। ये ही १०० वर्ष १०० कर्म (यज्ञ) हैं उत्तम पुण्यवान् मनुष्य के आयु का एक २ वर्ष मानो एक यज्ञ है जिस के ये १०० वर्ष यज्ञवत् पवित्रकर्म्मों में बीतते हैं वही जीव वास्तव में इन्द्र है। मनुष्य का एक २ वर्ष एक २ यज्ञ है। इस को यहां ही आगे देखिये। अतः पुराणों मे कहागया है कि जो जो १०० यज्ञ करता है वही इन्द्र होता। विधिपूर्वक न कोई १०० यज्ञ करता और न कोई इन्द्र बनता है। ठीक है। क्योंकि सौ वर्षों में अनेक विघ्न होते रहते हैं। सम्पूर्ण आयु को निष्पाप बीतना अत्यन्त कठिन है। यदि शतक्रतु शब्द का केवल अर्थ अनेककर्मा रहता तो इन्द्र मे ही यह विशेषता क्यों होती क्योंकि सब ही देव अनेककर्मा हैं। अतः यह मानव शरीरधारी जीवात्मा का नाम है॥

शची आदि नाम

इसी प्रकार शची नाम क्रिया और यज्ञ का है जीवात्मा का लक्षण ही क्रिया और बुद्धि है। अतः यह शची इन्द्र की स्त्री मानी गई। यह हृदय ही "नन्दनवन" है। जहां से समग्र आनन्द का स्रोत निकलता है। शरीरस्थ नाड़िया अप्सराएं हैं। उन में रहकर यह जीवात्मा क्रीडा करता है। इन्द्र का घाड़ा "उच्चैःश्रवा" है यह शरीर ही उच्चैश्रवा है क्योंकि इस मानव शरीर का ही यश उच्च है। श्रव=यश, उच्चैः=उच्च। यह शरीर ही ऐरावत हाथी है क्योंकि यह अन्नमय वा अन्नों से पुष्ट होता है। इरा=अन्न। इस प्रकार जितना विचार करते हैं उतना ही प्रतीत होता है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है। यही देवों का स्वामी है। इस कारण भी यह नर शरीर सर्वदेवमय है। जब यह शरीर ही सर्वदेवमय है तब किस आशय से यह जीव अन्य जड़ की उपासना करे अतः मनुष्यो! तुम प्रथम

अपने शरीर सहित अपनी उच्चता का परिचय करो। सर्वबाह्यदेवों की ओर से निज आत्मादेव की ओर आओ यह वेदान्त की शिक्षाहै।

सर्वयज्ञमय

पुरुषो वावयज्ञः। तस्ययानिचतुर्विंशतिवर्षाणि

इत्यादि। छां० उ०

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि पुरुष ही यज्ञ है। प्रत्येक यज्ञ के प्रातः सवन माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन ये तीनसवन होते हैं। प्रातः सवन में मुख्य २४ अक्षरों की गायत्रीछन्द और वसु देवता। माध्यन्दिन सवन में ४४ अक्षरो की त्रिष्टुप्छन्द और रुद्र देवता। और तृतीयसवन में ४८ अक्षरों की जगती छन्द और आदित्य देवता होते हैं। अब यहां उपनिषत् कहती है कि पुरुष २४ वर्ष तक आयु प्रातः सवन है। यही चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री है और इस के प्राण ही वसु है। इसके पश्चात् ४४ वर्ष तक आयु माध्यन्दिन सवन है और ये ही त्रिष्टुप्छन्द है। और प्राण ही रुद्रदेव हैं। इस के ऊपर ४८ वर्ष तक आयु सायम्सवन और जगती छन्द है और प्राण ही आदित्य हैं। ये सब मिलके ११६ वर्ष होते हैं। इसका आशय भी विस्पष्ट है। जैसे यज्ञ में सत्यव्रत, इन्द्रियसाधन, मितभाषण, मितभोजन, अक्रोध आदि नियम पालने होते हैं। तद्वत् आयु के प्रत्येक क्षण को यज्ञ समझ कर पवित्रता से बितावे। केवल कल्पित यज्ञो में ही सत्यभाषणादि नियम न पाले किन्तु प्रतिक्षण उन नियमो को धारण करे। इस से ही आत्मकल्याण और जगन्मङ्गल की सम्भावना है।

शङ्का-तब क्या कर्म करना उचित नहीं।

समाधान-कर्म अवश्य करना उचितहै किन्तु जडदेवों के उद्देश से शिशुक्रीड़ा न करे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, गुणकीर्त्तन और उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि कर्म और नित्य, नैमित्तिक आदि कर्म भी उसी परमात्मा चेतन देव के उद्देश से सर्व शुभ कर्म करे।

शङ्का—लोक कहते हैं कि सूर्य्य, अग्नि और वायु आदि जड़ हैं इन में सन्देह नहीं किन्तु इन के अधिष्ठातृ देव कोई चेतन हैं। उन से ही उपासकों का फल मिलता है।

समाधान—यदि इन का कोई अधिष्ठातृदेव चेतन हो तो वे भी चेतन ही समझे जायंगे। तब वे चेतनवत् व्यवहार क्यों न करते। जब गङ्गा के ऊपर जहाज चलते हैं तो वे देव क्यों न बोल उठते हैं। जब यवन, मुसलमान और क्रिस्तान आदि इनके उदरसे मत्स्यघात करते हैं तब वे मना क्यों न करते और जैसे चेतन मत्स्यादि का भोजन अनुचित और हत्या मानी जाती है वैसे ही जलदेव के पीने से हत्या क्यों न समझी जाय। जब मुसलमान पीपल काटते हैं तब वे चेतनदेव कहां भाग जाते हैं। और भी—क्या अधिष्ठातृदेव कुछ थोड़े ही पदार्थ के माने गए हैं या सब के। प्रथम पक्ष के संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं। द्वितीय पक्ष में यव, गेहूं, आम्र आदिकों को क्यों खाते हैं। विद्वानो! जैसे पृथिवी, अग्नि, जल और वायु आदिकों के प्रत्यक्ष ही जड़ देखते हैं इन को मनुष्यादिवत् चेतन मानना अज्ञान है। तद्वत् सूर्य्यादि देव भी हैं। इन कुसंस्कारों को त्याग एक ईश्वर की शरण में आना वेदान्त सिखलाता है (१) वही एक परमदेव सबका अधिष्ठातृदेव है दूसरा नहीं।

"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इति वेदान्तपुष्पांजली अनुबन्धचतुष्टयनिरूपणम्

ओंतत्सत्

अथ तृतीयप्रकरणम्

आत्मविवेक

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि "न स पुनरावर्त्तते" वह महात्मा जन्म मृत्यु प्रवाह में पुनः नहीं गिरता है इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से मोक्ष एक नित्य वस्तु सिद्ध है और—

तद्यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते। एव मेवा मुत्र पुण्याचितोलोकः क्षीयते।

"जैसे यहां कृषि आदि व्यापार द्वारा सञ्चित धन क्षीण होता है तद्वत् परलोक में भी पुण्य सञ्चित लोक का क्षय होता है" इत्यादि श्रुतियों से इतर धर्मादि तीनों की अनित्यता सिद्ध है। वह मोक्ष केवल आत्मज्ञान से होता है। अतः आत्मा को अनेकानेक प्रमाणों से आत्मा में ही निश्चित कर अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और नित्यस्वरूप की ओर लेजाने का प्रयत्न करना सब को उचित है॥

शङ्का—आत्मा का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह भौतिक देह ही आत्मा है सो यह प्रत्यक्ष ही है॥

कृतहानि अकृताभ्यागमदोष।

समाधान—यह भौतिक शरीर आत्मा नहीं क्योंकि इसी को आत्मा मानने से अनेक दोष होंगे १—यह शरीर प्रत्यक्षतया क्षणविनाशी, अनित्य, कृतक, रूपवान् जड़ और परिच्छिन्न दीखता है इसके नाश होने के पश्चात् यदि अन्य कोई नित्य आत्मा शुभाशुभकर्मों का फल भोक्ता न रहे तब शुभ कर्म करने की आवश्यकता ही क्या। क्योंकि किए हुए शुभाशुभ कर्मों का नाश इस शरीर के साथ ही

होजायगा। यह महती हानि होगी लोग शुभकर्मों में क्यों प्रवृत्त होंगे इसी का नाम "कृतहानिदोष" है "किए हुए कर्मों की हानि २-द्वितीयदोष। पुनः-उत्तम मध्यम और अधम प्रकार से विचित्र सृष्टि न होकर सब ही देह तुल्य ही होने चाहियें। ईश्वर किसी को धनी, दरिद्र, काण, बधिर मनुष्य, पशु पक्षी स्थावर आदि क्यों बनावेगा क्योंकि पूर्वजन्मार्जित कोई दोष नहीं है। जिसके कारण से सृष्टिवैचित्र्य होता। इसलिये समानसृष्टि होनी चाहिये। यदि समान सृष्टि ईश्वर न करे तो उस में विषमता क्रूरता आदि दोष लगेंगे। न किए हुए कर्मों का फल क्यों देगा। क्योंकर किसी को राजा और किसी को सेवक बनावेगा। इसलिये ईश्वर में तो विषमता आदि और जीवों में अकृताभ्यागम याने न किए हुए कर्मों के फलों की प्राप्ति नाम दोष होंगे। इस लिये इस शरीर से पृथक् सदा रहने वाला कोई नित्य आत्मा मानना पड़ेगा। जो अपने अदृष्ट के अनुसार उत्तमाधम फल भोगता और उसी अदृष्ट के अनुसार विचित्र सृष्टि भी होती। इस प्रकार पूर्वोक्त दोष न होंगे। सो वह अदृष्ट पूर्व २ जन्म से सम्बन्ध रखता है। उस का सम्बन्धी आत्मा है क्योंकि आत्मा ही धर्माधर्म करताहै। धर्माधर्म का नाम अदृष्ट है। इस हेतु आत्मा अनादि सिद्ध होता है और अनादि वस्तु नित्य होती है। अतः इस शरीर के अतिरिक्त नित्य कोई आत्मा है यह सिद्ध होता है। इसी हेतु श्रुति कहती है-

"अविनाशीवा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा"

यह आत्मा अविनाशी और अछेद्य है इस आत्मा में धर्म से वा स्वरूप से वा अन्वय से व्यय-विनाश नहीं है अतः इस को अव्यय कहते हैं। यह निरवयव निर्धर्मक कूटस्थ नित्य और परिपूर्ण है। वह यह आत्मा जिस अज्ञान और उस के कार्य्यों के वश में होकर नाना क्लेश पा रहा है उसका सक्षेप निरूपण यहां किया जाता है।

बीजाङ्कुरन्याय

शङ्का-अदृष्टाधीन यदि सृष्टि वैचित्र्य मानें तो अन्योन्याश्रय

दोष होगा। क्योंकि सृष्टि के पूर्व आत्मा निर्धर्मक था। सृष्टि के होने पर जीव धर्माधर्म करेगा। इसलिये सृष्टि पहले होनी चाहिये। किन्तु धर्माधर्मके विना सृष्टि हो नही सकती है अर्थात् धर्माधर्म की अपेक्षा सृष्टि करनी है और सृष्टि की अपेक्षा धर्माधर्म करता है। अतः यह अन्योन्याश्रय दोष है। जब आदि सृष्टि में धर्माधर्म नहीं था तब तुल्य ही सृष्टि होनी चाहिये और सृष्टि के पूर्व अदृष्ट के अभाव से आत्मा भी अनादि और नित्य सिद्ध नहीं होता। समाधान–जंसे बीज और अंकुर दोनों में प्रथम कौन हुआ यह निश्चय नही हो सकता इसी प्रकार अदृष्ट और सृष्टि दोनोंमें प्रथम कौन इसका भी निश्चय करना कठिन है। यदि हम सृष्टि को आदिमती मानें तो उक्त दोष होसकता अतः अदृष्टाश्रयत्व से आत्म नित्यत्व सिद्ध होता है॥

अतिरिक्त आत्मा में युक्तियां

यदि कुठार, वासी, कुद्दाल आदि उपकरणों को कोई चेतन काटने फाड़ने आदि कामों में लगावें तो वे स्वयम् कर्म में प्रवृत्त न होंगे। इसी रीति ज्ञान के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों को कार्य्य में लगाने वाला अन्य कोई चेतन नही होतो चक्षुरादिकों की अपने २ विषय में प्रवृत्ति न होगी। इस हेतु प्रवर्तक कर्ता कोई अन्य चेतन है यह अनुमान होता है।

नास्तिक–शरीर से अतिरिक्त चेतन मानने की आवश्यकता नही क्योंकि यह समुदाय शरीर ही चेतनहै॥ आस्तिक–तब जबतक शरीर बना रहे अर्थात् शरीर से एक २ परमाणु पृथक् २ न होजाय तब तक किसी को मरना नहीं चाहिये। किन्तु शरीर ज्योंका त्यों रहने पर भी मरता है यह प्रत्यक्ष है। अतः शरीर चेतन नही। ना०–जैसे घड़ी ज्योंकी त्यों बनी रहने पर भी बन्द हो जाती और जैसें दीपक ज्योंका त्यों रहने पर भी बुझ जाता है। तद्वत् इस शरीर से प्राण निकल जाने पर निश्चेष्ट और निष्क्रिय यह शरीर होजाता। अतः इसके अतिरिक्त आत्मा कोई नही। आ०–घड़ी में क्रिया देने वाला

एक देशी है और तैल के अभाव से दीपक बुतता है। यहां प्राणवायु सर्वत्र विद्यमान है वह शरीर से क्यों निकले और प्राणरूप तेल क्यों कम हो अतः आप का अनुमान ठीक नहीं। और भी शरीर का चैतन्य मानने से बाल्यावस्था में अनुभूतविषयों का स्मरण यौवनावस्था मे नहीं होना चाहिये। क्योंकि शरीर के अवयव बनते बिगड़ते रहते हैं। जिन परमाणुओं से बाल्यावस्थामें शरीर बनताहै वे युवावस्थामें नष्ट होजाते अन्य परमाणु आके शरीर में प्रविष्ट होते हैं। इस हेतु जिस शरीर ने बाल्य में देखा सुना था वह यौवन में न रहा इसलिये बाल्य का अनुभव यौवन में स्मृत न हो और यौवन का अनुभव स्थविर में स्मृत न हो परन्तु स्मृत होता है। अतः आप का कथन असंगत है। ना०—पूर्व शरीर के सकल संस्कार उत्तरोत्तर शरीर में उत्पन्न होते हैं। अतः बाल्य काल के शरीर के नष्ट होने पर भी, उस के संस्कार यौवन में आजाने से कोई दोष नहीं। और शरीरके कल पुर्जे बिगड़ जाने से व्यापक प्राण भी गति नहीं देता। और जैसे तैलाधार दीपक के फटने से तैलाभावके कारण दीपक नहीं जलता तद्वत् रोगादि के कारण शरीर सछिद्र होने से प्राणरूप तेल को न धारण कर मरजाता है। आ०—तब यह होगा—बालक को स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रवृत्ति के लिये इष्टसाधनता का बोध होना चाहिये। पूर्वजन्म के अभाव के कारण दूध पीने से मेरा इष्ट सिद्ध होगा ऐसा ज्ञान बालक को न होगा। अतःप्रवृत्ति भी न होगी मेरे मत में पूर्वजन्मानुभूत इष्ट साधनता के स्मरण होने से प्रवृत्ति होती है। अतः आप का सिद्धान्त हेय है। ना०—तब जन्मान्तर के अनुभूत अन्यान्य वस्तुओं का स्मरण क्यों न होता। आ०—स्मृति में उद्बोधकवस्तु कारण होती है। उस उद्बोधक के अभाव से अन्य वस्तु की स्मृति नहीं होती। स्तन्यपान में अगत्या जीवन का अदृष्ट ही उद्बोधक होता ऐसा कहेंगे। इस प्रकार संसार की और उससे आत्मा की अनादिता सिद्ध होगी और अनादिभाव का नाश नहीं होता। अतः आत्मा का नित्यत्व भी सिद्ध होना। ना०—तब इन्द्रिय

समुदाय को ही चैतन्य मान लिया जाय । आ०—यह भी ठीक नहीं क्योंकि नयनादि इन्द्रियों के उपघात होने से अवलोकित और श्रवणादि वस्तुओं की स्मृति न होनी चाहिये क्योंकि जिस नयन ने देखा वह अब फूट गई तब उस नयन से अवलोकित वस्तु का स्मरण न हो क्योंकि स्मरणकर्ता का अभाव है अन्य के देखे पदार्थकी स्मृति दूसरे को नहीं होती । क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य से कार्य्य कारणभाव है । अतः इन्द्रियों का चैतन्य नहीं । और भी—जैसे भवन और उस में शयन, आसन, भोजन आदि सामग्री देख कर इसके स्वामी का अनुमान होता है । क्योंकि संघात (समूह) परार्थ (दूसरे के लिये) होता है । यह शरीर और इस में इन्द्रिय प्राण, बुद्धि आनन्द आदि जो संघात हैं वे अवश्य दूसरे के लिये होंगे वह पर यहां आत्मा ही । यदि कहें कि वह संघात भी किसी अन्यसंघात के लिये हो क्योंकि शयनादि संघात भी संघातशरीर के लिये ही लोकमें देखते हैं । अतः दार्ष्टान्तिक में ऐसा ही होना चाहिये, तो यह ठीक नहीं क्योंकि पुनः वह संघात किसी अन्य संघात के लिये कहा जायगा इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । यदि व्यवस्था लगजाय तो अनवस्था दोष त्याज्य है । क्योंकि अनवस्था में गौरव का भय है । यदि कहें कि सप्रमाण कल्पना में गौरव भी हो तो वह ग्राह्य ही है । यह कथन ठीक नहीं । दृष्टान्त के सब धर्म दार्ष्टान्तिक में नहीं आते । जो ऐसा प्रयत्न करते हैं वे कदापि निज अनुमानको सब रीतियों से पूर्ण नहीं कर सकते । यहां केवल परार्थमात्र दिखलाना है । इसलिये अनवस्था के भय से असंहत आत्मा का अनुमान होता है । आत्मा असंहत है अर्थात् निर्गुण निर्धर्मिक, अत्रिगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य चेतन अप्रसवधर्मा है । त्रिगुण आदि धर्म ही संघात कहाते हैं । आत्मा निखिलधर्म रहित असंहत है ।

और भी—अधिष्ठान से भी अतिरिक्त सिद्ध होता है । अर्थात् जो जो त्रिगुणात्मक सुख दुःख और मोह आदिक हैं वे सब अधिष्ठेय

(जिस पर बैठा जाय) देखे जाते हैं। जैसे अधिष्ठेय रथका अधिष्ठाता कोई सारथि होता है तद्वत् त्रिगुणात्मक इस संहत शरीर का अधिष्ठाता कोई अतिरिक्त ही होना चाहिये। वह आत्मा है। और भी भोक्तृभाव से आत्मा सिद्ध होता है। सुख और दुःख जो भोग्यवस्तु है उनका भोक्ता यदि कोई न हो तो वे व्यर्थ होंगे। और भी-ऋषि, मुनि आदिकों को भी मुक्ति के लिये साधन करते हुए देखते हैं यदि अतिरिक्त आत्मा न हो तो उन ज्ञानी पुरुषों की भी ऐसी प्रवृत्ति क्यों हो इत्यादि अनेक अनुमानसे देहादिव्यतिरिक्त आत्मा सिद्ध हो गईहै॥

आत्मा का परिमाण विचार

यह जीवात्मा अणु है या इसका मध्यमपरिमाण है अथवा महत् परिमाण है। जिस हेतु शास्त्रों में तीनों प्रकार की बातें पाई जाती हैं इस लिये इसकाभी विचार करना समुचित प्रतीत होताहै। कोई कहते हैं कि इस का परिमाण अणु है क्योंकि श्रुतियों में उत्क्रान्ति और गमनागमन की बातें देखी जाती हैं। यथा—

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैःसर्वैरुत्क्रामति।

वह आत्मा जब इस शरीर से ऊपर को जाता है तब इन सब प्राणों के साथ ही ऊपर को जाता है। इस श्रुति में उत्क्रान्ति (उत्क्रान्ति=ऊपर उठना) का। पुनः—

ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति।
चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति॥

जो कोई इस लोक से जाते हैं वे सब चन्द्रलोक को जाते हैं। यहां गमन का और—

तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणः।

उस लोक से जो पुनः आता है वह इस लोक के लिये आता है।

यहां आगमन का वर्णन है। इस प्रकार आत्मा परिछिन्न सिद्ध होता है। क्योंकि परिछिन्न ही पदार्थ उत्क्रान्ति (ऊर्ध्वगति) और गमनागमन कर सकता है परिछिन्न आत्मा मेरे मत में अणु कहाता है। इस में श्रुतियां भी कहती हैं।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागोजीवःसविज्ञेयःस चाऽनन्त्याय कल्पते।

चित्त से इस अणु आत्मा को जानना चाहिये। जिस में पञ्च प्रकार के प्राण संनिविष्ट है। केश के अग्रभाग का सौ भाग करे उस में से भी एक का सौभाग के उस परिमाण वाला आत्माहै वह अनन्त है इस से भी आत्मा अणु सिद्ध होता है।

शङ्का–यदि आत्मा अणु है तब सम्पूर्ण शरीर में सुख वा दुःख को अनुभव नहो होना चाहिये। क्योंकि सुखादि का अनुभवकर्ता किसी एक स्थल में है। देखते हैं कि स्नान से सम्पूर्ण शरीर में शैत्य और ग्रीष्म में परिताप होता है।

समाधान–जैसे शरीर के एक स्थल में लगा हरिचन्दन समस्त देह में आह्लाद उत्पन्न करता है वैसे देह के एक देशस्थित भी जीव समस्तदेह व्यापिनी चेतनता का उपलब्धि करेगा। त्वचा के सम्बन्ध से सकल देह में सुख दुःखादि का होना संभव है। त्वचा द्वारा आत्मा का सम्बन्ध समस्त देह में है। त्वचा समस्त देह व्यापिनी है।

शङ्का–दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समता न होने से आप का कथन ठीक नहीं। क्योंकि शरीर के एक देश मे चन्दन की अवस्थिति और सर्वदेश मे चन्दन कृत आनन्द ये दोनों प्रत्यक्ष हैं और आत्म-कृत सर्वशरीर व्यापी ज्ञान प्रत्यक्ष है। परन्तु शरीर के एक

देश में आत्मा की अवस्थिति प्रत्यक्ष नहीं इस रीति की अवस्थिति में विशेषता होने से चन्दन का दृष्टान्त विषम है।

समाधान-श्रुतियों में आत्मा की अवस्थिति हृदय देश में कही गई है। यथा-

हृदि ह्येष आत्मा। सवा एष आत्मा हृदि।

यह आत्मा हृदय में। इत्यादि श्रुतियो से आत्मा की भी अवस्थिति का निश्चय होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता नहीं।

शङ्का-चन्दन सावयव वस्तु है उस के अवयव मानो समस्त देहमें व्याप्त होकर आह्लाद उत्पन्न करते हों किन्तु निरवयव जीव का सकल देह में विसर्पण विरुद्ध है।

समाधान-तब अन्य दृष्टान्त लीजिये जैसे किसी भवन में स्थापित मणि या दीपक की प्रभा उस समस्त भवन को दीप्त करती है तद्वत् आत्मा का चैतन्य गुण समस्त देह में चैतन्य उत्पन्न करेगा अतः आत्मा को अणु मानने में दोष नहीं।

शङ्का-जैसे पट का शुक्लगुण अपने आश्रय पट को त्याग अन्यत्र न रहेगा तद्वत् आत्मा का चैतन्य भी अपने आश्रय को छोड समस्त शरीर में परिसृत न होगा। प्रदीप का दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि यह भी एक द्रव्य है सघन अवयवों से युक्त प्रदीप है और विरलावयवों से युक्त तेज का नाम ही प्रभा है।

समाधान-यह दृष्टान्त अनैकान्तिक है अर्थात् जैसे आश्रयीभूत द्रव्य से शुक्लादिरूप पृथक् नहीं होता वैसे ही सब गुणों की अवस्था नहीं। क्योंकि पुष्पादिकों में स्थित गन्धगुण अन्य द्रव्यों में भी जाकर लगता है। जहां सुगन्धयुक्त पुष्प होते हैं वहां अन्य असुगन्धि द्रव्य भी सुगन्धमय होजाता है यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार आत्मा का चैतन्यगुण भी सर्वत्र प्रसृत होगा। जो एक ही प्रकार की बात हो उसको ऐकान्तिक कहते हैं जो ऐकान्तिक नहीं वह

अनैकान्तिक। पट का शुक्लत्व पट से अलग नहीं होता किन्तु पुष्प का गन्ध पुष्प में भी रहता और उस से अलग होकर फैलता भी है। किन्तु शुक्ल और गन्ध दोनों गुण कहलाते हैं इन दोनों की दो गतियां होने से गुणी से गुण पृथक् न होता यह कथन अनैकान्तिक है।

शङ्का—यह दृष्टान्त भी रोचक नहीं। क्योंकि पुष्प से केवल गन्ध मात्र निकला है यह नहीं किन्तु उस सुगन्धित पुष्प से छोटे २ परमाणु निकल कर नासा पुटमें प्रविष्ट होते हैं। इस हेतु अपने आश्रय द्रव्य सहित गन्ध फैलता निराश्रय नहीं।

समा०—यदि ऐसा हो तो जिस पुष्प से गन्ध निकले उन का तौल कम और जहां जाकर प्रविष्ट हुए उस का तौल अधिक होना चाहिये। सो मालूम नहीं होता। इसलिये परमाणु नहीं निकलते।

शङ्का—नहीं परमाणु ही निकलते हैं किन्तु विश्लिष्ट (निकले हुए) द्रव्य बहुत अल्प होते हैं। तौलमें प्रतीत न हो किन्तु परमाणु तौलने की यन्त्र से अवश्य भेद प्रतीत होगा अतः गुणी से गुण पृथक् होना यह अनैकान्तिक नहीं।

समा०—परमाणुयें का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं होता क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं और नाग केशरादिकों की सूंघनेसे गन्ध विस्पष्टप्रतीत होता है। अतः केवल गन्ध ही निकलकर पृथक् होता है। इसलिये जैसे शुक्लादिरूप अपने आश्रय से पृथक् नहीं होते वैसे गन्ध भी नहीं होते यह कथन अयुक्त है। प्रत्यक्ष से ही अनुमान करना ठीक नहीं। जैसा लोक में देखे वैसा ही अनुमान भी किया जाय यह भी ठीक नहीं क्या रस नाम का गुण जिव्हा से गृहीत होता तो इस से क्या अन्यगुण भी जिव्हा से ही गृहीत हो ऐसा कोई नियम होगा और भी जैसे अग्नि के सन्निधान से लोह और पानी गरम होजाता है। तद्वत् आत्मा के सन्निधान से देह चेतन होजाता है। इत्यादि श्रुति भी कहती है कि "आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः" सर्व लोम पर्य्यन्त और सर्वनखाग्रपर्य्यन्त सर्व शरीर में जीव का चैतन्य गुण व्याप्त रहता है। इति संक्षेपतः

वेदान्त पक्ष मे जीव का अणुत्ववाद अस्वीकृत है पूर्वोक्त सकल हेतु अहेतु हैं क्योंकि यदि एक देशस्थ हरिचन्दन शरीर के समस्त अवयवों को शीतल करे तब एकदेशस्थ कण्टकवेध भी समस्त देह में व्यथा और घाव उत्पन्न करे सो करता नही जहां कांटा गरता है वहां ही व्यथा और घाव होते हैं। और गुण और गुणी दो पदार्थ हो तब गुणो से गुण पृथक् भी होसकते हैं यहां तो गुण और गुणी का अभेद ही प्रतीत होता है। यदि द्रव्यसे सब गुण पृथक् करलिये जांय तो वह द्रव्य ही क्या रहेगा। इत्यादि विवाद उपस्थित होता है इसके विरुद्ध भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। जैसे प्याज को अग्नि में भूजने पर उस से दुर्गन्ध और कटुता निकल जाती है अमीकन्द से कई उपायों से कच कची निकालदी जाती है कुनाईन से भी तिक्तता निकालदी जाती है। अग्नि का ताप सब वस्तु व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार गुण को बाहर निकलते देखते हैं। इस लिये एक देशस्थ आत्मा का चैतन्य से यह शरीर चैतन्य हो जायगा यह अनैकान्तिक नहीं तथापि विचार तो यहां यह उपस्थित है कि अणु आत्मा में प्रमाण क्या यदि कहें कि पूर्वोक्त श्रुतियां ही प्रमाण है। तो इसके विरोध में भी अनेक श्रुतियां दिखलाई जा सकती हैं। और बुद्धिमान् आचार्य्य दोनों प्रकारकी श्रुतियों के परस्पर विरोधभास को दूर कर देते हैं। आत्मा का ज्ञान परम कठिन है अतः वह अणु कहाता। रूप से व्यापक है अतः महान् भी कहाता है इस रीति विरोध का परिहार होता है।

और दृष्टान्तों से सिद्धान्त स्थापित करना ठीक नही उन से विचार की पुष्टि होती न कि सिद्धान्त की स्थापना और दृष्टान्तों के एक अंश से जैसे आप अपना अभीष्ट सिद्ध करेंगे। प्रतिपक्षी उन के अन्य अंश से अपना अभीष्ट दर्शावेगा तब वस्तु की वास्तव स्थिति विवादग्रस्त ही रह जावेगी। आप के कथन में मुख्य तीन दृष्टान्त हैं चन्दन, प्रदीप और गन्ध। प्रथम इन तीनों जड़ों से चेतन की तुलना करना ही ठीक नही और भी देखिये किसी गृह में दीपक

धर रहा है चारों तरफ भित्तियों पर उस की प्रभा पड़ रही है। इस अवस्था में भित्तियों को काटते लाठी से पीटते या अन्य क्रिया उन पर करते हैं तो उन क्रियाओं से दीपक में कोई क्षति नहीं पहुंचती। इसी प्रकार चन्दन से शीतल कस्तुरी से वासित और पुष्प से सुगन्धित द्रव्यों को छिन्न भिन्न करने से चन्दनादिक छिन्न भिन्न नहीं होते। तद्वत् आत्मा की चेतनता समस्त देह में भले ही प्रसृत और फैली हो किन्तु उस देह के काटने छेदने भेदने से दीपस्थानीय आत्मा को सुख दुःख क्यों हो। अग्नि से गरम हुए पात्र को चूर्ण करने से अग्नि चूर्ण नहीं होता। तब चेतनी भूत शरीर के आघात से अणु चेतन आघातित क्यों यहां पर शङ्का उपस्थित होती है। पुनः यदि उस अणु आत्मा का शरीर से केवल संयोग सबन्ध है तो भी शरीर के क्षति से आत्मा को दुःखित होना अयुक्त है। दो चार संयुक्त पुरुषों में जो प्रहृत होगा वही क्लेश का अनुभव करेगा। यदि कहें कि विद्युत् के प्रवाह से युक्त और संयुक्त पदार्थों में से एक के आघात से सब आघातित होता है। तद्वत् आत्मा के चैतन्य से चेतनीभूत शरीर के आघातसे संयुक्त आत्मा भी आघातित होता। यह भी ठीक नहीं क्योंकि विद्युत् प्रवाह के कारण सब समान रूप से प्रभावित रहते हैं अतः एक की क्षतिसे दूसरों को क्षति पहुंचती है। गृह में स्थापित दीपक भीत के पीटने से पीटा नहीं जाता। अतः आत्मा अणु है यह मत समीचीन नहीं।

मध्यम परिमाण

शङ्का—अणु परिमाण सिद्ध न होने से आत्मा का मध्यम परिमाण मान लिया जाय। शरीर के परिमाण के तुल्य जीव का परिमाण होने का नाम मध्यम परिमाण है पैरा। समाधान—यदि शरीर के परिमाण जीव है तो असर्वगत परिछिन्न जीवात्मा मध्यम परिमाण वाला होने से घटादिकवत् अनित्य होगा सब शरीरों का समान परिमाण नहीं होता इस हेतु मनुष्य शरीर का आत्मा हस्ती

के और पुत्तिका के शरीर में न समायगा। कर्मवश आत्मा सब शरीरों में जाया करता है। यदि कहैं कि अनन्त अवयवों से जीव युक्त है अतः अल्पशरीर मे जाकर संकुचित और बृहत् शरीर में विकशित होता है। यह कथन ठीक नहीं अवयव युक्त पदार्थ घटपटादिवत् अनित्य होते हैं। अतः आत्मा भी अनित्य होगा इसलिये मध्यम परिमाण मानना भी ठीक नहीं।

विभुपरिमाण

आत्मा को वैशेषिक, न्याय, सांख्य और योग शास्त्र भी विभु मानते हैं।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा।

जैसे आकाश महान् है वैसे आत्मा भी। वैशेषिक और न्याय में पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल दिशा आत्मा और मन ये नवद्रव्य माने गए हैं। इस हेतु आत्मपद से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण होता है। यदि आत्मपद से केवल परमात्मा ही का ग्रहण हो तो उन के मत में जीव को दशम द्रव्य मानना पड़ेगा। न्याय के छोटे २ ग्रन्थ में यह बात आती कि आत्मा दो प्रकार का है एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा।

कालखात्म दिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।

न्याय० सि० मुक्ता०

काल, आकाश, आत्मा और दिशा ये चारों सर्वगत और परममहान् है। इस हेतु इन चारों का सर्वगतत्व और परम महत्व साधर्म्य है। सर्वभूत संयोगित्व का नाम सर्वगतत्व है। पुनः

विभुर्बुद्ध्यादि गुणवान्

इत्यादि न्याय, और वैशेषिक का प्रमाण है। सांख्य योग और वेदान्त तीनों का जीवात्मा समानरूप से विभु शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, असङ्गत, अक्रिय और चेतन इत्यादि शब्दों से वर्णित है। भेद

केवल इतना है कि सांख्य, योग आत्मा को अनेक, और वेदान्त एक मानता है।

जीवेश्वरविवेक।

सिद्धान्तलेश नाम के ग्रन्थ में अप्पयदीक्षित ने ईश्वर और जीव के स्वरूप का विस्तार से निरूपण किया है। उन में से दो चार बातें यहां दिखलाई जाती हैं। ईश्वर और जीव कौन है? प्रकटार्थ विवरण में कहा गया है कि अनादि, अनिर्वाच्या, और भूतः प्रकृति एक माया है जो शुद्ध ब्रह्मके आश्रय में रहती है। उस माया में जो चित् (शुद्धब्रह्म) का प्रतिबिम्ब वह ईश्वर है और उसी माया के अनन्त परिछिन्न खण्ड २ जो नाना अंश उन्हे अविद्या कहते हैं। उस अविद्या में जो चित्प्रतिबिम्ब उसका नाम जीव है।

तत्वविवेक में कहा गया है कि मूलप्रकृतिके दो रूप हैं १–रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूता (न दबाई हुई) शुद्धसत्वप्रधाना एक माया है और दूसरी रजोगुण और तमोगुण से युक्ता अविद्या है इस प्रकार माया और अविद्या का भेद कल्पित कर मायाप्रतिबिम्ब ईश्वर और अविद्याप्रतिबिम्ब जीव है ऐसा कहा है।

इस पूर्वोक्त पक्ष में कोई आचार्य इतना व्याख्यान और बढ़ाते हैं–यद्यपि मूल प्रकृति एक है तथापि इस में विक्षेप और आवरण दो शक्तियां हैं विक्षेपशक्ति के कारण माया कहलाती है और माया नाम से ईश्वर की उपाधि होती है और आवरणशक्ति के कारण अविद्या कहलाती और इस नाम से जीव की उपाधि होती है इस हेतु उपाधि भेद के कारण ईश्वर मे सर्वज्ञता और जीव मे अल्पज्ञता सिद्ध होती है।

संक्षेप शारीरक में लिखा है "कार्य्योपाधिरयम् जीवः कारणोपाधिरीश्वरः"। अर्थ–जीव की उपाधि अन्तःकरणरूप कार्य्य है और ईश्वर की उपाधि मायारूप कारण है इस श्रुति के अनुसार मायामें चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब जीव है।

शङ्का–जैसे घट से अवछिन्न आकाश होता है वैसे अन्तः करण

से अवच्छिन्न जब जीव है तब अन्तःकरणावच्छिन्न ही जीव क्यों न कहा जाय !

समाधान—अन्तःकरणविशिष्ट प्रतिबिम्ब को जीव इसलिये कहते हैं कि कृतहान अकृताभ्यागम दोष न हो। किए हुए कर्मों के फलों का नाश और न किए हुए कर्मों के फलों की प्राप्ति न हो। इस का आशय यह है कि जिस अन्तः करण से जीव यहां कर्म करता है वह यहां ही विनष्ट हो जाता वह दूसरे में जाकर यदि अन्य अन्तःकरण से फल भोगे तो कृतहान अकृताभ्यागम दोष होगा क्योंकि जिस अन्तः करण ने कर्म किया था वह यहां ही नष्ट हुआ और अब दूसरा अन्तः करण फल भोग रहा है। यदि कहें कि अन्तःकरण का लोकान्तर में गमन का पक्ष वेदान्त मे स्वीकृत है। अतः दोष नही। किन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जैसे घट एक स्थान से दूसरे स्थान में जब नीयमान होता तब तदवच्छिन्न आकाश का गमन नही होता प्रतिबिम्ब में यह नियम नहीं। क्योंकि जल से पूर्ण और सूर्य्य के प्रतिबिम्ब से युक्त यदि घट को अन्य देश लेजाते हैं तो प्रतिबिम्ब के गमनागमन मे भेद नही होता। अर्थात् प्रतिबिम्ब भी घट के साथ साथ जाता आता है इस लिये प्रतिबिम्ब पक्ष में दोष नही।

इन पूर्वोक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि माया में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और अविद्या में चित् प्रतिबिम्ब जीव है। यह एक पक्ष है। द्वितीय पक्ष यह है कि माया मे चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब जीव है इन स्थलो में चित् शब्द का अर्थ शुद्ध ब्रह्म है वही बिम्ब स्थानीय और मुक्त पुरुषों का प्राप्य शुद्ध चैतन्य है ईश्वर नहीं। क्योंकि शुद्ध बिम्ब से ही अभेद की सम्भावना है। क्योंकि एक उपाधि के विनाश होने से उस के प्रतिबिम्ब का अन्य प्रतिबिम्ब से अभेद नहीं होता किन्तु अपने बिम्ब से ही अभेद होता है। जैसे जल पूर्ण अनेक घटों में सूर्य्य का जहां प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो वहां जिस घट का नाश होगा उस के प्रतिबिम्ब का अभेद सूर्य्यरूप

बिम्ब से होगा न कि अन्य घटस्थबिम्बों से। इस हेतु ईश्वर भी एक प्रतिबिम्ब होने से मुक्त प्राप्य नहीं किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही प्राप्य है।

षट् अनादि पदार्थों की सिद्धि

पूर्वोक्त लेख से छः प्रकार अनादि पदार्थ सिद्ध होते हैं। १-शुद्ध चेतन्य २-ईश्वर चैतन्य ३-जीव चैतन्य ४-अविद्या ५-अविद्याचेतन का परस्पर सम्बन्ध ६-और इन पांचों का परस्पर भेद इन में चेतन के तीन भेद कहे गए हैं।

प्रतिबिम्बवाद

श्री धर्मराजदीक्षित वेदान्तपरिभाषा में पूर्वोक्त विषय का इस प्रकार वर्णन करते हैं। १-जीवेश्वर विभाग रहित शुद्ध चैतन्यमात्र का नाम बिम्ब है। २-उसी बिम्ब का अविद्यात्मिका माया में जो प्रतिबिम्ब वह ईश्वर चैतन्य कहाता है। ३-और उसी बिम्ब का जो अन्तः करण में प्रतिबिम्ब उसका नाम जीव चैतन्य।

इस से यह सिद्ध होता है कि जैसे अधिकप्रदेशस्थ जलाशय में और एक अल्प शराव (कटोरा) गत जल मे सूर्य्य के प्रतिबिम्ब के समान ईश्वर और जीव में भेद है। अर्थात् महान् जलाशय का प्रतिबिम्ब समान ईश्वर और लघु जलाशय का प्रतिबिम्ब समान जीव है। जिस हेतु उपाधिरूपा माया व्यापिका है। अतः तदुपाधियुक्त ईश्वर भी व्यापक होता है और अन्तःकरण परिछिन्न है अतः तदुपहित जीव भी परिछिन्न होता है। इस मत में अविद्याकृत दोष जीव और ईश्वर दोनों में तुल्य होंगे। क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब का पक्षपाती होता है। अतः यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता॥

कोई कहते हैं कि बिम्बात्मक ही ईश्वर चैतन्य है। उन का यह आशय है-एक ही चैतन्य बिम्बत्वाक्रान्त ईश्वर चैतन्य और प्रतिबिम्बत्वाक्रान्त जीव चैतन्य है। बिम्बप्रतिबिम्ब कल्पनोपाधि

एक जीववाद में अविद्या और अनेक जीववाद मे अन्तःकरण ही है। इस मत में ईश्वर अविद्योपाधिक और जीव- अन्तःकरणोपाधिक सिद्ध होता है। उपाधिकृत दोष प्रतिबिम्ब जीव में होंगे किन्तु बिम्बस्वरूप ईश्वर में नही। क्योंकि उपाधिप्रतिबिम्ब पक्षपाती होता है। इस मत मे अकाशस्थ सूर्य्य के समान ईश्वर और जलादिक में भासमान जो प्रतिबिम्बरूप सूर्य्य वह जीव है यह ईश्वर जीव का भेद है।

शङ्का–जैसे दर्पण प्रदेश में ग्रीवास्थ मुख-का अभाव के कारण प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही बिम्ब चैतन्य परमेश्वर का जीव प्रदेश में सर्वान्तर्य्यामित्व सिद्ध न होगा।

उत्तर–जैसे मेघ नक्षत्र सहित आकाश का जल में प्रतिबिम्ब होतो वहां यद्यपि मेघादि सहित आकाश का सम्बन्ध न भी हो तथापि महाऽऽकाश का सम्बन्ध जलप्रदेश में रहता ही। वैसे परिछिन्न बिम्ब का यद्यपि प्रतिबिम्बस्थल में सम्बन्ध न भी हो तथापि अपरिछिन्न बिम्ब का प्रतिबिम्ब प्रदेश में सम्बन्ध होना संभव है।

पुनः वेदान्तपरिभाषा के अन्यस्थल में कहा गया है कि अन्तः करणावछिन्न चैतन्य जीव है और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव साक्षी है। यहां एक ही अन्त करण जीव का विशेषण और जीव साक्षी का उपाधि है यही दोनों का भेद है। कार्य्यान्वयीव्यावर्तक का नाम विशेषण है और कार्य्यानन्वयीव्यावर्तक का नाम उपाधि है। जैसे रूपविशिष्ट घट अनित्य है यहां रूप विशेषण है और न्याय शास्त्र के अनुसार कर्णशष्कुल्यवछिन्न जो आकाश उसको श्रोत्र कहते हैं। यहां कर्णशष्कुली उपाधि है इस उपाधि को नैय्यायिक परिचायक कहते हैं। विशेषण और उपाधि की व्याख्या निम्न प्रकार समझिये। स्वरूप में जिस का प्रवेश हो ऐसा जो व्यावर्तक वस्तु उसे विशेषण कहते हैं। इतर पदार्थ से भिन्नता करके वस्तु के स्वरूप को जो जनावे वह व्यावर्तक। जिस को भिन्नता करके जनावे

सो व्यावर्त्य कहलाता है। जैसे नीलघट यहां घट का नीलता विशेषण है। क्यों कि नील घट में नीलता का प्रवेश है और पीत श्वेतादिक से भिन्नता करके जनाता है। इस हेतु व्यावर्त्तक है इस रीति नीलता घट का विशेषण है और घट परिछेद्य है क्योंकि पीत श्वेतादिक से भिन्नता करके प्रतीत होता है। जो भिन्नता पूर्वक प्रतीत हो वह परिछेद्य है परिछेद्य व्यावर्त्त और विशेष एकार्थक है। और जिसका कार्य्य में अन्वय न हो अर्थात् जो स्वरूपमें प्रविष्ट न होकर व्यावर्त्तक हो वह उपाधि है जैसे कर्णशष्कुली श्रोत्र की उपाधि है यहां श्रोत्र के स्वरूप में कर्णशष्कुली का प्रवेश नहीं है किन्तु वाह्य आकाश से भिन्न करके श्रोत्र को जनाता है। इस लिये व्यावर्त्तक है। उपाधि से युक्त को उपहित और विशेषण से युक्त को विशिष्ट कहते हैं।

प्रस्तुत विषय में अन्तःकरण जड़ होने से विषय का भासक न होगा इस हेतु विषय भासक चैतन्य का वह उपाधि माना गयाहै। वह जीव साक्षी प्रत्यगात्मा मे नाना है क्योंकि एक मानने से मैत्र के ज्ञान से चैत्र का भी ज्ञान हो। और ईश्वर साक्षी मायोपहित चैतन्य है और वह एक ही है। क्योंकि तदुपाधिभूतमाया एकहै।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

यहां बहुवचन माया पद से मायागत विशेष शक्ति सत्वरजतम का अभिप्राय है इस लिये।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥ अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णांवह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥ अजोह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः॥ तरत्यविद्यां विततां हृदियस्मिन्निवेशिते॥ योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

इत्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यों में एक वचन देखने से माया एक है, यह निश्चय होता है तदुपहित चैतन्य ईश्वर साक्षी है और उपाधि माया के अनादि होने से वह अनादि है मायावच्छिन्न जो चैतन्य वह, परमेश्वर यहां माया के विशेषणत्व मे ईश्वरत्व और उपाधित्व में साक्षीत्व है इस प्रकार ईश्वरत्व और साक्षीत्व में भेद है धर्मी ईश्वर और साक्षी में भेद नहीं ॥

चैतन्य चातुर्विध्य ।

विद्यारण्यस्वामिकृत पञ्चदशीग्रन्थ के चित्रदीप प्रकरण में "जीव-ईशो विशुद्धाचित्" इस के अनुसार त्रैविध्य प्रक्रिया को छोड़ कर चातुर्विध्य प्रक्रिया इस प्रकार वर्णन करते हैं। १-जितना आकाश जलपूरित घट की चारों तरफ घट सयुक्त बाहर भीतर आधाररूप से विद्यमान है उतना आकाश घटाकाश है। २-उस घट में जो जल उस में जितना आकाश मेघनक्षत्र सहित प्रतिबिम्ब होता है उतना जलाकाश। ३-अनवच्छिन्न (अवच्छिन्न नहीं। अर्थात् सर्वत्रव्यापक) जो आकाश वह महाकाश। ४-महाकाश मध्यवर्त्ती जो मेघ वह जलमय है इस में सन्देह नहीं उस में जितना आकाश प्रतिबिम्बित होता है उतना मेघाकाश। इस प्रकार आकाश को उपाधि और अनुपाधि भेद से चार भागों में विभाग कर सकते हैं। वस्तुगत्या आकाश एकही है इसी प्रकार चैतन्य चार प्रकार के हैं यथा-पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि ये १७ सप्तदश अवयव मिल कर, सूक्ष्म शरीर कहाता है। स्थूल शरीर प्रत्यक्ष है। इन दोनों शरीरों का अधिष्ठान और देहद्वयावच्छिन्न कूटवत् निर्विकार जो चैतन्य उस का नाम कूटस्थ चैतन्य है। २-उस में कल्पित जो अन्तः करण उस में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य उसे संसार योगी जीव कहते हैं। ३-अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म उस ब्रह्माश्रित जो मयातमोगुण उस में स्थित जो सर्वप्राणियों की धी (बुद्धि) वासनाएं उन में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं सुषुप्तावस्था में जो बुद्धि की सूक्ष्मावस्था उसे वासना कहते हैं। केवल बुद्धिवासना मे प्रतिबिम्ब को ईश्वर

कहें तो बुद्धिवासना की अनन्तता होने से ईश्वर भी अनन्त होगा। इस हेतु बुद्धिवासना विशिष्ट अज्ञान में प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते हैं।

परमात्मा के सप्तरूप।

परमात्मा के अधिदैवत सविशेष तीन रूप हैं और अध्यात्म सविशेष तीनरूप हैं। वहां अधिदैवत तीन और एक शुद्धचैतन्य ऐसे चार रूप हैं। चित्रदीप में चित्र दृष्टान्त से इस प्रकार कहते हैं। जैसे एक ही चित्र पट की चार अवस्थाएं होती हैं। स्वतःशुक्ल पट धौत कहाता है। अन्नों से लिप्त घट्टित। मषी के आकार युक्त लाञ्छित। और विविध रङ्गों से पूरित रञ्जित। वैसा ही १-परमात्मा मायातत्कार्य्योपाधिरहित शुद्ध कहाता है। २-मायोपहित ईश्वर। अपञ्चीकृत जो भूतकार्य्य और समष्टि सूक्ष्मशरीर इन दोनों से उपहित हिरण्यगर्भ। और पञ्चीकृत जो भूत कार्य्य और समष्टिस्थूल शरीर इन दोनों से उपहित विराट् पुरुष। एक ही परमात्मा के अवस्था भेद से चार रूप हैं। इस चित्र पटस्थानीय परमात्मा में चित्र स्थानीय स्थावर जङ्गमात्मक प्रपञ्च है। जैसे चित्रगत मनुष्यों के चित्राधार वस्त्र सदृश ही वस्त्राभास लिखे जाते हैं। वैसे ही परमात्मा में अध्यस्त जीवों के अधिष्ठान चैतन्य सदृश चिदाभास कल्पित होते हैं। वे जीवात्मा संसारी होते हैं।

अध्यात्म तीन रूप।

१-विश्व २-तैजस ३-प्राज्ञ भेद से तीन होते हैं। १-एक सुषुप्तिसमय विलीन अन्तःकरण में अज्ञान मात्र साक्षी प्राज्ञ चैतन्य। जो यह यहां आनन्दमय कहाते हैं। स्वप्न में व्यष्टि सूक्ष्मशरीराभिमानी तैजस चैतन्य। और जागरण काल में व्यष्टिस्थूल शरीराभिमानी विश्व।

त्रिविध चैतन्य

दृग् दृश्य विवेक में चित्रदीपोक्त कूटस्थ को जीवकोटि अन्तर्भाव

करके विद्यारण्य स्वामी ने त्रिविध चैतन्य का ही अवलम्बन किया है वहां कहा है 'जलाशयतरङ्ग बुद्बुद्" न्याय से अर्थात् जैसे जलाशय, तरङ्ग और बुद्बुद् ये तीनों क्रमशः ऊपर २ होते हैं तद्वत् जीव तीन प्रकार के हैं। पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्राति भासिक वहां देहद्वयावच्छिन्नकूटस्थ चेतन्य रूप आत्मा पारमार्थिक जीव। उस पारमार्थिक जीव को आच्छादित करके स्थिता जो माया उसमें कल्पित जो अन्तःकरण उस में जो चिदाभास अहमित्यभिमानी है वह व्यावहारिक। स्वप्न में उस व्यावहारिक जीव को आवृत कर के स्थिता जो माया का अवस्था विशेष निद्रा उस से कल्पित जो स्वाप्न देहादि उस मे जो अहमित्यभिमानी सो प्राति भासिकजीव॥

प्रतिबिम्बवाद खण्डन।

लोक में देखते हैं कि रूपवान् चन्द्रादि का प्रतिबम्ब होता है रूपरहित वायु आदिकों का नहीं इस हेतु नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं।

शङ्का—नीरूप आकाशका कूप जल और तटाकादि में प्रतिबिम्ब देखते हैं। अतः रूपरहित वस्तु का भी प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है।

समा—वास्तव में गगन के मध्य वर्तमान सूर्य्यमण्डल का प्रतिबिम्ब जलादिक में पडता है। आकाशस्थ सूर्य्यादि के कारण गगन के प्रतिबिम्ब की भ्रान्ति होती है। अतः नीरूप का प्रतिबिम्ब स्वीकार ठीक नहीं।

शङ्का—जैसे बाहर में "नीलं नभः। विशालं नभः" आकाश नील है आकाश विशाल है ऐसी प्रतीति होती है तद्वत् कूपतटाकादिक जल में भी " नील नभः। विशाल नभः "। आकाश नील है आकाश विशाल है ऐसी प्रतीती होती है तद्वत् कूपतटाकादिक जल में भी " नीलम् नभः। विशालम् नभः' ऐसा अनुभव सब को होता है। यहां तो नील और विशाल आकाश जल में नहीं है किन्तु बहिस्थित आकाश का जलमें नीलता और विशालता

युक्त प्रतिबिम्ब ही पडता है। नीरूप का प्रतिबिम्ब असम्भव है यह कथन ठीक नहीं। और भी रूपरहित शुक्लादिरूप एकत्वादि संख्या और मनुष्यादि परिमाण का भी प्रतिबिम्ब देखते हैं।

समा०–जिस में आरोपित अथवा अनारोपित रूप रहता है उस का प्रतिबिम्ब होना असम्भव है आकाश में नील रूप का आरोप है अर्थात् आकाश मे भ्रमसे नील रूपकी प्रतीती होती है इसहेतु आरोपित नीलरूप से युक्त आकाश का प्रतिबिम्ब हो भी तथापि चेतन में आरोपित रूप भी नही अतः चेतन का प्रतिबिम्ब असम्भव है और नीरूप शुक्लादि रूप का जो प्रतिबिम्ब कहते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि द्रव्याश्रित रूपादि है अतः द्रव्य के साथ शुक्लादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है केवल रूप का नहीं। चेतन कोई द्रव्य भी नही अतः तदाश्रित रूपादि के अभाव के कारण चेतन प्रतिबिम्बित नही हो सकता।

शङ्का–एवमस्तु नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब न हो किन्तु चेतन तो कोई द्रव्य भी नही क्योंकि समवायिकारण अथवा गुणाश्रय को द्रव्य कहते हैं। आत्मा निर्गुण है इस हेतु गुणों का आश्रय नहीं और गुणों के अभाव से समवाय सम्बन्ध भी असिद्ध है अतः अद्रव्य चेतन का प्रतिबिम्ब होसकता।

समाधान–तथापि चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहो। क्योंकि रूपवान वस्तु में भी प्रतिबिम्ब देखते हैं। आरोपित रूपवान् आकाश का भी रूपवान् जलादि मे प्रतिबिम्ब देखते हैं। दार्ष्टान्तिक में तो अन्तःकरण भी रूपरहित है। अतः रूपरहित वस्तु में रूपरहित वस्तु के प्रतिबिम्ब में कोई दृष्टान्त नही। अतः रूपरहित चेतनका रूपरहित माया अन्तःकरणादिक मे प्रतिबिम्ब की सभावना नही।

शङ्का–जैसे नीरूपद्रव्यात्मक ककारादि वर्णो का नीरूप ध्वनि मे प्रतिबिम्ब पडता है जैसे दर्पण की श्यामता का प्रतिबिम्ब दर्पण गत प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्बरूप मुख मे पड़ताहै वैसे ध्वनिगत तारत्व आदि का ध्वनिगत वर्ण प्रतिबिम्ब द्वारा वर्णों मे आरोप सम्भव है। इस प्रकार नीरूप चेतन का प्रतिबिम्ब नीरूप अन्तःकरणादिकों में

संभव है। और भी शब्द का प्रतिबिम्ब ही प्रतिध्वनि है क्योंकि जहां शब्द की उत्पत्ति होती है वहां यदि कोई अवरोधक पर्वत मकान आदिक हो तो उस से टकरा कर प्रतिध्वनि होती है। यहां जहां शब्द उत्पन्न हुआ वहां भी नीरूप आकाश और जहां से प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है वहां भी नीरूप आकाश है अर्थात् नीरूप आकाश से उत्पन्न नीरूप ध्वनि का प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब है। अतः चिद्बिम्ब का प्रतिबिम्ब मायादिक में संभव है। आकाश मे जो प्रतिध्वनि होता है वह शब्द का प्रतिबिम्ब नहीं क्योंकि यदि प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब माने तो आकाशवृत्ति शब्द का अभाव होगा। भेरी और दण्डादिक के सयोग से पार्थिव शब्द होता है उस पार्थिव शब्द से उस के संमुख में पाषाणादि अवछिन्न आकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द होता है। उस प्रतिध्वनिरूप शब्द का पार्थिव शब्द निमित्त कारण है इस हेतु पार्थिव ध्वनि के समान ही प्रतिध्वनि भी होता है। यदि प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब मानें तो प्रतिबिम्ब को अनिर्वचनीय कहेंगे जैसे शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत मानते हैं विवरण के अनुसारी बिम्बस्वरूप ही प्रतिबिम्ब को मानते हैं। इस दोनों मतों में आकाश का गुण प्रतिध्वनि नहीं होगा क्योंकि व्यावहारिक आकाश का गुण प्रातिभासिक सभव नहीं। इस हेतु अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बवाद में प्रतिध्वनि को पार्थिव शब्द का प्रतिध्वनि मानें तो आकाश का गुण कहना सभव नहीं और बिम्ब प्रतिबिम्ब के अभेदवाद में पार्थिव शब्द का प्रतिबिम्ब रूप प्रतिध्वनि का अपने बिम्ब से अभेद होने के कारण पृथिवी का गुण प्रतिध्वनि होगा। इस हेतु प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब माने तो किसी प्रकार से आकाश का गुण प्रतिध्वनि है यह कथन सम्भवित नहीं। और प्रतिध्वनि से भिन्न शब्द पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का है। आकाश मे अन्य प्रकार का शब्द है नहीं इस हेतु शब्द रहित ही आकाश होगा और आकाश को शब्द रहित मानना अशास्त्रीय है भूतविवेक में विद्यारण्य स्वामी ने कहा है कि पृथिवी

का कटकटा शब्द। जल का चुलचुल शब्द। अग्नि का भुक् भुक् शब्द। वायु का सीसी शब्द है। प्रतिध्वनिरूप शब्द आकाश का है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी आकाश का गुण ही प्रतिध्वनि कहा है इस हेतु शब्द का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि नहीं। किन्तु आकाश का स्वतन्त्र शब्द प्रतिध्वनि है उसका उपादान कारण आकाश है और भेरी आदि मे जो पार्थिव ध्वनि होता है वह प्रतिध्वनिका निमित्तकारण है इस हेतु रूपरहित का प्रतिबिम्ब नहो।

प्रतिबिम्बवाद में शङ्कासमाधान।

शङ्का—रूपवान् सूर्य्यादि वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है। नीरूप (रूपरहित) आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे? उत्तर यदि आकाश का प्रतिबिम्ब न हो तो जलमे मनुष्य परिमाणगम्भीरता की प्रतीति कैसे होती। वह आकाश के कारण से होता है। और रूपरहित वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं होता यह भी कोई नियम नहीं क्योंकि रूपरहित शब्द की प्रतिध्वनि होती है। शब्द का प्रतिबिम्ब ही प्रतिध्वनि है। और भी गुण के आश्रित गुण नहीं किन्तु आकाशादि द्रव्य के आश्रित होता है। इस नियम से शुक्ल पीत आदि रूप स्वयं रूप रहित है इन का प्रतिबिम्ब दर्पणादिक में पड़ता है। अतः नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब होना संभव है।

नीरूप चेतन का प्रतिबिम्ब सभव नहीं यद्यपि कूपतड़ागादि जलगत आकाश में नीलता विशालता के अभाव से "नीलंनभः" "विशालंनभः" ऐसी प्रतीत होती है इस हेतु विशालता विशिष्ट और आरोपित नीलताविशिष्ट आकाश का प्रतिबिम्ब मानना चाहिये आकाश में रूप है नही। इस हेतु नीरूप का भी प्रतिबिम्ब संभव है तथापि आकाश मे भी भ्रान्ति सिद्ध आरोपित नीलरूप है चेतन में आरोपित रूप का भी अभाव होने से उसका प्रतिबिम्ब नही जिस पदार्थ मे आरोपित या अनारोपित रूप हो उसका प्रतिबिम्ब होता है सर्वथा रूपरहित का प्रतिबिम्ब नहो और नीरूप मे तो प्रतिबिम्ब

होता ही नही क्योकि स्वरूपवान् दर्पणादिक मे प्रतिबिम्ब देखते हैं इस लिये नीरूप अन्तःकरण में वा नीरूप अविद्या में नीरूप चेतन का प्रतिबिम्ब कैसे और रूपरहित शब्द का नीरूप आकाश में जैसे प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब होता है यह कथन असगत है । क्योंकि उक्तरीति से आकाश रूपरहित नही आकाशमे जो प्रतिध्वनि होता है सो शब्द का प्रतिबिम्ब नही क्योंकि जहां पर प्रथम शब्द उत्पन्न होता है वहां वायु के अवयवों मे आघात होता है इस लिये जलवत् वायु मे तरङ्ग उठती है वह किसी प्रतिरोधक वस्तु मे टकराकर ध्वनि उत्पन्न करता है इसी का नाम प्रतिध्वनि है । यहां भी वायु सावयव वस्तु है अतः इसके सग से प्रतिध्वनि का होना ठीक है । और रूपरहित शुक्लादि रूप का प्रतिबिम्ब भी दर्पणादिक में नही पड़ता किन्तु रूपाश्रित वस्तु का । जब गुणों से गुण की पृथक् स्थिति नही तब गुण का प्रतिबिम्ब कहना केवल प्रौढ़वादमात्र है । अतः नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब मानकर सिद्धान्त स्थापित करना अत्यन्त चिन्त्य है । और भी जब तक किञ्चित् दूर वस्तु न होगी वहां प्रतिबिम्ब न पड़ेगा यदि पड़े भी तो उसका बोध नहोगा। यदि दर्पण मे सर्वथा मुख सटा हुआ हो तो प्रतिबिम्ब न बनेगा और मुख का प्रतिबिम्ब मुख मे न बनेगा इसी प्रकार आकाश का अव्यहित सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु से है इस हेतु भी आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता । यदि प्रतिबिम्बवादी इस रीति से कहें कि कूपादिक आकाश में "विशालं आकाश" यह प्रतीत होती है। और कूपदेश के आकाश में विशालता है नही इस हेतु वाह्यदेशस्थ रूपरहित विशाल आकाश का कूपजल में प्रतिबिम्ब होनेसे रूपरहित चेतन का प्रतिबिम्ब संभव है । तथापि रूप वाले उपाधि में ही प्रतिबिम्ब होता रूपरहित उपाधि में नहीं । आकाश के प्रतिबिम्ब का उपाधि कूपजल है उसमें रूप है । और अविद्या अन्तःकरणादिक-रूपरहित है उन मे चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं ।

अवच्छेदवाद

इस हेतु कोई आचार्य्य कहते हैं कि अन्तः करणावच्छिन्न चेतन जीव है और अन्तःकरण से अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है इस प्रकार अवच्छेद वाद की स्थापना करते हैं। परन्तु इस मतमें भी वक्ष्यमाण दोष होता है यदि अन्तःकरणावच्छिन्न को जीव और अनवच्छिन्न को ईश्वर माने तो ब्रह्माण्ड से बाह्य देशस्थ चेतन मे ईश्वरता होगी क्योंकि ब्रह्माण्डमें अनन्त जीवके अनन्त अन्तःकरण व्याप्तहैं इस हेतु अनन्त अन्तःकरणानवच्छिन्न ईश्वर चेतन्य का ब्रह्माण्ड के मध्यलाभ सम्भव नहीं। यदि ब्रह्माण्ड से बाह्यदेश में ही ईश्वर का सद्भाव माने तो अन्तर्य्यामिप्रतिपादक वचन से विरोध होगा॥

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरोयमयति।

इस वचन में विज्ञान पद बोध्य जीवदेश में ईश्वर का सद्भाव कहा है इस हेतु अन्तःकरण से अनवच्छिन्न ईश्वर नहीं किन्तु मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है और अन्तःकरण से अनवच्छिन्न को ईश्वरता माने तो अन्तःकरण से सम्बन्धभाव ही ईश्वरता की उपाधि सिद्ध होगी। और ईश्वरता में सर्वज्ञतादिक उपाधिकृत है अभावरूप उपाधि से सर्वज्ञतादिक धर्म की सिद्धि नहीं होती इस हेतु मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर हैं ईश्वर की उपाधि माया सर्वदेश में व्याप्त है इस हेतु ईश्वर में अन्तर्य्यामित्व भी सम्भव है और अन्तःकरणावच्छिन्न जीव माने तो कर्ता और भोक्ता चेतन के प्रदेश भिन्न २ होंगे इस हेतु कृत का नाश और अकृत की प्राप्ति होगी इस हेतु अविद्यावच्छिन्न चेतन ही जीव है इस प्रकार कितने ग्रन्थकार अवच्छेदवाद को ही मानते हैं॥

विद्यारण्य स्वामी का मत

विद्यारण्य स्वामी ने तृप्तिदीप में कहा है जैसे अन्तःकरण का सम्बन्ध उपाधि है वैसे अन्तःकरण के सम्बन्ध का अभाव भी उपाधि है। जैसे लोह की शृङ्खला से सञ्चार का निरोध होना है वैसे

सुवर्ण की शृङ्खला से भी सञ्चार का निरोध होता है इस रीति से अन्तःकरण के सम्बन्धरूप भाव उपाधि से जीव स्वरूप का बाध होता है और उक्त सम्बन्ध के अभाव से परमात्मस्वरूप का बाध होता है इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने अन्तःकरण राहित्य भी उपाधि कही है।

भ्रान्तिवाद

ब्रह्मैवस्वविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यते।

कोई आचार्य्य कहते हैं कि शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अपनी अविद्या से ससारी जीव होता और अपनी विद्या से ही मुक्त भी होता। प्रतिबिम्ब अथवा अवछिन्न जीव नहीं। यहां कौन्तेय राधेय का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। महाभारत में कथा आती है कि जिस समय राजपुत्री कुन्ती कुमारी ही थी तब ही सूर्य्य से कर्ण उत्पन्न हुआ। कुन्ती ने जातकुमार को कही फेंक दिया। शबर जाति की राधा नाम की एक स्त्री उस कर्ण को कहीं पाकर घर लेगई। वहां ही कर्ण पोषित पालित हुए और अपने को शबरजात और राधेय मानने लगे। इस जाति के संसर्ग से और दरिद्रता के कारण विचारे कर्ण विविध दुःख भोगते रहे। राज सुख क्या है राजपुत्र क्या क्या अपूर्व भोग भोगता है इत्यादि ज्ञान भी उन्हे न था। पश्चात् किसी एक समय स्वयम् सूर्य्य ने आकर समझाया कि तू मेरा पुत्र है व्याध और शबर नहीं। तू दुर्य्योधन के निकट राजकुल में जा। यह सुन कर्ण बड़े प्रसन्न हुए शबर जाति से निकल पुनः राजा बने। जैसे इस दृष्टान्त मे देखते हैं कि कर्ण प्रथम राजा और कौन्तेय (कुन्तीपुत्र) ही था किन्तु अपने अज्ञान से शबर बन नानादुःख भोग रहा था। इसी प्रकार वह ब्रह्म भी अपनी ही अनादि अविद्या के द्वारा अपने स्वरूप को भूल कर जीव भाव को प्राप्त हो ससारी जीव बन नाना कल्पित दुःखो को भोगता और अपने स्वरूप से अपरिचित होजाता है। पुनः कदाचित् स्वप्न दशा के समान किसी

कल्पित ही गुरु से " तू वही ब्रह्म " है ऐसा सुन पुनः निज रूप को प्राप्त हो आनन्दस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण अविकृत ब्रह्मही जीव है अन्य नहीं यह सिद्ध होता है।

इस पक्ष मे जैसे स्वप्न द्रष्टा कोई जीव स्वप्न मे किसी को ईश्वर देख उस को पूजा पाठ कर प्रसन्न होता है इसी प्रकार वह भ्रान्तजीव जागरणावस्था में भी किसी को सर्वज्ञ, सर्व द्रष्टा, कर्ता, हर्ता और पालक मान पूजता और उस से कल्याण चाहता। इस प्रकार इस पक्ष में ईश्वर भी जीवकल्पित ही सिद्ध होता है॥

अंशांशिवाद

ब्रह्ममीमांसा के द्वितीय अध्याय में विचार किया गया है कि-जैसे अग्नि का खण्ड विस्फुलिङ्ग होता है वसे ही ईश्वर का अंश जीवात्मा है और ईश्वर अंशी है। यद्यपि वह निरवयव है उस का अंश नहीं हो सकता तथापि अंश के समान अंश है ऐसा अर्थ करने से कोई क्षति नहो क्योंकि चैतन्य भाव को लेकर अग्निस्फुलिङ्गवत् दोनों समान हैं। इस में श्रुति भी प्रमाण है। ब्रह्मसूक्त में आथर्वणिक कहते हैं कि-

ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः।

(दाशाः) कैवर्त (दासाः) भृत्य सेवक और (कितवाः) द्यूतकारी (जुआरी) आदि नीचातिनीच पुरुष भी ब्रह्म ही हैं। यहां शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि हीनजाति के उदाहरण से नामरूप करके भेदविशिष्ट सब ही जीव ब्रह्म हैं। यह सूचित करते हैं ब्रह्म प्रक्रिया मे अन्यत्र भी यह अर्थ दिखलाया गया है यथा-

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेनवञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः। श्वेत०। ४। ३

तू स्त्री तू पुरुष तू कुमार और कुमारी है। तू जीर्ण होने पर

दण्ड लेकर चलता है। तू ही सर्वत्र प्रसिद्ध और उत्पन्न होता है और तूही सब होता है। यहां ईश्वर की सर्वात्मकता का वर्णन है। इस प्रकार सर्ववेदान्त में व्यावहारिक भेदाभेद दोनों का निरूपण आता है। व्यवहारकृत दोनों में अंशांशिभाव है। वास्तव में नहीं क्योंकि "जीवो ब्रह्मैव चेतनत्वात् ब्रह्मवत्" इस अनुमान से जीव ब्रह्म ही है। अंशांशिभाव में मन्त्र भी प्रमाण है-

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्यसर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि।

(अस्य) इस पूर्वोक्त सहस्रशीर्ष पुरुष का (एतावान्) इतना प्रपञ्च महिमा है परन्तु वह पुरुष परमात्मा (ततः+ज्यायान्) इस प्रपञ्च से बहुत ही महत्तर है (सर्वा+भूतानि) सब जीव और ये महाभूत इस के (पादाः) अंश हैं (अस्य+त्रिपात्+अमृत+दिवि) इन का अमृत स्वरूप त्रिपाद् अपने स्वरूप में स्थित हैं। इस मन्त्र में भूत शब्द से जीव सहित स्थावर और जङ्गम का ग्रहण है। क्योंकि "अहिंसन् सर्वाभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" यहां भूत शब्द का पूर्वोक्त अर्थ है। अंश, पाद, भाग ये तीनों समानार्थक हैं।

गीता में भी जीव का ईश्वरांशत्व का वर्णन आता है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

जीवलोक में मेरा ही अंश जीव है। इत्यादि प्रमाणों से ईश्वर का अंश जीव है यह सिद्ध होता है।

शङ्का समाधान

इस अंशांशिवाद पर स्वयं शङ्कराचार्य्य शङ्का करके समाधान करते हैं यथा-जीव को ईश्वर अंश मानने से उस को संसार में दुःख भोग से अंशी ईश्वर का भी दुःखित्व सिद्ध होगा जैसे लोक में हस्त पैर आदि अवयवों में से किसी एक अंग के दुःखी होने से अंगी देवदत्त दुःखी होता है तद्वत्। उन जीवों के नाना क्लेशों से

यह ईश्वर भी महान् दुःखी सदा बना रहेगा इस से तो पूर्वावस्थ संसारही रहै यही समीचीनहै।सम्यग्दर्शन निरर्थक प्रतीत होताहै।

समाधान-जैसे जीव संसार में दुःख का अनुभव करता है वैसे परमेश्वर अनुभव नहीं करता है। यह प्रतिज्ञा करते हैं। क्योंकि जीव अविद्या के वश से देहादिक को अपना समझ तत्कृत दुःख से "मैं दुःखी हूं" ऐसा अविद्या कृत दुःखोपभोग मानता है। परन्तु परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव न होने से दुःखाभिमान भी ;नहीं होगा। जीव को अविद्याकृत नाम रूप प्राप्त होते हैं उनसे देहेन्द्रिय रूप उपाधि का सम्बन्ध होता है उस उपाधि के सम्बन्ध से अवि- वेक द्वारा भ्रमनिमित्तक ही दुःखाभिमान है पारमार्थिक नहीं। जैसे स्वदेह गत दाहच्छेदादि। निमित्त दुःख का उसके अभिमान भ्रान्ति से अनुभव करता है वैसे पुत्रमित्रादिगत दुःख को भी अभिमान भ्रान्ति से अनुभव करता है मै ही पुत्र हूं मैं ही मित्र हूं इस प्रकार स्नेह वश से पुत्रमित्रादिकों में जीवात्मा का अभिनिवेश होता है। इस हेतु निश्चित ही मालूम होता है कि मिथ्याभिमान से भ्रम निमित्त ही दुःखानुभव होता है। व्यतिरेक के दर्शन से यह अनुमान होता है। जैसे बहुत से पुत्र मित्र वाले मनुष्य कहीं एक स्थान में बैठे हों वहां यदि कोई आकर कहे कि अमुक का पुत्र वा मित्र मरगया। है तब जिस का पुत्र वा मित्र मरा है उसी को क्लेश होगा और जो निरपेक्ष उदासीन सन्न्यासी आदि हैं उन्हे दुःख न होगा। इसका आशय यह है कि जिस को यह अभिमान है कि यह मेरा पुत्र है यह मेरा मित्र है उसी को पुत्र और मित्र के दुःख से दुःख होता है क्यों कि इस लोक में देखते हैं जिसका पुत्र मरता वह रोता है और इतर जन उससे दुःखी नहीं होते जैसे पुत्र मित्रादिक को अपना समझ उनके दुःख से जीव दुःखित होता है। वैसे ही इस देह को भी अपना समझ इस देह के काटने चीरने आदि क्रिया से एतत्सम्बन्ध जीव दुःख भोगता है। किन्तु आत्मा तो निर्लेप है जैसे पुत्र मित्र को भ्रमसे अपना समझ रक्खा है वैसे ही इस देह को भी यह जीव

भ्रान्ति से अपना मान रहा है अतः इस जीव को देहकृत-दुःख भी भ्रान्ति से है। ईश्वर को भ्रम का गन्ध भी नहीं। उसे किसी वस्तु का अभिमान भी नहीं। अतः जीवों के दुःखों से ईश्वर दुःखित नहीं इस कारण यह सम्यग्दर्शन भी निरर्थक नहीं। यहां दृष्टान्त भी देते हैं। जैसे सूर्य्य चन्द्र के आकाश में व्याप्त प्रकाश को यदि कोई अङ्गुली और दर्पण आदि से वक्र ऋजु और तिर्य्यक् करे तो उससे सूर्य्य चन्द्र न वक्र ही न ऋजु ही होते वे जैसे हैं वैसे ही रहते हैं जैसे घटमें आवृत आकाश घट के गमनाऽगमन से चलता प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में घटाकाश स्थिर है। अथवा जैसे जल के कम्पमान होने से सूर्य्य का जलस्थ प्रतिबिम्ब कम्पमान होनेपर स्वयं सूर्य्य नहीं कांपता इसी प्रकार अविद्या से परिकल्पित और बुद्ध्यादि से उपहित जीवाख्य अंश में दुःख सुख होने से ईश्वर उनसे दुःखवान् नहीं होता। और जीव को अविद्याकृत ही दुःख प्राप्ति होती है इसको वारंवार कहा है। और अविद्या निमित्त जीव भाव को दूर कर जीव ब्रह्म ही है ऐसा श्रुतियां कहती हैं। यथा"तत्वमसि"। इत्यादि वाक्य हैं। इस प्रकार कोई जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं।

आभासवाद

प्रतिबिम्ब और आभास दोनों का समान अर्थ है तथापि पर्य्याय के भेद से और वेदान्त सूत्र मे आभास पद से वर्णन किया गया है अतः संक्षेप से यहां यह वाद दिखलाया जाता है। "आभास एव च"। वे० सू० २। ३। ५०। इस सूत्रमें कहा गया है कि जैसे एक ही आकाशस्थ सूर्य्य का आभास जितने जल पूर्ण घटों में पड़ेगा उतने सूर्य्य घटों में प्रतीत होंगे। वैसे ही अनन्तानन्त अन्तःकरणों में सर्वगत चेतन के आभास पड़ने से वह भी अनन्त प्रतीत होता है "अत एव चोपमासूर्य्यकादिवत्"। वे० सू० ३। २। १८। इस सूत्र में इसी कारण जल सूर्य्य की उपमा दी गई है। और इसी अर्थ के प्रतिपादक मोक्ष शास्त्र मे वचन भी है यथा—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मा ।

एकएवहिभूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥ एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।

जैसे यह ज्योतिर्मय एक ही सूर्य्य भिन्न २ घटस्थजलों मे प्रतिभासित होने से अनेक भासता है। वैसा ही वह अजन्मा ईश्वर शरीरों में प्रतिभासित होकर जीव रूप से अनेक होता है। एक ही ईश्वर सब भूतों में व्यवस्थितहै तथापि उपाधि भेदसे जलचन्द्रवत् एक और अनेक दोनो दीखता है।

शङ्का–रूपवान् सूर्य्यादिकों का आभास रूपवान् और दूरस्थ जल में पड़ सकता है किन्तु वह परमात्मचैतन्य न तो रूपवान् है और न हम लोगों के अन्तः करणरूप उपाधियों से ही दूर है। इस लिये उक्त दृष्टान्त अयुक्त है। इस शङ्का के समाधान में शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि विवक्षित अंश की संभावना से यह दृष्टान्त युक्त ही है। क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में कही भी किञ्चित् विवक्षितांश को छोड़कर कोई भी सारूप्य नहीं दिखला सकता यदि दोनो सर्वप्रकार से सरूप ही हों तो वे दो क्यों कहलावें और न अपनी बुद्धि से ही यह जलसूर्य्यादि दृष्टान्त घढ़ लिया गया है। शास्त्रप्रणीत इस दृष्टान्त के प्रयोजन मात्र का यहां उपन्यास किया गया है तब यहां विवक्षित सारूप्य क्या है इस पर कहते हैं कि जलगत सूर्य्य प्रतिबिम्ब जैसे जल की वृद्धि से बढ़ता जल के ह्रास से ह्रासित होता जल के चलने से चलता इस प्रकार जल के भेद से सूर्य्यप्रतिबिम्ब मे भेद होता है परमार्थ रूप से नहीं। इसी प्रकार परमार्थरूप

ऐसे एक ही अविच्छिन्न सद्ब्रह्म देहादिरूप उपाधियों से युक्त हो सुख-दुःख भागी होता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में सामञ्जस्य होने से दृष्टान्त युक्त है इति संक्षेपतः।

इति वेदान्तपुष्पाञ्जलावात्मविवेक प्रकरणं समाप्तम्

ओ३म्

अथ चतुर्थ प्रकरणम्

कारणतानिरूपण

" विलक्षणत्वाधिकरण "

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ।

वेदान्त २ । १ । ४

(अस्य) इस जगत् का ब्रह्म कारण नहीं क्योंकि इस में विलक्षणत्व है और शब्द से भी वैसा प्रतीत होता है ।

इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म है सम्प्रति सांख्यवेत्ता, नैयायिक और वैशेषिक पक्षाश्रयी तार्किक महोदय तर्कों को ही मुख्यमान वेदैकगम्य वेदान्त में जो जो आक्षेप करते हैं उनका समाधान तर्कों से ही किया जायगा ।

शङ्का

वे कहते हैं कि इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि यह अशुद्ध और जड़ है और ब्रह्म शुद्ध और चेतन है । इस प्रकार दोनों में विलक्षणता है । वैलक्षण्य में "कार्य्यकारणभाव" नहीं बनता । जैसे सुवर्णघटित कङ्कण का कारण मृत्तिका नहीं और और गौका कारण वृक्ष नहीं किन्तु मृत्तिका से बने पदार्थ तन्मय होते । तद्वत् इस अशुद्ध अचेतन जगत् का कारण तत्समान ही कोई होना चाहिये । वह सांख्य का प्रधान है । यह जगत् सुख दुःख और मोह से युक्त होने के कारण प्रीति, परिताप, और विषाद का हेतु है

अतएव स्वर्ग नरकादिक अनेक उच्चावच प्रपञ्च इस में देखे जाते हैं। जैसे एक ही स्त्री का काय पति को सुख, सपत्नियों को दुःख और लम्पट को परिताप दे रहा है। अतः ऐसे अशुद्ध जगत् का कारण ब्रह्म नहीं हो सकता (१)

और भी ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध मे उपकार्य्योपकारभाव कहा गया है। जगत् का उपकारी ब्रह्म है और यह उपकार्य्य है। इस पक्ष में इस सम्बन्ध का संघठन होगा क्योंकि समता में उपकार्य्योपकारकत्व नहीं होता। जैसे दो दीप परस्पर उपकारी नहीं होते। यदि कहो कि स्वामी भृत्यन्याय से समता में भी यह देखा जाता है। यह ठीक नही क्योंकि कोई भृत्य भी स्वामीकी क्षुधा पिपासा को दूर कर उपकारी बनने में समर्थ नहीं है। इतर उपकार अति तुच्छ होने से हेय है। अतः यह दृष्टान्ताभास है।

और भी–यदि चेतन ब्रह्म इस का उपादान होता तो काष्ठ, लोष्ठ, पाषाणादिक भी चेतन ही होते। और चेतन और अचेतन व्यवहार भी लोक में प्रसिद्ध ही है। अतः इस का ब्रह्म कारण नहीं। इस शङ्का पर कोई यह कह सकते हैं कि जब श्रुतियां चेतन ब्रह्म को इस प्रपञ्च का उपादान मानती हैं तब सम्पूर्ण जगत् को क्यों न न चेतन ही मानले। परिणाम विशेष के कारण इस में चैतन्य नहीं

---

(१) टि०– प्रकृत्या सह सारूप्यम् विकाराणामवस्थितम्। गजद् ब्रह्म स्वरूपञ्च नेति नेतस्य विक्रिया ॥१॥ विशुद्धम् चेतनम् ब्रह्म जगज्जडमशुद्धिभाक्। तेन प्रधानसारूप्यात् प्रधानस्यैव विक्रिया ॥ २ ॥

अर्थ–यह जगत् प्रकृति के समान है ब्रह्मके नही अतः यह ब्रह्मका कार्य्य नहीं किन्तु प्रधान के सम होने से उसी का कार्य्य है।

दीखता। जैसे सुषुप्ति, मूर्च्छा, आदि अवस्था में इस आत्मा का भी चैतन्य प्रतीत नहीं होता। तद्वत् यद्यपि काष्ठादिक भी चेतन ही हैं। किन्तु अवस्था भेद से चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। और अति सूक्ष्म यन्त्र से देखने पर पाषाण मे भी चेतनता प्रतीत होती ही है और इस प्रकार उपकार्य्योपकारकभाव भी बन सकता है जैसे सूप और ओदन दोनो पार्थिव होने पर भी परस्पर उपकारी है। इत्यादि युक्तियों से चेतनत्व और अचेतनत्व की विलक्षणता का परिहार कर सकते हैं किन्तु यह जगत् अशुद्ध है इस का निवारक कौन ? तथा इन दोनों में किसी एक का भी निवारण न होगा क्यों कि "विज्ञानञ्चापि ज्ञानञ्च" यह श्रुति किसी विभाग की चेतनता और किसी की अचेतनता स्वीकार करती है। अतः वस्तु मात्र ही चेतन है यह कथन श्रुत्यनुसारी नहीं इस पर, यदि वेदान्ती कहे कि व्यवहार दृष्टि से यह श्रुति किसी को अचेतन कहती है परमार्थ दृष्टि से नहीं जैसे लोक में विवेकहीन स्तब्ध जन को जड़ और गर्दभ कहते हैं। क्योंकि-

"मृदब्रवीत्। आपोऽब्रुवन्। तत्तेजऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त।

इत्यादि श्रुति वाक्य महाभूतों को चेतन मानते हैं तथा-

ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवद माना ब्रह्म जग्मुः। ते ह वाचमूचुः"।

इत्यादि इन्द्रियों को भी चेतन कहते हैं। अतः पूर्व श्रुति जगत् को जड प्रदर्शिका नहीं। इस हेतु सर्व चैतन्य सिद्ध होता।

इस आशङ्का पर तार्किक महोदय कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थका एक २ अभिमानी देव माना है अतः मृत्तिका के और इन्द्रियादिको के भाषण, ईक्षण और सम्वाद कहे गए हैं वास्तव में नहीं। अतः इस

से सिद्ध है कि अचेतन अशुद्ध और सुख दुःख मोहात्मक प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है तद्विरुद्ध ब्रह्म नहीं।

इन सन्देहों के निवारक ये वक्ष्यमाण उत्तर हैं॥ १—चेतन पुरुषादिकों से विलक्षण केश नखादिकों की और अचेतन गोमयादिकों से वृश्चिकादिकों की उत्पत्ति देखते हैं। अतः वेदान्त प्रक्रिया में वैलक्षण्य दोष की संभावना नहीं। चेतन और अचेतन क्या है इस का निर्णय करना अति कठिन है। वास्तव में अचेतन कोई पदार्थ ही नहीं। इन आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी महाभूतों को जो जड़ कहते हैं वे इन को जानते नहीं इस में सन्देह नहीं कि इन में उद्भूत (प्रकट) चैतन्य नहीं किन्तु इन की और महान् आत्मा के योग से जो चतुर्विध शरीरों का प्रतिक्षण निर्माण हो रहा है। वे सब ही चेतन हैं सूक्ष्मविवेक से देखो और वर्त्तमान कालिक विकाशवाद को पढ़ो।

और भी—सर्ववादि सम्मति यह है कि ईश्वर सर्वव्यापी है इस सिद्धान्तानुसार परम परमाणु के भी अन्तर और बाहर यह चेतन परिपूर्ण है तो कौनसा परमाणु रह गया जहां चैतन्य न हो।

पुनः शङ्का करते हैं कि यदि शब्दादिहीन शुद्ध चेतन ब्रह्म इस शब्दादिमान् अशुद्ध अचेतन जगत् का उपादान हो तो असत्कार्य्यवाद सिद्ध होगा अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य नहीं था इस पक्ष की पुष्टि होगी। सत्कार्य्यवादियों का यह महान् अनिष्ट होगा।

समाधान—उत्पत्ति के पूर्व भी अद्यतनवत् कार्य्य था, हां भेद केवल समझ में है। जैसे इस समय कार्य्य अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं तद्वत् उत्पत्ति के पूर्व भी यह कार्य्य जगत् स्वकारण से पृथक् नहीं था। क्या वर्तमान काल में यह कार्य्य स्वतन्त्र है? क्या निज कारण से पृथक् होकर यह स्थित है? यदि इस समय इसका एक अणु भी अपने कारण से पृथक् नहीं इस में ओत प्रोत प्राप्त है। तब जैसे आज कारण में कार्य्य स्थित है वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में कार्य्य था ही। अतः यह दोष नहीं। श्रुति भी कहती

है कि " सर्वं तं परादाद्यो योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद " उस को सब छोड़ देते हैं जो आत्मा से भिन्न सबको जानता है ।

पुनः शङ्का—यदि यह स्थूल सावयव और अशुद्ध जगत् ब्रह्म का कार्य्य हो तो प्रलयावस्था में पुनः अपने कारण ब्रह्म में ही आकर मिश्रित होगा तब यह शुद्ध ब्रह्म भी स्थूल अशुद्ध सावयव बन जायगा क्योंकि कार्य्य अपने धर्मों से कारण को दूषित करता है जैसे लवण और हिङ्गु अपने गुणों से जल दाल आदि वस्तुओं को पूर्ण कर देते हैं तद्वत् । अशुद्धादि होने से परम देव को सर्वज्ञता का भी लोप प्रसङ्ग होगा । अतः यह औपनिषद धर्म्म असमञ्जस है । २-पुनः प्रलयावस्थामें भोक्तृभोग्य का भी पृथक् २ विभाग न रहेगा सब ही एक रूप में स्थित होजांयगे तब जन्म के समय में भी कोई व्यवस्था न रहने से भोग्य भोक्ता और भोक्ता भोग्य होजाय । क्रम-पूर्वक उत्पत्ति का नियम न रहेगा । जैसे समुद्र के फेन ऊर्मि बुद्बुदादिरूप परिणाम में, और रज्जु के सर्प हारादिक विभ्रम में कोई नियम नहीं । समुद्र कभी फेनरूप से और कभी बुद्बुदादि-रूप से परिणत होता । रज्जु में भी कोई सर्प कोई हार समझ लेता है । इस में भी वैदान्तिक सिद्धान्त असमञ्जस है । ३-पुनः भोक्ता जीव प्रलय में ब्रह्मरूप होने के कारण यह बद्ध और अमुक मुक्त इस प्रकार की व्यवस्था न रहेगी अतः मुक्तपुरुष का जन्म न होगा यह भी न कह सकते । अतः यह दर्शन असङ्गत है । प्रलय में यह जगत् ब्रह्म से विभक्त ही रहेगा ऐसा कहें तो बन नहीं सकता तब लय कहना ही अनुचित है किन्तु कारण से कार्य्य कदापि विभक्त नहीं रहता । क्या फेन कदापि लयावस्था में समुद्र से विभक्त रहेगा ? । इस से भी इस का असामञ्जस्य सिद्ध होता ।

समाधान—हमारे दर्शन में किञ्चित् भी असामञ्जस्य नहीं । प्रथम आपने जो कहा है कि कारण में कार्य्य मिलकर अपने अनुगत धर्मों से कारण को दूषित करता है । यह ठीक नहीं । क्योंकि सहस्रशः दृष्टान्त वहां विद्यमान हैं जहां कारण को कार्य्य कदापि दूषित नहीं

करता । क्या घट, कटाह, हांडी आदि कार्य्य मृत्तिका में संयुक्त होकर दूषित करते हैं ? क्या सुवर्ण के विकार वलय, कङ्कण आदि अपने कारण में मिलने के समय उसको अन्यरूप बना देते हैं ? प्रतिदिन देखते हैं कि इस पृथिवी से चतुर्विध भूतग्राम उत्पन्न हो २ कर इसी में लीन भी होते हैं तथापि वह एकाकारा ही रहती है । इत्यादि शतशः दृष्टान्त हमारे पक्ष में हैं । आप के पक्ष में एक भी नहीं । यदि कारण से विभक्त होकर ही कार्य्यस्थित हो तो इसका नाम ही प्रलय नहीं । यद्यपि कार्य्य कारण एक ही वस्तु है तथापि कारणकी ही प्रधानता होती कार्य्यकी नहीं । समुद्रका फेन कहाता है फेन का समुद्र नहीं तद्वत् ब्रह्म की यह सर्व माया है माया का ब्रह्म नहीं ।

हमारे सिद्धान्त मे यह कथन भी अतितुच्छ है । क्यों कि हम उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीनों को समान ही मानते हैं । यदि प्रलय में कारण को कार्य्य दूषित करे तो स्थिति काल में वही आपत्ति हो । तीनों कालों में कार्य्य कारण का अभेद का ही यहां अङ्गीकार है । श्रुतियां भी कहती हैं ।

इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ० । २ । ४ । ६)
आत्मैवेदंसर्वम् (छा० ७ । २५ । २)
ब्रह्मैवेदममृतम्पुरस्तात् (मु० २ । २ । ११)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० । ३ । १४ । १)

जो यह सर्व जगत् है वह यह आत्मा ही है । आत्मा ही यह सब है । अमृत ब्रह्म ही यह सब है । यह सब ब्रह्म ही है इत्यादि ।

किन्तु जब स्थितिकाल में कारण ब्रह्म को दूषित करता हुआ कार्य्य देखा न जाता तब प्रलय में दूषित करता है यह कैसे सिद्ध होगा ।

और भी—जैसे अज्ञानी मायावी स्वयं प्रसारित वस्तुओं से न

प्रसन्न न शोकान्वित न व्यामूढ होता। क्योंकि वह अपनी माया की तुच्छताको समझ रहा है और जैसे स्वप्नदर्शकस्वप्नमे न तो दरिद्र न धनिकहोताहै। तद्वत् यहसंपूर्ण भासमान ईश्वरकी माया मात्रहै। अतः अवस्थात्रयसाक्षी निरञ्जन निष्कल ज्ञानी ब्रह्म निजमाया से कैसे संस्पृष्ट होगा। वेदान्ताचार्यों का कथन है कि-

अनादि मायया सुप्तोयदाजीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

अनादि माया से यह सुप्त जीव जब " तत्त्वमसि " इत्यादि उपदेशों से जागृत होता है तब उस अजन्मा निद्रारहित परमदेव को समझने लगता है। अतः प्रलयमें कारणको कार्य्य दूषित करेगा यह कथन असंगत है॥ २-द्वितीय शङ्का जो यह है कि प्रलय में समस्त विभाग के एक हो जाने से पुनरुत्पत्ति काल में विभाग पूर्वक नियमकारण न रहेगा यह दोष भी अदोष है क्योंकि इस में दृष्टान्त हैं जैसे सुषुप्ति और समाधि में ध्येता ध्येय में, और जीव ब्रह्म में स्वाभाविक प्राप्त होता परन्तु पश्चात् नियम पूर्वक विभाग भी देखते हैं। तद्वत्। यहां श्रुति भी कहती है।

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटोवा पतङ्गो वा दंशो वा मशको यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति॥ (छा० । ६ । ९ । २ । ३)

येसब प्रजाए सद्वाच्य ब्रह्ममेंलीन होकर नहींजानतीहैं किब्रह्ममेंहम लीन होतीहैं। पुनः जाग्रदवस्थामें वे व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतङ्ग दंश, मशक जो २ रहतेहैं वेही होतेहैं पुनः जैसे सुषुप्तिमें जीव और ब्रह्म की एकता होने पर भी स्वप्न में सर्व व्यवहार पृथक् २

हो होने लगता है। तद्वत्। मुक्ति में एक हो जाने पर भी स्थिति काल में अनादि माया के कारण पुनः विभाग व्यवहार होने लग जाता है यह अनुमान करती हैं। क्योंकि अज्ञजीवों की महाप्रलय में भी अज्ञानशक्ति के प्रवाह की विद्यमानता के कारण पुनर्जन्म का नियम ठीक रहता है।

किन्तु मुक्तपुरुषों की अज्ञानशक्ति के अभाव हो जाने से पुनर्जन्म नहीं होता यह नियम भी बुद्धिगम्य है और जो अन्त में कहा है कि प्रलय में भी यह जगत् अविभक्त होही कर रहे वह हमारे सिद्धान्त में नहीं बनता क्योंकि कार्य्यकारण के अभेदवादी हमहैं। अतः औपनिषद धर्म समञ्जस ही है।

"भोक्तृभोग्यविभाग"

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्।

वेदान्त २।१।१३

भोक्ता की आपत्ति से भोक्तृ भोग्य का विभाग न रहेगा। यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि लोक के समान।

शङ्काः—चेतनब्रह्मकारणवाद सवथा असंगत है क्योंकि यदि ब्रह्म ही जगद्रूप से परिणत मान लिया जाय तो ब्रह्म ही ब्रह्म को खाता पीता इत्यादि सिद्ध होगा क्योंकि भोक्ता देवदत्त भी ब्रह्म और भोज्य ओदन जल दूध दही भी ब्रह्म। इसी प्रकार खादक सिंह भी ब्रह्म और खाद्य मृग भी ब्रह्म। शब्द, स्पर्श रूप आदि भी ब्रह्म और कर्ण, त्वचा, नयन, आदि भी ब्रह्म इस प्रकार खाद्य खादक ग्राह्य ग्राहक इत्यादि सर्वव्यवहार का लोप हो जायगा किन्तु लोक में भोक्ता और भोग्य दो वस्तुएं प्रतीत होती हैं। भोक्ता प्राणी है और भोज्य शब्द, स्पर्श आदि विषय हैं। अन्न खाद्य है और प्राणी खादक है; इस प्रकार के लौकिक विभाग की बाधिका श्रुति को कौन मान सकता। अतः औपनिषद धर्म त्याज्य है।

समाधान—जैसा हमको पदार्थ दीखे वैसा ही हम मान भी लेवें यह कोई नियम नहीं। प्रातः और सायङ्काल में अपने से दूर मेघ और सूर्य रक्त भासता है आकाश चारों ओर पृथिवी से संयुक्त दृष्टि गोचर होता। मेघ उत्थित (खड़ा) सा भासता है क्या ये सब सत्य है? इसी प्रकार भोक्तृ भोग्य की कल्पना भी मिथ्या प्रयुक्त है क्योंकि अग्नि का भोज्य काष्ठ प्रतीत होता है परन्तु अग्नि का भी भोक्ता काष्ठ है क्योंकि उस के उदर में अग्नि रहता है जो अति संघर्षण से उत्पन्न हो जाता है। लोक में देखते हैं कि जल से अग्नि शान्त हो जाताहै किन्तु जल समूह मेघ से कैसी भयङ्कर अग्निलता विद्युत् उत्पन्न होती है। समुद्र में भी वाड़वाग्नि का इतिहास प्रसिद्ध ही है शास्त्र कहता है कि अग्नि से जल उत्पन्न होता है किन्तु तद्विपरीत जलसमूह मेघ से अग्नि को उत्पन्न होते देखते हैं। इत्यादि विचारने से भोक्तृभोग्य का नियम भी व्यवस्थित नहीं है। अब चेतनसृष्टि में ध्यान दीजिये मत्स्य को मत्स्य खाता है यही भोक्तृ भोग्य की क्या व्यवस्था होगी। सर्व जीवों को मनुष्य खाता है परन्तु शक्तिहीन अतिदुर्बल पुरुष को वन में रख देवें वहां चींटी, गृध्र, आदि उस जीवित को खाजायंगे। अब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर ध्यान दीजिये व्यवहार में ये पांचो विषय और भोग्य और आत्मा विषयी और भोक्ता माना जाता है। प्रथम तो जीवात्मा वास्तविक भोक्ता नही यह सर्ववादि सम्मत है। जीवात्मा में औपचारिक भोक्तृत्व है तब जड़ को जड़ और विषय को विषय खाता है यही सिद्ध होगा। प्रत्यक्ष में देखते हैं कि यह शरीर बढ़ता घटता है इस में स्थित जीवात्मा घटता बढ़ता नहीं। अतः वह भोक्ता भी नहीं। तब भोक्ता कौन? निःसन्देह बुद्धिआदि निखिल करण सहित यह शरीर ही वास्तविक भोक्ता है। आत्मा नहीं।

अब शरीर क्या वस्तु है इस पर विचार कीजिये। क्या शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध से पृथक् कोई शरीर है या शब्दादि युक्त ही शरीर है। यदि शब्दादि युक्त का ही नाम शरीर है तब शरीर को

शरीर खाता है यही सिद्ध होगा। अतः परमार्थ दृष्टि से भोक्तृभोग्य में कोई भेद नहीं। व्यवहार भले ही रहे। किन्तु व्यवहार भी परमार्थ दृष्टि से मिथ्या ही है। अतः औपनिषद् सिद्धान्त ही सत्य है। श्री शङ्कराचार्य्य इस पर इतना विशेष कहते हैं कि यद्यपि फेन, तरङ्गादि में कोई भेद नहीं तथापि यह समुद्र है यह इस का फेन है इत्यादि व्यवहार होता ही है। तद्वत्। भोक्तृभोग्य विभाग भी बना रहेगा। वेदान्त में कोई दोष नहीं। यदि कहें कि इस अवस्था में फेनवत् जीवात्मा भी ईश्वर का विकार सिद्ध होगा। इस पर कहते हैं कि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" उस को बनाकर उस में वह स्वयम् प्रविष्ट होगया। इस श्रुति से ब्रह्म में ही भोक्तृत्व का भी आरोप है अर्थात् भोक्ता जीव भी ब्रह्म ही है। अतः हमारे सिद्धान्त में भोक्तृभोग्य विभाग भी वास्तविक नहीं। तथापि औपाधिक विभाग रहेगा जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि विभाग लोकसिद्धहै। समुद्रतरङ्गादिन्याय को जितना जितना विचारेंगे उतनी २ सत्यता प्रतीत होती जायगी। जैसे समुद्र के अभ्यन्तर विविध जीवों का स्फुरण होता रहता है। तद्वत् सर्वव्यापी ईश के अभ्यन्तर सर्वविकाश हो रहा है। वास्तव में यह उपमा भी अपूर्ण है इसे छोड़ अब मन में यह निश्चय करो कि सर्वत्र ब्रह्मपरिपूर्ण है तब कहां से सृष्टि हो रही है कहां स्थित है और कहां लीन होती है यह विचारो। मालूम होगा कि इस सारे प्रपञ्च का आधार एक मात्र ब्रह्म है तुम इसी ब्रह्ममय महामहा समुद्र में डूबते और उगते हो।

शङ्काः—इस सिद्धान्त को सुनकर हम को महामहाभय उपस्थित होता है क्योंकि जब हम जीव उस ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं तब हमारा एक दिन लोप हो जायगा उपाधि के नाश से हमारा अस्तित्व का उच्छेद हो जायगा जैसे घटाकाशरूपा व्यक्ति का घर के विध्वंस से उच्छेद हो जाता है।

समाधानः—भय की बात नहीं। उच्छेद होने से भी शङ्का नहीं।

यहां तो केवल भ्रम दूर करना है। तुम शुद्ध, चेतन, सुख दुःखादि रहित ब्रह्म ही हो किन्तु अपने को अनादिमायोपाधि से जो अशुद्ध आदि समझ रहे हो उसीको दूर करो मानो कि राजपुत्र को किसी कारण से "मैं शबर नीच हूं" यही निश्चय हो उसे कोई उपदेश द्वारा यदि अपने रूप का बोध करादे और तब से "मैं राजपुत्र हूं। शबर नहीं" इस प्रकार के यदि निश्चयात्मक बोध हो तो क्या इस प्रसङ्ग में किसी का लोप या उच्छेद हुआ ? नहीं केवल भ्रमनिवारण हुआ।

शङ्काः—यदि श्रुत्यनुसार जीव ब्रह्म दो वस्तुएं नहीं किन्तु ब्रह्म ही जीव है तब भ्रम भी ब्रह्म में ही है यह कहा जायगा इस से भी औपनिषद् मत असंगत है क्योंकि ब्रह्म में भ्रमस्थिति को कोई नहीं मानता। इस का समाधान आगे करेंगे॥

हिताकरणदोष

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।

वेदान्त २।१।२१

यदि चेतन को जगत् का कारण मानें तो चेतन के अहित जो जन्म, मरण, जरा, रोग नरकादि उन के करने रूप दोष का प्रसंग होगा क्योंकि हे! श्वेतकेतो सो ब्रह्म तू है इस वाक्य से जीवात्मा को ब्रह्म कहा है और ब्रह्म स्वतन्त्र है वह सृष्टि को करे तो अपने अहित नरकादि न बनावे।

पूर्वपक्षः—"स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

(छा० ६ । ८ । ७)

हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है। वह ब्रह्म तू है। यह श्रुति जीव को ब्रह्म कहती है। और

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २। ६)

उसको रचकर उसमें वह प्रविष्ट हुआ। यह श्रुति कार्य्यमें ब्रह्म के प्रवेश से सिद्ध कर रही है कि जीव ब्रह्म ही है। पुनः

"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६ । ३ । २)

जगत् में अनुप्रवेशकर के इस जीवात्मा के साथ नामरूप को विस्तृत करूं। यहां जीवको आत्मा कहा है। इनसे सिद्ध है कि ब्रह्मसे भिन्न शारीर (जीव) नहीं। इसलिये ब्रह्म को जो सृष्टि है वह जीव की ही सृष्टि है। भाव यह है कि यद्यपि बहुत सी श्रुतियां जीव ब्रह्म में भेद भी दिखलाती हैं तथापि अभेदप्रतिपादिका भी अनेक श्रुतियां हैं। भेदाभेद दोनों एक स्थल में समवेत नहीं हो सकते। क्या अ तपान्धकार का सामानाधिकरण्य सम्भव है? एवं भेदको तात्त्विक भी कोई श्रुति नहीं कहती। अतः सर्वज्ञ परमात्मासे शारीर (जीव) तत्त्वतः भिन्न नहीं वही ईश अविद्योपधान से घटाकाशादि भेदवत् सर्वत्रप्रथित है। उसी का उपहितरूप यह शारीर है। इस अवस्था में कदाचित् अविद्योपाधि के कारण ये जीवगण अपनी परमात्मता भूल बैठें तथापि परमात्मा तो जीवों को अभिन्न ही अनुभव कर रहा है। यदि अनुभव न करे तो सार्वज्ञ-व्याघात होगा। तब जीवों को बन्धनागार में फेंकता हुआ ईश, मानो अपने को ही बन्धन में डालता है। ऐसा कोई नहीं करता। कोईभी स्वतन्त्रकर्ता अपने लिये अनिष्ट नहीं सोचता यहां देखते हैं कि ये ब्रह्मरूप जीव नाना क्लेशों में पक रहे हैं। यदि ब्रह्म ही जीव होता तो यहां अपने लिये समस्तसुखमय आनन्दवाटिका ही बनाता। यह अहित क्यों करता। अपने ही लिये यह विविधरोग, दुर्भिक्ष, उत्पात अनावृष्टि अतिवृष्टि, मरुभूमि इत्यादि सहस्रशः क्लेश क्यों कर उत्पन्न करता उसको अपने लिये हित करना चाहिये अहित नहीं। यदि किसी कारण वश अहित कर भी चुका हो तो भी जो २ दुःख हो उस उस को छोड़ता जाता और सुख को लेता जाता

और यह स्मरण करता कि मैंनेही इस जगद्रूप विश्व को रचकर इतना बनाया है। एक साधारण पुरुष भी अपने कृत कर्म को अच्छे प्रकार स्मरण करता है। तथा मायावी अपनी माया से प्रसारित माया को जब चाहता तब समेट लेता और जब चाहता तब पसार देता है। इसी प्रकार यह जीव भी अपनी माया को क्यों न इकट्ठी कर लेता और सर्वक्लेश सामग्रीको अपनेसे दूर फेंकदेता। जब यहजीवअपने इसतुच्छ शरीर कोभी अपने से अलग नहीं कर सकता तब इस समस्त जगत् को दूर कर सकेगा यह कब संभव है। अतः यह जीव ब्रह्म नहीं। इतने लेख से फलित यह हुआ कि यदि जीव ब्रह्म होता तो अपने लिये हित ही करता किन्तु यह कर नहीं सकता। अतः प्रतीत होताहै कि यह अपराधीवत् विवश है। किन्तु जो विवश है वह ब्रह्म नहीं। यदि जीव ब्रह्म नहीं, यह पक्ष स्वीकृत हो तब जीवों को अपने कर्मों के फल भोगाने के लिये परमात्मा ने यह सृष्टि रची यह मान सकते हैं। अन्यथा नहीं। अतः चेतन कारणवाद प्रत्यक्षविरुद्ध होने से त्याज्य है।

उत्तरपक्ष–जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म है और जो शरीर से अन्य है उस को हम स्रष्टा, विधाता, संहर्ता कहते हैं उस में हिताकरणादि दोष नहीं है उस को न तो कुछ हित कर्तव्य है और न अहित परिहर्तव्य है। उसको ज्ञानप्रतिबन्ध अथवा शक्तिप्रबन्ध भी कहीं नहीं क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। शरीर ऐसा नहीं। उसे में हिताकरणादि दोष हो सकते हैं किन्तु उस को हम जगत्कर्ता नहीं कहते। क्योंकि भेदनिर्देशिका श्रुतियां विद्यमान हैं।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २ । ४२)

"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा०८।७।१

"सता सोम्य सदा सम्पन्नो भवति" (छा०६।८।१)
"शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" (बृ०४।३।३५

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अरे मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और सम्यक् ध्यातव्य है। वही अन्वेषणीय और जिज्ञासितव्य है। हे प्रिये! यह जीव सदा परमात्मा से संयुक्त होता है। यह शारीर (शरीरस्थ) आत्मा प्राज्ञ, आत्मा से अनुगत है इत्यादि श्रुतिवाक्य जीवात्मा को उपासक और ब्रह्म को उपास्य कहते हुए दोनों में भेद और आधिक्य दिखला रहे हैं। अतः जीव को ब्रह्म हम नहीं मानते।

शङ्का:-"तत्वमसि" इत्यादि वाक्यों से अभेद भी कहते हैं। और पूर्वोक्त वाक्यों से भेद भी दिखलाते हैं। वे दोनों कैसे हो सकते हैं तेजस्तिमिरवत् भेदाभेदका सामानाधिकरण्य नहीं अतः आप का कथन उन्मत्तप्रलापवत् त्याज्य होगा।

उत्तर-हमारे पक्ष में दोष नहीं क्योंकि महाऽऽकाशघटाकाश-न्याय से दोनों एक अधिकरण में रह सकते हैं। जैसे महाकाश से व्यवहार में घटाकाशभिन्न है किन्तु परमार्थ में भिन्न नहीं केवल उपाधिभेद से घटाकाश में भेद है वास्तविक भेद नहीं है। तद्वत् हमारे सिद्धान्त में मिथ्याज्ञानरूप उपाधि के कारण भेद है किन्तु "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यों से जब भेदज्ञान मिट जाता है, तब कहां जीव का संसारित्व और कहां ब्रह्म का स्रष्टृत्व है। तब कहां सृष्टि है और कहां दोष है। तत्वज्ञान से सब चले जाते हैं। अविद्या के कारण यह भ्रान्ति है। भ्रान्तिरूप ही सृष्टि है भ्रान्त्यवस्था में भेदप्रतिपादिका श्रुतियां हैं। ज्ञानोत्तर अभेद ही सत्य है।

शङ्का:-यदि आप के पक्ष में यह जगत् ब्रह्मविवर्त है तब जीववत् सब ही चेतन होने चाहियें किन्तु है नहीं। अतः सर्वचेतनता दोष आवेगा और भी-अखण्डैकरूप ब्रह्म में जीवेश्वर की और उस के कार्यों की विचित्रता कैसे हो सकती है?

उत्तर—जैसे सब ही प्रस्तर, पृथिवी के विकार हैं तथापि कोई महार्घ मणि वैडूर्य आदि, मध्यमवीर्य सूर्यकान्त आदि कोई अधम पाषाण जहां तहां फेंकने के योग्य हैं। यहां अनेकविध वैचित्र्य देखते हैं। पुनः एक ही बीज से उत्पन्न वृक्ष में पत्र, पुष्प, फल, गन्ध, रस आदि वैचित्र्य है। एक ही अन्नरसके परिणाम रक्तआदि और केश नखादि विचित्र कार्य्य देखपड़ते हैं। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म के जीव प्राज्ञ ईश्वर आदि विवर्तों की विचित्रता हो सकती है। और वस्तुमात्र ही चेतन है इस में सन्देह नहीं। किसी में प्रकट किसी में अप्रकट चैतन्य है जिन को आप चेतन जीव कहते हैं उन में ही कितने अनन्त भेद हैं। शम्बुशुक्ति-गतजीव, और मनुष्यगत जीव में कितना अन्तर है। शुक्तिगतजीव में गमनादि क्रियामात्र है किन्तु एक इन्द्रिय भी दीखता नहीं इसी प्रकार उद्भिज्ज जीवों में गमनादि क्रिया भी नहीं। इसी प्रकार पाषाणादिकों में अति अप्रकट चैतन्य है यह अनुमान होगा।

उपसंहार दर्शनाधिकरण

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्नक्षीरवद्धि। वे० २।१।२४

उपसंहार के देखने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं यह शङ्का भी ठीक नहीं क्योंकि क्षीर के समान।

शङ्का:—लौकिकन्याय ईश्वर में भी घटना चाहिये क्योंकि हमारी बुद्धि लोकानुसार ही बनी है और तदनुकूल ही तर्क वितर्क करती है। यहां देखते हैं कि ज्ञानपूर्वक रचयिता प्रथम सामग्रीसम्पन्न होकर वस्तु बनाता और वह कभी उपादान कारणनहीं होता। जैसे घट, पट का कर्ता कुलाल कुविन्द मृत्तिका और तन्तु प्रभृतिविविध साधन संयुक्त होकर ही घटपट बनाता है। और वह कभी उपादान नहीं होता वैसा ही ईश्वर को भी होना चाहिये किन्तु आपके पक्ष में ब्रह्म असाहाय कहा जाता। अतः वह सृष्टिकर्ता कैसे? यदि वह भी अन्यान्यसामग्री की अपेक्षा करता है तो अद्वैत की हानि

होगी। और यदि सामग्री के बिना ही सृष्टि रचता है तो लौकिक न्याय से विरुद्ध होता है अतः इस जगत् का उपादान ईश्वर नहीं।

समाधानः—यह आक्षेप भी तुच्छ है क्योंकि सब वस्तुओं में समान ही सामर्थ्य हो यह कोई नियम नहीं। लोक में देखते हैं कि बाह्यसाधन के बिना ही क्षीर दधि और जल हिम हो जाता है। यदि कहें कि शैत्य औष्ण्य आदि बाह्यसामग्री की अपेक्षासे ही क्षीर दधि बनता है तो यह वक्तव्य अवक्तव्य है क्योंकि यदि क्षीर में दधि और जल में हिम होने का सामर्थ्य न हो तो कदापि बाह्य साधन से उन में परिणाम न होगा। अन्यथा अग्नि और आकाश भी दधि हो जाय। अतः बाह्य साधन केवल उस की पूर्णता में सहाय होता न कि उस में नवीन सामर्थ्य उत्पन्न करता। ब्रह्म तो परि-पूर्णशक्तिक है उस में अपूर्णता का लेशमात्र नहीं। श्रुति भी कहती है—

> नतस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते।
> नतत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते॥
> पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते।
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच॥

न उसका कार्य्य न करण है। न उस के सम वा अधिक कोई दीखता उस की विविधा पराशक्ति सुनी जाती है। उसकी स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया है। इस हेतु परिपूर्णशक्तिक असहाय ब्रह्म समाया से सब रच रहा है इस में आश्चर्य्य ही क्या—

शङ्काः—आप अचेतनके दृष्टान्त देतेहैं। चेतन कुम्भकार तन्तुवाय (जुलाहा) इत्यादि वे बाह्य साधनोंके विना घट पट नहीं रच सकते तब चेतन ब्रह्म असहाय होकर कैसे प्रवृत्त होगा इसका उत्तर क्या? इस आशङ्का पर श्री शङ्कराचार्य्य दो प्रकार के समाधान करते हैं प्रथम तो कहते हैं कि देव ऋषि और पितृगण बाह्य साधनों के

बिना ही विविध शरीर, भवन, भोग्य पदार्थ रच लेते हैं यह इतिहास पुराणादिकों में प्रसिद्ध है। अथवा तन्तुनाभ (मकरा) स्वतः तन्तुओं को रचता। शुक्र के बिना ही बलाका गर्भ धारण करती, पद्मिनी प्रस्थान साधन के बिना ही अन्य सरोवर में चली जाती। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्यसाधन की अपेक्षा न करके ही जगत को रचेगा इस में सन्देह ही क्या।

शङ्काः-देवादिदृष्टान्त भी दार्ष्टान्तिक ब्रह्म के साथ समानस्वभाव वाले नहीं क्योंकि देवादिकों के अचेतन शरीरों से ही अचतन विभूतियों का आविर्भाव माना गया है चेतन आत्मा से नहीं इसी प्रकार तन्तुनाभ भी वाहर से भोजन न पावे तो स्वयम् मरजाय। कौन तन्तु बनावेगा। बलाका का दृष्टान्त सन्दिग्ध है और पद्मिनी सहायक के बिना अन्य सरोवर में स्वयम् जाती है इस में कोई मान नहीं। अतः ये सब आपके पक्षसाधक दृष्टान्त नहीं।

समाधान.-यह दोष नहीं। यहां केवल वैलक्षण्य में सर्व दृष्टान्त दिखाए गए हैं। शतशः कीटों में तन्तुनाभ एक ऐसा जन्तु है कि वह स्वयम् अपने शरीर से तन्तु उत्पन्न कर गृह बना लेता है किन्तु अन्यान्य तत्सम ही कीट वैसा आश्चर्य्य नहीं करते। यदि ब्रह्म भी लोकवत् ही कार्य्य बनावे तो उस में ब्रह्मत्व ही क्या ?। क्या कोई भी विद्वान् सूर्य्यसम वस्तु रचकर आकाश में स्थापित कर सकता अतःमहा महाऽऽश्चर्य्यशक्तिसम्पन्न परमात्मा में अयुक्त कुछ भी नहीं।

कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ।

वेदान्त २। १। २६

यदि ब्रह्म निरवयव है तो सम्पूर्ण ब्रह्म का ही रूप परिणाम होगा यदि इस लिये सावयव मान लिया जाय तो ब्रह्म के निरवयवत्व कहने वाली श्रुतियों का कोप होगा।

पूर्वपक्षः-ब्रह्म का स्वरूप निरवयव माना गया है। और आप

कहते हैं कि क्षीरादिवत् वह परिणामी है यदि वह परिणामी है तो समस्त ब्रह्म का ही परिणाम होगा। यदि पृथिवी आदि के समान वह सावयव होता तो सम्भव था कि उसका एक भाग का परिणाम होता और अन्यान्य भाग ज्यों के त्यों रहते। परन्तु श्रुतियों से वह निरवयव सिद्ध है यथा-

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
(श्वे० ६। १०। ६)

दिव्योह्यमूर्तिः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
(मु० २। १। २)-

इदं महद्भूत मनन्तमपारं विज्ञानघन एव।
(बृ० २। १। २) इत्यादि

वह ब्रह्म अर्थात् निरवयव, निष्क्रिय, शान्त निर्दोष और निरञ्जन है वह दिव्य अमूर्त पुरुष बाहर भीतर व्याप्त है वह अजन्मा है वह महान् भूत अनन्त अपार है और विज्ञान स्वरूप है इस हेतु उस समस्त ब्रह्म के परिणाम होने से मूल का ही उच्छेद हो जायगा। यह महान् अनिष्ट है और उस के ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जगद्रूप परिणाम को हम अनायास देख रहे हैं और कार्य्यातिरिक्त ब्रह्म कोई वस्तु ही नहीं यदि इस भय से आप कहें कि तब हम भी ब्रह्म को सावयव ही मान लेंगे तब तो यह दोष न होगा। किन्तु इस अवस्था में निरवयव निरूपण करने वाली श्रुतियों का प्रकोप होगा और सावयव मानने में अनित्यत्व का भी प्रसङ्ग होगा अतः किसी प्रकार वैदान्तिक पक्ष नहीं घट सकता।

उत्तरपक्षः-वास्तव में ब्रह्म का परिणाम हम नहीं मानते। यह जगद्विम्ब विवर्त है नाम और रूप से विस्तृत जो यह जगत् वह केवल अविद्या की कल्पना है वास्तविक नहीं। न यह वस्तु और न यह अवस्तु ही है किन्तु अनिर्वचनीय है इसी अविद्याकल्पित नाम रूप से प्रथित अनिर्वचनीय जगत् की विद्यमानता के कारण ब्रह्म को

परिणामी मायोपहित आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं । किन्तु कल्पित वस्तु वास्तविक वस्तु को दूषित नहीं करती जैसे किसी भ्रमवश किसी को दो चन्द्र प्रतीत होने से चन्द्र दो नहीं हो जाता और प्रतीत न होने से उस चन्द्र का अभाव भी नहीं होता । इसी प्रकार अवास्तवी जो परिणाम कल्पना है उस के घटित न होने से भी कोई दोष नहीं आता । भाव यह है कि यह जगत् अविद्या का परिणाम और ब्रह्म में विवर्तमात्र है ।

प्रयोजनवत्वाधिकरण

न प्रयोजनवत्वात् । वेदान्त । २ । १ । ३२

लोक में प्रसिद्ध है कि प्रयोजन के बिना मन्द पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होता तब नित्य तृप्त ब्रह्म के जगत् रचने में कोई प्रयोजन नहीं ।

पूर्वपक्षः—वह परमदेव न तो विलासी न उन्मत्त न सुखाभिलाषी न उपकारी न उपकार्य्य है । न दो वा चार न समाजी है वह नित्य तृप्त एक ही है । तब किस प्रयोजन को मन में रखकर इस सुख दुःख मोहात्मक अत्याश्चर्य्य जगत् को रचता है । लोक में देखते हैं कि बुद्धिपूर्वकारी चेतन प्रयोजन के बिना अति स्वल्प कार्य्य में भी प्रवृत्त नहीं होता "न प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते" प्रयोजन को न लक्ष्यकर मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता । "नकुर्वीत वृथा चेष्टाम्" ऐसा नीति वाले कहते हैं लोक प्रसिद्धि के अनुसार श्रुति भी कहती है किः—

"नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियंभवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"

(बृ० २ । ४ । ५)

अरे मैत्रेयी । सब के कामना के लिये सब प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी काम के लिये सो प्रिय होता । यदि कहो कि किसी

प्रयोजन के लिये ही वह भी इस जगत् को रचता होगा। हम अल्पज्ञ मनुष्य उसके आन्तरिक भाव को न जान सकते हैं। तथापि क्या प्रयोजन है यह अवश्य वक्तव्य है वह नित्यतृप्त कहा गया है तब उस को प्रयोजन हो नही सकता। यदि प्रयोजन नहीं तब सृष्टि रचने में उसका प्रवृत्ति भी नही होनी चाहिये। यदि कहो कि जैसे उन्मत्त चेतन प्रयोजन के बिना कार्य्य करता देखा जाता है। तद्वत्। वह भी सृष्टि रचता। ईश्वर के लिये यह कथन अतिमन्द है वह सर्वज्ञ होकर उन्मत्त नहीं हो सकता। यदि कहो कि निष्प्रयोजन विद्वान् लोग भी विविध कार्य्य करते हैं जैसे कभी २ देखा जाता है कि बैठे २ विद्वान् भी पैर हिलाने लगते हैं किसी वस्तु को छू देते हैं इधर उधर ताकने लगते हैं इत्यादि अनेक निष्प्रयोजन कार्य्य होते देखते हैं यह भी ठीक नहीं। लोक में भले ही निष्प्रयोजन कार्य्य हों किन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् एकरस अविकारी ईश्वर में आप के हेतु नही घट सकते। यदि वह भी अनर्थ करे तो उसकी सर्वज्ञता क्या रह जायगी। यदि कहो कि जीवों के उद्धार के लिये सृष्टि रचने में उस की प्रवृत्ति है तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि जीव तो ईश्वर से भिन्न नहीं यह आप का सिद्धान्त है। यह कथन सर्वथा अयौक्तिक है। यदि कहो कि यह इस का स्वभाव है तो यह भी मन्दोक्ति है। क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर अपने अनर्थकारी स्वभाव को रोक सकता है जड़ अग्नि विष आदि अपने स्वभाव को न रोक सके किन्तु ईश्वर वैसा नहीं। यह जगत् अनर्थकारी है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इतने लेख का सर्व आशय यह है कि अपने लिये या दूसरे के लिये कार्य्य किया जाता है। ईश्वर में ये दोनों बातें नहीं घटतीं क्योंकि वह सर्वकाम परिपूर्ण है अतः अपने लिये वह नहीं रचता और उसको छोड़ द्वितीय कोई परमार्थ वस्तु ही नहीं जिस के उपकार के लिये उसकी प्रवृत्ति हो। इस हेतु चेतन से सृष्टि मानना अयौक्तिक है।

उत्तर पक्षः—ईश्वर का सृष्टि रचने में केवल लीला ही प्रयोजन है।

यहां भी देखते हैं कि राजा और अमात्य प्रभृति कभी २ प्रयोजन के बिना ही विविध क्रीड़ा करते हैं। और जैसे श्वास प्रश्वास स्वभावतः होते रहते हैं उन का कुछ विशेष प्रयोजन नहीं। तद्वत् स्वभाव से ही निष्प्रयोजन ईश्वर की लीला रूपा प्रवृत्ति है। यद्यपि लौकिकपुरुषों की लीला में भी सूक्ष्मप्रयोजन हो किन्तु ईश्वर का कुछ भी अन्य प्रयोजन नहीं। विचार दृष्टि से देखें तो यह सृष्टि अविद्याकल्पिता है। सृष्टि है कहां? समुद्र में तरङ्ग फेन बुद्बुद इत्यादि देख कोई कहे कि देखो समुद्रमें सृष्टि होरही है यह सर्वथा अविद्या की बातें हैं। तद्वत् अनन्त अपार परिपूर्ण ब्रह्म में जो यह तरङ्गादिवत् सृष्टि भासती है वह वास्तवी सृष्टि नहीं भ्रममात्र है। हम जीवों को यह महाऽऽश्चर्य्य सृष्टि प्रतीत होती है किन्तु यह अति स्वल्प अति तुच्छ अतिछोटो है। आप यदि थोड़ा सा भी ध्यान देकर विचारें कि पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे कहां तक इसका अन्त है। अन्त कहीं न पावेंगे कोटि २ वर्ष भी एक ओर यदि मनुष्य बड़े वेग से चलता रहे तब भी इस का अन्त न होगा। उस अनन्त में यह सान्त सृष्टि अत्यन्त स्वल्प है। उस अचिन्त्य परमदेव को विवेक दृष्टि से देखो। न वहां सृष्टि न सृज्य न लीला न द्रष्टा न दृश्य वह एक है। हे मनुष्यो! उस अनन्त एक में तुम मिलने का प्रयत्न करो। जैसे सुषुप्ति में तुम्हे कुछ भी बोध नहीं रहता। तद्वत् अद्वैतानन्द को प्राप्तकर ज्ञेय ज्ञाता ज्ञानादि का सर्व भेद लीन हो जायगे। इति

वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण

वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।

वे० २।१।३४

वैषम्य और नैर्घृण्य दोष ब्रह्म में नहीं है क्योंकि सापेक्षत्व होने से। श्रुति भी इस अर्थ को कहती है।

स्थूणानिखनन न्याय से प्रतिज्ञात अर्थ को पुनः २ दृढ़ करने के लिये ईश्वर की कारणता के ऊपर आक्षेप करते हैं। कहा गया है कि वह इस जगत् का जन्मदाता पाता और संहर्ता है परन्तु यह युक्ततर प्रतीत नहीं होता क्योंकि तब उस में विषमता पक्षपात, राग, द्वेष घृणा आदि अनेक दोष लगेंगे। जिस हेतु लोक में देखते हैं कि कोई राजा महाराज वा देवादि जीव अत्यन्त सुखी हैं, कोई पशु प्रभृति अत्यन्त दुःख भागी हैं और बहुत मनुष्य मध्यम कोटि के हैं किन्हीं प्राणियों का एक ही इन्द्रिय है। कोई प्राणी अच्छे प्रकार चल भी नहीं सकता जैसे शुक्ति आदि। इस प्रकार विषम सृष्टि को बनाते हुए ईश्वर में नीच जनके समान राग द्वेष कहे जायगे और श्रुतियों में जो कहा गया है कि वह शुद्ध राग द्वेष से रहित है इस का लोप हो जायगा और नाना क्लेशों को उत्पन्न कर जीवों को उन में रख वह लीला देख रहा है यह कैसी घृणा जनक बात है। बड़ी क्रूरता से व्याघ्र मृग को चीरता है हाथी जैसे बड़े प्राणियों को क्षणमात्र में फाड़ कर उनका रक्त पी जाता है। शतशः प्राणी शतशः जीवों को खा रहे हैं किसी क्षेत्र में जाकर देखो। इस लीला को देख कर पामरों को भी घृणा होती है। इस सब का कारण यदि ईश्वर है तो मानना पड़ेगा कि वह अतिक्रूर अतिविषमदृष्टि अति रागी और द्वेषी है। अतः उस को सृष्टि कर्ता मानना उचित नहीं॥

समाधान-यदि ईश्वर निरपेक्ष होकर विषमा सृष्टि रचता तब उस में वैषम्य, नैर्घृण्यादि दोष आगिरते किन्तु सापेक्ष होकर वह विषमा सृष्टि रचता है अतः उस में कोई दोष नहीं। यदि आप पूछें कि वह किन वस्तुओं की अपेक्षा करता है तो हम कहेंगे कि धर्मा-धर्म की। प्राणियों के जो अपने २ पुण्य अपुण्य कर्म हैं तदनुकूल ही यह विषमा सृष्टि है। जैसे न्यायालय में नियुक्त न्यायी मध्यस्थ अपराध के अनुसार किसी को थोड़ा, किसी को बहुत किसी को पारितोषिक और किसी को वधदण्ड देता है परन्तु उसको कोई

अन्यायी नहीं कहता। तद्वत् ईश्वर को जानो। वास्तव में ईश्वर का कर्तव्य पर्जन्यवत् है पर्जन्य नाम मेघ का है। पृथिवी, वायु, तेज और आकाश आदि सब पदार्थ विद्यमान भी हों और बीज भी पुष्ट हों, क्षेत्र अच्छे प्रकार तैयार हों, बोने वाले भी चतुर हों। कुशलता से बीज बोए गए हों तथापि यदि मेघ से पानी न आवे तो वे सब परिश्रम व्यर्थ हो जायंगे और यद्यपि वर्षा नवीन वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करती किन्तु प्रत्येक बीज की वृद्धि में साधरण कारण होती है वे सब बीज जल पा २ कर अपने २ धर्म या स्वभाव के अनुसार नानाप्रकार के हो जाते हैं, कोई मरिच आदि कटु कोई निम्बादिक तिक्त और आम्रादिक मधुर। और भी उन के रूप रङ्ग पत्ते पुष्प फल आदि सब भिन्न २ होतेहैं तद्वत् जीवों में जो अनादि काल से निज २ धर्म्म और अधर्म्म चले आतेहैं तदनुसारही विषमा सृष्टि हो जाती है ईश्वर उन के कर्म्म के अनुसार विषम शरीर देता है। अतः सापेक्ष ईश्वर पर्जन्यवत् और मध्यस्थवत् निर्दोष है। धर्म्माधर्म्म की अपेक्षा से वह सृष्टि रचता है इस में श्रुति प्रमाण है यथा।

"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते (कौ० ब्र० ३। ८) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (बृ० ३। २। १३)

यही उसको अच्छा कर्म करवाना है जिस को इन लोकों से ऊपर लेजाना चाहता है। और यही उसको नीचकर्म करवाता है जिसको नीचे ले जाना चाहता है। पुण्य कर्म से धार्मिक सुखी और पाप से पापिष्ट दुःखी होता है इस में स्मृति का भी प्रमाणहै।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" गीता

शङ्का-उक्त श्रुतियों से, ये दोष तदवस्थ ही रहगया क्योंकि वह ईश्वर ही किसी से बुराई और किसी से भलाई करवाता है। और तदनुसार पुनः दण्ड देता है यह कहां का न्याय है यदि कोई राजपुरुष किसी जन से स्वयं चोरी भी करवावे और उसको दण्ड भी दे तो क्या वह न्यायी कहलावेगा।

समाधान-अनादि काल से उपार्जित जो साधु असाधु कर्म उसकी वासना से प्राणी स्वयं अच्छे बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं और तदनुकूल फल भी पारहे है तथापि कहा जाता है कि ईश्वर ही कर्म करवाता। वास्तव में वह नहीं करवाता। जैसे अपने २ अपराध के अनुसार अपराधी भिन्न २ दण्ड भोगने के काम करते और फल भोगते तथापि कहा जाता है कि धर्माधिकारी ये सब करवा रहा है। तद्वत्।

आक्षेप-आप कहते हैं कि धर्माधर्म की अपेक्षा से ईश्वर सृष्टि रचता है अतः वह अनवद्य है किन्तु आदि सृष्टि में तो धर्माधर्म नहीं थे इस में श्रुति प्रमाण है "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) प्रथम केवल एक अद्वितीय सद्वाच्य ईश्वर था। अतः सृष्टि होने के पश्चात् शरीरादि विभाग प्राप्त कर ही जीव धर्माधर्म कर सकता है। पूर्व नहीं और आप के कथनानुसार यदि धर्माधर्म कारण न हो तो सृष्टि भी न हो इस अवस्था में विस्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है अतः शङ्का है कि प्रथम सृष्टि या कर्म ?।

उत्तरपक्ष-यह दोष भी अदोष है क्योंकि संसार अनादि है। यदि आदिमान् संसार हो अर्थात् संसार की कभी आदि हो तो यह दोष लग सकता है किन्तु इस को हम अनादि मानते हैं संसार के अनादि होने पर बीजांकुरन्यायवद् कर्म और उनके फलों की विषमता में कोई विरोध नहीं।

यदि संसार को सादि मान लेवें तो अनेक दोष होंगे १-अकृताभ्यागम प्रसङ्ग। इस का आशय यह है कि अकृत कर्म के फल की

प्राप्ति का नाम अकृताभ्यागम प्रसङ्ग है बिना कर्म किए हुए कोई सुखी कोई दुःखी क्यों हो सब समान ही हो। अतः सृष्टि अनादि है॥ २-सर्वज्ञता का लोप-यदि सृष्टि अनादि न हो तो पृथिवी आदि का परिज्ञान भी ईश्वर को न होगा क्योंकि जिस का अभाव है उस का ज्ञान कैसे हो सकता यदि ईश्वर के ज्ञान में सब पदार्थ थे तो मानना पड़ेगा कि सृष्टि भी पहले थी ३-प्रभुत्व का लोप। यदि प्रथम सृष्टि थी ही नहीं तो वह ब्रह्म किस का स्वामी था अतः सृष्टि अनादि है। श्रुति स्मृति में भी संसार का अनादित्व सिद्ध है-

"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।"

(ऋ० । १९० । ३)

नरूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।

(गी० १५ । ३)

पूर्व कल्पनानुसार धाता ने सूर्य्य चन्द्र को बनाया। न इस का रूप न आदि न अन्त और सम्प्रतिष्ठा पाई जाती है।

आरम्भणाधिकरण

इस व्यावहारिक भोक्तृभोग्य लक्षण वाले विभाग को स्वीकार कर "स्याल्लोकवत्" इस सूत्र से उस का परिहार भी कहा है। किन्तु यह विभाग पारमार्थिक नहीं। जिस हेतु कार्य्य और कारण का अनन्यत्व (अन्यत्व नहीं अर्थात् एकत्व) श्रुति द्वारा सिद्ध है। आकाशादिक बहु प्रपञ्चात्मक यह जगत् कार्य्य है और कारण परब्रह्म है। उस कारणब्रह्म से कार्य्य का परमार्थरूप से अनन्यत्व है। कैसे? श्रुति में आरम्भण आदि शब्दों के प्रयोग से यह विषय प्रतीत होता है। आरम्भण शब्द का प्रयोग इस प्रकार है प्रथम एक विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है ऐसी प्रतिज्ञा कर दृष्टान्तापेक्षा में यह कहा जाता है।

यथा—सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं॥ मृत्तिकेत्येव सत्यम् । छा० उ० ६ । १ । ४

हे सोम्य श्वेतकेतु एक मृत्पिण्ड के यथार्थज्ञान से सब घटशरावादि मृत्तिका के विकार जाने जाते हैं। क्योंकि वाणी से जिस का आरम्भ हुआ है वह घटादि विकार नाम मात्र है। अपने कारण मृत्तिका से पृथक् नहीं। इस प्रकार कारणरूप मृत्तिका ही सत्य है। यहां देखते हैं के विकार जो घट, शराव, उदञ्चन इत्यादि वे अपने कारण से भिन्न नहीं। किन्तु कारण से जब भिन्न २ वस्तु बनती हैं तो उसका भिन्न २ नाम ही बनताजाता है इतनीही विशेषता है। नाम मात्र अनृत है। मृत्तिका ही सत्य है। इस श्रुति के वाचारम्भण शब्द से दार्ष्टान्तिक में भी ब्रह्मव्यतिरिक्त कार्य्य जात का अभाव सिद्ध होता है। पुनरपि, तेज, जल और अन्न ये तीनों ब्रह्म के कार्य्य हैं ऐसा कहके ये तीनों अपने कारण से भिन्न नहीं है यह कहते हैं। यथाः—

अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।

छा० ६ । ४ । १ ।

अग्नि से अग्नित्व जाता रहा। वचन से जिस का आरम्भ हुआ है वह विकार नाम मात्र है। इत्यादि श्रुति में आरम्भण शब्द का प्रयोग है। और आदि शब्द सेः—

ऐतदात्म्यमिदंसर्वंतत्सत्यं स आत्मातत्त्वमसि।

छा० ६ । ८ । ७ ॥

इदं सर्वं यदयमात्मा बृ० । २ । ४ । ६ ।

ब्रह्मैवेदं सर्वं ॥ मु० २ । २ । ११

आत्मैवेदं सर्वम्०। छा० । ७ । २५ । २ ।
नेह नानास्ति किञ्चन । वृ० । ४ । ४ । ७९ ।

"एतत्स्वरूप ही सब है । वह सत्य है । वह आत्मा है । वह तू है । यह सब है जो यह आत्मा है । ब्रह्म ही यह सब है । आत्मा ही यह सब है । यहां कुछ नाना नहीं है । इत्यादि "वाक्य आत्मैकत्व प्रतिपादनार्थ उदाहरणीय है । एक विज्ञान से सब का विज्ञान होता है । यह प्रतिज्ञा कार्य्य करण में अनन्यत्व स्वीकार करने ही से हो सकती है । इस हेतु जैसे घटादिगत आकाशों का महाकाश से अनन्यत्व (एकत्व) है और जैसे मृत्तिका और जलादिक का ऊषर भूमि इत्यादि से अनन्यत्व है क्योंकि जिसका स्वरूप प्रातीतिक और अनित्य है उस का वास्तव में स्वरूप नहीं होता । इसी प्रकार जो यह भोग्य और भोक्ता इत्यादि कार्य्य जगत् है उस का ब्रह्म से अनन्यत्व है अर्थात् कार्य्य कारण वस्तु एक ही है ।

शङ्का—जैसे अनेक शाखाओं से युक्त वृक्ष को एक और अनेक दोनों कह सकते हैं । वैसे ही ब्रह्म एकात्मक और अनेकात्मक दोनों हैं । क्योंकि वह अनेक शक्तियों से संयुक्त है । अतएव ब्रह्म में एकत्व और नानात्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे वृक्ष ऐसा कहने से वृक्ष के एकत्व का और शाखा ऐसा कहने से उसके नानात्व का बोध होता है । और जैसे समुद्र का स्वरूप से एकत्व और फेन तरङ्गादि से नानात्व होता है । और जैसे मृत्तिका का स्वरूप से एकत्व और घटशरावादिस्वरूप से नानात्व है । वहां एकत्व अंश से ज्ञान पूर्वक मोक्षव्यवहार सिद्ध होगा परन्तु नानात्व अंश से कर्मकाण्डाश्रयी लौकिक वैदिक व्यवहार भी सिद्ध होंगे । इस प्रकार मृदादिदृष्टान्त भी अनुरूप होंगे ।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि—

"मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

"मृत्तिका ही सत्य है"। इस वाक्य से श्रुति केवल कारण का सत्यत्व और वाचारम्भण शब्द से समस्त विकार का अनृतत्व बतलाती है। दार्ष्टान्तिक में भी–

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्"

"ऐतदात्म्य = एतदात्मक = ब्रह्मात्मक यह सब जगत् है वह सत्य है"। इस वाक्य से एक ही परमकारण के सत्यत्व का निश्चय करती हैं। और–

"स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।"

"हे श्वेतकेतु वह आत्मा है। वह तू है।" इस वाक्य से जीवात्मा में ब्रह्मभाव का उपदेश करती हैं। जीवात्मा का स्वयं सिद्ध ब्रह्मात्मत्व है। अन्य यत्नों से यह साधनीय नहीं। इस हेतु यह जो शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व है वह स्वाभाविक है जैसे रज्ज्वादि का ज्ञान सर्पादि ज्ञान का बाधक होता है। और शरीरात्मत्व के बाधित होने पर तदाश्रय समस्त स्वाभाविक व्यवहार बाधित हो जाते हैं। श्रुति दिखलाती भी है:—

यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।

"जब आत्मा ही इस का सब होता है तब किस को किस से देखे" इस से ब्रह्मात्मदर्शी पुरुष के समस्त क्रिया कारक फल वाले व्यवहारों का अभाव सिद्ध होता है। यह व्यवहार किसी विशेष अवस्था में प्राप्त होता है। यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि "तत्त्वमसि" इस वाक्य से जो ब्रह्मात्मभाव का वर्णन है वह किसी अवस्था विशेष के लिये नहीं, और भी, श्रुति में तस्कर के दृष्टान्त से मिथ्यावादी का बन्धन और सत्यवादी का मोक्ष दिखलाता हुआ वेद पारमार्थिकवस्तु एक ही है। यह उपदेश देता है। तस्कर दृष्टान्त का भाव इस प्रकार है कि यह चोर है इस विचार से किसी पुरुष को सिपाही पकड़ अधिकारी के पास लेजाय

तो उस की सत्यता और असत्यता की परीक्षा किस प्रकार हो इस लिये उसके हाथ में तप्तगोला दिया जाता है यदि वह अनृतवादी रहता तो उस से वह जलता और मार दिया जाता है। और यदि सत्यवादी है तो नहीं जलता है। छोड़ दिया जाता है। इस से दो प्रकार की बातों को बोलने वाले में नानात्व और अन्य प्रकार की बात बोलने वाले में एकत्व दिखलाया है। सो यदि दोनों हा सत्य हों तो व्यवहार करने वाला भी जन्तु अनृताभिसन्धि (अनृत वादी) क्यों कहलावे। और-

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है। जो यहां भिन्नता देखता है। इस से भी भेद दृष्टि का अपवाद और एकत्व दृष्टि की सत्यता दिखलाते हैं।

शङ्का:-इस वेदान्तदर्शन में ज्ञान से मोक्ष होना है यह सिद्ध न होगा। क्योंकि सम्यक् ज्ञान से बाधनीय (विनाशनीय) किसी मिथ्याज्ञान का संसार कारणत्वेन स्वीकार नहीं है। यदि दोनों की सत्यता स्वीकार करें तो एकत्वज्ञान से नानात्व ज्ञान का नाश होता है यह कैसे कहते हैं। और यदि नानात्व के अभाव से सर्वथा एकत्व ही स्वीकृत है। तो प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों का हनन होगा। इस प्रकार भेदाभेद के न रहने से विधि और निषेध शास्त्र भी व्यर्थ होंगे। शिष्य और शासक भी भेदापेक्ष ही होते हैं। उस भेद के अस्वीकार से मोक्षविधायक शास्त्र का व्याघात होगा। मिथ्या मोक्ष शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित जो आत्मैकत्व उसकी भी सत्यता का निर्धारण कैसे हो सकता। इत्यादि वेदान्त पक्ष में अनेक दोष भेदाभेद के अस्वीकार से आपड़ते हैं।

समाधान-वेदान्त पक्ष में ये सब दोष नहीं होते क्योंकि जबतक ब्रह्मात्मत्व का विज्ञान नहीं हुआ है। तब तक सब व्यवहार सत्य ही हैं ऐसा हम वेदान्ती मानती हैं। जैसे जागरण के पूर्वस्वप्न के

सब व्यवहार सत्य ही प्रतीत होते हैं। और भी–जब तक सत्यात्मैकत्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक प्रमाणप्रमेयफलवाले सब व्यवहारों मे किसी की मिथ्या बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। स्वाभाविकी ब्रह्मात्मता को त्याग सब कोई अविद्या के वश में होकर ' यह मैं हूं। ये मेरे हैं " इत्यादि विकारात्मक वस्तुओं को ही आत्मा समझते हैं। इस हेतु ब्रह्मात्मत्व के ज्ञान के पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार हमारे मत में सिद्ध हैं। जैसे जागरण के पूर्ण स्वप्न में नाना वस्तुओं को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि ये सब सत्य और प्रत्यक्ष ही हैं। उस स्वप्नावस्था में स्वप्नदृष्टपदार्थ प्रत्यक्ष नहीं किन्तु आभास मात्र है यह बोध किसी को नहीं होता। तद्वत्।

शङ्का–असत्य वेदान्त वाक्यों से सत्य ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है। रज्जुरूप सर्प से दष्टपुरुष मरता नहीं और मृगतृष्णि का के जल से न तो किसी की प्यास निवृत्ति होती और न उस से स्नानादिक प्रयोजन ही सिद्ध होते।

समाधान–यह दोष हमारे पक्ष में नहीं। क्योंकि शङ्का और विषादादि निमित्त ,मरण आदि कार्य्य उस में भी पाये जाते हैं '। क्योंकि स्वप्नदर्शनावस्था में पुरुष को 'मुझे सर्प काट रहा है। मैं जल में स्नान कर रहा हूं। (हाथी से पीडितहो मैं मर रहा हूं)" इत्यादि सब कार्य्य प्रत्यक्षरूप से भासित होते हैं। यदि कहें कि वे सब कार्य्य अनृत ही हैं तो यह ठीक है किन्तु यद्यपि सर्पदंशन और उदकस्नानादि कार्य्य अनृत हैं तथापि उनका ज्ञानरूप सत्य ही फल होता है। जागे हुए को भी उस ज्ञान का बोध नहीं होता। क्योंकि स्वप्न से उठा हुवा पुरुष स्वप्नदृष्ट सर्पदंशन और उदकस्नानादि कार्य्य मिथ्या है ऐसा मानता हुआ उस का बोध भी मिथ्या है यह कोई नहीं मानता अर्थात् यद्यपि स्वप्न में देखे हुए सर्प सिंहादि सब मिथ्या ही हैं। तथापि उसका परिणाम सत्य है। क्योंकि सिंह के दर्शन से जो उस का रोना

चिल्लाना इत्यादि होते हैं वे सत्य हैं कभी वह उठकर भागने लगता है। कभी वह दो चार कोस भी चल देता है। इत्यादि स्थल में फल सत्य है यद्यपि स्वप्नगत पदार्थ मिथ्या है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है-

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्न निदर्शने॥

जब आदमी काम्य कर्म करता हो तब यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो उस काम्यकर्म की समृद्धि अर्थात् सिद्धि उस स्वप्न दर्शन से जाने इस असत्य स्वप्न दर्शन से सत्यफल की समृद्धि की प्राप्ति को श्रुति दिखलाती है। और भी-किसी २ अरिष्ट के प्रत्यक्ष देखने पर यह चिरकाल जीवित न रहेगा यह जाने। इत्यादि कह कर आगे कहते हैं-

"अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति"।

स्वप्न में यदि कोई काले और कृष्णदन्त वाले पुरुष को देखता है तो वह उस को मार देता है। इत्यादि असत्य स्वप्नदर्शन से सत्य मरण होता है यह दिखलाया है। और भी-यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अन्वय और व्यतिरेक में कुशल पुरुषों का ईदृश स्वप्नदर्शन से मङ्गल ईदृश स्वप्नदर्शन से अमङ्गल होता है।

असत्य से सत्य की प्राप्ति में दूसरा हेतु यह है कि जैसे रेखा के मिथ्याक्षरों से अकारादि सत्याक्षर की प्राप्ति होती है। तद्वत् असत्य वेदादि प्रमाणों से सत्य ब्रह्म की प्राप्ति होगी। और भी-अन्तिम यह प्रमाण आत्मैकत्व का प्रतिपादक है। इस से पर किञ्चित् प्रमाण आकाङ्क्ष्य नहीं। जैसे लोक में (यजेत) यज्ञ करे ऐसा कहने पर वह किस का यजन करे। किस से और कैसे करे। इत्यादि आकाङ्क्ष्य है वैसे 'तत्वमसि' ऐसा कहने पर किञ्चित् अन्य वस्तु की आकाङ्क्षा नहीं होती क्योंकि मैं "स्वयं ब्रह्म हूं" यह

अवगति उस वाक्य से होजाती है। यदि कुछ शेष रहजाय तो वहां आकांक्षा होती है। परन्तु ब्रह्मैकत्व के अतिरिक्त कोई शेष वस्तु ही नहीं कि जिस की आकांक्षा की जाय। यदि कहें कि ऐसी अवगति कदापि नहीं होती तो बात नहीं। क्योंकि-

"तद्धास्य विजज्ञौ" छा० ६। १६। ३

"उस को उसने जाना"। इत्यादि श्रुति वाक्यों से तादृश ज्ञान की सिद्धि का विधान है। यदि कहें कि यह अवगति (बोध) अनर्थिका अथवा भ्रान्ति है ऐसा कहना भी अयुक्त है। क्योंकि "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य से अविद्या की निवृत्तिरूप फल देखते हैं। और अन्य बाधक ज्ञान का भी अभाव है। इस हेतु आत्मैकत्व की अवगति के पूर्व लौकिक और वैदिक सबही सत्यानृत व्यवहार अव्याहत होते हैं। अनित्यप्रमाण से प्रतिपादित जो आत्मैकत्व उस का साक्षात्कार होनेपर समस्त प्राचीन भेदव्यवहार की बाधा होजाती है। इस हेतु ब्रह्म अनेकात्मक भी है, ऐसी कल्पना का वेदान्त में अवकाश भी नहीं।

प्रश्न-मृदादि दृष्टान्त के प्रणयन से ब्रह्म परिणामवान् है ऐसा शास्त्र का अभिप्राय प्रतीत होता है। क्योंकि लोकमें मृत्तिका आदि पदार्थ परिणामी माने जानते हैं।

समाधान

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म" बृ० ४। ४। २५॥

"स एषनेति नेत्यात्मा" बृ० ३। ९। २६।

"अस्थूलमनणु" बृ०। ३। ८। ८।

इत्यादि शतशः श्रुतियां ब्रह्म की कूटस्थत्वनित्यत्व प्रतिपादिका हैं। इस हेतु ब्रह्म की परिणामधर्मता नहीं। क्योंकि एक ही ब्रह्म परिणामी भी हो और परिणाम रहित भी हो यह युक्तितर बातनहीं। यदि कहें कि

जैसे एक ही बाण के आश्रय में गति और निवृत्ति दोनों क्रियायें रहती हैं। तद्वत् एक ब्रह्म में परिणाम और तद्भाव दोनों रहेंगे। यह भी कथन यौक्तिक नहीं। क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म में स्थितिगतिवत् अनेक धर्मों के आश्रय की सम्भावना नहीं। कूटस्थ और नित्य ब्रह्म है। उस में सर्व विकारों का प्रतिषेध है। यह बारम्बार कहा गया है॥ यदि कहें कि ब्रह्म को कूटस्थ मानने से शासक और शासितव्य के अभाव से ईश्वरकारण प्रतिज्ञा का विरोध होगा। यह कहना वेदान्त पक्ष में ठीक नहीं। क्योंकि परमेश्वर की जो सर्वज्ञता है वह अविद्याकृत नामरूपबीज के विस्तार की अपेक्षा से है। क्योंकि—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।

उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। इत्यादि वाक्य द्वारा सिद्ध है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर से जगत् के जन्म, स्थिति, प्रलय होते हैं। अचेतन प्रधान से अथवा अन्य से नहीं। यह वेदान्त की प्रतिज्ञा है यह प्रतिज्ञा तद्वस्थ ही है। तद्विरुद्ध अर्थ यहां कुछ भी नहीं कहा जाता। जब आप ब्रह्म का एकत्व और अद्वितीयत्व बतलाते हैं। तो आप की प्रतिज्ञा की हानि होती है यह आप स्वयम् विचारें। हमारी प्रतिज्ञा की हानि जैसे नहीं होती सो सुनिये। सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति और प्रकृति श्रुति स्मृतियों में प्रसिद्ध हैं।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्। देवात्मशक्तिम्।

इस प्रकार की श्रुति और "प्रकृतिम् पुरुषम् चैव"। "माया ह्येषा" इस प्रकार की स्मृति विद्यमान है। इस से भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म। नामरूपे व्याकरवाणि।

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभि वदन्यदास्ते। एकंबीजंबहुधाकरोति।

नाम और रूप का निर्वाहक ईश्वर है। ये नाम रूप जिस के मध्य रहते हैं वह ब्रह्म है। नाम और रूप को फैलाऊं। सब रूपों को फैला नामों को बना और उपदेश देता हुआ जो सर्वत्र विद्यमान है। इत्यादि श्रुतियों मे ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध है। इस प्रकार अविद्याकृत जो नाम रूप वेही जो उपाधि उसका अनुरोधी ईश्वर होता है। जैसे घटाद्युपाध्यनुरोधी व्योम है। वह ईश्वर जीवाख्य विज्ञानात्माओं का व्यवहार विषय में शासक होता है। जो जीव घटाकाशस्थानीय है और अविद्यासे बनाए हुए जो नाम रूप उस से किये हुए जो कार्य्य करण का सघात उस के अनुरोधी हैं। इस प्रकार,अविद्यात्मकोपाधि के परिच्छेद की अपेक्षा से ईश्वर के ईश्वरत्व सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमान् हैं। परमार्थ रूप से ईश्वर में न तो शासकत्व न सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार हैं। क्योंकि, वह सर्वोपाधियों से रहित है, कहा भी गया है:—

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ॥

जो दूसरा नहीं देखता दूसरा नहीं सुनता दूसरा नहीं जानता वह भूमा (महान्) है। जहां सब उस का आत्मा ही हुआ है वहां किस से किस को देखे। इत्यादि। इस प्रकार परमार्थावस्था में सब वेदान्त ईश्वर में सर्वव्यवहाराभाव कहते हैं। ईश्वर गीता में भी कहा गया है:—

न कर्त्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजतिप्रभुः।
न कर्म्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

यह प्रभु न तो कर्तृत्व न कर्मों को बनाता है और न कर्मों के फलों का संयोग मिलाता है किन्तु स्वभाव ही प्रवृत्त होता है। वह विभु किसी को न पाप न सुकृत देता है। अज्ञान से आवृत ज्ञान है इस हेतु जन्तुओं में मोह है। इत्यादि वचन परमार्थावस्था में शासक शासितव्यादि व्यवहार की शून्यता दिखला रहे हैं। परन्तु व्यवहारावस्था में ईश्वरादि व्यवहार श्रुति द्वारा कहा जाता है। यथा:

एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषभूतपाल
एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय ।

बृ० ४।४।२२

यह सर्वेश्वर यह भूताधिपति यह भूतपाल है। यह इन लोकों का अविनाशी के लिये धारण करने वाला सेतु है। ईश्वर गीता में भी कहा गया है:—

ईश्वरः सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया ॥

और सूत्रकार भी परमार्थाभिप्राय से ही कार्य्यकारण में अनन्यत्व कहा है परन्तु व्यवहारदृष्टि से "स्याल्लोकवत्" इस सूत्र द्वारा ब्रह्म को महासमुद्रस्थानीय कहते हैं। सगुण उपासना में उपयोगिता के लिये कार्य्यप्रपञ्च का खण्डन न करके और परिणामप्रक्रिया का आश्रय लेते हैं।

"भावे चोपलब्धेः" इस सूत्र द्वारा कार्य्य का कारण से अनन्यत्व सिद्ध करते हैं। क्योंकि वस्तु के भाव में (विद्यमानता में) ही कार्य्य की उपलब्धि होती है अभाव में नहीं। जैसे मृत्तिका के भाव में ही घट की उपलब्धि होती है। तन्तुओं के रहने पर ही पट

होता है। यदि मृत्तिका और तन्तु न होवें तो घट और पट की प्राप्ति न होगी। यदि कहें कि अन्य के भाव में अन्य की उपलब्धि देखते हैं जैसे अग्निभाव में धूम की सत्ता। अग्नि और धूम भिन्न २ दो पदार्थ हैं। परन्तु एक दूसरे के आश्रित हैं। वास्तव में अग्नि से भिन्न धूम नहीं। अग्नि के विकार का ही नाम धूम है। और भी—लोक की व्यवस्था से भी कार्य्यकारण का अनन्यत्व प्रतीत होता है। जैसे तन्तुस्थानीय जो पट उस में तन्तुव्यतिरिक्त पट नाम का कोई कार्य नही है किन्तु केवल तन्तु ही आतान, वितान भाव से प्रत्यक्ष मालूम होते हैं। रचना विशेष से पट संज्ञा हुई है वास्तव में पट तन्तु ही है इसी प्रकार तन्तुओं में अंशु और अंशुओं में उन के अवयव हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से लोहित,शुक्ल और कृष्ण ये तीनरूप,तथ वायुमात्र तथ आकाशमात्र अनुमान योग्य हैं। इस से परब्रह्म ही एक अद्वितीय कारण सिद्ध होता है। उसी में सब प्रमाणों की निष्ठा है।

और भी—कार्य्य कारण के अनन्यत्व में अनेक युक्तियां हैं संक्षेप से दो एक युक्तियां यहां कही जाती हैं। लोक में देखते हैं कि जो कोई दधि, घट, कुण्डल आदि, बनाना चाहते हैं। वे प्रतिनियत कारण क्षीर, मृत्तिका और सुवर्ण आदिकों को लेते हैं। दध्यर्थी कदापि भी मृत्तिका नही लेते। इसी प्रकार घटार्थी जन क्षीर लेते हुए नहीं देखे जाते। यह बात असत्कार्य्यवाद में उपपन्न नहीं होती। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व सब का सब में सत्व होने से क्षीर से दधि क्यों उत्पन्न हो मृत्तिका से क्यों नही। इसी प्रकार मृत्तिका से ही घट क्यों हो क्षीर से क्यों न। जब उत्पत्ति के पूर्व सत्ता का निर्णय नहीं तो क्षीर में ही दधि का कुछ अतिशय है। मृत्तिका में नहीं। मृत्तिका ही में घट का कुछ अतिशय है क्षीर में नहीं। यह नही कहा जा सकता। इस हेतु पूर्वावस्था को अतिशयवान् होने से असत्कार्य्यवाद की हानि और सत्कार्य्यवाद की सिद्धि होती है। इस का भाव यह है कि जैसे कारण नित्य है वैसे ही कार्य्य भी नित्य है। क्योंकि दुग्धरूप कारण मे दधि सदा

विद्यमान है। जो आम्रवृक्ष आज दीखता है वह किसी आम्रके दूसरे बीज से हुआ है वह भी किसी अन्य बीज से इस प्रकार अन्तिम बीज सबका कारण और तदनुगत कार्य्य की विद्यमानता सिद्ध होती है। इस हेतु कारण की निज शक्ति कुछ नियत है। और उस शक्ति का आत्मभूत कार्य्य है।

और भी—कार्य्य कारण में तादात्म्य सम्बन्ध का एक यह भी उदाहरण है। जैसे अश्व, गज, व्याघ्रादि में भेद बुद्धि होती है। तद्वत्, द्रव्य और गुणकर्म्मादिकों में भेद बुद्धि नहीं है इस हेतु द्रव्यगुणादि मिलकर एक ही वस्तु है। और भी-जैसे संवेष्टित पट अच्छी तरह से नहीं मालूम होता है कि यह पट है या अन्य द्रव्य है। वही प्रसारित होने पर जो संवेष्टित था वह पट हीहै यह फैलाने से अभिव्यक्त होता है। और संवेष्टन के समय पट का बोध रहने पर भी उस की लम्बाई चौड़ाई इत्यादि का विशेष ग्रहण नहीं होता। किन्तु प्रसारण समय में उस की लम्बाई आदि का ठीक से बोध हो जाता है। इसी प्रकार तन्त्वादि कारण में पटादि-कार्य्य अव्यक्त है। किन्तु तुरीवेम और कुविन्द (जुलाहा) इत्यादि के व्यापार से वह पट विस्पष्ट होता जाता है। तद्वत् संवेष्टितपटप्रसारितपटन्याय से सिद्ध है कि कारण से भिन्न कार्य्य नहीं। और भी—जैसे लोक में प्राणायाम के समय प्राण,अपान,उदान, समान,व्यान इत्यादि प्राणों के निरुद्ध होने पर केवल वे प्राण कारण रूप से वर्त्तमान रहते हैं। उस समय जीवनमात्र कार्य्य होता है किन्तु आकुञ्चप्रसारण आदि अन्यान्यकार्य्य नहीं होते। पुनः जब वे प्राण प्रवृत्त होते हैं तब जीवन से अधिक आकुञ्चन, प्रसारण आदि कार्य्य होने लगते हैं। इसी प्रकार कारण से कार्य्य का विशेष फैलाव होता है। और जब कारण में कार्य्य निरुद्ध रहता है तब दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। इस हेतु कारण से भिन्न कार्य्य नहीं।

तर्काप्रतिष्ठानाधिकरण

जो विषय श्रुतिमात्र से जानने योग्य है उस में शुष्क तर्क करना उचित नहीं। क्योंकि श्रुति रहित केवल मानवबुद्धि विचार आदिकों से संगठित तर्क कथ ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। और निरंकुश होकर उत्प्रेक्षा करना भी उचित नहीं। क्योंकि जिस एक तर्क को एक अच्छा विद्वान् बड़े यत्न से अपने शास्त्र में प्रतिष्ठित करता है उस को अन्य विद्वान् प्रबल युक्ति से निराकरण कर देता है। उस विद्वान् की भी युक्तियों की निःसारता अन्य विद्वान् दिखला देते हैं। इस हेतु केवल शुष्क तर्क से आगमगम्य अर्थ में विवाद करना उचित नहीं किन्हीं ने कहा है:—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

अच्छे अनुमान करने वालों से यत्न पूर्वक अनुमित अर्थ को भी अन्य विद्वान् निःसार सिद्ध कर देते हैं। पुनरपि—

कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा।

कपिलाचार्य सर्वज्ञ हैं और कणाद नहीं। इस में कौन सी युक्ति। मनुष्य की बुद्धि भिन्न २ और अतिविचित्र है। इस हेतु तर्क की अप्रतिष्ठा है। यदि कहें कि कपिलाचार्य्य बड़े महात्मा प्रसिद्धयोगी हुए हैं। और ऐसे २ जो २ महात्मा हुए हैं उन २ का तर्क प्रतिष्ठित होना चाहिये। यह कहना भी युक्तितर नहीं। इस से भी तर्क अप्रतिष्ठित ही रहता है। क्योंकि प्रसिद्ध २ महात्मा और तीर्थंकर जो कपिल और कणाद आदि महापुरुष हैं उनके मत में भी परस्पर विप्रतिपत्तियां देखते हैं। इस हेतु यदि कहें कि हम अन्य प्रकार से अनुमान करेंगे। जिस से तर्क में अप्रतिष्ठारूप दोष न हो। तर्क प्रतिष्ठित नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते। तर्क ही द्वारा तर्कों की प्रतिष्ठा अथवा अप्रतिष्ठा का निर्णय करते हैं। इस हेतु तर्क प्रतिष्ठित

है ही नहीं यह नहीं कह सकते। किन्हीं तर्कों को अप्रतिष्ठित देख तज्जातीय अन्यतर्कों की भी अप्रतिष्ठा है। यह कल्पना करते हैं। यदि सब ही तर्कों की अप्रतिष्ठा हो तो लोकव्यवहार का भी उच्छेद होजाय। अतीत और वर्त्तमान मार्ग को देख आगामी मार्ग में सुख की प्राप्ति के लिये दुःख परिहारार्थ मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है जहां श्रुतियों के अर्थ में नानामत उपस्थित होते हैं। वहां भी तर्क द्वारा ही किसी अर्थ की अनर्थकता और किसी अर्थ की सार्थकता दिखलाते हैं। मनु भी ऐसा कहते हैं—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥इति॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन धर्माभिलाषी पुरुष को सुविदित करने चाहियें। जो धर्मोपदेश ऋषि प्रणीत हैं उन्हे वेद-शास्त्र के अविरोधी तर्क से जो मनुष्य निश्चित करता है और तद-नुसार ही उसका अनुसन्धान करता है वही धर्म जानना दूसरा, नहीं। यही तर्क का अलङ्कार है जो उस का अप्रतिष्ठितत्व है। इस प्रकार सावद्य (दोष युक्त) तर्क के त्याग से निरवद्य तर्क ग्रहणयोग्य होता है। क्योंकि हमारे पूर्वज मूढ़ थे इस लिये हमें भी मूढ़ होना चाहिये। इस में कोई प्रमाण नहीं। इस हेतु तर्क का अप्रतिष्ठानरूप दोष नहीं हो सकता।

इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहते हैं इस से भी यहां तर्क की प्रतिष्ठा नही हो सकती। यद्यपि किसी विषय में तर्क का प्रतिष्ठितत्व मालूम होता है। तथापि प्रकृत जो ब्रह्मविषय उस में तर्क की अप्र-तिष्ठा ही है। क्योंकि ब्रह्म का कर्तृत्वादि विचार और मुक्ति आदि विषय अतिगम्भीर है। वेद के बिना इनका निर्णय कठिन है। यह

अर्थ प्रत्यक्षरूप से वर्णित नहीं हो सकता। क्योंकि इस में रूपादिक नहीं। अनुमान से भी इस को निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि इस में कोई सम्बद्ध लिङ्ग नहीं पाया जाता। और सम्यग्ज्ञान से मोक्ष होता है यह सर्वमोक्षवादियों का अभ्युपगम है। वह सम्यग्ज्ञान एक रूप और वस्त्वधीन है। एक रूप से अवस्थित जो अर्थ वही परमार्थ है। लोक में तद्विषयक ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जैसे अग्नि उष्ण है ऐसे स्थल में सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी पुरुषों में विरोध नहीं हो सकता। किन्तु तर्काश्रयी पुरुषों में अन्योन्यविरोध देखते हैं। किसी तार्किक ने जिस अर्थ को सम्यग्ज्ञान कहकर प्रतिपादित किया है। उस को अन्यतार्किक अन्यथा करके बतलाते हैं। उन से भी प्रतिष्ठापित अर्थ का इतर तार्किक निराकरण करते हैं यह लोक में प्रसिद्ध है। प्रधानवादी सब तार्किकों में श्रेष्ठ हैं इस को भी सब स्वीकार नहीं करते। जिस से उन का मत सम्यग्ज्ञान है यह हम लोग समझें। यहभी सम्भव नहीं कि अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल के सब तार्किक एक देश में इकट्ठे हो सांख्य मत एक रूप और सम्यग्ज्ञान है इस का निश्चय करें। तद्विरुद्ध वेद नित्य है और सर्वज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है। इस हेतु उस से व्यवस्थित अर्थ की प्राप्ति हो सकती है। और तज्जनित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है इस का अपलाप अथवा निराकरण तीनों काल के कोई भी तार्किक नहीं कर सकते। अतएव उपनिषज्जन्य ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है अन्य समग्ज्ञान नहीं। यह सिद्ध है। इस हेतु आगम से और आगमानुसारितर्क से जगत् का कारण और प्रकृति चेतन ब्रह्म है यह सिद्ध होता है॥

सांख्यमतनिराकरण

सांख्यवित् मानते हैं कि जैसे घट के देखने से घट के सदृश ही मृत्तिका रूप कारण का अनुमान होता है तद्वत् इस जगत् में सुख, दुःख और मोह के देखने से तत्समान ही कारण का भी अनुमान करना उचित होगा। इस हेतु सुख दुःख मोहात्मक जो प्रधान वही

इस जगत् का कारण हो सकता है अन्य ब्रह्म नहीं। यह अचेतन प्रधान चेतन पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिये स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है। और परिणाम आदिक चिन्हों से भी प्रधान ही जगत् कारण अनुमित होता है।

समाधान—यहां पर वेदान्ती कहते हैं कि यदि आप दृष्टान्त बल से ही यह निरूपण करते हैं तो लोक में चेतन से अनधिष्ठित अचेतन स्वतन्त्र होकर किन्ही कार्य्यों को करता हुआ नहीं देखा जाता। गेह, प्रासाद, शयन, आसन, विहारभूमि इत्यादि वस्तुवों को प्रज्ञावान् शिल्पी सुख दुःख प्राप्ति परिहार के निमित्त बनाते हैं। किन्तु इस महा २ आश्चर्य जगत् को कोई भी परमज्ञानी शिल्पी बना नहीं सकता है। तब यह अचेत प्रधान इस को बनाता है यह कैसे हो सकता है। लोष्टपाषाणादिक रचयिता नहीं देखे जाते। मृत्तिका आदिकों में भी कुम्भकार से अधिष्ठित होने पर विशिष्टाकार रचना देखी जाती है। तद्वत् प्रधान का भी दूसरा चेतन अधिष्ठाता होना चाहिये। केवल मृत्तिकाको घटका उपादान कारण समझ तत्सदृश जगत् के मूल कारण का अनुमान करना किन्तु बाह्यकुम्भकारादि की अपेक्षा न करना इस में कोई नियामक नहीं। ऐसा करने पर किञ्चित् विरोध भी नहीं प्रत्युत चेतन कारणत्व के निर्धारण से श्रुति की अनुकूलता होती है। इस लिये जगत् की रचना की अनुपपत्ति होने से अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता।

शङ्का—सांख्यवादी पुनः शङ्का करते हैं कि केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती क्योंकि इस शरीर में चेतन और अचेतन दोनों सम्मिलित हैं। तब किस की चेष्टा से किस की प्रवृत्ति होती है इस का भी निर्धारण कैसे हो सकता।

समाधान—यह सत्य है तथापि चेतनसंयुक्त अचेतन रथादि की प्रवृत्ति देखी जाती किन्तु अचेतन संयुक्त चेतन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। तब इस में क्या युक्त है जिस में प्रवृत्ति होती उस की

वह है अथवा जिस से युक्त होकर प्रवृत्ति देखी जाती उस की वह है अर्थात् रथ की प्रवृत्ति देखकर यह प्रवृत्ति रथ की है यह कहा जाय अथवा सारथी की प्रवृत्ति कही जाय ॥

शङ्का–जिस में प्रवृत्ति देखी जाय उसी की वह मानी जाय यही युक्त है क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं किन्तु प्रवृत्ति के आश्रयभूत केवल चेतन रथादिवत् प्रत्यक्ष नहीं। प्रवृत्ति का आश्रय देहादि संयुक्त ही चेतन की सद्भावसिद्धि होती है। केवल अचेतन रथादि वैलक्षण्य जीव देह का है इसी लिये देह की प्रत्यक्षता ही में चैतन्य देखते हैं। देह के न रहने पर चैतन्य नहीं देखते इस हेतु देह का ही चैतन्य है इस लिये अचेतन ही की प्रवृत्ति होती है इस प्रकार लोकायतिक कहते हैं।

समाधान—जिस अचेतन में प्रवृत्ति देखते हैं उस की वह नहीं है ऐसा हम नहीं कहते उसी की वह है इस में सन्देह नहीं किन्तु चेतन के संसर्ग से वह प्रवृत्ति होती है ऐसा हम कहते हैं क्योंकि उस के भाव में भाव और उस के अभाव में अभाव देखते हैं। जैसे काष्ठादिकों में आश्रिता भी दाहप्रकाशादिवाली विक्रिया अनुपलभ्यमाना होने पर भी केवल अग्नि में ज्वलन से वह होती है क्योंकि उस के संयोग में ही वह होता है उस के वियोग में नहीं। अर्थात् यद्यपि काष्ठ में ही दाह और प्रकाश क्रियाएं विद्यमान हैं तथापि अन्य अग्नि के संयोग से वह क्रिया उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं यह लोकों में प्रत्यक्ष है तद्वत् लोकायतिकों का भी चेतन ही देह अचेतन रथादिकों का प्रवर्त्तक है इस प्रकार चेतन के प्रवर्त्तकत्वका निषेध इन के मत में भी नहीं होता।

शङ्का—लोकायतिक प्रश्न करते हैं कि आप के सिद्धान्त में भी आत्मा विज्ञान स्वरूपमात्र और निष्क्रिय है इस लिये चेतन आत्मा का भी प्रवर्तकत्व सिद्ध नहीं होता।

समाधान–अयस्कान्तमणि और रूपादि के समान प्रवृत्ति रहित भी आत्मा के प्रवर्त्तकत्व की सिद्धि होती है। जैसे अयस्कान्तमणि

स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी अन्यलोह का प्रवर्त्तक होता और जैसे रूपादिक विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्रादिकों के प्रवर्त्तक होते हैं। तद्वत् प्रवृत्ति रहित भी ईश्वर सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने के कारण सब का प्रवर्त्तक होसकता है यह युक्ततर ही है।

सांख्यवादी कहते हैं कि जैसे अचेतन क्षीर स्वभाव से ही वत्सहितार्थ प्रवृत्त होता और जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही लोकोपकारार्थ स्यन्दित होता वैसे अचेत प्रधान भी स्वभाव से ही पुरुषार्थ के लिये प्रवृत्त होगा।

समाधान—यह ठीक नहीं क्योंकि क्षीर और जल की भी प्रवृत्ति चेतन के अधिष्ठान से ही होती यह अनुमान करते हैं क्योंकि उभयवादि प्रसिद्ध केवल अचेतन रथादिक में प्रवृत्ति नहीं दीखती शास्त्र भी कहता है:—

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्यो ऽन्तरो योऽपोऽन्तरो यमयति। एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो ऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते।

जो ईश्वर जल में रहता हुआ जल से पृथक् है। जो पृथक् हो कर जल का शासन करता है हे गार्गि! इस अविनश्वर ईश्वर की आज्ञा से ये अन्य नदियां पूर्व की ओर बहती हैं।

इत्यादि वाक्य समस्त पदार्थ की ईश्वराधिष्ठितता दिखलाते हैं। इस हेतु साध्य पक्ष में निक्षिप्त होने के कारण क्षीर और जल का उपन्यास ठीक नहीं। चेतन धेनु के स्नेह और इच्छा से क्षीर का प्रवर्त्तकत्व सिद्ध है और वत्स के चूसने से क्षीर आकृष्ट होता है।

पुनः सांख्य के मत में तीन गुण साम्यावस्था में जब स्थित रहते हैं तब वह प्रधान कहलाता है उस के व्यतिरिक्त प्रधान का प्रवर्त्तक अथवा निवर्त्तक किञ्चित् बाह्य वस्तु अपेक्षित नहीं और

पुरुष उदासीन है इस लिये न वह प्रवर्तक और न वह निवर्तक होता है। इस लिये प्रधान अनपेक्ष कहलाता है। इस अवस्था में अनपेक्ष प्रधान कदाचित् महदादि आकार से परिणत हो और कदाचित् परिणत न हो यह अयुक्त है। परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् महामायिक होने से उस में प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति विरुद्ध नहीं।

शङ्का-सांख्यवादी कहते हैं कि जैसे तृणपल्लव और उदकादि वस्तु अन्यनिमित्त की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही दुग्धादि आकार में परिणत अर्थात् बदल जाती है तद्वत् प्रधान भी महदाद्याकार रूप से परिणत होगा इस में संदेह ही क्या यदि आप पूछें कि तृणादिक अन्यनिमित्त की अपेक्षा नहीं करता यह आप को कैसे मालूम। इस के उत्तर में यही कहा जायगा कि अन्यनिमित्त यहां नहीं दीखता क्योंकि यदि किञ्चित् निमित्तान्तर हम प्राप्त कर सकें तो तृणादिकों को लेकर स्वेच्छया उस २ निमित्तसे दुग्ध बनालिया करें परन्तु बना नहीं सकते इस हेतु तृणादिकों का स्वाभाविक ही परिणाम है। वैसा ही प्रधान का भी परिणाम जानें।

उत्तर-प्रधान का तृणादिवत् स्वाभाविक परिणाम हो यदि तृणादिकों का भी स्वाभाविक परिणाम स्वीकृत हो परन्तु स्वीकृत है नहीं। क्योंकि निमित्तान्तर की उपलब्धि होती है वह निमित्तान्तर इस प्रकार है धेनु से ही उपभुक्त तृणादिक दूध होता और बैल आदि से खाया हुआ वह तृणादि दूध रूप से परिणत नहीं होता। यदि यह निर्मित्त ही होता तो धेनु शरीर के सम्बन्ध से अन्यत्र भी तृणादिक दूध होजाय। और भी-मनुष्य इस काम को स्वेच्छानुसार नहीं कर सकता इस लिये यह निर्मित है यह कहना समुचित नहीं क्योंकि कुछ कार्य्य मनुष्य सम्पाद्य और कुछ दैव सम्पाद्य होता है। मनुष्य भी तृणादिकों को लेकर क्षीर बनाने में समर्थ होता है क्योंकि बहुत दूध चाहने वाले पुरुष धेनु को बहुत घास खिलाते हैं और उस से प्रभूत क्षीर प्राप्त करते हैं। इस लिये प्रधान का स्वाभाविक तृणादिवत् परिणाम नहीं।

पुनरपि-आप की श्रद्धा के अनुसार प्रधान की स्वाभाविकी ही प्रवृत्ति मान भी ले तो भी दोष तदवस्थित ही रहेगा। क्योंकि यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही करती ऐसा कहें तो जैसे सहकारी किञ्चित वस्तु की अपेक्षा नहीं करती वैसे ही किञ्चित् प्रयोजन की भी अपेक्षा न करेगी इस हेतु पुरुषार्थ सिद्धि के लिये प्रधान प्रवृत्त होता है यह प्रतिज्ञा आप की नष्ट होगी। इस पर यदि आप कहें कि केवल सहकारी की ही अपेक्षा नहीं करती किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा करती। तथापि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन विवेक्तव्य है। भोग अथवा अपवर्ग अथवा उभय प्रयोजन है। यदि भोग स्वीकृत करें तो निःसंगपुरुष का भोग कैसा और अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग भी होगा। यदि अपवर्ग प्रयोजन माने तो प्रवृत्ति के पूर्व भी अपवर्ग (मोक्ष) सिद्ध ही था तब प्रवृत्ति अनर्थिका होगी। और शब्दादि विषयों की अनुपलब्धि रूप प्रसङ्ग होगा। और यदि भोग, अपवर्ग दोनों प्रयोजन का स्वीकार हो तो भोक्तव्य भोग्यों के अनन्त्य होने से अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग तदवस्थितही रहेगा। और भी-औत्सुक्यकी निवृत्तिके लिये प्रवृत्तिनहीं कही जासकती क्योंकि अचेतनप्रधानका औत्सुक्य कैसा। और निर्मल और निष्फल पुरुषको भी उत्सुकता नही कही जासकती। इसलिये यदि दृक्शक्ति (पुरुष शक्ति) और सर्गशक्ति (प्रधानकी सृष्टिशक्ति) का वैयर्थ्यभय से प्रवृत्ति मानली जाय तब दृक्शक्ति का अनुच्छेदवत् सर्गशक्ति का अनुच्छेद से संसार का अनुच्छेद होगा। इस लिये अनिर्मोक्ष का प्रसंग बना ही रहेगा। अतएव प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के लिये है यह कहना अयुक्त है।

सांख्यवित् कहते हैं जैसे कोई पुरुष दृक्शक्ति सम्पन्न प्रवृत्ति विहीन पंगु हो वह जैसे प्रवृत्ति शक्तिसम्पन्न और दृक्शक्तिविहीन किसी अन्य अन्ध पुरुष के कन्धे पर चढ़ उस को प्रवृत्त करता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वय अप्रवर्त्तमान होने पर भी अन्य लोह को प्रवृत्त करता है तद्वत् पुरुष प्रधान को कार्य्य में प्रवृत्त करेगा। इस लिये सांख्यमत सुसंगत है।

समाधान-तथापि दोष से आप छूट नहीं सकते क्योंकि सब अभ्युपेतहानि रूप दोष आपड़ेगा। यथा स्वतन्त्र प्रधान की प्रवृत्ति आप के मत में स्वीकृत है और पुरुष का प्रवर्त्तकत्व अस्वीकृत है तबा कैसे उदासीन पुरुष प्रधान को कार्य्य में लगा सकेगा। पंगु (चलने मे असमर्थ) भी अन्धे को वचन आदि द्वारा कार्य्य में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार जीवात्मा का कोई भी प्रवर्त्तनव्यापार स्वीकृत नहीं है क्योंकि वह आत्मा निष्क्रिय और निर्गुण है। और अयस्कान्तमणिवत् सन्निधिमात्र से पुरुषप्रधान को कार्य्य में प्रेरित करेगा यह दृष्टान्त भी ठीक नहो क्योंकि प्रधान और पुरुष का संनिधि नित्य होने से प्रवृत्ति की नित्यता रूप दोष आपड़ेगा यह आप के मत में अनिष्ट है किन्तु अयस्कान्तमणि का सन्निधि नित्य नहीं। इस हेतु सव्यापारसन्निधि उस का हो सकता है। और उस में परिमार्ज्जनादि की अपेक्षा भी होती है। इस लिये परतन्त्र और अयस्कान्तमणि का सिद्धान्त ठीक नहो। तथा प्रधान का अचैतन्य पुरुष का औदासीन्य और इन दोनों के सम्बन्ध जोड़ने वाले तृतीय का अभाव होने से सम्बन्ध की उपपत्ति भी नहीं हो सकती। और योग्यता निमित्तक सम्बन्ध स्वीकृत करने से योग्यत्व का अनुः च्छेद से पुनरपि अनिर्मोक्ष प्रसंग होगा। और पूर्ववत् यहां भी अर्थाभाव का विकल्प सिद्ध होगा। मेरे मत में तो परमात्मा का स्वरूप व्यपाश्रय औदासीन्य और मायाव्यपाश्रय प्रवर्त्तकत्व है यह विशेषता है। और इस से भी प्रधान की प्रवृत्ति सिद्ध न होगी क्योंकि अपने २ मुख्यगुण को छोड़ जो सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों का साम्य स्वरूपमात्र से अवस्थान का नाम प्रधानावस्था है। इस अवस्था में अनपेक्षस्वरूप गुणों के स्वरूपप्रणाश के भय से परस्पर अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं हो सकता। और किसी बाह्य मोक्ष पहुंचाने वाले के न स्वीकार करने से गुणवैषम्यनिमित्त महदादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस पर यदि सांख्यवादी कहें कि यह दोष नहीं क्योंकि हमलोग गुणोंको अनपेक्षस्वभाव और कूटस्थ

नहीं मानते। किन्तु कार्य्यवश से गुणों का स्वभाव मानते हैं। जैसे जैसे कार्य्य की उत्पत्ति की संगति लग सकती है। वैसे २ इन गुणों का स्वभाव मानते हैं। गुणवृत्त चलस्वरूपहै यह मेरा सिद्धांत है। इस लिये साम्यावस्था में वैषम्य की प्राप्ति के योग्य ही गुण रहते हैं। यह सांख्यवादी का कथन ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार भी प्रधान की ज्ञानशक्ति के वियोग से रचनाके अनुपपत्तिरूप पूर्वोक्त दोष तद्वस्थ ही रहते हैं। यदि इस भय से प्रधान की ज्ञानशक्ति मानें तो एक चेतन अनेक प्रपञ्चजगत् का उपादान कारण है यह ब्रह्मवाद सिद्ध होगा। और वैषम्योपगम (विषमता की प्राप्ति) योग्य भी गुण साम्यावस्था में निमित्त के अभाव से वैषम्य न प्राप्त करें और यदि वैषम्य प्राप्त ही करें तो निमित्ताभावके कारण सर्वदा वैषम्यावस्था ही में रहें। इस प्रकार यह दोष सदा बना रहेगा।

सांख्य सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध भी है क्योंकि कहीं सात इन्द्रिय कहींएकादश और कहींमहत्तत्वसे तन्मात्रको सृष्टि और कहींअहंकार से सृष्टि मानते हैं। और कहीं तीन अन्तःकरणों का और कहीं एक ही अन्तःकरण का वर्णन है। और ईश्वर कारणवादिनी श्रुति से और तदनुवर्त्तिनी स्मृति से इस का विरोध है यह प्रसिद्ध है अतएव सांख्यदर्शन असमञ्जस होने से त्याज्य है।

पुनः सांख्यवादी कहते हैं कि कपिल जी सिद्ध पुरुष थे उन का ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहत था श्रुति भी इस मे प्रमाण है ——

ऋषिम्प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति जायमानञ्च पश्येत ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।२

जो परमात्मा सृष्टि की आदि में कपिलऋषि को उत्पन्न करता है और उत्पन्न कर उस को ज्ञान से भर देता है ऐसे परमात्मा को सदा देखें।

इस कपिलमुनि के बनाए हुए अनेक ग्रन्थ हैं उन में अचेतन

स्वतन्त्र प्रधान ही जगत् का कारण दिखलाया गया है। अतः तदनुकूल ही स्मृतियों का भी व्याख्यान करना उचित है अन्यथा उन ग्रन्थोंका,अनवकाश होजायगा क्योंकि उनका एक प्रधानकारण ही मुख्य विषय है। जैसे मन्वादि धर्मशास्त्र के अनेक विषय होते हैं—इस वर्ण का इस काल में इस विधान से उपनयन कर्त्तव्य है उपनीतों के ऐसे आचार, ऐसा वेदाध्यन, अपराधियों के ऐसे दण्ड, राजसभा ऐसी चारों वर्णों की इस प्रकार व्यवस्था चारों आश्रमों में इस प्रकार के धर्म होने चाहियें इत्यादि २ शतशः विषय वर्णित हैं किन्तु कपिलादि प्रणीत शास्त्र वैसे नहीं। वे मोक्ष साधन ही सम्यग्दर्शन है इसी विषय को लेकर प्रणीत हुए हैं। यदि इस में भी वे अनवकाश हों तो इन का आनर्थक्य होगा। अतः तदविरोध से समस्त वेदान्त व्याख्यातव्य हैं। और भी—जो स्वतन्त्रप्रज्ञ हैं उन पर ये आक्षेप नहीं हो सकते किन्तु परतन्त्रबुद्धि वाले पुरुष प्रायः स्वतन्त्रता से श्रुतियों के अर्थों के निर्धारण करने में असमर्थ होते हैं। इस लिये प्रख्यात प्रणेताओं के ग्रन्थों के अनुसार उन्हें अवलम्बन करना उचित है और उन ही ग्रन्थों के बल से श्रुत्यर्थ भी जानें। हम लोगों के व्याख्यान में सब कोई विश्वास नहीं करसकते क्योंकि कपिलादि प्रणेताओं पर लोगों का अधिक विश्वास और श्रद्धा भी है इस लिये इन महात्माओं का मत अयथार्थ कह कर तिरस्कृत कर देना ठीक नहीं।

समाधान—सांख्यवादियों का यह कथन सर्वथा तुच्छ है क्योंकि कपिल के समान अन्यान्य शतशः पुरुष सिद्ध और भगवदवतार ही माने जाते हैं। मनु, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, व्यास इत्यादि २ अनेक ऋषि और स्वतन्त्रप्रज्ञ हुए हैं इन के ग्रन्थ से कपिल मत सर्वथा विरुद्ध होताहै इस अवस्थामें किन महात्माओं का मत स्वीकार और किन के मत का त्याग करें यह निश्चय नहीं हो सकता। इस हेतु श्रुतियों को किन ही आचार्यों के अनुकूल न बना कर स्वतन्त्रतया

व्याख्यान कर श्रुति मत ग्राह्य और अन्य मत त्याज्य है यही सिद्धान्त हो सकता है। अब ईश्वर कारणवादी अन्य आचार्य्यों का मत सुनिये। एक आचार्य्य कहते हैं-

"यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्"

जो परमात्मा सूक्ष्म और अविज्ञेय है। इत्यादि वाक्यों से परब्रह्म का वर्णन आरम्भ कर:-

"स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते"

वही सब भूतों का अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहा जाता है यह कह कर:-

"तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम"

उस से त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ ऐसा कहते हैं। इस से सिद्ध है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। अन्यत्र भी कहा गया है:-

"अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे सम्प्रलीयते"

हे ब्राह्मण! निर्गुण पुरुष में वह अव्यक्त प्रलीन होता है इस से भी ब्रह्म की जगत् कारणता सिद्ध होती है। पुनः-

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वम्-
नारायणस्सर्वमिदं पुराणः॥
स सर्गकाले च करोति सर्वं-
संहारकाले च तदत्ति भूयः। इतिपुराणे-

भगवद्गीतासु च-

"अहं कृत्स्नस्यजगतः प्रभवः प्रलयस्तथा"॥
परमात्मानमेव प्रकृत्यापस्तम्बः पठति-

"तस्मात्काया: प्रभवन्ति सर्वे"

"स मूलं शाश्वतिक: स नित्य:" ॥

अर्थ–इस लिये यह संक्षेप से सुनिये "चिरन्तन नारायण ही यह सब कुछ है। वह सर्ग काल में सब बनाता है और संहारकाल में पुनः उस सब को खाता है। यह पुराण का वचन है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि मैं समस्त जगत् का उत्पत्ति और प्रलय करने वाला हूं। परमात्मा का वर्णन आरम्भ कर आपस्तम्ब कहते हैं कि उस से सब शरीर उत्पन्न होते हैं। वह मूल है, वह शाश्वतिक और नित्य है"।

इस प्रकार बहुत से शास्त्रों में ईश्वर को उपादान कारण कहते हैं। यदि कपिल शास्त्र ही अनवकाश दोष के भय से मान लिये जाय तो यह शास्त्र सब निरवकाश हो जायेंगे। और मैं दिखला चुका हूं कि श्रुतियों का तात्पर्य्य ईश्वर कारणवाद से है। तब स्मृतियों के परस्पर विप्रतिषेधप्रसंग में कुछ स्मृतियां (शास्त्र) संगृहीतव्य और कुछ त्याज्य अवश्य होंगी। इसहेतु श्रुत्यनुसारिणी स्मृतियां प्रमाण और इतर स्मृतियां अनपेक्ष्य (त्याज्य) हैं। प्रमाण लक्षण में भी ऐसा कहा गया है:–

विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।

जैमिनि सूत्र १। ३। ३

"जहां श्रुतियों से स्मृतियों का विरोध हो वहां स्मृतियां त्याज्य हैं। और जहां विरोध न हो किन्तु स्मृति प्रतिपादित अर्थ श्रुति में न मिलता हो तो यह अर्थ कदाचित् कहीं श्रुति में होगा ऐसा अनुमान कर लेना चाहिये"। श्रुति के विना अतीन्द्रिय अर्थों को कोई प्राप्त नहीं कर सकता यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि इस में कोई निमित्त नहीं। और कपिलादि सिद्धों का ज्ञान अप्रतिहत था यह देखते भी हैं। इस प्रकार सांख्यवादियों का कथन उचित नहीं, क्योंकि सिद्धि भी सापेक्षा होती है क्योंकि सिद्धि धर्मानुष्ठान

की अपेक्षा करती है और वह धर्म्म वेदाज्ञामात्र है तब पूर्व सिद्ध श्रुति का अर्थ पश्चात् सिद्धपुरुषों के वचन के अनुसार लगा लेना ठीक नहीं है और सिद्ध पुरुष भी बहुत प्रकारके हैं इस हेतु सिद्धोंके प्रदर्शित प्रकार से शास्त्रों मे परस्पर विरोध हो यही श्रुति के बिना निर्णय कारण क्या हो सकता । और भी—जो परतन्त्रप्रज्ञ अर्थात् जिन की बुद्धि परशास्त्रानुसारिणी हैं उन का अकस्मात् किसी शास्त्र विशेष में पक्षपात होना युक्त नहीं क्योंकि किन ही का कहीं पक्षपात होने पर तत्व की व्यवस्था नहीं होगी । इस लिये प्रत्येक को उचित है कि जहां स्मृतियों में परस्पर विरोध हो वहां श्रुति के अनुसार और अननुसार के विवेक से सन्मार्ग में बुद्धि लगावें ॥

जो श्रुति कपिल के महत्व को दिखलाने वाली पहले कही गई है उस का यह अभिप्राय नहीं है कि श्रुति विरुद्ध भी कापिल मत श्रद्धेय और विश्वसनीय है । और भी,—श्रुति में आया हुआ कपिल शब्द सामान्य बोधक है विशेष बोधक नहीं क्योंकि वेद में कोई अनित्य इतिहास नहीं। और सगरपुत्रों के दग्ध करने वाले अन्य कपिल भगवदवतार का भी वर्णन आता है इस लिये श्रुति को ईश्वरपरक होने पर इतर परक समझना ठीक नहीं । और मनुके माहात्म्य को प्रख्यात करने वाली अन्य श्रुति है यथाः—

यद्वै किञ्चमनुरवदत् तद्भेषजमिति ।

" मनु ने जो कुछ कहा है वह भेषज (औषधस्वरूप) है " मनु जी कहते हैं:-

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

" जो आत्मतत्ववित् योगी सब प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सब प्राणियों को समभाव से देखता हुआ विद्यमान है । वह सुख का राज्य पाता है " इस से सर्वात्मत्वदर्शन की प्रशंसा

करते हुए मनु जी कापिल मत की निन्दा करते हैं। यह सिद्ध होता है। क्योंकि कपिल जी सर्वात्मत्वदर्शन नहीं मानते "वह आत्मभेद-दृष्टा हैं। महाभारत में भी कहा गया है।

बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एवतु ।

"हे ब्रह्मन् बहुत आत्मा हैं या एक ही है" यह विचार कर—

बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणाम् ।

" हे राजन्! सांख्ययोगवित् पुरुषों के विचार से आत्मा बहुत हैं "। इस से पर पक्ष का आरम्भ कर उसके खण्डन में कहते हैं:-

बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनि रुच्यते ।
तथातं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥

"जैसे बहुत (पुरुषाणां) पुरुषाकार देहों की एक उत्पत्तिस्थान-पृथिवी है वैसे वह आत्मा सर्वात्मक सर्वज्ञत्वादिगुणसम्पन्न है ऐसा मैं कहूंगा"। इत्यादि बहुत कुछ वर्णन कर आगे कहते हैं:—

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ।
विश्वमूर्द्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथा सुखम् ॥

"मेरा, तेरा जो यह अन्तरात्मा है और जो अन्यान्यदेहों में आत्मा हैं वही एक सब का साक्षी है वह किसी से कहीं ग्राह्य नहीं होता। वही सब का मूर्द्धा, सब का बाहु, सब का पैर, नयन और नासिका है। यथा सुख विचरने वाला वही एक सब भूतों में व्याप्त है"। इत्यादि वर्णन से सर्वात्मता दिखलाई। सर्वात्मता में श्रुति भी प्रमाण है:—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः ॥

"जिस अवस्था विशेष में विज्ञानी पुरुष का सब भूत आत्मा ही होता है उस अवस्था में विशुद्ध आत्मैकत्व देखने वाले को कौन शोक कौन मोह होता है"।

इसलिये आत्मभेद की कल्पना से भी कापिल सिद्धान्त वेद विरुद्ध और वेदानुसारिमनुवचन विरुद्ध है। वेद स्वतः प्रमाण है इस लिये वेदविरुद्ध कापिलादि शास्त्रों में अनवकाश दोष का प्रसंग नहीं लिया जा सकता।

पूर्वलेख में सांख्यशास्त्र के तर्कों की निःसारता और वेद विरुद्धता सक्षेपतः दिखलाई गई। अब कापिलमतानुयायी अपनी पुष्टि में अनेक श्रुतियों को भी दिखलाते हैं। इस लिये उन श्रुतियों का वास्तविक तात्पर्य्य दिखला पुनरपि सांख्यमत का वेदविरुद्धत्व दिखलाना है इसे लिये ग्रन्थ के विस्तर भय से अतिसंक्षेप रूप में यह लेख लिखा जाता है। प्रथम प्रधानवादी अपनी प्रकृति की सिद्धि में इस वक्ष्यमाण श्रुति को प्रस्तुत करते हैं। यथाः—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ इति

"लोहितशुक्लकृष्णस्वरूपा, और अपने समान बहुत प्रजाओं को बनाती हुई जो एक अजा अर्थात् प्रकृति है उसको एक अज सेवता हुआ दुःख भोगता है। और दूसरा अज इस भुक्तभोगा प्रकृति को छोड़ देता है।"

मन्त्र में लोहित, शुक्ल और कृष्णशब्द क्रमशः रज, सत्व और तम के वाचक है। लोहित शब्द का अर्थ रजोगुण है क्योंकि वह

रञ्जित करना है। शुक्ल शब्द का अर्थ सत्वगुण है क्योंकि वह प्रकाशक है। और कृष्ण शब्द का अर्थ तम है क्योंकि वह आवरण करने वाला है। यहां इन तीनों गुणों की साम्यावस्था अवयवधर्मों से कही गई है। "नजायत इति अजा" जो न उत्पन्न हो उसे अजा कहते हैं। यहां अजा शब्द का अर्थ मूल प्रकृति है क्योंकि वह अविकृति अर्थात् किसी का कार्य्य नहीं है। यद्यपि अजा शब्द छागी में रूढ़ है तथापि वह अर्थ यहां नहीं लिया जा सकता है। क्योंकि यहां विद्याप्रकरण है इस लिये अजा शब्द प्रकृति वाचक है। वह बहुत प्रजाओं को त्रैगुण्ययुक्त ही उत्पन्न करती है उस प्रकृति को एक अज अर्थात् जीवात्मा सेवता हुआ पश्चात्ताप करता है अर्थात् अपनी अविद्यासे उसी प्रकृति को पाकर मैं सुखी, दुःखी और मूढ हूं इस प्रकार अविवेक द्वारा संसारी बनता है और इस से भिन्न विवेकी, ज्ञानी और विरक्त दूसरा अज (जीवात्मा) भुक्तभोगा प्रकृति को त्याग देता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। शब्दादि की उपलब्धि का नाम भोग और गुण औरपुरुष भिन्न २ हैं इस विवेक का नाम अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है। जो प्रकृति भोग और अपवर्ग दोनों को करती है उसे भुक्तभोगा कहते हैं। इस लिये कापिलमतावलम्बी पुरुषों की कल्पना श्रुतिमूलक ही है अर्थात् कपिल जी का सिद्धान्त वेदविरुद्ध है ऐसा जो वेदान्तियों का कथन है वह इस उक्तश्रुति द्वारा अमन्तव्य है।

समाधान——सांख्य की शङ्का में यह उत्तर कहा जाता है कि इसमन्त्रसे सांख्यवाद का श्रुतिमत्त्व सिद्ध करना ठीक नहीं क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतया किसी भी एक वाद का समर्थन के लिये नहीं है। सब ही स्थल में जिस किसी कल्पना द्वारा अजात्व आदि घटा सकते हैं तब सांख्यवाद ही यहां अभिप्रेत है। इस अवधारण में कारण कुछ नहीं देखते। तब यदि आप पूछें कि यहां पर अजा शब्द का क्या अर्थ है इस पर वेदान्त में कहते हैं:—

ज्योतिरुपक्रमातुतथाह्यधीयत एके। वे०सू० १।४।९

इस सूत्र में तु शब्द निश्चयार्थक है। परमेश्वर से उत्पन्न जो ज्योति आदिक हैं और जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के भूतों के कारण है। ऐसे १-तेज २-जल ३-पृथिवी इन तीन भूतों का नाम अजा है सांख्यप्रकल्पित तीन गुणों का नाम अजा नहीं। किन्तु भूतत्रयरूपा ही यहां अजा है क्योंकि छान्दोग्य शाखा वाले तेज, जल और अन्न की परमेश्वर से उत्पत्ति मान उन के ही रोहितआदि रूप भी कहते हैं।

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य इति ॥

"अग्नि का जो रक्त रूप है वह तेज का है जो शुक्ल रूप है वह जल का है जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है।" यहां अन्न शब्द का अर्थ पृथिवी है ये ही तेज, जल और अन्न यहां ज्ञात होते हैं। क्योंकि रोहितादि शब्द रूपविशेषवाचक हैं गुणविशेष वाचक नहीं। यदि यह कहैं कि एक शाखा का अर्थ दूसरी शाखा के अनुसार करना उचित नहीं तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि सर्ववेदान्त का परस्पर समन्वय है और सन्दिग्धस्थल को असन्दिग्ध प्रमाणान्तर से निश्चित करना न्याय युक्त ही है। यहां भी श्वेताश्वतरोपनिषद् में जहां अजामेका मित्यादि मन्त्र पढ़ा गया है वहां ब्रह्मवादी पूछते है कि ब्रह्म किस की साहायता से सृष्टि बनाता है। इतना आरम्भ कर आगे कहते हैं:-

ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥

उन ब्रह्मवादियों ने ध्यानरूपयोग से परमात्मा में समाहित हो उसी में ब्रह्म की आत्मभूता अर्थात् एक रूप से अध्यस्ता, परतन्त्रता, सत्वादि गुणवती माया को ब्रह्म का सहाय देखा। यह मन्त्र आरम्भ का है और इस में पारमेश्वरी शक्ति ही समस्तजगद्रचयित्री है यह निश्चय किया गया है। वाक्यशेष में भी कहा गया है:-

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरम् । इति । यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः । इति ।

"माया को प्रकृति जानो और महेश्वर को मायी । जो परमेश्वर प्रत्येक माया के ऊपर अधिकार रखता है" । इत्यादि । इन वाक्यों से पारमेश्वरीशक्ति माया का नाम अजा प्रतीत होता सांख्य कल्पित प्रधान का नहीं ।

शङ्का-"न जायत इति अजा" जो उत्पन्न न हो उसे अजा कहते हैं इस यौगिक अर्थ लेकर तेज, जल और अन्न में अजात्व न देख सांख्यकल्पित प्रधान ही अजा है और तेज आदिकों को कहीं भी अजाशब्द द्वारा वर्णन नहीं करते । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं:-

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।

वे० सू० १ । ४ । १०

तेज आदिक में यह अजा शब्द न रूढ़ न यौगिक है । और न आकृति के कारण वे अजा कहलाते किन्तु यहां कल्पना से वे अजा कहलाते हैं । जैसे लोक में स्वभावतया कोई छागी (अजा) लोहित, शुक्ल और कृष्ण इन तीनों वर्णों से युक्त हो और उसके अपने समान और तद्भिन्न बहुत से बच्चे भी हों और उस के अनुरागी कोई अन्य अज (छाग) सुख दुःख भागी हो और दूसरा अज उस के साथ भोगविलास कर उसे छोड़ दिया हो । यह वर्णन जैसे हो सकता है वैसे ही यहां भी सब भूतों को उत्पन्न करने वाली तेज, जल और अन्न इन तीन लक्षणों से युक्त अतएव त्रिवर्णा माया अपने समान बहुत से चराचरविकार जगत् को उत्पन्न करती और इस चराचर जगत् को अपने पुत्र समान, मानो, मानती । और अविवेकी क्षेत्रज्ञ उसके साथ भोगविलास करता किन्तु विवेकी उसे त्याग देता है । इत्यादि प्रकार के वर्णन से यहां तेज, जल और पृथिवी (अन्न) ये तीनों अजा शब्द से कहे गये हैं । श्रुतिमें भी दिखलाया गया है

आदित्य को मधु समझो यद्यपि आदित्यमधु नहीं। वाणीधेनुहै यद्यपि वाणी धेनु नहीं। और द्युलोक आदि यद्यपि अग्नि नहीं तथापि इन में अग्नित्व का आरोप किया गया है। वैसे ही तेज, जल और अन्न (पृथिवी) में अजात्व का आरोप है इति सङ्क्षेपतः।

पुनः सांख्यवादी प्रश्न करते हैं कि यद्यपि अजामन्त्र हमारे मत का साधक न हो तथापि अन्यान्य बहुत से मन्त्र हैं। जिन से भी मेरे सिद्धान्त की पुष्टि होतो है। यथा-

यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तदेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥

इस श्रुति में दो पञ्च शब्द आये हैं। पञ्च को पञ्चगुणा करने से पच्चीस होते हैं और सांख्य के भी पच्चीस ही तत्व हैं। जैसेः—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ इति॥

जगत् की मूल भूता प्रकृति—त्रिगुणात्मक प्रधान अनादि होने के कारण अविकृति अर्थात् किसी का कार्य्य नहीं वह एक। महत् १—अहङ्कार ५—पञ्चतन्मात्रायें ये सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं। पञ्चस्थूलभूत और एकादश इन्द्रिय ये षोडश विकार हैं प्रकृति नहीं और एक पुरुष। ये सब मिल कर पच्चीस तत्व होते हैं। इन ही पच्चीस तत्वों का उक्त मन्त्र में वर्णन होने से सांख्यसिद्धान्त श्रुति मूलक है।

समाधान—संख्या का उपसंग्रह मात्र से प्रधान श्रुतिमूलक नहीं हो सकता क्योंकि ये पच्चीस तत्व नाना हैं और पञ्च पञ्च इस शब्द में कोई साधारण धर्म्म नहीं जिस से पच्चीस संख्या का ग्रहण हो जैसे "सप्त ऋषि सप्त हैं" ऐसा वाक्य होता है वैसे ही यहां पञ्चजन

पञ्च हैं ऐसा कहा गया है। प्रथम पञ्च का द्वितीय पञ्च के साथ समास नहीं है जिस से किसी प्रकार पच्चीस तत्वों का अर्थ हो। द्वितीय पञ्च शब्द जन शब्द के साथ समस्त है क्योंकि उन दोनों में स्वर इसीप्रकार के हैं। अतः सांख्यवादियों का अर्थ उपेक्ष्य है। श्रुति का वास्तविक अर्थ यह है। कि (यस्मिन्) जिस में प्राण १ चक्षु २ श्रोत्र ३ अन्न ४ मन ५ और इन का कारण आकाशस्थित हैं उस अमृत ब्रह्म रूप आत्मा को मैं जानता हूं और इस विज्ञान से मैं विद्वान् अमृत होता हूं।

शङ्का-यदि पच्चीस तत्वों का नाम पञ्चजन नहीं तो किस का नाम है। इस पर वेदान्त कहता है:-

प्राणादयो वाक्यशेषात्।

इस का यह तात्पर्य्य है कि "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इस वाक्य के उत्तर ब्रह्मस्वरूप निरूपण करते हुए-

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः।

यह वाक्य शेष है। इस में जो प्राण १ चक्षु २ श्रोत्र ३ अन्न ४ मन ५ ये पांच कहे गये हैं वे पञ्चजन हैं क्योंकि पञ्चजन शब्द की प्राणादिकों में लक्षणा है। और वाक्यशेष का अर्थ इस प्रकार है। जो विवेकी पुरुष है वह उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन जानते हैं।

पुनः सांख्यवादी शङ्का करते हैं कि माध्यन्दिनी शाखा वाले प्राणादिकों में अन्न का पाठ करते हैं। उन के मत में प्राणादिक पञ्चजन हैं और काण्व शाखा वाले प्राणादिकों में अन्न का कथन नहीं करते। तब उन के मत में प्राणादिक पञ्चजन कैसे। इस शङ्का के उत्तर में वेदान्त कहता है:-

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।

यद्यपि काणु शाखा वाले प्राणादिकों में अन्न का पाठ नहीं करते तथापि ज्योतिःशब्द का पाठ कर पञ्चसंख्या को पुराते हैं। वे "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इस मन्त्र से पूर्व मन्त्र में ब्रह्मस्वरुप के निरूपणार्थ "तद्देवा ज्योतिषां ज्योति" "वह देव ज्योति का ज्योति है" ऐसा कहते हैं। यहां अन्न शब्द के स्थान में ज्योतिःशब्द के पाठ करने से कोई क्षति नहीं।

संक्षेपतः यहां दो मन्त्रों के ऊपर सांख्यवादियों का तथा वेदान्तियों का पक्ष दिखलाया गया है जिस से सांख्यविद् पुरुषों का सिद्धांत श्रुतिमूलक नहीं है यही सिद्ध होता है। इसी प्रकार सांख्यवादियों के अपने पक्ष के साधन में दिए हुए बहुत से मन्त्रों का विशेष विचार श्रीशङ्कराचार्य जी ने अपने भाष्य में किया है पाठकगण इस विचार को उसी भाष्य से पढ़ें। ग्रन्थ के विस्तार भय से वे सब मन्त्र यहां प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। इतने लेख आप विवेकी पाठक गण देख चुके कि सांख्य शास्त्र की न युक्तियां न तर्क, न उदाहरण आदि प्रबल हैं। सांख्यशास्त्र के मन्तव्य के एक एक अक्षर का निराकरण वेदान्त के आकर ग्रन्थों में विद्यमान है। उन में से कुछ लेकर सांख्य की निस्सारता सिद्ध की गई है। अतः श्रुतिमूलक वेदान्त शास्त्र को जान इसी में कल्याणाभिलाषी जनों की प्रवृत्ति होनी चाहिये।

योगशास्त्रनिराकरण

एतेन योगः प्रत्युक्तः।

इस सूत्र द्वारा सांख्यवत् योग भी अवेदमूलक है यह बतलाया गया है क्योंकि सांख्यवत् योग भी उनहीं प्रधान महदादिक पच्चीस तत्वों को मानता है। यदि योग भी सांख्य का अनुगामी है तो पृथक् करके इस के निराकरण की आवश्यकता क्या जिस हेतु वेद में भी योग का विशेष वर्णन आया है इस लिये इस पर कुछ विशेष निरूपण करना है। वेद कहता है कि:—

"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति"
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम् । इत्यादि

वह श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य अर्थात् समाधि द्वारा ज्ञातव्य है । और इस शरीर को सम और छाती, ग्रीवा और शिर को उन्नत करके युक्त बना उस परमात्मा का ध्यान करे इत्यादि आसनादिकों का और अन्यान्य योग के प्रकार का विधान श्वेताश्वतरोपनिषद् में विद्यमान है । और योग विषयक सहस्रशः वैदिक लिङ्ग भी पाये जाते हैं यथा :-

"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्"
"विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्" इत्यादि

इन्द्रियों को वश करने वाली इस धारणा को योग कहते हैं । इस ब्रह्म विद्या को सम्पूर्ण योगविधि कहते हैं इत्यादि । पुनः योग शास्त्र में भी कहा है:-

"अथ तत्वदर्शनाभ्युपायो योगः" इति
"सम्यग् दर्शनाभ्युपायो योगः" इति

योगशास्त्र में तत्वदर्शन का विशेष उपाय निरूपित है । योग सम्यग्दर्शन अर्थात् वास्तविक ब्रह्म का दिखलाने वाला है इत्यादि प्रमाणों से योग को सम्यग् दर्शनाभ्युपाय कह कर स्वीकार करते हैं । इस लिये योग शास्त्र में लोगों की अधिक प्रवृत्ति है । किन्तु वस्तुतः योग वैसा नहीं है इस लिये इस की निःसारता बहुत अंशों में दर्शयितव्य है । यद्यपि अध्यात्मविषयक बहुतसी स्मृतियां वेद-विरुद्ध होने से खंडनीय हैं । तथापि सांख्य और योगके ही निराकरण के लिये विशेष यत्न इस लिये किया गया है कि सांख्य और योग परमपुरुषार्थ के साधन माने गए हैं, लोक में प्रख्यात हैं शिष्टों से परिगृहीत हैं और श्रौतलिङ्ग से परिवृंहित हैं । यथाः-

तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

उन सकल कामनाओं का कारण सांख्य और योग से प्राप्त देव को जान सर्व अविद्याओं से मुक्त होता है इत्यादि । तब इसका निराकरण इस लिये किया जाता है कि वेद निरपेक्ष न तो सांख्य के ज्ञान से और न योगमार्ग से निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है वैदिक आत्मैकविज्ञान को छोड़ अन्य निःश्रेयणसाधन का स्वयं श्रुति निवारण करती है । यथाः-

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

"उसी को जानकर मृत्यु का उल्लंघन करता है । गमन के लिये दूसरा मार्ग नहीं" । किन्तु सांख्य और योग द्वैती हैं आत्मैकदर्शी नहीं । और जो पूर्वोक्त स्मृति में सांख्य योग का वर्णन आया है उससे भी वैदिक ही ज्ञान और ध्यान का ग्रहण है । और भी जिस अंश में सांख्य और योग वेदार्थविरुद्ध नहीं वह अंश इष्ट ही है और उस २ अंश में दोनों का सावकाशत्व भी होगा । जैसे "असंगोह्ययं पुरुषः" यह पुरुष असंग है इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध ही पुरुष के विशुद्धत्व को निर्गुण पुरुष के निरूपण से सांख्य स्वीकार करते हैं । योग भीः-

अथपरिव्राट् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः ।

इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध ही निवृत्ति मार्ग का उपदेश करते हैं ।

इस से जितने तर्कस्मृतियां वेद विरुद्ध हैं वे खण्डनीय हैं । यद्यपि तर्क और उपपत्ति से कुछ थोड़ा तत्व ज्ञान के लिये उपकारी हैं और उपकारी होवें तथापि तत्वज्ञान वेद वाक्यों से ही होता है यथाः—

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । इति

"अवेदवित् उस महान् को नहीं जानते इस हेतु उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष को पूछता हूं" । इस प्रकार के (अनेक) श्रुतियों से वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध है।

चतुर्व्यूहनिराकरण

भगवद्धर्मावलम्बी कहते हैं कि एक निरञ्जन ज्ञानस्वरूप वासुदेव नामक भगवान् ही परमार्थतत्व है वह अपने को चार हिस्सों में विभक्त कर सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। वासुदेव व्यूहरूप से १ । सङ्कर्षणव्यूहरूपसे २ । प्रद्युम्नव्यूहरूप से ३ । और अनिरुद्धव्यूहरूप से ४ । चतुर्धा होने पर भी वास्तव में एक ही है । व्यूह नाम मूर्त्ति का है । वासुदेव नाम परमात्मा का है सङ्कर्षण नाम जीव का है और अनिरुद्ध नाम अहङ्कार का है । उन का वासुदेव पराप्रकृति अर्थात् कारण है और सङ्कर्षण आदि कार्य्य हैं । उस भगवान् परमेश्वर की वाक्, काय, और चित्त को समाहित कर उन के समीप अभिगमन, नाम का सङ्कीर्त्तन, पूजा, स्वाध्याय और ध्यान इत्यादि के द्वारा उपासना से उपासक क्षीणक्लेश हो उसी में प्राप्त होता है इत्यादि वर्णन करते हैं वे जो यह कहते कि यह भगवान् अव्यक्त से पर परमात्मा और सर्वात्मा है और वही अपने को अनेक रूप में विभक्त कर स्थित है इस का खण्डन यहां न किया जायगा क्योंकि———

"स एकधा भवति त्रिधा भवति"

वह एक होता है और तीन होता है इत्यादि श्रुतियों से परमेश्वर का अनेक होना सिद्ध है । और उस भगवान् की अनन्यचित्त होकर आराधना और पूजा इत्यादि करनी चाहिये इत्यादि मन्तव्य का भी यहां निषेध नहीं । क्योंकि श्रुति और स्मृति में ईश्वर का प्रणिधान सुप्रसिद्ध है । किन्तु उन भागवतों का जो यह कथनहै कि वासुदेवसे

सङ्कर्षण और सङ्कर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है इस विषय पर विचार करना है। वासुदेव संज्ञक परमात्मा से सङ्कर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्यों कि तब जीवमें अनित्यत्वादि दोष का प्रसङ्ग होगा। जीवकी उत्पत्ति मानने से अनित्यत्वादि दोष होंगे और उस से इस का भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष भी न होगा। जीव की उत्पत्ति के निषेधक सब शास्त्र हैं इस से यह कल्पना असङ्गत है।

और भी—लोक में कर्त्ता देवदत्तादिक से करण (साधन) कुठार आदिक की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु भागवद्धर्म्मावलम्बी वर्णन करते हैं कि सङ्कर्षण संज्ञक कर्त्ता जीव से प्रद्युम्न संज्ञक करण मन की उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त दृष्टान्त के बिना मन्तव्य नहीं। एवं भूता श्रुति भी नहीं। इस लिये यह कल्पना असङ्गत है। यदि आप कहें कि वास्तव में सङ्कर्षण आदि जीव नहीं वे ईश्वर ही हैं वे सब निर्दोष, निरधिष्ठान, निरवद्य हैं। यह कहने पर भी दोष तदवस्थित ही रहेगा। क्योंकि इस अवस्था में चार व्यूह मानने की आवश्यकता क्या। चार ही व्यूहों में ईश्वर प्रतिष्ठित है यह कल्पना भी असङ्गत है क्योंकि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्य्यन्त समस्त जगत् ही भगवद् व्यूह है अतः यह पञ्चरात्र सिद्धान्त त्याज्य है।

और भी—इस में वेद की निन्दा भी पाई जाती है यथाः—

> चतुर्षु वेदेषु परमश्रेयोऽलब्ध्वा शांडिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्।

चारों वेदों में श्रेष्ठ कल्याण को न देख शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को पाया इत्यादि वचन से वेद की निन्दा पाई जाती है। अतः यह भागवत धर्म्म सर्वथा त्याज्य है।

अधिष्ठात्री ईश्वरकारणवाद निराकरण

वेदान्त में ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण और अधिष्ठाता

दोनों है ऐसा माना गया है। किन्तु बहुत से आचार्य्य ईश्वर को केवल अधिष्ठातास्वरूप निमित्तकारण मानते हैं। यह सिद्धान्त वेदान्त विहितब्रह्मैकत्व का प्रतिपक्ष होने से प्रतिषेधनीय है। वह वेदवाह्येश्वर कल्पना अनेक विध हैं। कोई सांख्ययोगाचार्य्य कल्पना करते हैं कि प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता केवल निमित्तकारण ईश्वर है। और वे प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीनों परस्पर विलक्षण हैं। और शैव, पाशुपत, कारुकसिद्धान्ती और कापालिक ये चारों माहेश्वर कहलाते हैं क्योंकि वे महेश्वरप्रणीत आगम के अनुयायी हैं। वे माहेश्वर कार्य्य १ कारण २ योग ३ विधि ४ दुःखान्त ५ ये पांच पदार्थ मानते हैं। जीवों के पाश के विमोक्ष के लिये पशुपति ईश्वर ने इन्हें बतलाये हैं। पशुपति ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण है। वैसे ही कोई वैशेषिक कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसार ईश्वरको निमित्तकारण ही मानते हैं। यह मत भी निःसार और वेदविरुद्ध है।

क्योंकि इस में असामञ्जस्य है। यदि ईश्वर निमित्त कारण है तो हीन, मध्यम और उत्तमभाव से नानाविध प्राणियों को उत्पन्न करते हुए ईश्वर में राग द्वेषादि दोष होंगे। तब उस में अनीश्वरत्व आजावेगा। यदि कहैं कि प्राणियों के कर्म्मों की अपेक्षा से वह हीन, मध्यम और उत्तम प्राणियों को उत्पन्न करता है इस लिये वह दोषी नहीं यह कहना भी असङ्गत है क्योंकि इस अवस्था में कर्म प्रवर्त्त और ईश्वर प्रवर्त्तयिता कहलावेगा। प्राणी की उत्पत्ति के अनन्तर ही कर्म हो सकता। और कर्म्म होने से प्राणी की उत्पत्तिकी संभावना है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ेगा। इस दोष को दूर करने के लिये यदि कर्म्म को अनादि मानलें तो, भी यह दोष तदवस्थित रहेगा। क्योंकि वर्त्तमान कालवत् अतीतातीत काल में इतरेतराश्रय दोष का निवर्त्तक क्या होगा। इस प्रकार अन्धपरम्परा न्याय की प्रवृत्ति होगी। और भी–"प्रवर्त्तना लक्षणा दोषाः" दोष ही प्रवर्त्तक होते हैं। यह तार्किकों की स्थिति है क्योंकि अदोष प्रयुक्त कोई भी स्वार्थ वा परार्थ में प्रवर्त्तमान नहीं देखा जाता। स्वार्थ में

प्रयुक्त ही सब जन पदार्थ में प्रयुक्त होता है। तब ईश्वर में भी स्वार्थ-घटत्व होने से अनीश्वरत्व दोष आजावेगा। इस प्रकार भी यह मत असमञ्जस है। और योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर केवल पुरुष विशेष का नाम है। और पुरुष उदासीन है। इस तरह भी यह मत असमञ्जस है। और भी-सांख्यवाद में यह दोष होगा। प्रधान और पुरुष के अतिरिक्त ईश्वर सम्बन्ध के बिना प्रधान और पुरुष का अधिष्ठातृ कैसे होगा। यदि इन में संयोग सम्बन्ध कहें तो प्रधान पुरुष और ईश्वर इन तीनों का सर्वगतत्व और निरवयवत्व मानने से वह सम्बन्ध भी कैसे सिद्ध होगा। समवाय सम्बन्ध का यहां गन्ध भी नहीं क्योंकि इन तीनों में आश्रयाश्रयी भाव का स्वीकार भी नहीं। इस के अतिरिक्त कार्य्यगम्य किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना करना भी उचित नहीं क्योंकि आज तक कार्य्यकारणभाव की सिद्धि नहीं हुई है। इस लिये भी यह मत असमञ्जस है।

यदि कहें कि ब्रह्मवादियों के पक्ष में सामञ्जस्य कैसे तो यहां तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध सदा बना हुआ है। और भी-आगम बल से कारणादि स्वरूप का निरूपण ब्रह्मवादी करते हैं। इस लिये, हमारे पक्ष में यथा दृष्ट का अंगीकार नहीं किन्तु श्रुति जैसे कहती है वैसामन्तव्य है। दूसरे तो दृष्टान्त बल से कारणादिस्वरूप का निरूपण करते हैं। इस लिये यथा दृष्ट ही सब कुछ मानने चाहियें। यदि कहें कि उनके भी सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र हैं इस लिये आगम बल दोनों में समान है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग होगा। जैसे आगमबल से सर्वज्ञत्व की सिद्धि और सर्वज्ञत्व के बल से आगम की सिद्धि अर्थात् प्रथम अनादिसिद्ध आगम के आश्रय से मनुष्यों में सिद्धि होती है और सिद्धि के अनन्तर शास्त्रों का परिणयन होता है। इस लिये जिस के आश्रय से सिद्धि होती उस को अन्य वचन से तिरस्कृत करना अन्याय है। इस हेतु सांख्ययोगवादियों की ईश्वर कल्पना अनुपपन्न है। इसी प्रकार अन्यत्र भी वेद बाह्य ईश्वर कल्पना में यथासम्भव असामञ्जस्य

की योजना करनी चाहिये। और भी—तार्किक कहते हैं कि जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदिकों को वैसे ईश्वर प्रधानादिकों को लेकर सृष्टि रचता है यह कथन भी सुसङ्गत नहीं क्योंकि यहां प्रधान अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन है अतएव मृत्तिका से विलक्षण होने के कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भेद है।

शङ्का—जैसे इन्द्रिय समूह चक्षुरादिक अप्रत्यक्ष, रूपादिहीन होने पर भी उसका अधिष्ठाता पुरुष (जीवात्मा) होता है। तद्वत् प्रधान का भी अधिष्ठाता ईश्वर हो सकता है।

समाधान—इस प्रकार भी यह असंगत है क्योंकि इन्द्रियग्राम भोग होनेसे अधिष्ठित हो सकते। परन्तु यहां भोगादिक नहीं देखे जाते। यदि करणग्राम के समान भोग स्वीकृत हो तो संसारी जीवों के तुल्य ईश्वर के भी भोगादिक सिद्ध हो किन्तु यह अनिष्ट है। अथवा इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे लोक में किसी स्थान पर बैठ सशरीर राजा राष्ट्र का ईश्वर बनता है। स्थान रहित नहीं। इस लिये उस दृष्टान्त के बल से ईश्वरका भी इन्द्रियादिसहित किञ्चित् शरीर कल्पयितव्य होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि सृष्टि के अनन्तर शरीर बनना। सृष्टि के पूर्व उस की अनुपपत्ति है। अतः निरधिष्ठान (स्थानरहित) ईश्वर प्रवर्तक नहीं हो सकता. क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये लोकानुसार ईश्वर का भी इन्द्रिय सहित किञ्चित् शरीर मानलिया जाय तथापि यह मत असंगत ही है। क्योंकि ईश्वर को सशरीर होने पर संसारी जीव के समान भोगादिक का प्रसंग होगा। तब ईश्वर और संसारी में भेद ही क्या। ऐसे ईश्वरको न मानना ही किञ्चित् श्रेयस्कर है।

पुनरपि वक्ष्यमाणवर्णनानुसार सांख्यपरिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति होगी क्योंकि सेश्वर सांख्यवादी ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। उन के मत में प्रधान और पुरुष दोनों अनन्त और परस्पर भिन्न स्वीकृत किये गये हैं। तब यह विचार उपस्थित होगा कि प्रधान

की पुरुषों की और अपनी इयत्ता का बोध ईश्वर को है अथवा नहीं। दोनों प्रकार से दोष अनुसक्त ही रहेगा। क्योंकि यदि ईश्वर को इयत्ता का बोध है इस पक्ष में प्रधान, पुरुष और ईश्वर का अन्तवत्व सिद्ध होगा। क्योंकि लोक में वैसा ही देखा जाता है। क्योंकि लोक में जो २ घटादिक वस्तु इयत्तापरिछिन्न है वह २ अन्तवान् (अन्तवाला) देखा जाता। वैसे ही प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीनोंभी इयत्तापरिछिन्न होनेसे अन्तवान् होंगे।प्रधान पुरुष औरईश्वर येतीन ही हैं अतः सांख्यपरिमाण तो परिछिन्न है ही स्वरूपपरिमाण कोभी सर्वज्ञ ईश्वर अपने ज्ञानसे परिछिन्न करेगा। यदिकहें कि पुरुषगत महा संख्या है तो ईश्वर को उस का परिच्छेद कैसे होगा। यह कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि यदि जीवों की संख्या का पूरा बोध ईश्वर को न हो तो वह सर्वज्ञ कैसे अतः सर्वज्ञ ईश्वरसे पुरुषगत संख्या सर्वदा परिछिन्न होगी। इस हेतु इयत्ता परिछिन्न जो जीव उन में से जो संसार से मुक्त होंगे उनका संसार समाप्त हो जायगा। और वह स्वयं भी संसारी न रहेंगे। इस प्रकार क्रमशः सब जीवों के मुक्त होने पर संसार और संसारियों का एक दिन अवश्य अभाव होजायगा। इस प्रकार प्रधान और पुरुष के अभाव से शून्यता की प्राप्ति होगी। इस अवस्था में ईश्वर के आधिष्ठेय का भी लोप ही लोप है। और तब किस विषय में ईश्वर की सर्वज्ञता और ईश्वरता रहेगी। और भी-प्रधान, पुरुष और ईश्वर के अन्तवत्व सिद्ध होने पर उन का आदिमत्व भी सिद्ध होगा क्योंकि अन्तवान् पदार्थ आदिमान् (आदिवाला) होता है यह घट पटादिक में प्रत्यक्ष है। और आद्यन्तवत्व का स्वीकार करने पर शून्यवाद का प्रसंगरूप महान् अनिष्ट दोष आपड़ेगा। इस दोष की परिहार के लिये यदि कहें कि प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता का परिच्छेद ईश्वर नहीं करता। तब ईश्वर सर्वज्ञहै इस मन्तव्य की हानि होगी। इस हेतु तार्किकों और सांख्ययोगवादियोंका परिकल्पित ईश्वर कारण वाद सर्वथा असङ्गत और त्याज्य है।

परमाणुकारणवादनिराकरण

वैशेषिक कणादाचार्य्यानुगामी ब्रह्म के उपादान कारणत्व को दूषित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि चेतन ब्रह्म आकाशादिक पदार्थों का उपादान कारण हो तो उस चेतन से बने हुए आकाशादिक भी चेतन ही हों क्योंकि कारण के गुणक्रम से कार्य्य में गुण का आरम्भ देखते हैं। जैसे शुक्लतन्तुवों से आरब्धपट शुक्ल होता कदापि कृष्ण नहीं। इस प्रकार चेतनसे आरब्ध आकाशादिकचेतन ही होना चाहिये अचेतन नहीं। परन्तु सोहै नहीं। इस हेतु इसजगत्का कारण कोई अचेतनहीहै वे अचेतन परमाणुहैं। सूक्ष्मसेस्थूलकीउत्पत्ति देखते हैं जैसे सूक्ष्मतन्तुवों से स्थूल पट को और सूक्ष्ममूलके अंशुवों (अएडों) से तन्तुवों को उत्पत्तिहोती है। इस प्रकार अपकर्षपर्य्यन्त (जिस से परे टुकरा न हो सके) कारणद्रव्य अतिसूक्ष्म और अनवयव रहता है। उसी का नाम परमाणु है। उस का भी यदि सावयवत्व स्वीकार करें तो अनन्त अवयव होने से सुमेरुराज पर्वत और सर्षप (सरसो) इन दोनों का समान परिमाण होना चाहिये। क्योंकि पर्वत औरसरसों दोनोंका परमाणु अनन्तहै। अतः परमाणुको भी सावयव मानना अयुक्तहै। प्रथम वहां अदृष्टवान्क्षेत्रज्ञ(आत्मा)के संयोग से परमाणु में कर्म्म होता है। तब वह परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर द्विअणुक का आरम्भ करता है। किन्तु बहुत परमाणु संयुक्त हो सहसा स्थूल कार्य्य का आरम्भ नहीं करते। घटोपगृहीत परमाणुवत् अर्थात् यदि घट के बनाने के लिये गए हुए परमाणु घट का आरम्भ करे तब घट के भग्न होने पर कपालों की और बालुका आदिकों की उपलब्धि उस में न होनी चाहिये। क्योंकि उन का आरम्भ नहीं हुआ है घट का ही उन से आरम्भ किया गया है। वैसा होने पर यदि मुद्गर के प्रहार से घट का विनाश होजाय तो उस में किसी अन्य वस्तु की उपलब्धि न हो। क्योंकि उनका आरम्भ नहीं हुआ। और उनके अवयवीभूत परमाणु अतीन्द्रिय हैं। इस हेतु बहुत परमाणुवों का द्रव्य के प्रति समवायिकारणता नहीं अपितु दो ही

परमाणुद्वि-अणुकका आरम्भकरतेहैं और जो उसका अणुत्वपरिमाण है वह परमाणु परिमाण पारिमाण्डल्य से अन्य है उस को ईश्वर की बुद्धि की अपेक्षा से उत्पन्न जो द्वित्व संख्या वह बनाती है किन्तु द्वि-अणुकों से द्रव्य का आरम्भ नहीं होता। क्योंकि तब वैयर्थ्य-प्रसङ्ग होगा। वह द्वि-अणुक ही होगा महत्व नहीं। क्योंकि कारण बहुत्व, महत्व, और प्रचयविशेष से महत्व की उत्पत्ति होती है। द्वि-अणुकका महत्व नहीं होता। जिस हेतु उन से आरब्ध महत्व हो और द्वि-अणुक में बहुत्व भी नहीं। क्योंकि उसमें द्वित्व ही है। और तूलपिण्डों के समान उस मे प्रचय भेद भी नहीं। क्योंकि उन के अवयवों के अनवयवत्व के कारण प्रशिथिल जो अवयवों का संयोग उस का जो भेद उस का अभाव है। इस हेतु तत्कारणद्वि-अणुकवत् अणु ही होगा। और स्त्री-पुरुष का जो उपभोग उस के अतिशय के अभाव से और अदृष्टनिमित्तत्व से विश्वनिर्माण का भोगार्थत्व होने से तत्कारण द्वि-अणुक द्वारा उस की सिद्धि हो सकती है। तब द्वि-अणुक के आश्रय से द्वि-अणुकान्तर का अनुमान करना व्यर्थ है। इस लिये आरम्भ वैयर्थ होगा। आरम्भार्थवत्व के लिये बहुत ही द्वि-अणुकों से त्रिअणुक,चतुरणुक,पञ्चाणुकद्रव्य महत् दीर्घबनेगा। वहां २ भोग भेद रहना ही है। और बहुत्व संख्या सम्बधिनी ईश्वर की बुद्धि की अपेक्षा से महत्व परिमाण योनि विद्यमान ही रहता। त्रिअणुकादिकों से आरब्ध जो कार्य्य द्रव्य वह कारण बहुत्व से अथवा कारण महत्व से अथवा कारण प्रचय भेद से महत् होता यह वैशेषिकों की प्रक्रिया है। और कारणसमवायिगुण कार्य्यद्रव्य में समान जातीय ही अन्यगुण को बनाते हैं। यह जो दूषण वेदान्त-पक्ष में दिया जाता है, यह अदूषण है। इस विषय को वैशेषिक की ही प्रक्रिया से सिद्ध करते हैं।

जैसे महत् द्रव्य जो त्रिअणुकादि वह ह्रस्वद्वि-अणुकसे उत्पन्न होता है। किन्तु महत्वगुणों के उपजनन मे द्वि-अणुकगत महत्व की वह अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि वह ह्रस्व होता है। अथवा जैसे, वोह

दीर्घ त्रिअणुकादि ह्रस्वद्वि अणुक से होता है। किन्तु तद्गत दीर्घत्व की अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि उस दीर्घत्वका द्वि-अणुक में अभाव है। और भी-जैसे द्वि-अणुक जो अणुह्रस्व परिमाण वह परिमण्डल रूप में उत्पन्न होता है उसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत् होगा इस में आप की क्या क्षति।

श्रीशङ्कराचार्य्य ने पूर्वोक्तवैशेषिक प्रदत्तदूषण को-

"महद् दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।"

इस सूत्रके भाष्य में इस प्रकार दिखलाया है। प्रथम वैशेषिक की प्रक्रिया कहते हैं। परमाणु कुछ काल कार्य्यों को न करते हुए पारिमाण्डल्यपरमाणुरूप में रूपादि सहित विद्यमान रहते हैं और पश्चात् अदृष्टकारणवश वे परस्पर मिलकर द्वि-अणुकादिक क्रम से समस्त कार्य्यों का आरम्भ करते हैं। कारण के गुण कार्य्य में गुणान्तर बनाते हैं। जब दो परमाणु द्वि-अणुकका आरम्भ करतेहैं तब परमाणुगत जो रूपादिगुणविशेष शुक्लादिगुण वे द्वि-अणुक में अन्य शुक्लादिगुणों का आरम्भ करतेहैं। किन्तु परमाणु-गुण विशेष जो पारिमाण्डल्य वह द्वि-अणुक में दूसरे पारिमाण्डल्य का आरम्भ नहीं करता क्योंकि द्वि-अणुक का अन्यपरिमाण से योग होता है यह वैशेषिक सिद्धान्त है। क्योंकि द्वि-अणुकवर्त्ती अणुत्व और ह्रस्वत्व परिमाण में होते हैं। जब भी दो द्वि-अणुक चतुरणुक, का आरम्भ करते हैं तो भी द्वि-अणुगत शुक्लादिगुणोंके वे आरम्भक होते हैं। किन्तु द्वि-अणुकसमवायी अणुत्व और ह्रस्वत्व के भी वे कदापि आरम्भक नहीं होते। क्योंकि चतुरणुकके महत्व और दीर्घत्व परिमाण के साथ योग का स्वीकारहै। जबभी, बहुत परमाणु अथवा बहुत द्वि-अणुकादि अथवा द्वि-अणुक सहित परमाणु कार्य्य का आरम्भ करते हैं तो भी समानही योजना जाननी चाहिये।

इस प्रकार जैसे परिमण्डलरूप में विद्यमान परमाणु से अणु और ह्रस्व द्वि-अणुक होता है। और महत् और दीर्घ त्रिअणुकादि

परिमण्डल नहीं होता। अथवा जैसे अणु और ह्रस्वरूपमें विद्यमान जो द्वि-अणुक उससे महत् और दीर्घ त्रि-अणुक होताहै। वह त्रिअणुक न अणु न ह्रस्व होता है। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् होगा। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता। यदि तुम कहो कि विरोधी परिमाणान्तर से द्वि-अणुकादि कार्य्यद्रव्य आक्रान्त रहता है। इस लिये कारणगत पारिमाण्डल्य आदि आरम्भक नहीं होते यह मैं मानता हूं। किन्तु चेतनाविरोधी गुणान्तर से यह जगत् आक्रान्त नहीं है। जिससे कारणगत चेतना कार्य्यमें चेतनान्तरका आरम्भक हो क्योंकि अचेतना नामक चेतनाविरोधी कोई गुण नहीं है। क्योंकि चेतना का प्रतिषेधमात्रत्व है। इस लिये पारिमाण्डल्यादि से विषमता होने के कारण चेतना को आरम्भक होना चाहिये। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् चेतन हो परन्तु वास्तव में है नहीं। इस हेतु ब्रह्मप्रक्रिया की संगति कैसे। इस पर शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि जैसे कारण में विद्यमान भी पारिमाण्डल्य आदिकों का आरम्भकत्व नहीं है इसी प्रकार चैतन्य इस अंश का भी आरम्भकत्व नहीं। यहां दोनों की समान प्रक्रिया है। और पारिमाण्डल्य आदि परिमाणान्तर से आक्रान्त है इस लिये वे आरम्भक नहीं होते यह कहनाभी तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि परिमाणान्तर के आरम्भ से पूर्व पारिमाण्डल्य आदिकों का आरम्भकत्व सिद्ध ही था क्योंकि आरब्ध भी कार्य्यद्रव्य गुणारम्भ से पूर्वक्षणमात्र अगुणही रहता है यह स्वीकार है। यदि कहें कि पारिमाण्डल्य आदि परिमाणान्तर के आरम्भ में व्यग्र रहते हैं इस हेतु स्वसमानजातीय परिमाणान्तरका आरम्भ नहीं करते। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि परिमाणान्तर के अन्य हेतु हैं यह आपको स्वीकार है क्योंकि-

कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचय
विशेषाच्च महत्। वै० सू० ७।१।९।

तद्विपरीतमणु । वै० सू० ७ । १ । १० ।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते । वै०सू०७।१।१९

कारण के बहुत्व से, कारणमहत्त्व से और प्रचयविशेष (अवयवसंयोगविशेष) से महत्त्व होता है । तद्विपरीत अणु होता है । इस से ह्रस्वत्व और दीर्घत्व भी व्याख्यात हुए । ये कणाद के सूत्र हैं । यदि कहैं कि किसी सन्निधानविशेषसे कारणबहुत्वादिक आरम्भक होते हैं । किन्तु पारिमाण्डल्य आदि आरम्भक नहीं होते । यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि द्रव्यान्तर और गुणान्तर के आरम्भ में सब ही कारणगुणों के स्वाश्रयसमवाय में भेद नहीं । इस हेतु स्वभाव से ही पारिमाण्डल्य आदिकों का अनारम्भकत्व है । वैसे ही ब्रह्मगत चेतना का भी अनारम्भकत्व है । इस लिये दोनों की समानप्रक्रिया होने से तुम्हारा दूषण अदूषण है ।

और भी—संयोग के कारण विलक्षण द्रव्यों की उत्पत्ति देखते हैं । इस हेतु कारणगुण कार्य्य में समानजातीय का आरम्भक होता है यह कहना ठीक नहीं । प्रकृतिद्रव्य में गुण का उदाहरण देना अयुक्त है ऐसा यदि कहैं सो भी ठीक नहीं । क्योंकि दृष्टान्त से विलक्षण के आरम्भमात्र की विवक्षा है । द्रव्य का द्रव्य ही, गुण का गुण ही उदाहरण होता है यदि ऐसा कहैं तो इस नियम में कोई ऐसा हेतु नहीं । आप के सूत्रकार ने भी द्रव्य के सम्बन्ध में गुण का उदाहरण दिया है । जैसे—

प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् ।

संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते । वै०सू०४।२।२

जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और आकाश में समवेत होता हुआ संयोग अप्रत्यक्ष है । वैसे ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जो पञ्चभूत उन में समवेत होता शरीर अप्रत्यक्ष होजाय किन्तु शरीर अप्रत्यक्ष है इस लिये शरीर पाञ्चभौतिक नहीं इत्यादि आप के आचार्य्य ने वर्णन

किया है। इस से मेरा तात्पर्य यह है कि संयोग तो गुण है और शरीर द्रव्य है।

दृश्यते तु। अ० सू० २।१।६

यहां भी विलक्षणोत्पत्ति का वर्णन किया है। तब तो उसी से इस बात का वर्णन हो चुका फिर इस की आवश्यकता क्या। वह सांख्य की शङ्का के उत्तर में कहा गया और यह वैशेषिक के उत्तर में कहा जाता है।

पुनः परमाणुवाद का निराकरण करते हैं वह वाद इस प्रकार उपस्थित होता है लोक में सावयव पटादिद्रव्य स्वानुगत और संयोग वाले तन्त्वादिक द्रव्यों से बनाए जाते हुए देखे जाते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार लोक में जितनी सावयव वस्तुएं हैं वे सब ही स्वानुगत ही संयोग वाले उन २ द्रव्यों से आरब्ध होती हैं, यह प्रतीत होता है। सो यह अवयवावयविविभाग जहां से निवृत्त होजाता वह अपकर्ष पर्य्यन्त प्राप्त परमाणु है इस हेतु सब यह गिरिसमुद्रादिक जगत् सावयव है और सावयव होने से आद्यन्तवान् है। और यह कार्य्यरूप जगत् कारण विना नहीं हो सकता। इस हेतु परमाणु इस जगत् का कारण है यह कणभोक्ता कणाद का अभिप्राय है। इस भूमि, जल, तेज वायु रूप चारों महाभूतों को अवयवयुक्त देख चतुर्विध परमाणुओं की कल्पना करते हैं। अवयव का टुकड़ा करते २ जिस के परे पुनः टुकड़ा न हो उस का नाम अपकर्ष है। उस अपकर्ष के अन्त तक प्राप्त जहां तक पुनः विभाग नहीं हो सकता वहां तक नष्ट होते हुए पृथिव्यादि चार महाभूतों का जो परमाणु पर्य्यन्त विभाग होता है उसी का नाम प्रलयकाल है। तत्पश्चात् सृष्टिकाल में वायवीय (वायुसम्बन्धी) अणुओं में अदृष्टवश कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म स्वाश्रय (अपने आश्रय में रहने वाले) एक अणु को दूसरे अणु से मिलाता है। तब द्वि-अणुकादिक क्रमसे वायुकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल, पृथिवी और सेन्द्रिय शरीर इत्यादि इत्यादि यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है और तन्तुपटन्यायसे काणाद

(कणादसम्प्रदायी) कहते हैं कि अणुगत जो रूप आदि उन से द्वि-अणुक आदियों में रूप आदि उत्पन्न होते हैं। तन्तुपटन्याय का अर्थ यह है कि यदि तन्तु (सूत) श्वेत हो तो वस्त्र भी श्वेत ही होगा। इसी प्रकार सम्पूर्ण तन्तुसमूह में जो गुरुत्व और महत्वादिक गुण होंगे वेही पट में भी आवेंगे। इसी का नाम तन्तुपटन्याय है।

इस पर श्रीशङ्कराचार्य्य कहते हैं कि तब आप के मत के अनुसार विभागावस्था में प्राप्त अणुयों का जो परस्पर संयोग होगा वह कर्म्माधीन मानना पड़ेगा। क्योंकि कर्म वाले तन्त्वादिकों में संयोग देखते हैं। तब जिस हेतु कर्म्म भी एक कार्य्य है। इस लिये उसका भी कोई निमित्तकारण होना चाहिये। यदि कहें कि उस कर्म्म का कोई निमित्तकारण नहीं तो अणुयों में प्रथम कर्म न होगा इस लिये यदि प्रयत्न अथवा अभिघात आदि कुछ कर्म का भी निमित्त मानलें तो यह सम्भव नहीं। इस लिये अणुयों में आदि कर्म नहीं होसकता क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का गुण प्रयत्न नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय शरीर का अभाव है। जब मन शरीरों में प्रतिष्ठित होता है तब उस में आत्मा के साथ संयोग होता है। तब आत्मगुण प्रयत्न होता है यह क्रम है। इस से अभिघातादिक भी दृष्ट निमित्त खण्डनीय है। क्योंकि सृष्टि के अनन्तर ही प्रयत्न आदिक हो सकते। प्रथम कर्म के वे निमित्त नहीं हो सकते। इसलिये यदि कहें कि आद्य (आदि में जो हो) कर्म का अदृष्ट ही निमित्त है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वह आद्य कर्म आत्मसमवायी अथवा अणुसमवायी है अर्थात् आत्मा में या अणु में समवायसम्बन्ध से रहने वाला है। दोनों प्रकार से अणुयों में अदृष्ट निमित्तक कर्म की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि अदृष्ट का अचेतनत्व है। चेतन से अनधिष्ठित अचेतन स्वयम् स्वतन्त्र होकर के न प्रवृत्त होता न किसी को कार्य्य में लगाता। और उस अवस्था में आत्मा भी अचेतनवत् ही रहता क्योंकि मन आदि के संयोग से आत्मा में चैतन्य होता है उसका सृष्टि के पूर्व में अभाव है। और अदृष्ट का आत्मसमवायित्व है

यह आप स्वीकार करते हैं । इस हेतु अणुओं में कर्म का निमित्त अदृष्ट नहीं हो सकता । यदि कहें कि अदृष्टवान् पुरुष (आत्मा) के साथ अणुओं का सम्बन्ध है तो यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि सम्बन्ध सातत्य से प्रवृत्ति सातत्य होगा। अर्थात् आत्मा के साथ अणुओं का यदि सम्बन्ध मानें तो वह नित्यसम्बन्ध होगा । इस हेतु प्रवृत्ति भी नित्य ही होगी । यदि कहें कि सम्बन्ध की नित्यता तो है किन्तु प्रवृत्ति की नित्यता नहीं तो इस सङ्कोच में कोई प्रमाण नहीं । इस हेतु इस प्रकार किसी नियत कर्म निमित्त न होने से अणुओं में आद्य कर्म न होगा । कर्म के अभाव से तन्निबन्धक संयोग न होगा। और संयोग के अभाव से तन्निबन्धक द्वि अणुकादि कार्य्य जगत् न होगा । यह आप के पक्ष में महान् अनिष्ट आपड़ेगा । और भी—एक अणु का दूसरे अणु के साथ जो संयोग वह सब प्रकार से है अथवा केवल एक देश से है । यदि सब प्रकार से वह संयोग है तो उपचय की प्राप्ति न होगा। और इस द्वि-अणुककाभी अणुमात्रत्व प्रसङ्ग और दृष्टविपर्ययप्रसङ्ग होंगे । क्योंकि प्रदेशवान् द्रव्य का प्रदेशवान् अन्य-द्रव्य से संयोग होता है यह प्रत्यक्ष है । इस हेतु सर्वात्मा (सर्व प्रकार से संयोग नहीं हो सकता । इस हेतु एक देश के साथ संयोग होता है यह स्वीकार करें तो सावयवत्व प्रसङ्ग होगा इस दोष के निवृत्ति के लिये यदि परमाणुओं के प्रदेश कल्पित होते हैं वास्तविक नहीं । यह स्वीकार करें तो कल्पित पदार्थों का अवस्तुत्व होने से संयोग भी अवश्य ही होगा । इस हेतु वस्तुरूप कार्य्य में असमवायिकारण न होगा । असमवायिकारण के न होने से द्वि-अणुकादि कार्य्य जगत् भी न होगा । और भी—इसी प्रकार आदि सर्गमें निमित्त के अभाव से संयोग की उत्पत्ति के लिये अणुओं में कर्म की सम्भावना न होगी इसी प्रकार महाप्रलय में भी विभागोत्पत्यर्थ अणुओं में कर्म न होगा।क्योंकि वहां भी किञ्चित् नियत निमित्त नहीं । अदृष्टभी भोगसिद्धिकेअर्थ है प्रलयसिद्धिकेलिये नहीं । इसहेतुनिमित्तके अभाव संयोगोत्पत्यर्थ अथवा विभागोत्पत्यर्थ अणुओंमें कर्मन होगा । अतएव

संयोग और विभाग के अभाव से संयोगविभागाधीन जो सर्ग और प्रलय इन दोनों का अभाव होगा। इस लिये यह परमाणुकारणवाद सर्वदा अनुपपन्न है।

दो अणुओं से उत्पद्यमान जो द्वि-अणुक वह, दोनों अणुओं से अत्यन्त भिन्न होता है। और इन दोनों अणुओं में वह द्वि-अणुक समवाय सम्बन्ध से वर्त्तता है यह आपका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को मानते हुए आप अणुकरण का समर्थन नहीं कर सकते। क्योंकि जैसे दो अणुओं से अत्यन्त भिन्न जो द्वि-अणुक वह समवायसम्बन्धसे उन दोनों अणुओं के साथ सम्बद्ध होता इसी प्रकार समवाय भी समवायी से अत्यन्त भिन्न होकर अन्य समवायसम्बन्ध से समवायी के साथ सम्बद्ध होगा। क्योंकि इन दोनों में अत्यन्त भेद की समानता है। तब उस २ सम्बन्ध का अन्य २ सम्बन्ध कहना होगा। इस हेतु अनवस्था होगी। यदि इस पर आप कहें, कि-प्रत्ययग्राह्य (बुद्धिग्राह्य) समवाय नित्यसम्बद्ध हो समवायी के साथ गृहीत होता है। असबद्ध अथवा सम्बन्धान्तरापेक्ष (अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा करने वाला) गृहीत नहीं होता। तब उस का अन्यसम्बन्ध की कल्पना भी न होगी। जिस से अनवस्था दोष हो। यह आप का भाषण अयुक्त है क्योंकि ऐसा मानने से संयोग भी संयोगियों के साथ नित्यसम्बद्ध ही समवायवत् अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा न करेगा। यदि अर्थान्तर होने से संयोग अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा करेगा तो समवाय भी अर्थान्तर होने से अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा करेगा। यदि इस पर कहें कि संयोग तो गुण है इस लिये अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा करेगा। किन्तु समवाय अगुण है। अतएव अन्यसम्बन्धापेक्षी नहीं। यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि अपेक्षा कारण की दोनों स्थलों में समानता है। और गुण की परिभाषा में गुण को अतन्त्र (अनधीन) कहा है। इस हेतु समवाय को अर्थान्तर मानते हुए आप को अनवस्था दोष सदा बनी रहेगी। अनवस्था दोष से एक की असिद्धि होने पर सब की असिद्धि सिद्ध होगी।

तब दो अणुओं से द्वि-अणुक उत्पन्न न होगा। अतएव परमाणुकारण वाद अनुपपन्न है।

और भी, वे अणु प्रवृत्तिस्वभाव वाले अथवा निवृत्तिस्वभाव वाले अथवा उभयस्वभाववाले अथवा अनुभयस्वभाव वाले हैं। आप क्या मानते हैं। चारों प्रकार से यह सिद्धान्त अनुपपन्न है। यदि प्रवृत्ति स्वभाव वाले अणुओं को मानें तो नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय न होगा। यदि निवृत्ति स्वभाव मानें तो नित्य ही निवृत्ति होने से सृष्टि न होगी। उभयस्वभाव वाले मानना सर्वथा असंगत है। इस लिये यदि अनुभयस्वभाववाले परमाणुओं को मानें तो निमित्त वश से प्रवृत्ति और निवृत्ति को मानने से अदृष्टादि जो निमित्त कारण उन का नित्य सन्निधान रहनेसे नित्य ही प्रवृत्ति होती रहेगी। इस हेतु परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

सावयवद्रव्यों के अवयवशः २ खण्ड या विभाग करने पर जिस से पर विभाग न हो वैसे चतुर्विध रूपादिमान् परमाणु चतुर्विधरूपादिमान भूतभौतिक जगत् के आरम्भक और नित्य हैं। यह जो वैशेषिक मानते हैं उन का वह अभ्युपगम (मानना) निरालम्ब ही है। क्योंकि यदि परमाणु रूपादिमान् (रूप आदि वाले) हैं तो उनका अणुत्व और नित्यत्व न सिद्ध होंगे। किन्तु परमकारण के अपेक्षा से वे स्थूल और अनित्य सिद्ध होंगे। कैसे ? लोक में ऐसा देखा जाता है। क्योंकि लोक में जो २ वस्तु रूपादिमान् हैं वह २ निज कारण के अपेक्षा से स्थूल और अनित्य देखी जाती। जैसे तन्तुओं की अपेक्षासे पट स्थूल और अनित्य होता है। और अंशुओं (तूलखण्ड) की अपेक्षा से तन्तु स्थूल और अनित्य होते हैं वैसे ही यदि परमाणु भी रूपादि मानहै तो उनका भी कोई कारण होना चाहिये। और उस कारण की अपेक्षा से वे स्थूल और नित्य ही होंगे। और—

सदकारणवन्नित्यम्। वै० सू० ४।१।१

जो सत् और कारणवान् न हो वह नित्य है यह नित्य का लक्षण किया है। वह परमाणुओं में संघटित न होगा। क्योंकि उक्त प्रकार

से अणु कारणवान् ही सिद्ध होते हैं। इस हेतु भी परमाणुकारण-वाद अनुपपन्न है।

देखते हैं कि गन्ध, रस, रूप, और स्पर्श गुणवाली पृथिवी स्थूल है। रूप, रस और स्पर्शगुणवाला जल सूक्ष्म है। रूप और स्पर्शगुणवाला तेज सूक्ष्मतर है। और केवल स्पर्शगुणवाला वायु सूक्ष्मतम है। अर्थात् पृथिवी में चारगुण होने से बहुत स्थूल है। जल में तीन गुण होने से पृथिवी की अपेक्षा जल सूक्ष्म है। तेज में दो गुण होने से जल की अपेक्षा तेज सूक्ष्मतर है। और वायु में केवल एक स्पर्शगुण होने से अत्यन्त सूक्ष्म है। इस प्रकार चारों पृथिव्यादि भूत उपचितापचितगुणवाले हैं और इसी लिये स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम इस तारतम्य से युक्त प्रतीत होते हैं। तद्वत् परमाणु भी उपचितापचितगुण वाले हैं या नहीं। दोनों प्रकार से दोष अपरिहार्य्य होगा। क्योंकि यदि परमाणु उप-चितापचितगुणवाले मानें तो उपचित गुणवालों की मूर्त्ति (आकार) होता है। इस लिये अपरमाणुत्व सिद्ध होगा। यदि कहें कि मूर्त्युपचय (आकार की वृद्धि होना) के बिना ही गुणोपचय होता है तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कार्य्यस्वरूप पृथिव्यादि चारभूतों में गुणोपचय के होने से मूर्त्युपचय देखते हैं। इस दोष के निवृत्ति के लिये यदि परमाणुओं को उपचितापचित गुणवाले न मानें और सब ही परमाणु एक २ गुणवाले ही कल्पित किये जांय तो तेज में स्पर्श की, जलमें रूप और स्पर्श की और पृथिवि में रूप, रस और स्पर्श की उपलब्धि न होनी चाहिये। क्योंकि कारणगुणपूर्वक कार्य्य में गुण होते हैं। इस हेतु यदि चतुर्गुणवाले सब परमाणु कल्पित कर लिये जांय तो तो भी जल में गन्ध की, तेज में गन्ध और रस की, वायु में गन्ध रूप और रस की उपलब्धि होनी चाहिये। किन्तु ऐसा देखते नहीं। इस हेतु परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

पुनः "अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा"

इस सूत्र के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य्य कहते हैं कि प्रधान कारणवाद का किसी २ अंश में वेदवित् विद्वानों ने ग्रहण भी किया है। किन्तु इस परमाणुकारणवाद का किसी अ श में शिष्टों ने स्वीकार नहीं किया। इस हेतु यह वाद अत्यन्त अनादरणीय है।

और भी—जैसे मनुष्य, अश्व, गज आदि पशु भिन्न २ हैं तद्वत् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय ये छः पदार्थ अत्यन्त भिन्न और भिन्न २ लक्षण वाले कहे जाते हैं। इस प्रकार छवोंपदार्थों की परस्पर भिन्नता दिखला तद्विरुद्ध इतर पांच पदार्थों की द्रव्याधीनता मानते हैं। अर्थात् यद्यपि द्रव्य, गुण आदि छहों पदार्थ परस्पर भिन्न २ हैं तथापि गुण, कर्म आदि पांच पदार्थ सदा द्रव्य की अधीनता ही में रहते हैं। पृथक् होकर कदापि नहीं पाए जाते। यह जो वशेषिक का अभ्युपगम (सिद्धान्त, मन्तव्य) वह अयुक्त है। क्योंकि जैसे लोक में शशक, कुश, पलाश प्रभृति अत्यन्त भिन्न वस्तुओं का इतरेतराश्रयत्व नहीं देखते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त भिन्न जो द्रव्यादिक पदार्थ इन में गुणादिकों की द्रव्याधीनता न होनी चाहिये परन्तु गुणादिकों की द्रव्याधीनता है इस में सन्देह नहीं। इस हेतु जिस वस्तुका द्रव्य के भावमें भाव हो और द्रव्यके अभावमें अभाव हो वह वास्तव में द्रव्य ही है। संस्थानादि भेद से अनेक नाम वाले होते हैं जैसे एक ही देवदत्त अवस्थान्तर के योग से अनेक नामधारी होता है। तद्वत्। वैसे मानने पर स्वसिद्धान्त का विरोध और सांख्यसिद्धान्त का प्रसङ्ग होगा। अतः द्रव्य, गुण आदि भिन्न २ पदार्थ नहीं हैं। यदि कहैं कि अग्नि से सर्वथा भिन्न धूम है। परन्तु धूमको अग्न्यधीनता प्रत्यक्ष ही है तद्वत षट्पदार्थ परस्पर भिन्न होने पर भी इतरेतराश्रयी होंगे इस में आश्चर्य की कौन बात। यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि भेद प्रतीति से अग्नि और धूम की भिन्नता सिद्ध है किन्तु यहां यह कम्बल शुक्ल है। यह गौ रोहिणी है। यह कमल नील है इस प्रकार उस २ द्रव्य की उस २ विशेषण से प्रतीति होने के कारण अग्नि, धूम के समान द्रव्य और गुण में भेद प्रतीति न

होती। इस हेतु द्रव्य से भिन्न गुण नाम का कोई वस्तु नहीं। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये चार भी द्रव्य से भिन्न नहीं।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि गुण की जो द्रव्याधीनता है वह द्रव्य और गुण में युतसिद्ध के कारण से है। इस पर कहा जाता है कि वह अयुतसिद्धत्व अपृथक् देशत्व है अथवा अपृथक्कालत्व अथवा अपृथक्स्वाभावत्व है। सब प्रकार से यह वैशेषिक का सिद्धान्त अयुक्त है। क्योंकि तब यदि अपृथक्देशत्व स्वीकार करें तो स्वाभ्युपगमविरुद्ध होगा। कैसे-तन्तुयों से आरब्ध पट तन्तु देश कहलाता है पट देश नहीं। किन्तु पटके गुण जो शुक्लत्व आदि वे पट देश कहलाते हैं तन्तुदेश नहीं। क्योंकि इस में कणाद का यह सूत्र है-

"द्रव्याणिद्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्चगुणान्तरम्"

वै० सू० १।१।१०।

तन्तु जो कारणद्रव्य वे पट रूप कार्य्यद्रव्य का आरम्भ करते हैं। और तन्तुगत जो शुक्लादि गुण वे पट रूप कार्य्यद्रव्य में शुक्लादि अन्यगुणों का आरम्भ करते हैं। वह यह वैशेषिक का अभ्युपगम द्रव्यगुण का अपृथक् देशत्व मानने पर बाधित होजायगा। इस लिये यदि अपृथक्कालत्व को अयुतसिद्धत्व मानें तो वृषभ के वाम और दक्षिण शृङ्गों का भी अयुतसिद्धत्व प्रसक्त होगा। इस लिये यदि अपृथक् स्वभावत्व को ही अयुतसिद्ध मानें तो द्रव्य और गुण में भेद सम्भव नहीं। तादात्म्य से ही वह प्रतीत होता है। पुनः युतसिद्ध दो पदार्थों में संयोगसम्बन्ध और और अयुतसिद्ध दो पदार्थों में समवायसम्बन्ध मानना भी उनका वृथा है। क्योंकि कार्य्य से पूर्व सिद्ध जो कारण उस का अयुतसिद्धत्व न होगा इसहेतु यदि अन्यतरापेक्ष ही यह अभ्युपगमहो और अयुतसिद्धकार्य्य का कारण के साथ जो सम्बन्ध वह समवाय ही हो इस अवस्था में भी पूर्व असिद्ध अलब्धात्मक जो कार्य्य उस का कारण के साथ सम्बन्ध की उपपत्ति नही हो सकती क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुयों का होता है। इस हेतु कार्य्य को सिद्ध मान करही

सम्बन्ध मानें तो कार्य्य की कारण सम्बन्ध से पूर्व सिद्धि मानने पर अयुतसिद्धि की अभाव से कार्य्य कारण में संयोग और विभाग न होंगे। यह अनुपपन्नता होगी। और भी. उत्पन्नमात्र अक्रिय जो कार्य्यद्रव्य उन का व्यापक आकाशादिद्रव्यों के साथ सम्बन्ध, संयोग ही होता है समवाय नहीं। इस प्रकार कारण द्रव्य के साथ भी संयोगसम्बन्ध ही होगा समवाय नहीं। और संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध का सम्बन्धी को छोड़ अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं। यदि सम्बन्धी शब्द के ज्ञान के बिना भी संयोग और समवाय शब्द का ज्ञान होता है। इस लिये उन दोनों का अस्तित्व है यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि एक ही वस्तु के स्वरूप और बाह्य रूप की अपेक्षा से अनेक नाम होते हैं। जैसे एक ही देवदत्त के लोक में स्वरूप और सम्बन्धरूप अपेक्षा से अनेक नाम होते हैं। जैसे मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, दानी, बाल, युवा, स्थविर, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता जामाता इत्यादि। और एक ही रेखा के स्थानपरिवर्त्तन से एक, दश, शत, सहस्र इत्यादि नाम होते हैं। वैसे ही दो सम्बन्धियों के सम्बन्धिशब्द के बोध के बिना संयोग समवाय शब्द प्रत्याहत्व होतो है व्यतिरिक्तत्व नहीं। इस लिये उपलब्धि प्राप्त जो अनुपलब्धि उसका वस्त्वन्तर में अभाव है यह सिद्ध होता है। सम्बन्धवाचक दो शब्दों के सम्बन्धविषयत्व होने से सन्तत-भाव प्रसङ्ग होगा। क्योंकि स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से अनेक नाम वाला पदार्थ होता है यह पूर्व में कहा गया है इस से यह सिद्ध हुआ कि अणु, आत्मा और मन का अप्रदेश होने से संयोग सम्भवित नहीं। क्योंकि प्रदेशवान् द्रव्य का प्रदेशवान् अन्यद्रव्य के साथ संयोग देखते हैं। इसलिये यदि अणु, आत्मा और मन इन तीनों के भी प्रदेश कल्पित हैं ऐसा मानें तो यह भी अनुपपन्न है। क्योंकि अविद्यमान अर्थ की कल्पना करने पर सब अर्थों की सिद्धि का प्रसङ्ग होगा। इतना ही अविद्यमान विरुद्ध अथवा अविरुद्ध अर्थ कल्पनीय है इस से अधिक नहीं ऐसे मानने में कोई हेतु नहीं। क्योंकि यदि कल्पना अपने

अधीन हैं तो जितनी चाहें अपनी कल्पनाएं कर सकते हैं। वैशेषिकों के माने हुए छः पदार्थों के अतिरिक्त अन्य-अधिक शत वा सहस्र पदार्थ कल्पित न किये जांय। इस का निवारक हेतु कौन। इस हेतु ज़िस को जैसी रुचि हो तदनुकूल वह उतना पदार्थ कल्पित कर सकता है। कोई कृपालु पुरुष यह संसार प्राणियों को बहुत दुःख प्रद है इस हेतु यह संसार हो न हो। ऐसी कल्पना करलें। अन्य कोई व्यसनी पुरुष मुक्तों की भी पुनरुत्पत्तिहोती है यह कल्पना करें इन दोनों का निवारक कौन। और भी निरवयव दो परमाणुओं से निर्मित जो सावयव द्वि-अणुक उसका आकाश के साथ सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि आकाश को पृथिव्यादि का यतुकाष्ठवत् संश्लेष नहीं होता। इस हेतु कार्य्यकारण द्रव्यों का आश्रिताश्रयभाव किसी प्रकार न सिद्ध होने से समवायसम्बन्ध ही अवश्य कल्पनीय है। ऐसा कहें तो यह भी अयुक्त है। इस में इतरेतराश्रय दोष होगा क्योंकि कार्य्य और कारण में भेदसिद्धि होने पर आश्रिताश्रयभाव की सिद्धि होगी। और आश्रिताश्रयभाव की सिद्धि होने पर उन दोनों की भेद सिद्धि होगी। इस प्रकार कुण्डवदरवत् इतरेतराश्रयता हो। किन्तु कार्य्यकारण का भेद अथवा आश्रिताश्रय भाव वेदान्ती नही मानते किन्तु कारण का ही संस्थानमात्र कार्य्य है ऐसा वेदान्त का सिद्धान्त है।

और भी-जिस हेतु परमाणु परिछिन्न होते हैं इस हेतु जितनी दिशाएं छः वा आठ वा दश मानी जांय उतने अवयवों से वे परमाणु सावयव होंगे। और सावयव होने से अनित्य होंगे। इस प्रकार परमाणु नित्य और निरवयव हैं यह आप का अभ्युपगम बाधित हो जायगा। इस हेतु यदि वैशेषिक कहें कि दिशाओं के भेद से भेद मानने वाले आप जिन को अवयव कहते हैं वेही हमारे परमाणु है यह कथन भी असङ्गत है। क्या सूक्ष्मता के कारण परमाणु विनष्ट नही होते अथवा निरवयवता के कारण। दोनों तरह से यह युक्त नहीं क्योंकि जैसे द्वि-अणुकादि की अपेक्षा से अत्यन्तस्थूल और

वस्तुभूत भी पृथिवी विनष्ट होती है। तब सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पृथिवी का एक जातीयक नष्ट होता है। तब द्वि-अणुक। वैसे ही परमाणु भी पृथिव्येक जातीयकत्व के कारण विनष्ट होंगे। इस पर यदि कहें कि अवयव विभाग से ही वे नष्ट होंगे तो भी अन्ततोगत्वा परमाणुरूप में ही रहेंगे। यह दोष भी अदोष है। क्योंकि जैसे पिष्ट-पिण्ड के अवयवसंयोग के नाश के विनाही बढ़ाने पर बढ़ता जाता हैं बढ़ता हुआ अनेक प्रकार के आकार वाला होता हुआ पुरोडाश बन जाता है। वहाँ पिण्ड नष्ट होता है और पुरोडास उत्पन्न होता है। वहाँ पिण्ड के अवयवों के संयोग विनष्ट नहीं होते। किन्तु संयुक्त ही वे बढ़ाने से अधिक देश में फैल जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि के संयोग से सुवर्णद्रव्यावयव संयुक्त ही द्रवीभाव को प्राप्त होते हैं अर्थात् बहने वाले होजाते हैं। किन्तु परस्पर विभक्त नहीं होते। इस हेतु जैसे अवयव के संयोग के विनाश के बिना ही सुवर्णपिण्ड विनष्ट होता है। और अन्य संयोग की उत्पत्ति के बिना सुवर्ण में द्रव उत्पन्न होता है इसी प्रकार अवयव के संयोग के विनाश के बिना ही परमाणु विनष्ट होंगे और अन्य उत्पन्न होंगे इत्यादि सब बातें ठीक ही हैं। इस हेतु परमाणुकारणवाद सर्वथा निरादरणीय है।

नास्तिकवाद निराकरण

वैशेषिकसिद्धान्त दुर्युक्तियों से युक्त वेदविरुद्ध और शिष्टों से अपरिगृहीत होने के कारण उपेक्षितव्य है। वह वास्तव में अर्धवैनाशिक है। जिस हेतु अर्धवैनाशिक निरादरणीय है। इस हेतु जो सर्ववैनाशिकसिद्धान्त है वह तो अत्यन्त अश्रद्धेय और निरसनीय है। उस सिद्धान्त का संक्षेप से यहां खण्डन बतलाया जाता है। वे बहुत प्रकार के हैं। विशेष कर सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचारी और माध्यमिक चार प्रकार के शिष्य हैं। जो इन के आचार्य्य और तीर्थङ्कर हुए हैं उन में कोई सर्वास्तित्ववादी, कोई विज्ञानास्तित्वमात्रवादी और कोई सर्वशून्यत्ववादी। इस प्रकार वे त्रिविध हैं।

जिस हेतु शिष्य हीन,मध्यम और उत्कृष्टबुद्धि वाले होते हैं इस हेतु उन में जो हीनमति के हैं उन्हें प्रथम सर्वास्तित्ववाद दिखला कर शून्यता की ओर वे लाए जाते हैं। जो मध्यम हैं उन्हें प्रथम ज्ञानमात्रास्तित्व दिखला शून्यता में दृढ़ करते हैं। और जो प्रकृष्टमति हैं उनको साक्षात् शून्यतत्त्व दिखलाया जाता है। बोधचित्तविवरण में कहा भी गया है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥

लोकनाथ महात्माओं का उपदेश शिष्यानुसार होता है। इस हेतु लोक में यह उपदेश भिन्न २ प्रतीत होता है। उनका सिद्धान्त इस प्रकार है। वे भी पृथिवी, अप्, तेज, वायु इन चारों के चार प्रकार के परमाणु मानते हैं। पृथिवी के परमाणु प्रखर=कठिनस्वभाववाले हैं। जल के परमाणु स्निग्ध, तेज के परमाणु उष्ण और वायु के परमाणु ईरण=चञ्चल स्वभाव वाले हैं। और वे पांच स्कन्ध मानते हैं। रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध। विषयसहित इन्द्रियरूपस्कन्ध है। मैं मैं...... हूं इस आलयविज्ञानप्रवाह का नाम विज्ञानस्कन्ध है। सुखाद्यनुभव का नाम वेदनास्कन्ध है। गौ, अश्व इत्यादि नाम विशिष्ट जो सविकल्पकबोध उस का नाम संज्ञास्कन्ध है। राग, द्वेष,मोह, धर्म और अधर्म का नाम संस्कारस्कन्ध है उन में विज्ञानस्कन्ध चित्त और आत्मा कहलाता है। और अन्य चार चैत्र कहलाते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त पञ्चस्कन्धी कहलाता है। यह सिद्धान्त भी वैशेषिकवत् निःसार है। क्योंकि बाह्य और आध्यात्मिक इन दोनों का एक समुदाय नहीं बन सकता है। क्योंकि कुलालादि चेतन आदमी मृत्तिका दण्ड आदि सामग्री को लेकर समुदाय घट का रचना करता है। यहां यदि मृत्पिण्डादि को लेकर व्यापार करने वाला विद्वान् कुम्भकार न हो तो अचेतन मृत्तिका दण्ड प्रभृति स्वयम्

व्यापर करके कदापि घट नहीं बना सकते । कुविन्द (जुलाहा) के बिना तन्तु वेमादिक पट नहीं बनाते । इस हेतु इस दृष्टान्त से सिद्ध है कि चेतन के बिना कार्य्य नहीं होता । आप के सिद्धान्त में समुदायी अचेतन है फिर सृष्टि कैसे । यदि कहें कि हमारे मत में चित्त चेतन है । वह अचेतन कारणों को लेकर कार्य्य बनाया करेगा । यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि बाह्य और अभ्यन्तर जो समुदाय उस की जब तक सिद्धि न होगी तब तक चित्त न बनेगा । जब समुदायसिद्धि होगी तब चित्त बनेगा । और जब चित्त हो तब समुदायसिद्धि हो इस प्रकार अन्यान्याश्रय दोष आप के मत में दुर्निवार है । इस के अतिरिक्त भोक्ता प्रशासिता स्थिर चेतन का स्वीकार नहीं जो सब को मिलाया करे । इस हेतु यदि निरपेक्ष प्रवृत्ति मानें तो सदा प्रवृत्ति होनी चाहिये । इस हेतु आप के मत में समुदायकी अनुपपत्ति होगी और समुदाय की अनुपपत्ति होने से तदाश्रय लोक यात्रा का लोप होगा ।

इस पर सर्ववैनाशिक कहते हैं कि यद्यपि कर्त्ता, भोक्ता, प्रशासिता कोई चेतन हम ऐसा नहीं मानते हैं जो संहन्ता=परस्पर मिलाने वाला और स्थिर हो । किन्तु इतरेतरकारणवान् कुछ अविद्यादिक पदार्थ हम मानते हैं । जिस से लोकयात्रा की सिद्धि होती है । संक्षेप से हमारा मत इस प्रकार है—इसका नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है । वह दो कारणों से होता है । १—हेतूपनिबन्ध २—प्रत्ययोपनिबन्ध यह प्रतीत्य समुत्पाद पुनः दो प्रकार का है । १—बाह्य २—आध्यात्मिक यह बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद का हेतूपनिबन्ध इस क्रम से होता है-बीज से अंकुर, अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्डसे नाल, नाल से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प, पुष्प से फल होता है । यदि बीज न हो तो अंकुर नहीं होता । यदि पुष्पसमुदाय न हो तो फल नहीं होता । बीज होते ही अंकुर होता है । पुष्प होने पर ही फल होता । यहां बीज को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं अंकुर बना रहा हूं । एवम् फल को भी बोध नहीं होता कि मैं पुष्प द्वारा तय्यार होगया हूं । इस

हेतु बीजादिकों का चैतन्य न रहने पर भी और उन का कोई अधिष्ठाता भी न रहने से कार्य्यकारणभाव नियम देखते हैं। हेतूपनिबन्ध कहा गया अब प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्ययोपनिबन्ध कहते हैं। हेतुयों के समवाय का नाम प्रत्यय है। अब जैसे छौ धातुयों के समवाय (समुदाय) से बीज हेतुक अंकुर होता है। वहां पृथिवी का धातु बीज का संग्रह करता है। जिस से अंकुर कठिन होता है। जलका धातु बीज को स्निग्ध करता है। तेज का धातु बीज को पकाता है। वायु का धातु बीज में गति देता है जिस से अंकुर बीज से ऊपर निकलताहै। आकाशधातु बीजका अनावरण कृत्यकरताहै। ऋतुभी बीज का परिणाम करता है। इस हेतु इन अविकल, धातुयों का समवाय जो बीज वह यदि उत्पन्न न हो तो अंकुर कदापि नहीं बन सकता। और उस से पत्रादिक नहीं बन सकता इत्यादि। यहां पृथिवी धातु को यह बोध नही है कि मैं बीज का सग्रहकृत्य करता हूं। ऋतु को भी बोध नहीं होता कि मैं बीज का परिणाम करता हूं। इसी प्रकार अंकुर को भी बोध नहीं होता कि मैं इन समुदायों से निवर्तित हूं।

अब आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। वह दो कारणों से होता है। हेतूपनिबन्ध से और प्रत्ययोपनिबन्ध से। वहां इस को हेतूपनिबन्ध यह है जो यह अविद्याप्रत्यय, सस्कार जातिप्रत्यय जरामरणादि है। यदि अविद्या न होती तो संस्कार भी न होते। इसी प्रकार जाति। यदि जाति न होती तो जरामरणादिक न होते, वहां अविद्या को यह बोध नहीं है कि मैं संस्कारों को बना रही हूं। सस्कारों को भी यह ज्ञान नहीं है कि हम अविद्या से निर्वर्त्तित हुए हैं। इसी प्रकार जाति को भी बोध नहीं है कि मैं जरामरणादिकों को बना रही हूं। जरामरणादिकों को भी ज्ञान नहीं है कि हम जाति से बने हुए हैं। यहां जैसे किसी अन्य चेतन से अनधिष्ठित जो अचेतन बीजादिक उन से अंकुर आदिकों की उत्पत्ति होता है। वैसेही यद्यपि अविद्यादिक स्वयम् अचेतन हैं और इन का कोई अन्य चेतन

अधिष्ठाता भी नहीं तथापि अविद्यादिक से संस्कारादिकों की उत्पत्ति होती है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ यह है (इदं प्रतीत्य प्राप्येदमुत्पद्यते इति प्रतीत्यसमुत्पादः) कि इस को पाकर यह उत्पन्न होता है। जैसे पूर्व उदाहरण में देख आये हैं। वह यह आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद का हेतूपनिबन्ध है। अब प्रत्ययोपनिबन्ध कहतेहैं–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन के समुदाय से शरीर होता है। यहां पृथिवी धातु शरीर का काठिन्य बनता है। जल धातु शरीर को स्निग्ध करता है, तेजो धातु शरीर के अशन और पान को पचाता है। वायु धातु शरीर में श्वासादि उत्पन्न करता है। आकाश धातु काय के भीतर छिद्र बनाता है। जो नाम, रूप और अंकुर को बनाता है। और पञ्चविज्ञानकार्य्यसंयुक्त साश्रव मनो विज्ञान है। वह यहां विज्ञान धातु कहलाता है। जब आध्यात्मिक पृथिव्यादि धातु अविकल होते हैं। तब उन के समवाय (समुदाय) से काय की उत्पत्ति होती है। यहां पृथिव्यादि धातुओं को बोध नहीं होता कि हम काय का काठिन्यादि बनाते हैं। काय को भी बोध नहीं होता कि मैं इन समुदायों से बना हुआ हूं। परन्तु यद्यपि पृथिव्यादि धातु अचेतन हैं। और इन का अधिष्ठाता कोई चेतन नहीं दीखता तथापि इन से अंकुरवत् काय की उत्पत्ति होती है। वह यह प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यक्ष है उस का खण्डन नहीं हो सकता वे अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख और दुर्मनस्ता इन का संक्षेप से अर्थ यह है।

उन पूर्वोक्त छः धातुओं की विद्यमानता में जो यह पिण्डसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, सुखसंज्ञा, सत्वसंज्ञा, पुद्गलसंज्ञा, मनुष्यसंज्ञा, मातृ दुहितृसंज्ञा, अहंकार ममकारसंज्ञा हैं। वह यह अविद्या है। यही संसार के अनर्थ समुदाय का मूल कारण है (१) इस अविद्या के रहते हुए राग, द्वेष और मोहरूप संस्कार विषयों में प्रवृत्त होते हैं

(२) वस्तु विषयों के ज्ञान का नाम विज्ञान है। (३) विज्ञान से जो चार रूप वाले उपादान स्कन्ध हैं वह नाम है उन को लेकर रूप बनता है। इन नाम और रूप दोनों को लेकर एक नामरूप संज्ञा होती है। (४) शरीर की ही जो कललबुद्बुदादि अवस्था और नामरूप मिश्रित इन्द्रिय इस समुदाय का नाम षडायतन है। (५) नामरूप इन्द्रिय इन तीनों के समुदाय का नाम स्पर्श है। (६) स्पर्श से सुखादिक वेदना होती है (७) वेदना होने पर यह सुख करना चाहिये इस के लिये जो अध्यवसाय उस का नाम तृष्णा है। (८) वाक् और काय की चेष्टा का नाम उपादान है। (६) धर्माधर्म का नाम भव। (१०) उस से जाति (जन्म) होता है। (११) उस जन्म के पश्चात् जरामरणादिक होते हैं। उत्पन्न स्कन्धों का परिपाक जरा है (१२) स्कन्ध का नाम मरण (१३) संसार में लिप्त म्रियमाण मूढ का जो पुत्र कलत्रादिकों में अन्तर्दाह उस का नाम शोक (१४) उस शोक के पश्चात् हा मातः हा तात हा मेरे पुत्र कलत्रादि इत्यादि विलाप का नाम परिदेवना है (१५) पञ्चविज्ञान कार्य्यसयुक्त अमङ्गल का अनुभव उस का नाम दुःख है (१६) मानसिक दुःख का नाम दुर्मनस्ता है (१७)।

इस प्रकार के इतरेतर हेतुक विषय कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तीर्णरूप से सौगतसिद्धान्त में वर्णित हैं। वे अविद्यादि और अविद्याहेतुक जन्मादि सर्वदा घटयन्त्रवत् चक्कर लगा रहे हैं। इन ही अविद्यादिकों से यह सम्पूर्ण जगत् बना हुआ है। यह हमारा संक्षिप्त सिद्धान्त है। इस का खण्डन नहीं हो सकता।

समाधान—इस पर शङ्कराचार्य्य अपने भाष्य में कहते हैं कि यह संघात तब उत्पन्न हो यदि उस संघात का किञ्चित् निमित्त हो। परन्तु निमित्त है नहीं। इतरेतर प्रत्यय के कारणीभूत जो अविद्यादिक उन की उत्पत्ति भले ही हो। परन्तु सम्पूर्ण संघात की उत्पत्ति किञ्चित् निमित्त के विना कैसे हो सकती। यदि कहें कि अविद्यादि द्वारा संघात का आक्षेप होता है तो यह कहना ठीक

नहीं। क्योंकि अविद्यादि से आप का अभिप्राय क्या ? क्या संघात के विना वे अविद्यादि अपना अस्तित्व नहीं बना सकते। इस लिये संघात की अपेक्षा करते हैं। ऐसा यदि कहें तो उस संघात का कुछ निमित्त कहना चाहिये। इस के लिये यदि नित्य अणुओं का स्वीकार हो तो भी यह सम्भव नहीं। यह वैशेषिक परीक्षामें दिखला आए हैं। किन्तु आप अणुओं को नित्य नहीं मानते आप अणुओं को क्षणिक भोक्तृरहित और आश्रयाश्रयिशून्य मानते हैं तब वे अणु निमित्त कैसे हो सकते। तब यदि कहें कि उस संघात का निमित्त अविद्यादि ही हैं। तो यह कैसे हो सकता। जिसके आश्रय से अविद्यादिकों का आत्मलाभ होता है अर्थात् जन्म होता है उस संघात का अविद्यादिक निमित्त कैसे। तब यदि यह कहो कि इस अनादि संसार में ये संघात सदा से स्वयं चले आरहे हैं और उन के आश्रय में अविद्यादिक होते हैं यह कथन आप का अयुक्त है। क्योंकि यदि एक संघात से दूसरा संघात उत्पन्न हो तो नियमसे सदृश ही हुआ करे। अथवा अनियम से सदृश वा विसदृश ही हुआ करे। यदि नियम का स्वीकार करें तो मनुष्य पुद्गल (देह) की देव, तिर्यक् योनि में और नरक आदि में प्राप्ति न होनी चाहिये। इस लिये यदि अनियम का स्वीकार करें तो मनुष्यपुद्गल कदाचित् एक क्षण में हाथी होकर देव वा मनुष्य होजाय यह असमञ्जस प्राप्त होगा। और नियम अनियम दोनों मानना विरुद्ध है। अपिच, जिस के भोग के लिये यह संघात हो ऐसा कोई स्थिर भोक्ता आप के सिद्धान्त में नहीं। तब भोग केवल भोग के लिये ही है अतः वह दूसरे से प्रार्थनीय न होगा। वैसे ही मोक्ष मोक्ष के लिये ही है। इसलिये किसी को मुमुक्षु न होना चाहिये। इस लिये यदि आप कहें कि भोग और मोक्ष का प्रार्थयिता कोई है तो वह भोग और मोक्ष के काल तक रहने वाला हो सकता है। अतः यदि चिरस्थायी भोक्ता का स्वीकार करें तो आप के क्षणिकत्वाभ्युपगम का लोप होजायगा इस हेतु अविद्यादिक यदि इतरेतरोत्पत्तिमात्र का निमित्त होवें तो हो किन्तु संघात की

सिद्धि न होगी । क्योंकि आप के मत में स्थिर भोक्ता का स्वीकार नहीं ।

पुनः वैनाशिक आकाश को निरुपाख्य कहते हैं । यह कहना उन का अयुक्त है । क्योंकि

"आत्मन आकाशः सम्भूतः"

इस श्रुतिसे आकाश कोई वस्तुहै यह सिद्ध होताहै।ओर अनुमानसे भीआकाशका वस्तुत्व सिद्धहै।क्योंकि जैसे पृथिवी आदिमें गुण व्यव स्थितहै वैसे ही शब्दका भी कोई आश्रय मानना चाहिये । पृथिव्यादिकोंका गुण शब्द नही है यह सर्ववादि सम्मत है, तो जिस में शब्द रहे, वह एक द्रव्य सिद्ध होगा । वह आकाश ही है । और भी किसी ने बुद्ध महाराज से पूछा कि भगवन् ! पृथिवी किस के आश्रित है । इस प्रश्नोत्तर के प्रवाह के अन्त में पुनः पूछा है कि वायु का आश्रय कौन है । इस के उत्तर में "वायुराकाशसंश्रियः" वायु का आश्रय आकाश है । ऐसा बुद्ध भगवान् कहते हैं । यदि आकाश कोई वस्तु ही नही तो वायु का आश्रय आकाश है यह कथन कैसे समञ्जस हो सकता है । पुनः आप कहते हैं कि आकाश वस्तु नहीं किन्तु अवस्तु और नित्य है । जो अवस्तुहै वह नित्य क्या होगा । इस हेतु आकाशकी वस्तुता आगम अनुमान और अनुभव से सिद्ध है । संस्कृत में इस अनुमान के अनेकस्वरूप हो सकते हैं । किन्तु संक्षेपस्वरूप यह हैं—

शब्दो वस्तु निष्ठः, गुणत्वात् गन्धादिवत् । इत्यनुमानात् आकाशस्य वस्तुत्वं सिध्यति पृथिव्याद्यष्टद्रव्याणां श्रोत्रग्राह्यगुणाश्रयत्वा योगात् ।

शब्द किसी वस्तु में रहने वाली चीज है । क्योंकि वह गुण है। गन्धादिवत् । जैसे गन्ध पृथिवी में रहता है,वैसे शब्द को भी किसी

में रहना चाहिये। जिस हेतु पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में श्रोत्र ग्राह्य गुणों के आश्रय की योग्यता नहीं इस हेतु शब्दाश्रय अकाश की सिद्धि होती है।

और भी–आप कहते हैं कि आवरणाभाव मात्र का नाम आकाश है तो जब एक पक्षी आकाश में उड़ता है तो द्वितीय पक्षी का उस में अवकाश नहीं होना चाहिये। यदि कहें कि जहां आवरणाभाव है वहां उस उड़ने वाले पक्षी को अवकाश मिलेगा। तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि जिससे आवरणाभाव विशेषण रखते हैं। वह वस्तुभूत आकाश ही सिद्ध होगा। केवल आवरणाभाव मात्र नहीं तब आवरणाभावमात्र आकाश है इस को मानते हुए सौगत का अपना ही अभ्युपगम विरोध होगा।

और भी–वैनाशिक सब वस्तु को क्षणिक मानते हैं। इस अवस्था में उपलब्धि करने वाला जो उपलब्धा है वह भी क्षणिक ही होगा। परन्तु ये सम्भव नहीं। क्योंकि अनुभवजन्य स्मृति का नाम अनुस्मृति है। अनुस्मृति=अनुस्मरण। यदि उपलब्धि एक कर्तृक न हो तो स्मरण का सम्भव नहीं। क्योंकि जिस विषय की प्राप्ति किसी पुरुष ने की है उस का स्मरण उसी को होगा दूसरे को नहीं, मैंने कलकत्ता गत वर्ष देखा। आज उस का स्मरण करता हूं। यह अनुभव लोक प्रसिद्ध बात है। अब यदि उपलब्धा (प्राप्ति कर्ता) क्षणिक है तो कलकत्ता देखने वाला उपलब्धा उसी क्षण में नष्ट हो गया। पुनःस्मरण करने वाला अब कौन रहा। परन्तु प्रत्येक आदमी अनुभूतविषय का स्मरण करता है यह लोक प्रसिद्ध है। इस हेतु कलकत्ता देखने वाला और स्मरण करने वाला दोनों एक ही सिद्ध होता है। अतः क्षणिकत्ववाद असङ्गत है।

इस कारण भी वैनाशिक सिद्धान्त अनुपपन्न है जिस हेतु अस्थिर वस्तु से कार्य्योत्पत्ति वे मानते हैं। इस से सिद्ध है कि अभाव से भावोत्पत्ति होती है। अभाव से भावोत्पत्ति को दिखलाते भी हैं।

"नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्"

विनष्ट बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है और विनष्ट क्षीर से दधि, मृत्पिण्ड से घट। यदि कूटस्थकारण से कार्य्य की उत्पत्ति मानें तो अविशेषवश सब वस्तु सब से उत्पन्न होजाय। इस हेतु अभावग्रस्त बीजादियों से अंकुरादियों की उत्पत्ति होती है यह देख अभाव से भावोत्पत्ति को वे मानते हैं।

समाधान—अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो तो कारण विशेष का अन्वेषण करना निरर्थक है। तब शशविषाणादियों से भी अंकुरादि उत्पन्न होजाय। किन्तु वैसा देखते नहीं। इस का आशय यह है कि दध्यर्थी दूध नहीं लेता है। यदि कार्य्य का नियत कारण न हो तो दध्यर्थी कदाचित् मृत्तिका भी ले ले। और उस से दधि जमाने का प्रयत्नकरे। परन्तु सो करता नहीं। इस हेतु प्रत्येक कार्य्य का कारणभी नियत ही है। वह कारण अभावस्वरूप नहीं किन्तु भावस्वरूप होता है। पुनः देखते हैं कि अनन्वित कार्य्य नहीं होता। घट कदापि सुवर्ण से अन्वित नही। इस से भी ज्ञात होता है कि विकार किसी भाव से उत्पन्न होता अभाव से नहीं।

शङ्का—आप कहते हैं कि कूटस्थ ब्रह्म से यह कार्य्य जगत् होता है। यह वेदान्त का मत भी असंगत है। मैं पूछताहूं कि वह कूटस्थ कार्य्यजनन स्वभाव वाला है अथवा अतत्स्वभाव है अर्थात् उस ब्रह्म का जगत् को उत्पन्न करना स्वभाव ही है या स्वभाव नहीं है। यदि, कार्य्यजनन स्वभावी ईश्वर है तो उस को जितने कार्य्य कर्तव्य हैं उन्हे तत्काल ही करले क्योंकि सर्वशक्तिमान् को काल बिताना अनर्थ है। यदि अतत्स्वभाव है तो कदापि भी कार्य्य न करे। इस लिये यदि कहें कि यद्यपि वह समर्थ है तथापि सहकारी की अपेक्षा करता है इस लिये वह क्रम से कार्य्य करता है। यह भी अयुक्त है क्योंकि क्या उस को सहकारी कुछ उपकार करते हैं या नहीं। यदि उपकार नहीं करते हैं तो सहकारी की अपेक्षा व्यर्थ है। यदि उपकार करते हैं तो भिन्न अथवा अभिन्न उपकार करें। यदि अभिन्न

उपकार है तो वह उपकार न कहला कर तत्स्वरूप कहलावेगा। यदि उपकार का भेद है तो उपकार होने पर कार्य्य हो सकता। अनुपकार में कार्य्य नहीं हो सकता तो भी कूटस्थ में कार्य्य के अनुत्पाद (उत्पत्तिसामर्थ्यराहित्य) से अन्वयव्यतिरेक द्वारा उपकार ही कार्य्यकारी सिद्ध होगा। भाव नहीं। अतः भाव अर्थकारी नहीं। कहा भी गया है—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्म्मण्यस्ति तयोः फलम्। चर्म्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥

तथाच, अकिञ्चित् कर भी कूटस्थ से यदि कार्य्य होय तो सबसे सब होजाय। इस हेतु अभावग्रस्त बीजादियों से, अंकुरादियों की उत्पत्ति देख अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है ऐसा वे मानते हैं।

समाधान—इसका उत्तर पूर्वमें कह दिया शेष इतनाहै कि आपने जो यह कहा है कि स्वरूप के उपमर्द के विना और किसी कूटस्थ वस्तु का कारणत्व का अनिश्चय होने से अभाव से भावकी उत्पत्ति हो सकती है। यह कथन तुरुक है। क्योंकि स्थिरस्वभाव सुवर्णादियों के कुण्डलादि कार्य्य देखे जाते हैं। जिन बीजादिकों में स्वरूपोपमर्द (स्वरूप का विनाश) लक्षित होता है वहां भी उत्तरावस्था का कारण उपमृद्यमान पूर्वावस्था नहीं। अनुपमृद्यमान ही जो बीजाद्यवयव वे ही अंकुरादि के कारण होते हैं। विस्पष्ट बात यह है कि हम लोगों को मालूम होता है कि बीज सर, गल, पच गया और उस से अंकुर उत्पन्न हुआ। परन्तु उसी बीज के सर्वांश लेकर अंकुर हुआ है। अभाव से भाव की उत्पत्ति होती और उस बीज से अंकुर का कुछ सम्बन्ध न होता तो आम के बीज से कदाचित्—निम्ब का अंकुर भी हो जाय किन्तु ऐसा कभी देखा न गया। इस लिये यह सौगत मत सर्वथा त्याज्य है।

पुनः कूटस्थ को जो आप अकिञ्चित्कर कहते हैं सो भी ठीक नहीं। स्थिरभाव भी क्रमवान् सहकारी के साहाय्य से क्रमपूर्वक

कार्य्य करता है। सहकारी भी, अनुपकारी नहीं कहे जा सकते। और सहकारियों से किया हुआ वह उपकार न भिन्न है, न अभिन्न है। किन्तु वह अनिर्वाच्य ही है। और अनिर्वाच्य से कार्य्य भी अनिर्वाच्य ही होता है। इस से स्थिर का अकारणत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कार्य्य का वह उपादान होता है। जैसे भुजङ्ग (सर्प) का उपादान रज्जु होती है अर्थात् स्थिर रज्जु से भी कार्य्य और अनिर्वाच्य सर्प की उत्पत्ति देखते हैं।

पुनरपि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो तो उदासीन और निरीह पुरुषों का भी अभिमत सिद्ध होजाय क्योंकि अभाव तो सुलभ है। तब इस अवस्था में क्षेत्र का कुछ भी उद्योग न करते हुए कृषी-बल (किशान) का अनायास सस्य प्राप्त होजाय। मृत्तिका आदि सामग्री के बिना भी कुलाल (कुम्भकार) बहुत से बर्त्तन बनाले। तन्तुवाय (जुलाहा) भी सूतों के बिना ही अनायास अभीष्ट पट प्राप्त करले। और स्वर्ग, मोक्ष की भी कोई कथञ्चित् इच्छा न करे इत्यादि विषयों को न तो कोई स्वीकार करता और न यह युक्तियुक्त है।

इस प्रकार बाह्यार्थवाद में समुदायाप्राप्ति इत्यादि अनेक दूषण दिखलाये गए हैं। अब विज्ञानवादी बौद्ध का मत संक्षेप से कहते हैं:--

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इनही चार प्रकारों में समस्त तत्वों की समाप्ति होती है। इन में से किसी एक के अभाव में भी तत्व की स्थापना नहीं हो सकती। इस हेतु विज्ञानस्कन्धमात्र को एक तत्व स्थापित करते हुए पुरुष को भी ये चार प्रकार मन्तव्य होंगे। तब विज्ञान स्कन्धमात्र ही एकतत्व है, यह कैसे। यह सम्भव नहीं कि विज्ञानमात्र ये चारों प्रकार हों। इस लिये कहा जाता है कि यद्यपि अनुभव से अन्य अनुभाव्य, अनुभविता और अनुभवन नहीं। तथापि बुद्धि परिकल्पित रूप से अन्तस्थ पदार्थ ही प्रमाण, प्रमेय और फल रूप से परिणत होता है। इसी प्रकार प्रमातृव्यवहार भी जानिये। वास्तव में पारमार्थिक वस्तु नहीं। इस

प्रकार सिद्धि साधन दोष नहीं। क्योंकि ब्रह्मवादी नीलाद्याकारवती बुद्धि को नहीं मानते हैं। किन्तु नीलादि अनिर्वचनीय है ऐसा कहते हैं। जैसे विज्ञान का ही असत्याकारयुक्त स्वरूप प्रमेय है और है प्रमेय प्रकाशन प्रमाणफल और तत्प्रकाशनशक्ति प्रमाण है। बाह्यवादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक का भी काल्पनिक ही प्रमाण-फलव्यवहार है। यद्यपि बाह्य अर्थके रहने पर भी बुद्धिआरोहके विना प्रमाणादिव्यवहार सिद्ध नहीं होता। कैसे मालूम है कि अन्तस्थ ही सर्वव्यवहार है विज्ञानातिरिक्त बाह्य वस्तु नहीं। यदि कहें कि अस-म्भव होने से वैसा माना जाताहै तो इस पर कहा जा सकता है कि वह बाह्य अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो वह परमाणुरूप में अथवा तत्समूह स्तम्भादिरूप में हों। वहां परमाणु स्तम्भादिज्ञान से परि-च्छेद्य नहीं हो सकते क्योंकि परमाणुके आभास का ज्ञान इस अवस्था में अबतक अनुत्पन्न है। इसी प्रकार परमाणु समूह स्तम्भ भी नहीं हो सकते। क्योंकि परमाणुओं से अन्य अथवा अनन्य ये स्तम्भादि हैं इसका निरूपण करना असम्भव है। इसी प्रकार जाति आदि का भी खण्डन हो सकता है। और भी—अनुभवमात्र से साधारणज्ञान हो तब प्रतिविषय में पक्षपात होना नहीं चाहिये। स्तम्भज्ञान, कुड्य-ज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि भिन्नज्ञान कैसे। यह तब ही हो सकता जब ज्ञानगतविशेषता हो इस हेतु ज्ञान का विषयसारूप्य अवश्य अङ्गीकर्तव्य होगा। अङ्गीकार करने पर विषयाकार का ज्ञान-द्वारा अवरोध होने से बाह्यार्थ सद्भावकल्पना मिथ्या नहीं। किन्तु सत्य है। और सहोपलम्भनियम से विषय और विज्ञान का अभेद सिद्ध होता है। क्योंकि इन दोनों में से एक के अनुपलम्भ में दूसरे का उपलम्भ नहीं होता। यह स्वाभाविक विवेक में युक्त नहीं। क्यों कि प्रतिबन्धक कारण का अभाव है। इसहेतु बाह्यार्थका अभावहै।

और भी—स्वप्नादिवत् इस को जानना चाहिये। जैसे स्वप्न, माया, मृगतृष्णोदक, गन्धर्वनगर इत्यादिकों का ज्ञान बाह्य पदार्थ के विना ही होता है। और इन में ग्राह्यग्राहक भाव भी प्रतीत होता

कार्य्य करता है। सहकारी भी अनुपकारी नहीं कहे जा सकते। और सहकारियों से किया हुआ वह उपकार न भिन्न है न अभिन्न है। किन्तु वह अनिर्वाच्य ही है। और अनिर्वाच्य से कार्य्य भी अनिर्वाच्य ही होता है। इस से स्थिर का अकारणत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कार्य्य का वह उपादान होता है। जैसे भुजङ्ग (सर्प) का उपादान रज्जु होती है अर्थात् स्थिर रज्जु से भी कार्य्य और अनिर्वाच्य सर्प की उत्पत्ति देखते हैं।

पुनरपि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो तो उदासीन और निरीह पुरुषों का भी अभिमत सिद्ध होजाय क्योंकि अभाव तो सुलभ है। तब इस अवस्था में क्षेत्रज्ञ का कुछ भी उद्योग न करते हुए कृषीवल (किशान) का अनायास सस्य प्राप्त होजाय। मृत्तिका आदि सामग्री के बिना भी कुलाल (कुम्भकार) बहुत से बर्तन बनाले। तन्तुवाय (जुलाहा) भी सूतों के बिना ही अनायास अभीष्ट पट प्राप्त करले। और स्वर्ग, मोक्ष की भी कोई कथञ्चित् इच्छा न करे इत्यादि विषयों को न तो कोई स्वीकार करता और न यह युक्तियुक्त है।

इस प्रकार बाह्यार्थवाद में समुदायाप्राप्ति इत्यादि अनेक दूषण दिखलाये गए हैं। अब विज्ञानवादी बौद्ध का मत संक्षेप से कहते हैं:—

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इनही चार प्रकारों में समस्त तत्वों की समाप्ति होती है। इन में से किसी एक के अभाव में भी तत्व की स्थापना नहीं हो सकती। इस हेतु विज्ञानस्कन्धमात्र को एक तत्व स्थापित करते हुए पुरुष को भी ये चार प्रकार मन्तव्य होंगे। तब विज्ञान स्कन्धमात्र ही एकतत्व है। यह कैसे। यह सम्भव नहीं कि विज्ञानमात्र ये चारों प्रकार हों। इस लिये कहा जाता है कि यद्यपि अनुभव से अन्य अनुभाव्य, अनुभविता और अनुभवन नहीं। तथापि बुद्धि परिकल्पित रूप से अन्तस्थ पदार्थ ही प्रमाण, प्रमेय और फल रूप से परिणत होता है। इसी प्रकार प्रमातृव्यवहार भी जानिये। वास्तव में पारमार्थिक वस्तु नहीं। इस

प्रकार सिद्धि साधन दोष नहीं। क्योंकि ब्रह्मवादी नीलाद्याकारवती बुद्धि को नहीं मानते हैं। किन्तु नीलादि अनिर्वचनीय है ऐसा कहते हैं। जैसे विज्ञान का ही असत्याकारयुक्त स्वरूप प्रमेय है और है प्रमेय प्रकाशन प्रमाणफल और तत्प्रकाशनशक्ति प्रमाण है। बाह्यवादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक का भी काल्पनिक ही प्रमाण-फलव्यवहार है। यद्यपि बाह्य अर्थके रहने पर भी बुद्धिआरोहके बिना प्रमाणादिव्यवहार सिद्ध नहीं होता। कैसे मालूम है कि अन्तस्थ ही सर्वव्यवहार है विज्ञानातिरिक्त बाह्य वस्तु नहीं। यदि कहैं कि असम्भव होने से वैसा माना जाताहै तो इस पर कहा जा सकता है कि वह बाह्य अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो वह परमाणुरूप में अथवा तत्समूह स्तम्भादिरूप में हों। वहां परमाणु स्तम्भादिज्ञान से परि-छेद्य नहीं हो सकते क्योंकि परमाणुके आभास का ज्ञान इस अवस्था में अबतक अनुत्पन्न है। इसी प्रकार परमाणु समूह स्तम्भ भी नहीं हो सकते। क्योंकि परमाणुओं से अन्य अथवा अनन्य ये स्तम्भादि हैं इसका निरूपण करना असम्भव है। इसी प्रकार जाति आदि का भी खण्डन हो सकता है। और भी—अनुभवमात्र से साधारणज्ञान हो तब प्रतिविषय में पक्षपात होना नहीं चाहिये। स्तम्भज्ञान, कुड्य-ज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि भिन्नज्ञान कैसे। यह तब ही हो सकता जब ज्ञानगतविशेषता हो इस हेतु ज्ञान का विषयसारूप्य अवश्य अङ्गीकर्तव्य होगा। अङ्गीकार करने पर विषयाकार का ज्ञान-द्वारा अवरोध होने से बाह्यार्थ सद्भावकल्पना मिथ्या नहीं। किन्तु सत्य है। और सहोपलम्भनियम से विषय और विज्ञान का अभेद सिद्ध होता है। क्योंकि इन दोनों में से एक के अनुपलम्भ में दूसरे का उपलम्भ नहीं होता। यह स्वाभाविक विवेक में युक्त नहीं। क्यों कि प्रतिबन्धक कारण का अभाव है। इसहेतु बाह्यार्थका अभावहै।

और भी—स्वप्नादिवत् इस को जानना चाहिये। जैसे स्वप्न, माया, मृगतृष्णोदक, गन्धर्वनगर इत्यादिकों का ज्ञान बाह्य पदार्थ के विना ही होता है। और इन में ग्राह्यग्राहक भाव भी प्रतीत होता

है। जैसे स्वप्न हुए द्रव्य ग्राह्य और उस के लेने वाला दूसरा भी प्रतीत होता। वास्तव में दोनों ही मिथ्या हैं। इसी प्रकार जागरित गोचर स्तम्भादिक ज्ञान भी तत्समान ही है। क्योंकि दोनों में कुछ भेद नहीं। यदि कहें कि बाह्यपदार्थ यदि नहीं हो तो ज्ञानवैचित्र्य कैसे। तो इस का उत्तर वासनावैचित्र्य है। क्योंकि अनादि संसार में बीजांकुरवत् विज्ञानों और वासनाओं का अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक भाव देखने से वैचित्र्य का प्रतिषेध नहीं हो सकता। और भी-अन्वय और व्यतिरेक द्वारा भी वासना निमित्त ही ज्ञान-वैचित्र्य भी होता है। ऐसा मालूम होता है क्योंकि स्वप्नादिक में पदार्थ के बिना वासना निमित्तक ज्ञानवैचित्र्य देखते हैं। और बाहर में वासना के बिना पदार्थ निमित्तक ज्ञानवैचित्र्य होता है। इस हेतु बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध होता है।

समाधान-पूर्वोक्तशङ्का के उत्तर में "नाभाव उपलब्धेः" इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं। बाह्य पदार्थ का अभाव अपलपित नहीं हो सकता क्योंकि उपलब्धि होने से। प्रत्येक ज्ञान के साथ बाह्य अर्थ-स्तम्भ, कुड्य, घट, पट इत्यादि उपलब्ध होता है, किन्तु उपलभ्यमान पदार्थ का ही अभाव नहीं हो सकता है। जैसे भोजन करता हुआ कोई आदमी स्वयं तृप्ति का अनुभव करता हुआ यदि ऐसा कहे कि न तो मैं खाता और न तृप्त होता। तद्वत् इन्द्रियसन्नि-कर्ष से बाह्यअर्थ को प्राप्त करता हुआ कहे कि मैं न तो बाह्य अर्थ देखता और न वह है। ऐसे बोलने वाले के ऊपर कौन श्रद्धा और विश्वास करता।

शङ्का-मैं ऐसा नहीं कहता कि किसी पदार्थका उपलम्भ मैं नहीं करता किन्तु उपलब्धिव्यतिरिक्त किसी वस्तु को उपलम्भ नहीं करता।

उत्तर-ठीक, निरङ्कुश होने से तुम ऐसा कहते हो किन्तु युक्त्यु-पेत नहीं कहते क्योंकि उपलब्धिव्यतिरेक भी पदार्थ के बल से ही मन्तव्य होगा क्योंकि उपलब्धि होने से। क्योंकि कोई उपलब्धि को

ही स्तम्भ, कुड्य और घट, पट कहकर उपलम्भ नहीं करता। किन्तु उपलब्धि के स्तम्भ कुड्यादि विषय हैं। ऐसा सब लोक उपलम्भ करते हैं। इस हेतु सब लौकिक इसी प्रकार उपलम्भ करते हैं। जिस का खण्डन करते हुए भी बाह्यार्थ का ही व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तर्ज्ञेयरूप वस्तु है वही बहिर्वत् भासित होता है। वे भी सर्वलोकप्रसिद्धबहिरवभासमान संवित् (बुद्धि) का प्रतिलम्भ करते हुए प्रत्याख्यान की कामना से बाह्य अर्थ को बहिर्वत् कह कर वत्कार का प्रयोग करते हैं। अन्यथा बहिर्वत् ऐसा क्यों कहें। क्योंकि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्रवत् भासित होता है ऐसा कोई नहीं कहता। इस हेतु यथानुभव तत्वको प्राप्त करते हुए विज्ञानवादि को कहना चाहिये कि बाहर में ही पदार्थ भासित होते हैं। किन्तु बहिर्वत् नहीं।

शङ्का–विज्ञानवादी कहते हैं कि जैसे स्वप्न में अर्थ के बिना ही सब पदार्थ भासित होते हैं। वैसे ही जागरितगोचर भी स्तम्भादिक ज्ञान अर्थ के बिना ही होता रहता है। इस का उत्तर आपने क्या दिया।

समाधान–स्वप्नादि ज्ञानवत् जागरितज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न और जागरित में बहुत वैधर्म्य है। वह बोध और अबोध स्वरूप वैधर्म्य है। स्वप्नोपलब्ध वस्तु की जागरितावस्था में बाधा होती है। उठकर के सब कोई कहता है कि स्वप्न में जो मेरा महाजन समागम हुआ था वह मिथ्या है। क्योंकि बाहर में अब महाजन समागम नहीं देखते। मेरा मन निद्राभिभूत हुआ था इस से यह भ्रान्ति हुई थी। इसी प्रकार माया, मृगतृष्णिका और गन्धर्वनगर आदि की बाधा होती है। किन्तु जागरितोपलब्ध स्तम्भादिक वस्तु की किसी अवस्था में बाधा नहीं होती। और–भी जो स्वप्नदर्शन है वह स्मृति है। और जागरितदर्शन उपलब्धि (प्राप्ति) है। और स्मृति और उपलब्धि में प्रत्यक्ष अन्तर स्वय अनुभूत होता है। कारणवश वियुक्त इष्टपुत्र को मैं सदा स्मरण करता हूं। उसे उपलब्ध नहीं करता। किन्तु उपलब्ध करना चाहता हूं। इत्यादि

स्मृति और उपलब्धि में अन्तर है। इस हेतु स्वप्नोपलब्धिवत् जागरितोपलब्ध भी मिथ्या है। यह केवल पागल का कहना है। क्योंकि इन दोनों का अन्तर सब ही अनुभव करता है। स्वानुभव का अपलाप ज्ञानियों को करना उचित नहीं। और भी—अनुभव के विरोध के कारण जागरितप्रत्ययों (ज्ञानों) की स्वतः निरालम्बनता है। ऐसे कहने में असमर्थ होकर स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्य कहना चाहते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि जिस का जो स्वधर्म नहीं है। वह अन्य के साधर्म्य से उसका धर्म नहीं हो सकता जैसे अग्नि उष्ण होता है यह प्रत्यक्ष है। अब उदक साधर्म्य से कदापि शीत न होगा। इस लिये स्वप्नदृष्टान्त विज्ञान वादी का अदृष्टान्त है।

शङ्का–विज्ञानवादी कहते हैं कि वासना की विचित्रता से अर्थ के बिना भी ज्ञानवैचित्र्य होता है ऐसी शङ्का हमने पूर्व में की थी। उसका क्या उत्तर।

समाधान–तुम्हारे पक्ष में वासनाओं का भाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि बाह्य अर्थों की अनुपलब्धि को तुम मानते हो। क्योंकि अर्थोपलब्धि निमित्त ही नानारूप वासनाएं होती हैं। यदि बाह्य अर्थ है ही नहीं तो किंनिमित्तक विचित्रवासनाएं होंगी। यदि कहो कि वासनाएं अनादि हैं तो अन्ध परम्परान्याय से सर्वव्यवहारलोपिनी अनवस्था की प्रतिष्ठा न होगी और अभिप्राय भी सिद्ध न होगा। और वासना नाम संस्कार विशेष का है। आश्रय के बिना ये संस्कार नहीं होते ऐसा लोक में देखा जाता है। किन्तु तुम्हारी वासना का कोई आश्रय नहीं। इसलिये वासना वैचित्र्य से ज्ञानवैचित्र्य मानना अयुक्त है। यदि कहो कि वासना का आश्रय हमारे मत में आलयविज्ञान है तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि सब पदार्थों का क्षणिकत्व तुम मानते हो। इस हेतु अनवस्थितरूप जो क्षणिक विज्ञान वह प्रवृत्ति विज्ञानवत् वासना का अधिकरण नहीं हो सकता। क्योंकि कालत्रय सम्बन्धी एक वस्तु का मानने से अथवा सर्वार्थदर्शी किसी कूटस्थ का न होने से देशकालनिमित्त की अपेक्षा करके

वाली वासनाधीन मृतिका प्रतिसन्धान (जोड़ना) आदि व्यवहार सम्भव नहीं। किन्तु आलय विज्ञान को स्थिर मानें तो तुम्हारी सिद्धान्तहानि होगी। इस प्रकार दोनों वैनाशिकपक्षबाह्यार्थवादिपक्ष और विज्ञानवादिपक्ष सर्वथा निःसार युक्तिविहीन और वेद विरुद्ध सिद्ध किए गए हैं। और सर्वशून्यवादिपक्ष सर्व प्रमाण विरुद्ध होने से उसके निराकरण के लिये आदर नहीं किया जाता है।

किम्बहुना ज्यों २ वैनाशिकराद्धान्त की परीक्षा करते हैं त्यों २ बालुका कूपवत् वह विशीर्ण होता जाता है। कोई उपपत्ति इस में नहीं देखते इस लिये भी वैनाशिकतन्त्र व्यवहार अनुपपन्न हैं। और भी-बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद जो परस्पर विरुद्ध हैं उनका उपदेश करते हुए बुद्ध ने अपने को असम्बद्धप्रलापी विस्पष्ट रूप से सिद्ध किया है। अथवा प्रजाओं के ऊपर उन का बड़ा भारी द्वेष था कि विरुद्धार्थ कहने से सारी प्रजाएं विमूढ़होकर नष्टहोजांय इस हेतु मङ्गलाभिलाषीजन को यह सुगतसिद्धान्त सर्वथा अनादरणीय है।

स्याद्वादखण्डन

सुगतसिद्धान्त का खण्डन पूर्वमें दिखलाया गया है। अब विवसनसिद्धान्त का निराकरण किया जाता है। इन के सात पदार्थ सम्मत हैं। वे ये हैं-१-जीव,२-अजीव,३-आस्रव,४-सम्वर,५-निर्जर ६-बन्ध और ७-मोक्ष। संक्षेप से दो ही पदार्थ हैं। जीव और अजीव क्योंकि इन ही दोनों के अन्तर्गत अन्य पदार्थ हैं। इन दोनों का एक अन्य प्रपञ्च वे लोग बतलाते हैं। वे पांच हैं। और उनका नाम अस्तिकाय है। वे ये हैं-१-जीवास्तिकाय, २-पुद्गलास्तिकाय, ३-धर्मास्तिकाय,४-अधर्मास्तिकाय,५-आकाशास्तिकाय। जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है। १-बद्ध २-मुक्त ३-नित्यसिद्ध। पुद्गलास्तिकाय छः प्रकार का है पृथिव्यादि चारभूत। पञ्चम स्थावर। षष्ठ जङ्गम। धर्मास्तिकाय प्रवृत्ति से जाना जाता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति से अनुमेय होता है। आकाशास्तिकाय दो प्रकार का है। लोकाकाश

और अलोकाकाश । उपरि २ स्थिति लोकों का जो अन्तिमलोक उस को लोकाकाश कहते हैं । सब से ऊपर मोक्षस्थान का नाम लोकाकाश है । वहां लोक नहीं है । इसप्रकार जीव और अजीव के पांच भेद कहे गये हैं । बोधात्मक पदार्थ का नाम जीव जड़वर्ग का नाम अजीव आस्रव सम्वर और निर्जर चेतान पदार्थ प्रवृत्त करानेवाले हैं । सम्यक और मिथ्या भेद से प्रवृत्ति दो प्रकार की है । आस्रव मिथ्या प्रवृत्ति है । सम्वर और निर्जर ये दोनों सम्यक् प्रवृत्ति कही जाती है । (आस्रावयति पुरुष विषयेषु) जीव को विषय की ओर ले जाने वाली इन्द्रियप्रवृत्ति का नाम आस्रव है । क्योंकि जैवज्योति विषयों को इन्द्रिय द्वारा छूवा हुआ रूपादि ज्ञानरूप से परिणत होता है । दूसरे कर्मों को आस्रव कहते हैं । क्योंकि वे कर्म कर्ता को व्याप्तकर कर्ता के पीछे २ चलते हैं । अनर्थ का कारण होने से इस प्रवृत्ति का नाम मिथ्या है । सम्वर और निर्जर सम्यक् प्रवृत्ति है । शम, दम, आदि रूप प्रवृत्ति सम्वर कहलाती है । क्योंकि वह आस्रवप्रवाह का द्वार रोकती है । इस लिये उस का नाम सम्वर है । तप्तशिला पर आरोहण आदि व्यापार का नाम निर्जर है । क्योंकि वह सुख दुःख के भोग से निःशेष पुण्यापुण्य का क्षय करता है । अष्टविध कर्म का नाम बन्ध है । उस में चार घातीकर्म कहलाते हैं और चार कर्म अघाती । क्रमशः वे चार ये हैं १-ज्ञानावरणीय २-दर्शनावरणीय ३-मोहनीय ४-अन्तराय । तथा चार अघाति कर्म ये हैं १-वेदनीय २-नामिक ३-गोत्रिक ४-आयुष्क । इन आठों का क्रमशः यह आशय है:-

१-सम्यक् ज्ञान से मोक्ष नहीं होता ज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती । इस विपर्यय का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है । २-आर्हत (सिद्ध पुरुष जिन, ऋषभदेव इत्यादि तीर्थंकर) के दर्शन के अभ्यास से मोक्ष नहीं होता । इस ज्ञान का नाम दर्शनावरणीय कर्म है । ३-तीर्थंकरों ने मोक्ष मार्गों को बहुत प्रकार से बतलाया है । वे परस्पर विप्रतिसिद्ध हैं । उन से किसी विशेष बात का भी

निर्णय नहीं होता इस ज्ञान का नाम मोहनीयकर्म है। ४-मोक्षमार्ग में प्रवृत्त पुरुषों को मोक्षविघ्नकारी जो विज्ञान उत्पन्न होता है उस का नाम अन्तराय कर्म है। वे चारों श्रेयो विघातक होने से घाति कर्म कहलाते हैं। अघाति चार कर्म ये हैं १-मेरा वेदितव्यतत्त्व है इस अभिमान का नाम वेदनीय। २-मेरा यह नाम है इस अभिमान का नाम नामिक। ३-मैं भगवान् उपदेष्टा, पूज्य, अर्हन् (जिन भगवान्) के शिष्यवंश मे मै प्रविष्ट हुवा हूं इस अभिमान का नाम गोत्रिक। ४-शरीर की स्थित्यर्थ कर्म का नाम आयुष्क है। इन का वर्णन अन्यान्य प्रकार से भी करते हैं। ये आठों कर्म पुरुषको बांधते हैं। इस लिये इन सब का नाम बन्ध है। जिस के सब क्लेश और वासनायें विगलित होगए हैं। जिस का ज्ञान अनावरण (आवरण रहित) हो गया है और जो सुखस्वरूप से स्थित है उस आत्मा का सब से ऊपर जो अवस्थान उस का नाम मोक्ष है। दूसरे यह कहते हैं कि जिस हेतु जीव ऊर्ध्वगमनशील है और धर्माधर्मास्तिकाय से बद्ध होगया है उस से मुक्ति पाकर जो सब से ऊर्ध्वगमन है उस का नाम मोक्ष है।

ये विवसन नाम के नास्तिक सर्वत्र अपने सिद्धान्त के पुष्टि में सप्तभङ्गीनय नाम का न्याय बतलाते हैं।

(सप्तानामस्तित्वादीनां भंगानां समाहारः तस्यानयो न्यायः इति सप्तभंगीनयः)

अस्तित्वादी सात भङ्गों का नाम सप्तभङ्गी है। उस का जो नय अर्थात् न्याय उसे सप्तभङ्गीनय कहते हैं। और इसी का नाम स्याद्वाद भी है। सातों ये हैं, ।

१-स्यादस्ति २-स्यान्नास्तिः ३-स्यादस्तिच नास्ति च ४-स्यादवक्तव्यः ५-स्यादस्तिचावक्तव्यश्च ६-स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च ७-स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च ।

अर्थ—यहां स्यात् अव्यय है कथञ्चित् उस का अर्थ है। सक्षेप से इस का अर्थ यह है १—घटादिक वस्तु कथञ्चित् है २—कथञ्चित् नहीं है ३—कथञ्चित् है और नहीं है ४—कथञ्चित् अवक्तव्य है ५—कथञ्चित् है और अवक्तव्य है ६—कथञ्चित् नहीं है और अवक्तव्य है ७—कथञ्चित् है और नहीं है और अवक्तव्य है। वैसा ही इस सप्तभङ्गीन्याय को एकत्व और नित्यवादि में भी प्रयुक्त करते हैं।

समाधान—यह अभ्युपगम (सिद्धान्त) युक्तियुक्त नहीं क्योंकि एक धर्मी में युगपत् सदसत्वादिविरुद्धधर्म्म का समावेश नहीं हो सकता। शीतोष्णवत। जैसे एक ही काल में एकही वस्तु में शीतत्व और उष्णत्व दोनों धर्म्म नहीं रह सकते। भाव यह है कि वस्तुनः जो सत्य है वह सर्वथा सर्वदा सर्वत्र और सर्व प्रकार अनिर्वचनीय रूप से है ही। नहीं है सो नहीं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) और जोकहीं कथञ्चित् कदाचित्और किसी प्रकारहै ऐसा कहा जाता वह व्यावहारिक है परमार्थिक नहीं। जैसा यह प्रपञ्च ऐसा वस्तु का विचार करना अनर्थ है। और केवल ज्ञानमात्र पदार्थ का वास्तवत्व स्थापित नहीं करता। ऐसा होने से शुक्ति और मरुमरीचिकादिकों में क्रमशः रजत और जलादिकों का भी वास्तवत्व सिद्ध होगा। परन्तु लौकिक पदार्थों के अबाध से उस की व्यवस्था में देहाभिमान का भी अबाध से और तात्त्विकसिद्ध होने से नास्तिक मत के आगमन की ही सिद्धि होगी। और भी—सत्व और असत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। वस्तु में विकल्प सम्भव नहीं। इस हेतु यह स्थाणु है। अथवा पुरुष है इस प्रकार के ज्ञान के समान सप्तत्व पञ्चत्व निर्धारण फल का और निर्धारयिता प्रमाता (प्रमाण निश्चय करने वाला)। तत्करण प्रमाण का और प्रमेय का जो सप्तत्व पञ्चत्व उस का जो सत्व असत्व उस में भी संशय करते हुए ऋषभदेव ने ठीक ही तीर्थंकरत्व सिद्ध किया।

श्री शङ्कराचार्य कहते हैं कि जो ये सप्तपदार्थ इतने हैं और इस रूप के हैं ऐसा निश्चय किया गया है। वे वैसे ही हों अथवा वैसे न हों इस में ही स्यात् निश्चय। अथवा वैसे हों अथवा वैसे न हों

इस प्रकार अनिर्धारित जो ज्ञान वह संशय ज्ञानवत् अप्रमाण ही होगा यदि कहें कि अनेकात्मक वस्तु है यह ज्ञान निर्धारित ही है। यह संशयज्ञानवत् अप्रमाण नहीं हो सकता। इस पर पुनः शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि जब आप सब वस्तु मे निरंकुश एकान्तता का निर्धारण करते हैं तो वह निर्धारण भी तो एक वस्तु है। इस हेतु वह भी कथञ्चित् हो कथञ्चित् न हो यह विकल्प उस निर्धारण के शिर में मढ़ा जायगा। इस हेतु निर्धारण की भी अनिर्धारणता ही सिद्ध होती है। एवं निर्धारयिता और निर्धारण फल का भी एक पक्ष में कथञ्चित् अस्तिता और दूसरे पक्ष में कथञ्चित् नास्तिता ही सिद्ध होगी ऐसा होने पर जब तक प्रमाण प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इन चारों का यथार्थनिर्णय नहीं होता अथवा ये चारों अनिर्धारित रूप में ही रहेंगे तबतक प्रमाणभूत ऋषभदेव आदि तीर्थंकर कैसे उपदेश कर सकते। और उन के अभिप्राय के अनुसार चलने वाले शिष्यगण उन के उपदिष्ट और अनिर्धारित अर्थ में कैसे प्रवृत्त हों क्योंकि निश्चयात्मक बोध होने पर ही उस उस वस्तु की प्राप्ति के साधन के अनुष्ठान के लिये सब लोक अनाकुल होकर प्रवृत्त होते अन्यथा नहीं। अतः अनिर्धारितार्थ शास्त्र को बनाते हुए मत्तोन्मत्तवत् वे तीर्थंकर ग्राह्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार पांच जो पूर्वोक्त अस्तिकाय उस में भी पञ्चत्व संख्या है वा नहीं। यह विकल्प उपस्थित होगा। तब एक पक्ष में इस पञ्चत्व संख्या की कथञ्चित् अस्तिता और दूसरे पक्ष मे कथञ्चित् नास्तिता सिद्ध होगी। इस से न्यूनसंख्यात्व और अधिकसंख्यात्व दोनों हो सकते हैं। फिर अस्तिकाय पांच ही हैं यह कैसे। और भी—इन पदार्थों का अवक्तव्यत्व सम्भव नहीं। यदि वे अवक्तव्य हैं तो वे कदापि न कहे जांय। कहे भी जांय और अवक्तव्य भी हों यह परस्पर विरुद्ध बात है। कहे जाने पर भी वैसे ही हैं अथवा वैसे नहीं हैं। और उन के निश्चय करने वाला सम्यग्दर्शन है वा नहीं है। तद्विपरीत असम्यग्दर्शन भी है वा नहीं है। इस प्रकार प्रलाप

करते हुए तीर्थंकरों का पक्ष मत्तोन्मत्त पक्ष के समान ही होगा। इसी प्रकार स्वर्ग और अपवर्ग का भी एक पक्ष में भाव दूसरे पक्ष में अभाव, एक पक्ष में नित्यता और दूसरे पक्ष में अनित्यता इस प्रकार की अनवधारणा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और भी-अनादि सिद्ध जो जीव प्रभृति हैं उन का भी अपने शास्त्र द्वारा यथार्थ बोध न होने से उन में सदा संशयात्मक ही ज्ञान रहेगा। इस प्रकार यह आर्हतमत सर्वथा असंगत है। और 'पुद्गलसंज्ञक अणुओं से ये संघात उत्पन्न होते हैं। इस कल्पना का खण्डन अणुवादखण्डन के साथ जान लेना चाहिये।

जैसे एक धर्मी में विरुद्ध दो धर्मों का होना असम्भव है यह स्याद्वाद पक्ष मे दिखलाया गया है। वैसे ही जीवात्मा का भी अकात्स्न्यरूप दूसरा दोष होगा। शरीर के प्रमाणके अनुसार जीव होता है यह आर्हत (जैनमतावलम्वी) मानते हैं। ऐसे मानने पर जीवात्मा अकृत्स्न अर्थात् असर्वगत परिछिन्न सिद्ध होगा। अतएव घटपटादिवत् अनित्य होगा। क्योंकि जो परिछिन्न होते हैं वे अनित्य होते। जैसे घटपट वैसाही आत्मा। शरीरों का परिमाण अनिश्चित होने से मनुष्य जीव मनुष्य शरीर के प्रमाण के तुल्य होकर किसी कर्म विपाक से गजजन्म प्राप्त करता हुआ वह जीव हाथी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं हो सकता। और पुत्तिका जन्म प्राप्त कर सम्पूर्ण पुत्तिका शरीर में न समायगा। एक ही जन्म में कौमार यौवन स्थाविर में भी यह समान ही दोष होगा। इस दोष के परिहार के लिये यदि कहैं कि जीव अनन्त अवयवों से युक्त है उस के वे ही अवयव अल्पशरीर में संकोचित होंगे। और महान् शरीर में विकसित होंगे। जैसे दीपावयव घट में संकोचित और गेह में विकसित होते हैं। यहां प्रदीप दृष्टांत नहीं हो सकता। क्योंकि उस में अनित्यत्व दोष होगा। क्योंकि प्रदीप के अवयव फैलने वाले हैं अवयवी प्रदीप प्रतिक्षण उत्पत्तिनिरोधधर्मा है। इसहेतु वह अनित्य और अस्थिर सिद्ध होगा। और भी-जो जीवों के अनन्त अवयव हैं

वे अवयव एक ही देश में रहते हैं या अनेक देशमें । अथवा अवयवों का समान देशत्व प्रतिहत होता है अथवा नहीं । यदि प्रतिघात मान लिया जाय तो अनन्त अवयव परिछिन्न देश में समाजांय । उन का अप्रतिघात मानने पर भी एकावयव देशत्व की उपपत्ति से सब अवयवों का विस्तार की अनुपपत्ति से जीव का अणुमात्रत्व सिद्ध होगा । और भी-शरीरमात्र में परिछिन्न जीवावयवों का आनन्त्य स्वीकार करना असङ्गत है।

नास्तिकवाद निराकरण परिशिष्ट

विज्ञानवादी बौद्ध के मत में विज्ञानातिरिक्त घटपटादि बाह्य वस्तु नहीं है। दोषवशतः एक ही चन्द्र दो चन्द्र प्रतीत होते हैं। तद्वत् अनादि संस्कारवशतः एक ही ज्ञान (चित्तवृत्ति) ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञानरूप से लक्षित होता है। कहा भी गया है:-

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहक संवित्ति भेदवानिवलक्ष्यते ।

नील और नील ज्ञान दोनों साथ ही उपलब्ध होते हैं। अतएव वे दोनों अभिन्न है । यदि भिन्न होते तो कदाचित् पृथक् २ उन दोनों की उपलब्धि होती । अज्ञानवशतः एकचन्द्र में दो चन्द्रों के ज्ञान के समान एक ही ज्ञान में ज्ञान और विषय कहकर भेद प्रतीत होता है। परन्तु वह वास्तविक नही । बुद्धि (चित्तवृत्तिरूपविज्ञान) स्वयं अविभाग अभिन्न है। तथापि अज्ञानवशज्ञेय ज्ञाता और ज्ञानरूप से वह बुद्धि विभिन्न प्रतीत होती है।

इस पर सांख्यवादी कहते हैं कि ऐसा होने से घटपटादि वस्तुओं का ज्ञान भी नहीं होना चाहिये क्योंकि चित्तवृत्तिरूप विज्ञान प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न । किसी एक के विज्ञान को दूसरा नहीं जान सकता ।

यह साधारण बात है। अतएव उक्तविज्ञान के परिणामस्वरूप घटपटादि वस्तु भी प्रत्येक पुरुष में भिन्न २ देख पड़े। एक ही घट को साथ ही अनेक प्रकार से देखे। परन्तु सो होता नहीं। किन्तु अनेक व्यक्तियां एक एक ही घट को एक ही स्वरूप में देखती हैं सो होना नहीं चाहिये। क्योंकि प्रत्येक आदमी की बुद्धि भिन्न २ है। और स्थिररूप से बाह्य कोई वस्तु नहीं। इस हेतु अपनी २ बुद्धि के अनुसार एक ही बाह्य घट को उतने भिन्न २ आकारों में देखे जितने देखने वाले हों। किन्तु सो होता नहीं। हज़ारों आदमी एक घटको एक ही रूप में देखते हैं। अतएव विज्ञानातिरिक्त बाह्य वस्तु कोई अवश्य है।

नास्तिक-" जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्दज्ञानस्वरूप है तो जगत् के प्रपञ्च और दुःख में क्यों पड़ा? आनन्द छोड़ दुःख का ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता। ईश्वर ने क्यों किया?।

आस्तिक-परमात्मा किसी प्रपञ्च और दुःख में नहीं गिरता। न अपने आनन्द को छोड़ता है क्योंकि प्रपञ्च और दुःख में गिरना जो एक देशी हो उस का हो सकता है। सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं। और जड में स्वयम् बनने का भी सामर्थ्य नहीं। इस से यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है। वैसे माता पितारूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है।

नास्तिक-ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् की सृष्टिकरण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा?।

आस्तिक-ईश्वर सदा मुक्त होने से, तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए। तीर्थङ्करों के समान एक देश में रहने हारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त सनातन परमात्मा नहीं है, जो अनन्तस्वरूप गुण, कर्म, स्व-

भावयुक्त परमात्मा है। वह इस किञ्चिन्मात्र जगत् को बनाता धरता और प्रलय करता हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता। क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं। जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो कभी बद्ध नहीं था वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता है? और जो एक देशी जीव हैं। वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त, सर्वदेशी, सर्वव्यापक, ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में जैसे कि तुम्हारे तिर्थंकर हैं कभी नहीं पड़ता। इस लिये वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है।

नास्तिक–जीव कर्म्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं। जैसे भांग पीनेके मदको स्वयमेव भोगताहै इसमें ईश्वर का काम नहीं।

आस्तिक–जैसे बिना राजा के डाकू लंपट चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी वा कारागृह में नहीं जाते न वे जाना चाहते हैं। किन्तु राज्य का न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ा कर यथोचित राजा दंड देता है। इसी प्रकार जीव को भी ईश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से स्व २ कर्म्मानुसार यथायोग्य दंड देता है क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्म्मों के फल भोगना नहीं चाहता इस लिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।

नास्तिक–जगत् में एक ईश्वर नहीं किन्तु जितने मुक्त जीव हैं। वे सब ईश्वर हैं।

आस्तिक–यह कथन सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं। जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थंकर पहिले बद्ध थे पुनः मुक्त हुए फिर भी बन्ध में अवश्य गिरेंगे। और जब बहुत से ईश्वर हैं तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते, भिड़ते, फिरतेहैं। वैसे ईश्वर भी लड़ा भिड़ा करेंगे।

नास्तिक–हे मूढ़ जगत् का कर्त्ता कोई नहीं किन्तु जगत् स्वयं सिद्ध है।

आस्तिक–यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है भला बिना

कर्त्ता से कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य्य जगत् में होता दीखता है। यह ऐसी बात है कि जैसे गेहूं के खेत में स्वयं सिद्ध पिसान, रोटी बन के जैनियों के पेट में चली जाती हो। कपास, सूत, कपड़ा, अगरखा, दुपट्टा, धोती, तीनी, पगड़ी आदि बन के कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्ता के बिना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना विशेष कैसे बन सकती। जो हठ धर्म से स्वयं सिद्ध जगत् को मानो तो स्वयं सिद्ध उपरोक्त वस्त्रादिकों को कर्ता के बिना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते तो तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान् मान सकता है।

नास्तिक–ईश्वर विरक्त है वा मोहित? जो विरक्त है तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़ा? मोहित है तो जगत् के बनाने को समर्थ नहीं होसकेगा।

आस्तिक–परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता। क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह किस को छोड़े किस को ग्रहण करे। ईश्वर से उत्तम अथवा उस को अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है। इस लिये किसी में मोह भी नहीं होता वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है। ईश्वर मे नहीं।

नास्तिक–जो ईश्वर को जगत् का कर्ता और जीवों के कर्मों के फलों का दाता मानोगे तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दुःखी हो जायगा।

आस्तिक–भला अनेक विध कर्मों का कर्ता और प्राणियों को फलों का दाता धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फंसता न प्रपञ्ची होता है तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्यवाला प्रपञ्ची और दुःखी क्योंकर होगा। हां तुम अपने और अपने तीर्थंकरों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो सो तुम्हारी अविद्या की लीला है जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ क्यों भ्रममें पड़े २ ठोकरें खाते हो। इत्यादि सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ में नास्तिक मत खण्डन देखो।

इति श्री रूपकुमारी देवी कृते वेदान्तपुष्पाञ्जलावीश्वर कारणता नास्तिकमतनिराकरणादिविषयः समाप्तः

आख्यायिकाविवेक

राजकुमारी–श्रीमती ! भगवती ! जिस से मुझे पूर्ण बोध हो, मैं ब्रह्म को पहचानलूं, अपने स्वरूपको भी जानलूं और जन्ममरणप्रवाह से बचकर अमृतस्वरूपा होजाऊं ऐसी शिक्षा देकर मुझे कृतकृत्या कीजिये ।

रूपकुमारी–आयुष्मती ! तू निःसन्देह अपने स्वरूप को नहीं जानती । अतः तुझ में यह महाभ्रम उत्पन्न हुआ है । क्रमशः इस भ्रम को मैं दूर करूंगी । तू ध्यानावस्थिता होकर इन वक्ष्यमाण वार्तों का श्रवण कर । भ्रम अनेक प्रकार से होता और अनेक प्रकार से उस की निवृत्ति भी होती है । १–कौमारावस्थामें ही कुन्ती ने एक कुमार जन कर लज्जिता हो किसी शबरकुल में उसे रखवा दिया । वहां राधा नाम की एक स्त्री से सुपोषित होने और उस निकृष्ट वश में निवास करने से वह कौन्तेय राजपुत्र अपने को राधेय, और शबर कुलाभिमानी नीच दुःखी दरिद्र ही समझता था । किन्तु विदित वृत्तान्त किसी सचिव से समझाएजाने पर वह पूर्व समस्त संस्कारों को छोड़ अपने को राजकुमार और सर्व सम्पत्तिसम्पन्न समझ अतिशय सुखानुभव करने लग गया । तद्वत् हे राजकुमारी ! तू भी इस मानवभाव को भ्रम से समझती है । वास्तव में तू परमानन्दस्वरूपा ब्रह्मरूपा ही है ।

हे राजकुमारी ! जैसे सुवर्ण से जात सब वस्तुए सुवर्णमयी होती हैं । तद्वत् ब्रह्म से उत्पन्न यह अखिल जगत् ब्रह्ममय ही है । जैसे ग्रहाविष्ट कोई द्विज अपने को शूद्र मान रहा है । किन्तु ग्रहविनाश से वह पुनः निज ब्राह्मण्य को मानने लग जाता है । तद्वत् मायाविष्टजीव "मैं ब्रह्म नही हूं" ऐसा मानता है । मायाके विनाश से पुनः वह स्वीयरूप को पा "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा मानने लगता है । यही दशा इस मानवसृष्टि में भी देख रही हूं । हे पुत्री ! तू इसे विचार ।

२–हे पुत्री ! परिग्रह से भी लोग दुःखधारा में बह रहे हैं । श्येन

इस में दृष्टान्त है। जैसे निर्बल श्येन के मुख से बलवान् श्येन मांस छीन कर उसे दुःखी बनाता है। अतः परिग्रह (सञ्चय) त्याज्य है कहा भी है:-

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥

समांस दुर्बल श्येन को अन्य निर्मांस बलिष्ठ श्येन मारने लगे। जब उस ने मांस त्याग दिया तब मार से भी बचा और सुखी भी हुआ। ऐसी ही दशा मनुष्य की है। अतः तू प्रथम सञ्चय त्याग ज्ञानभिक्षुकी हो मेरे निकट आ तो तू अपने स्वरूप को पहचान सुखिता होगी। मनु भी कहते हैं:-

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते॥

जैसे नदीकूल को वृक्ष अथवा वृक्ष को पक्षी त्यागता है। तद्वत् इस देह को त्यागता हुआ विवेकी ग्राहरूप दुःख से मुक्त होता है। आयुष्मती इसे वारम्वार विचार।

३-जैसे हेयबुद्धि से सर्प जीर्ण त्वचा को अनायास त्याग देता है वैसे मुमुक्षु वहुकाल तक प्रकृति को भोग विवेक से अनायास उसे त्याग सुखी होते हैं। तू भी अब इस विशाल धनराशि को त्याग आनन्दनिमग्ना हो।

४-जैसे प्रिय भी छिन्न हस्त को पुनः कोई नहीं लेता। तद्वत् तू भी इस सम्पत्ति को त्याग पुनः इस में आसक्ता न हो।

५-हे पुत्री! विवेक का जो अन्तरंग साधन न हो। वह यदि धर्म भी हो तथापि उसका अनुचिन्तन न कर और उसके अनुष्ठान में कदापि चित्त न दे क्योंकि वह महाबन्धन हो जाता है। देख एक हरिणशिशु को किसी व्याघ्र से आक्रान्त और हन्यमान देख उसे उस हिंस्र से बचा उस के पालन पोषण में तपस्वी नृप भरत ऐसे

आसक्त होगये कि तपस्या और संकल विवेकों से भ्रष्ट हो नाना-जन्ममरण प्रवाह में जा गिरे। जड़भरत के सम्बन्धमें विष्णु पुराण कहता है:—

चपलं चपलेतस्मिन्दूरगं दूरगामिनि ।
आसीच्चेत: समासक्तं तस्मिन् हरिणपोतके ।

यद्यपि दीन अनाथ हरिणशिशु का पोषण करना धर्म ही था। किन्तु वह विवेक का प्रतिबन्धक होने से वह धर्म भी बन्धनार्थ होगया। अतः केवल विवेक के साधन वेदान्तवाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर। हे पुत्रों! "सोऽहं" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि अपरोक्षजनक वाक्यों का अभ्यास कर।

६—बहुतों के साथ संग भी न कर। क्योंकि बहुसंग से राग, द्वेष और मोह होते हैं। तब योग भ्रंशक कलह उत्पन्न हो साधन को साधक को साधन से भ्रष्ट कर देता है। जैसे कुमारी के हस्तगत-शंखों (भूषणविशेषों) के अन्योन्य संघर्षण से झणत्कार शब्द होता है।

७—दो के संयोग से भी कभी २ विरोध होजाया करताहै। अतः जहां तक हो एकाकिनी ही रहा कर। जैसे शास्त्र में कहा है—

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्त्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इवकंकणम् ।

बहुतों के वास में कलह होता है। दो में भी विरुद्ध वार्ता हो जाती है। अतः एक ही रहना चाहिये। जैसे किसी कुमारी के गृह पर बाहर से कुटुम्ब आए। वह उन के लिये कुछ धान कूटने लगी। उस के हाथ के भूषणों में झन २ शब्द होने लगा तब सब भूषणोंको फोड़ वा निकालकेवल एकही कङ्कणको रख निश्चिन्ता हो स्वकाम में लगने से सुखिता हुई।

८—योगियों को संसार से नैराश्य का ही अनुष्ठान करना समुचित है। जैसे पिङ्गला नामकी एक वेश्या कान्त र्थिनी हो उसकान्त

को न पा सदा व्यग्रा और व्याकुला रहा करती थी। पश्चात् इस आशा को त्याग संसार से विरक्त सुखिनी हुई। तद्वत् हे राजकुमारी! इस तुच्छ जगत् से कुछ भी आशा करनी अनुचित है। कहा है:-

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथासञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला।

आशा ही परम दुःख है। नैराश्य ही परम सुख है। जैसे कान्त की आशा छोड़ वह पिङ्गला सुख से सोने लगी।

८-हे पुत्री! शास्त्र और गुरु बहुत हैं। उन से षट्पदवत् केवल सार ही आदेय है। अन्य वस्तु हेय हैं। कहा है:-

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः।

छोटे और बड़े शास्त्रों से कुशल नर केवल सार लेलेवें। जैसे पुष्पों से सार भ्रमर लेता है।

सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् स्वार्थसाधकम्।
ज्ञानानां बहुता यैषा योगविघ्नकरी हि सा॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्।
असौ कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञानमवाप्नुयात्॥

जो स्वार्थ साधक सारभूत ज्ञान हो उस को उपासना करे। जो ज्ञानों का बाहुल्य है वह योग विघ्न कारी है। जो पुरुष तृषित हो "यह ज्ञातव्य है यह ज्ञातव्य है" इस प्रकार दौड़ा करता है। वह वर्षसहस्रों में भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

९-हे पुत्री! यद्यपि अनेक साधन मोक्षमार्ग के कहे गये हैं। तथापि समाधि पालन द्वारा विवेकसाक्षात्कार में एकाग्रता ही मुख्य कारण है। इस में शरनिर्माण कर्ता दृष्टान्त है। कोई बाण

बनाने वाला स्वकार्य्य में इतना निमग्न था कि सेनासहित राजा उस के निकट से निकल गया किन्तु उसे यह कुछ भी ज्ञात न हुआ ऐसे इषुकारवत् (बाणकारवत्) जो समाधि में निमग्न रहता है उसीको विवेक साक्षात्कार होता है। कहा है:—

> तदैव मात्मन्यवरुद्धचित्तो
> न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
> यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
> मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥

जब बाहर भीतर कुछ भी न जानता तब उस का इस प्रकार अवरुद्ध चित्त समझना चाहिये। जैसे बाण बनाने में संलग्न इषुकार ने समीप से जाते हुए ससेन राजा को न जाना।

१०–एक समय देवताओं में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन दोनों मिल कर प्रजापति के निकट ब्रह्मज्ञानार्थ पहुंचे। प्रजापति ने समान रूप से दोनों को ब्रह्म का उपदेश किया किन्तु विरोचन उस उपदेश को वारम्बार न विचार कर उस का उलटा अर्थ लगा विपरीतग्राही बन जगत् का मङ्गल न कर प्रत्युत हानिकारक हो गया। और इन्द्र प्रजापति से प्राप्त उस उपदेश को पुनः २ विचार सन्दिग्ध होने पर गुरु से वारम्बार उसी विषय की जिज्ञासा कर यथार्थ तत्त्व को जान संसार का सुखकारी हुआ। तद्वत् हे स्नेहपात्रिके ! तू भी भूयोभूयः ब्रह्मकी जिज्ञासा और मननकर। प्रजापतिके समीप इन्द्र एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य्य धारण कर कृतकृत्य हुआ। प्रजापति का उपदेश यह था "जो आत्मा, अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक विजिघत्स, अपिपास, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। वह अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है। जो कोई इस आत्मा को विचार पूर्वक जानता है वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पाता है"।

११-हे कल्याणाभिलाषिणी ! भोग से राग की शान्ति नहीं होती। इस में ऋषि सौभरि दृष्टान्त है। किसी नदी तट पर तप करते हुए ऋषि सौभरि जल में मत्स्यों की क्रीड़ा देख योग से चलितचित्त हो कामुक बन किसी राजाके निकट जा उस से पचास कुमारियों को ले भोग विलास करते हुए भी जब अपने को तृप्त न पा बड़े असन्तुष्ट और चिन्तित हुए तब उन स्त्रियों को त्याग और उन के निर्वाह का प्रबन्ध कर पुनः पूर्ववत् तप में संलग्न हो ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ हुए। कहा है:-

स मे समाधिर्जलवासमित्र-
मत्स्यस्य संगात् सहसैव नष्टः।
परिग्रहः संगकृतो ममायं-
परिग्रहे त्थाश्च महाविधित्साः।
आमृत्युतो नैव मनोरथाना-
मन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं
न जायते वै परमार्थसंगि॥

वह मेरा समाधि जलवास के मित्र मत्स्य के संग से सहसा नष्ट हुआ मैंने स्त्रियों का पाणिग्रहण किया। और उस से अनेकविध उचित अनुचित उपाय करने पड़े। मृत्युपर्य्यन्त विषय भोगोंसे मनोरथों का अन्त नहीं होता-यह आज मैंने जाना। मनोरथ की पूर्ति में इधर उधर दौड़ते हुए पुरुष का चित्त परमार्थसंगी नहीं होता।

१२-मलिन चित्त में भी उपदेश नहीं लगता। इस में राजा अज दृष्टान्त है। उस की परम प्रेमास्पद प्रिया की मृत्युको सुन पुरोहित वसिष्ठ आ अनेक उपदेश करने लगे। किन्तु शाग से उन्मत्त नृप

अन्त में वसिष्ठ का एक भी उपदेश काम न करसका। अन्ततोगत्वा उसी स्त्रैण राग में उस का देहान्त हो गया। हे पुत्री! विषय राग कितना प्रबल है, देख।

सांख्य शास्त्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्रों के अनुसार विज्ञान-भिक्षु ने अपने भाष्य में संक्षिप्त आख्यायिकाएं लिखी हैं। मैंने यहां उन में से कुछ छोड़ और कुछेक ले संक्षिप्त कर बतलाई हैं। इन्हें तू प्रथम विचार। अब तुझे दो चार आख्यायिकाएं श्रुति से ले अति संक्षिप्त कर सुनाना चाहती हूं। ध्यानावस्थिता हो।

१३–वरुणपुत्र भृगु पिता के निकट जा बोला कि मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये। वरुण ने कहा "जिस से ये महाभूत उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिस से जीते हैं और जिस में लीन होते हैं। उस की जिज्ञासा कर। वह ब्रह्म है"। भृगु ने प्रथम तप से अन्न को ब्रह्म जाना। द्वितीय तप से प्राण को ब्रह्म जाना। तृतीय तप से मन को ब्रह्म जाना। चतुर्थ तप से विज्ञान को ब्रह्म जाना। पञ्चम तप से आनन्द को ब्रह्म जाना। यहां कहे हुए ब्रह्म के लक्षण को अन्न, प्राण, मन और विज्ञान इन चारों में घटाता गया। परन्तु वारम्वार मनन करने से पूर्वोक्त चारों में वास्तव रूप से ब्रह्म के लक्षण की सङ्गति न पा आनन्दस्वरूप ब्रह्म में उस लक्षण का सब प्रकार से समन्वय पा और स्वयम् भी परितृप्त हो ब्रह्मस्वरूप हुआ अथवा निजरूप को पहचाना। भूयोभूयः मनन करना ही यहां तप है और आनन्द शब्द का लक्ष्य शुद्ध चेतन ब्रह्म है। हे मुमुक्षो! तू भी भृगुवत् तपकर ब्रह्म को जान तल्लीना हो।

१४–एक समय गर्गगोत्रोत्पन्न अनूचान (वेदशास्त्रपाठक) दृप्त-बालाकि काशी के राजा अजातशत्रु के निकट जा बोला कि मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश देना चाहता हूं। इस पर अजातशत्रु प्रसन्न हो एकाग्र चित्त से उस दृप्तबालाकि का उपदेश सुनने लगे। बालाकि बोले सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदर्श (दर्पण) इत्यादिकों में जो सामर्थ्य है उसी को मैं ब्रह्म जान उपासता हूं।

राजन् ! तू भी इसी को ब्रह्म जान। इस पर राजा ने कहा कि हे अनूचान अब तक आपने कार्य्य जगत् को ब्रह्म जाना है। परन्तु वह ब्रह्म नहीं। तदनन्तर वह बालाकि उस राजा का शिष्य बन ब्रह्म का स्वरूप जान परितृप्त हुआ। इस से श्रुति सिखलाती है कि अपने ही अनुभव और विद्या को सर्व श्रेष्ठ न जान जिस किसी से सत्य की उपलब्धि करने में किसी प्रकार का सङ्कोच न करे। हे स्नेहलतिके! लज्जा, सङ्कोच और अभिमान आदिक ज्ञानोपार्जन के बड़े भारी शत्रु हैं इन्हें तू त्याग ब्रह्म की शरण में पहुंच।

१५—यद्यपि वामदेव ऋषि की कथा जहां तहां विस्तार रूप से वर्णित है। तथापि अति संक्षेप कर तुझे यह बतलाती हूं। वामदेव ऋषि अनेक सुख दुःख भोगते हुए अन्त में मालूम हुआ कि 'मैं स्वयं ब्रह्मस्वरूप हूं। मेरे ही स्वरूप सूर्य्य चन्द्रादि सम्पूर्ण जगत् हैं। मैं अब मोह से छूट आनन्द रूप को पहचान रहा हूं"। उस ऋषि के सम्बन्ध में आश्चर्य्य रूप से ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में गाथा गाई गई है। ऋषि स्वयं कहते हैं:—

अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यतामा॥

ऋग्वेद ४। २६। १

(अहं + मनुः + अभवम्) मैं मनु हुआ (अहं + सूर्य्यश्च) मैं सूर्य्य हूं। (अहं + कक्षीवान् + ऋषिः + अस्मि) मैं ही कक्षीवान् ऋषि हूं (विप्रः) मैं ज्ञान फैलाने वाला ब्राह्मण हूं (अहं + आर्जुनेयम् + कुत्सम्) मैं अर्जुनपुत्र कुत्स को (न्यृञ्जे) ज्ञान सिखलाता हूं। (अहम + उशना + कविः) मैं उशना कवि हूं। (मा + पश्यत) हे मनुष्यो मुझे देखो।

अहं भूमिमददामार्य्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥

ऋग्वेद ४। २६। २

(अहम् + आर्याय + भूमिम् + अददाम्) मैं आर्यों को भूमि देता हूं। (अहम् + दाशुषे + मर्त्याय + वृष्टिम्) मैं दानी मनुष्यों को धन वृष्टि देता हूं। (अहम् + अपः + अनयम्) मैं जल लाता हूं। (वावशानाः + देवासः) ज्ञान विज्ञानाभिलाषी देवगण (मम + केतम्) मेरी आज्ञा के (अनु + आयन्) पीछे २ चलते हैं।

ऋग्वेद के इसी मण्डल के सत्ताईसवें सूक्त में ऋषि स्वयं कहते हैं:—

गर्भेनु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।

(अहम्) मैं (गर्भे नु + सन्) इस संसाररूप गर्भ में रहकर (नु + एषाम् + देवानाम्) इन देवताओं के (विश्वा + जनिमानि) समस्त जन्ममरण सम्बन्धी वृत्तान्तों को (अवेदम्) जानता हूं।

हे प्रहसितवदने बालिके! यदि ब्रह्म और जीव में किञ्चिन्मात्र भेद रहता तो ऋषि का इस प्रकार संभाषण न होता। इस ऋषि का जीवन जान कर अपने आत्मा को शुद्ध कर।

वेदान्त के शतशः ग्रन्थोंमें जीवब्रह्मैकता का प्रतिपादन है। क्या अग्नि का विस्फुलिङ्ग अग्निस्वरूप नहीं। समुद्र का एक बिन्दु भी समुद्र ही है। हे पुत्री! जैसे इस पृथिवी से चार प्रकार के जरायुज, अण्डज, ऊष्मज और उद्भिज्ज शरीर उत्पन्न हो २ कर उसी पृथिवी मे लीन होते हैं। जैसे जल के अंतर्गत नाना जीव शरीर उत्पन्न हो पुनः कालान्तर में तद्रूप होजाते हैं। इसी प्रकार इस महान् ब्रह्मात्मा के भीतर ही और इसी की सत्ता से यह आश्चर्य्यमयजगत् उत्पन्न होकर कुछ काल स्थित रह इसी में जल में लवणवत् घुल जाते हैं। जैसे ये अज्ञानी पशुपक्षी और मत्स्यादिक नहीं जानते कि हम किस लिये शरीरधारी बने हैं। और कहां मरकर चले जायंगे। इसी प्रकार यदि मानव जीव का अज्ञान सदा स्थिर रहे और उससे

आच्छादित हो यह अपने स्वरूप को न जाने तो मानवजीवन को धिक्कार है। सृष्टि के आदि से लेकर आजतक कितने अनन्त २ अग-ण्य असंख्येय जीव दरिद्र से सम्राट् तक वृक्ष से चेतन तक कीटाणु से गज तक आये और चले गये जिन का नाम भी इस पृथिवी पर न रहा। हे कल्याणेप्सु। विचार तो सही तू इस राजभवन में कितने दिन रहेगी। तेरे पूर्वज पिता, माता, पितामह, प्रपितामह इत्यादि २ कहां चले गये। और इस पृथिवी पर एक से एक महासम्राट् हुए और उन का अभिमान इस अतल पातालमें जा छिपा। ऐ पुत्री! विद्युत्प्रकाशसमान अतिन्यूनक्षणस्थायी इस जीवन को सफल कर और आगे श्वेतकेतु के आख्यान पर ध्यानदे।

तत्त्वमसि आख्यायिका

१६—एक समय श्वेतकेतु नाम का ब्रह्मचारी गुरुके निकट द्वादश वर्ष तक वेदशास्त्र पढ़ गृह पर आ महामानी, अनूचानमानी और अभिमानी होकर रहने लगा। इस अवस्था में अपने पुत्र को देख पिता ने कहा कि क्योंकर तू अभिमानी होरहा है। क्या तूने अपने गुरु से पूछा था कि जिस से अश्रुत श्रुत होता। अमत मत और अविज्ञात विज्ञात होता है। भगवन्! यह आदेश कैसे होता यह कहते हुए पुत्र को पिता समझाने लगे। हे सौम्य! जैसे एक मृत्तिका के पिण्ड से सब मृन्मयपात्र जाने जाते हैं। यहां घटादिक विकार केवल नाम के बढ़ाने वाले होते हैं। किन्तु मृत्तिकारूप कारण ही सत्य है। इसी प्रकार लोह, सुवर्ण और काष्ठादिकों से जो २ विकार बनते जांयगे। उस २ विकार के नाम में अवश्य परिवर्तन होता जायगा। किन्तु मूल कारण लोहादिक ही सत्य रहेगा—और वास्तव में वही सत्य है।

इन ही दृष्टान्तों के अनुसार जिस कारणस्वरूप परमात्मा से यह जगद्रूप विकार उपजा है वही सत्य है और यह विकार केवल नामरूप के बढ़ाने वाला असत्य ही है। उसी सत्यस्वरूप परमात्मा से यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् बना है, उसे जान।

हे सौम्य! जैसे मधुकर नानावृक्षों के रसों को लाकर एक मधु

नामक रस बना देते हैं। वह रस पृथक् २ अपने को नहीं जानता कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूं, मैं अमुक वृक्ष का रस हूं। इसी प्रकार ये सारी प्रजाएं सुषुप्त्यवस्थामें ब्रह्म में लीनहो पुनः जागरणावस्था में उस से पृथक् हो, नहीं समझती हैं कि हम उस ब्रह्म में लीन होती हैं। हे सौम्य! व्याघ्र या सिंह वा वृक वा मनुष्य जैसा रहता है वह वैसा ही पुनः होता है। यह अणुतम परमात्मा है उसी से परिपूर्ण यह सब है। वही सत्य है। वह आत्मा "तत्वमसि" तू है। १

हे सौम्य! मरते हुए पुरुष की वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज परमदेवता में लीन होता है। वह परमदेवता अतिशय अणु है। उसी से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। उसी का आत्मा अथवा वही आत्मस्वरूप तुझ में मुझ में और सब में व्याप्त है। हे सौम्य! जैसे हम दिशा, काल और आकाश से कदापि किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हो सकते। वैसे ही वह भगवान् ओत प्रोत भाव से सब में स्थित है। वही सत्य है। वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! "तत्वमसि" वह तू है २।

हे सौम्य! ये नदियां पूर्वकी ओर और ये पश्चिम की ओर बहती हुई एक समुद्र से दूसरे समुद्र में आ मिलती हैं और वे समुद्र ही होजाती हैं। वे नहीं जानती हैं कि मैं यह हूं मैं यह हूं। वैसे ही हे सौम्य! ये प्रजाएं ब्रह्मसे आकर नहीं जानती हैं कि हम उस सत् से आई हुई हैं। वह जो अणुतम आत्मा है उसी से परिपूर्ण यह सब है वह आत्मा है। "तत्वमसि" हे श्वेतकेतो! वह तू है ३।

हे सौम्य! इस महान् वृक्ष के मूल पर यदि प्रहार करें तो जीता चूवेगा। मध्य में प्रहार करें तो वह वृक्ष जीता चूवेगा। आगे प्रहार करें तो वह जीता हुआही चूवेगा। वह यह वृक्ष जीवात्मासे अनुस्यूत (व्याप्त) पेपीयमान और मोदमान खड़ा है। जब इसकी एक शाखा को जीव छोड़ता है तो वह शाखा सूख जाती है। दूसरी को छोड़ता है तो वह सूख जाती है। इसी प्रकार जब सम्पूर्णवृक्ष को जीव छोड़ताहै, तो यह सबसूख जाताहै। निर्जीव ही यह मरताहै। जीव

नहीं मरता। वह अणुतम है। उसी से यह सब परिपूर्ण है वह सत्य है। "तत्वमसि" हे श्वेतकेतो! वह तू है ४।

हे सौम्य! इस वटवृक्ष का एक फल लाकर उसे फोड़ उस के दानाओं को देख और पुनः उसके एक दाने को फोड़ता चलाजा। अब देख क्या कुछ सूझता है। नहीं। हे सौम्य! जैसे यहां अत्यन्त अणुभाग को नहीं देखता है। हे सौम्य! उसी अणुतम भागसे निकला हुआ यह महावटवृक्ष है। इस पर विश्वास कर ऐसे ही अत्यन्त अणुतम परमात्मा से यह जगत् हुआ है और उसी से परिपूर्ण है। वही सत्य है "तत्वमसि" हे श्वेतकेतो! वह तू है ५।

हे सौम्य! कुछ लवण लाकर जल में रख कुछ देर के पश्चात् उस पानी के आदि अन्त मध्य से लेकर पीकर देख। सब जल लवणमय प्रतीत होगा और उस में लवण का पता न लगेगा। इसी प्रकार यह आत्मा सब में परिपूर्ण है। वही सत्य है "तत्वमसि" हे श्वेतकेतो! वह तू है ६।

हे सौम्य! किसी पुरुष को आंख बान्ध कर गान्धार देश से ला किसी जङ्गल में छोड़दे और उस की आंख पर से पट्टी को उतार कहे कि देख इस ओर गान्धार देश है। इस ओर तू चलाजा। यदि वह पण्डित और मेधावी हो तो पूछता हुआ ग्राम से ग्राम जाता हुआ गान्धार अवश्य पहुंच जायगा। इसी प्रकार आचार्य्यवान् पुरुष जानता है। उस को उतनी ही देर है जब तक इस शरीर को नहीं छोड़ता। शरीर को छोड़ते ही उस में जा मिलता है। हे सौम्य! यह अणुतम आत्मा ही सत्य है और अन्यान्य विकार असत्य हैं। "तत्वमसि" हे श्वतकेतो! वह तू है। ७

हे सौम्य! रोगी और मुमूर्षु पुरुष के चारों तरफ़ बैठ कर ज्ञाति गण पूछते हैं "क्या आप मुझ को जानते हैं" क्या मुझ को आप जानते हैं" जब तक वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेजमें, और तेज परम देवता में लीन नहीं होता तब तक वह सब को जानता और पहचानता है और जब इस की वाणी मन में, मन प्राण

में, प्राण तेज में, तेज परम देवता में लीन हो जाता तब वह किसी परिवार को नहीं जानता। वह परम देवता अतिशय अणुतम है। और उसी से यह सब परिपूर्ण और वही सत्य है "तत्वमसि" हे श्वेतकेतो! वह तू है। ८

हे सौम्य! राजा का सिपाही किसी चोर को बान्ध कर न्यायालय में लाता है। उसे कहते हैं कि तू ने चोरी की है। शपथ कर यदि वह चौर्य्य का कर्त्ता रहता है तो उस मिथ्या भाषण से कांपने लगता और उस की मुखच्छवि विकृत हो जाती है तब वह बध्य अथवा दण्डय होता है। यदि स्तेय (चोरी) का कर्ता नहीं रहता तो शपथ खाने पर भी वह मलीन नहीं होता। उस के इङ्गित देख वह छोड़ दिया जाता यहां जैसे सत्यात्मा छोड़ दिया जाता। इसी प्रकार आचार्य्यवान् पुरुष इस संसार से छुटकारा पा आनन्दित होते हैं। हे श्वेतकेतो! "तत्वमसि" वह तू है। जो आत्मा नित्य तृप्त कूटस्थ है वह व्यापक आत्मा तू है। ९

हे पुत्री! पिता के इस गूढ़ उपदेश को सुन वह पुत्र श्वेतकेतु अत्यन्त प्रसन्न हुआ। और श्रुति को बारम्बार नौ बार "तत्वमसि" सुन कर ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ। जैसे यहां व्याघ्र आदिक पशु और शुकादिक पक्षी इस महान् व्यापक आनन्द को न जानते और न जानने की उन में शक्ति है। और उसी अज्ञानावस्था में मर कर भी सदा रहता है। तद्वत् अज्ञानी जीव भी इस लोक और परलोक में भी अन्धकार में ही रहते हैं और उस परमानन्द का अनुभव नहीं कर सकते। हे पुत्री! इस व्यापक आनन्द का अनुभव कर। इस के आगे ओंकार की उपासना संक्षेप से बतलाती हूं। इसे सुन कर मन में धारण कर।

ओंकारोपासनाविवेक

राजकुमारी—मातः! महान् पुरुषों के अति संक्षिप्त इतिवृत्त सुन कर मेरा अन्तःकरण पवित्र हो रहा है और अपने में से दुर्व्यसनों व रोगों को बड़ी क्षिप्रता से बाहर निकाल कर फेंक रहा है। धन्य,

मान्य, प्रातःस्मरणीय और प्रतिदिन पूज्य वे वामदेव और सौभरि आदि ऋषि हैं, जिन के नाम मात्र श्रवण से पापिष्ठजन भी अपने दुष्कर्मों से निवृत्त हो धर्मनिष्ठ होने लगता है। किन्तु श्रीमतीजी का अन्तिम वाक्य मुझ को प्रश्न करने के लिये चपला बना रहा है। यदि आज्ञा पाऊं तो निवेदन करूं।

राजमाता-मैं प्रसन्नता से प्रश्न की आज्ञा देती हूं।

राजकुमारी-देश, धर्म, भाषा, आदि के कारण ईश्वर के नाम अनन्त हैं। तब एक ओंकार नाम पर ही आग्रह क्यों! वेदान्त के सब ग्रन्थ प्रायः कहते हैं कि-

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

१-है। २-भासित है। ३-प्रिय है। अति क्रूर व्याघ्र को प्रिया व्याघ्री होती है। हमारे हित कर सब ही प्रिय हैं। पिपासित को जल कितना प्रिय और ज्वर सन्निपात रोगी को विष भी प्रिय होता है। ४-रूप। ५-नाम। ये पांच अंश वस्तु के होते हैं इन में अस्ति, भाति और प्रिय ये तीन अंश ब्रह्मस्वरूप अर्थात् सत्य हैं। और रूप और नाम ये दो अंश जगद्रूप अर्थात् मिथ्या हैं। तब श्रीमती जी एक विशेष नाम के उपदेश करने का परिश्रम क्यों उठाती हैं। पुनः-

नाम तो सर्वथा कल्पित प्रतीत होता है। मुसलमान भाई ईश्वर को खुदा, अल्लाह कहते हैं। क्रिस्तान गौड और अन्यान्यसम्प्रदायी जिहोवा, अहुर, बुद्ध, जिन, राम, कृष्ण इत्यादि २ नाम से स्वीय इष्टदेव को पुकारते हैं। इस से प्रतीत होता है कि नाम केवल संकेत मात्र है। वैदिक नामों में ईश्वर का संकेत है और संस्कृत पारिभाषिक आदिकों में आचार्य्यकृत संकेत है। इस से यह भी निष्कर्ष होता है कि शब्द (वाचक) स्मारक है और विषय (वाच्य घटपटादि) स्मार्य है। वाच्यवाचक में तादात्म्य सम्बन्ध मुझे प्रतीत नहीं होता। जैसे अग्नि में औष्ण्य और दाहकता, जल में शैत्य है इत्यादि में यादृश तादात्म्य सम्बन्ध है। तब सबको सब शब्द से

सब अर्थों का बोध होजाय। तब गुरु से शब्दार्थ पढ़ने का यत्न क्यों हो? कोई भी बालक गुरु से सीख कर अग्नि की दाहकता का बोध नहीं करता। पुनः—

केवल नाम और अर्थ से भी लोक में उतना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जितना पदार्थ के गुणज्ञान से होता है। जैसे वायु, अग्नि और जल आदि शब्द और उन के अर्थ लोग जानते थे तौ भी रेलगाड़ी, तार, बिनातार का तार, टेलीफोन आदि अद्भुत विद्याएं न निकाल सके। अथवा मनुष्य कितना काम कर सकता इस का पूरा बोध लोगों को नहीं था। इत्यादि का प्रतिवचन कृपया दीजिये क्योंकि मेरे कुसंस्कृत अन्तःकरण में बहुत से संशय और भ्रम घर किए हुए हैं।

रूपकुमारी—स्मितवदने! सुपुत्रि! निःसन्देह तेरे प्रश्न विचारणीय हैं। तू जैसा कहती है वैसा ही है। अरुन्धतीतारा न्याय से यह उपदेश मैं देती हूं। अति सूक्ष्म अरुन्धती तारा दिखलाने के अभिप्राय से प्रथम उस के समीपस्थ स्थूलतारा दिखला २ कर तब उस सूक्ष्मतारा को दिखलाते हैं। तद्वत् यहां जान। और भी—मल, विक्षेप और आवरण ये तीन दोष इस अन्तःकरण के हैं। शुभकर्मों से मल का प्रक्षालन होता, उपासना से विक्षेप का हनन होता, और ज्ञान से आवरण दोष भाग जाता है। हे सुमुखि!—

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र व निरुद्धभेद से चित्त पांच प्रकार का है। जिस समय चित्त क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त रहता है। तब उससे न तो सांसारिक और न परमार्थिक ही कोई कार्य्य सिद्ध होता है एकाग्र और निरुद्ध चित्त से ही सर्व वस्तु का याथातथ्य विदित होने लगता है। निःसन्देह ध्यान से चित्त एकाग्र होकर सूक्ष्मवस्तु के ग्रहण करने में समर्थ होता है। देख मनुष्यमात्र में प्रायः समान इन्द्रिय नयनादिक हैं। तब क्यों कर एक विशेषज्ञानी पण्डित और महामहोपाध्याय बन जाता और दूसरा अज्ञानी मूर्ख बना रह जाता है यह एकाग्र का फल है कि श्रीशङ्कर ने ऐसा यौक्तिक भाष्य रचा, पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई। वामदेव ने अपने को पहचाना। पुनः—

शब्द केवल संकेत मात्र है या स्वाभाविक वा वाच्यवाचक में तादात्म्य सम्बन्ध है। इस पर आगे कहूंगी। मैं तेरे चित्त को चञ्चल देख ओङ्कार की उपासना दिखाना चाहती हूं। जिस के हृदय में असम्भावना और विपरीत भावना आदि दोष नहीं है। उन के लिये तो केवल "अहं ब्रह्मास्मि" का ही ध्यान चाहिये। अथवा उस से भी क्या प्रयोजन। उस वाक्यद्वारा अपने को साक्षात्कार अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाय। तू दो चार दण्ड प्रतिदिन ओङ्कारोपासना करके कुछ दिन देख। तेरा मन एकाग्र होकर सूक्ष्मविषयग्राही होगा। श्रुति कहती है:-

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत्॥

मानो, प्रणव (ओङ्कार) धनुष है। यह आत्मा बाण है। ब्रह्म लक्ष्य है। इस ओङ्काररूप धनुष के ऊपर आत्मरूप बाण को रख कर ब्रह्मरूप लक्ष्य को अप्रमत्त होकर इस रीति; विद्ध करे कि आत्मरूप बाण ब्रह्म में खचित होजाय। जैसे लोकमें देखते हैं कि व्याघ्रादि शरीर में प्रक्षिप्त बाण चुभ जाता है। श्रीगौड़पाद ने कहा है-

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यतेक्वचित्॥

प्रणव में चित्त लगावे। प्रणव निर्भय ब्रह्म ही है। प्रणव में नित्य युक्त पुरुष को कहीं भी भय नहीं होता। अतः हे पुत्री! प्रथम माण्डूक्य श्रुत्यनुसार ओङ्कार का स्वरूप बतलाती हूं। अवहिता हो सुन-

प्रथम उस भेद को जान-ब्रह्म को १-शुद्ध २-ईश्वर ३-हिरण्यगर्भ और ४-विराट् ये चार रूप हैं। मायातत्कार्य्योपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म। २-मायोपहित ईश्वर ३-अपञ्चीकृत भूतकार्य्य समष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितहिरण्यगर्भ और ४-पञ्चीकृतभूतकार्य्य समष्टिस्थूलशरीरोपहित विराट् पुरुष। एक ही परमात्मा अवस्था भेद से ये चार रूप हैं।

इस को भी विस्पष्टरूप से यों समझ । ऐसा भी ब्रह्म है । जहां माया और उस के कार्य्य सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदिक कुछ भी नहीं है । न वहां मृत्यु है । न वहां सूर्य्य का प्रकाश है । न वहां अहोरात्रादिक ही हैं । वहां स्वतःप्रकाशवान परमात्मा विराजमान है । हे पुत्री ! उसी को शुद्ध चेतन ब्रह्म कहते हैं । द्वितीय वह ब्रह्म है जो माया को साथ रख इस विविध सृष्टि को रच रहा है इस का राजवत् शासन करता है । अतः वह ईश्वर मायोपहित कहलाता है । तीसरा वह है जो अपञ्चीकृत पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश हैं, उनसे विरचित जो समष्टिसूक्ष्मशरीर उस में व्यापक वह हिरण्यगर्भ । पश्चात् पञ्चीकृत जो भूत आकाशादिक उनका जो कार्य्य समष्टिस्थूलशरीर उस में व्यापक विराट् कहलाता है । इस को विशद रूप से समझ । जैसे अस्मदादिकों का बाह्य शरीर स्थूल है, इसी प्रकार समष्टि जगत् का भी तो एक स्थूलशरीर प्रतीत होता है । इस में व्यापक ब्रह्म को विराट् नाम से पुकारते हैं और जैसे इस स्थूल शरीर में पञ्चप्राण अन्तःकरण आदि सूक्ष्म शरीर हैं, तद्वत् इस समष्टि का जो सूक्ष्म शरीर उस में जो व्यापक ब्रह्म उस को हिरण्यगर्भ कहते हैं । ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म का भेद तो पहले ही समझ चुकी है । इन चारों में उपाधिकृत भेद है । वास्तव में नहीं । चतुर्थ शुद्ध ब्रह्म अव्यवहार्य्य है ।

इसीप्रकार इस जीव के अवस्थाभेदसे चार रूप हैं । जाग्रदवस्था में जीव वैश्वानर, स्वप्नास्थान में तैजस, सुषुप्ति में प्राज्ञ और तुरीयावस्था में अव्यवहार्य्य कहलाता है । ओ३म् शब्द में भी चार मात्राएं हैं अ, उ, म् और चतुर्थ अव्यवहार्य्य ।

अब चिन्तन का क्रम यह है—विश्व, वैश्वानर और अकारमात्रा इन तीनों की एकता का चिन्तन करे अर्थात् परमात्मा का विश्वरूप जीवात्मा का वैश्वानररूप और ओङ्कार का अकाररूप ये तीनों वास्तव में एक ही हैं । भिन्न २ नहीं । इस प्रकार ध्यान करे । तत्पश्चात् ब्रह्म का हिरण्यगर्भरूप, जीव का तैजसरूप और ओङ्कार का

उकार रूप इन तीनों की एकता का चिन्तन करे। तब ब्रह्म का ईश्वर रूप, जीव का प्राज्ञरूप और ओङ्कार का मकाररूप इन तीनों की एकता का ध्यान करे। इसी प्रकार शुद्धचिद्रूप, आत्मचिद्रूप और ओङ्कार का अव्यवहार्य्यरूप इन तीनों की एकता चिन्तन करे. और इसी चिन्तन क्रमसे लय का भी ध्यान करे अर्थात् अकार-वैश्वानर और विश्व को उकार में, उकार हिरेण्यगर्भ और तैजस को मकार में और मकार प्राज्ञ और ईश्वर को चिन्मात्र तुरीयपाद में विलीन करके चिन्तन करे। चिन्मात्र में सब का लय करके चित्त को वहां ही स्थिर करे।

हे पुत्री! इस प्रकार प्रत्यह समाधि करता हुआ ब्रह्म साक्षात्कार होता है। उस से कृतकृत्यता होती है यह माण्डूक्य श्रुति का तात्पर्य्य है। इस पर सुरेश्वराचार्य्य ने कहा है:—

अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसःस्मृतः।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु।

अकार विश्व है, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ है। इस प्रकार क्रमपूर्वक देखे।

समाधिकालात प्रागेवं विचिन्त्याति प्रयत्नतः।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्।
अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत्।

समाधि से पूर्व ही प्रयत्नपूर्वक विचार स्थूलसूक्ष्म क्रम से सब को चिदात्मा में लीन करे। अकार वैश्वानर और विश्व को उकार में लीन करे। उकार, तैजस और ईश्वर को मकार में लीन करे।

मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्।

मकार, अन्तर्य्यामी और प्राज्ञ को चिदात्मा में लीन करे।

चिदात्माऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ।
परमानन्दसन्दोहवासुदेवोऽहमोमिति ।
ज्ञात्वाविवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलोपयेत् ।
चिदात्मनि विलीनञ्चेत्तत् चित्तं नैव चालयेत् ।
पूर्णबोधात्मनासीत पूर्णाचलसमुद्रवत् ।
एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम् ।
आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत्सदा ।

मैं शुद्ध चिदात्मा हूं। मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा अद्वय हूं। और परमानन्दसन्दोह वासुदेव स्वरूप हूं। चित्त को विवेचक जान उस के साक्षी में लीन करे। जब चित्त चिदात्मा में विलीन होजाय तब वहां से उसे विचलित न करे। किन्तु अपने को पूर्ण बोधात्म रूप से पूर्ण पर्वत और समुद्रवत् स्थिर रक्खे। इस प्रकार समाहित श्रद्धाभक्तिसमन्वित, जितेन्द्रिय, जितक्रोध हो योगी अपने को अद्वितीयरूप समझे। जिस हेतु आदि, अन्त और मध्य में सब दुःख ही दुःख हैं इस हेतु सब त्याग समाहित हो योगी तत्त्वनिष्ठ हो।

पुनः—

इमां विद्यां प्रयत्नेन योगीसन्ध्यासु सर्वदा ।
समभ्यसेदिहामुत्र भोगानासक्तधीः सुधीः ।
यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम् ।
न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वा विशिष्यते ।
कृतकृत्यो भवेद्विद्वान् जीवन्मुक्तो भवेत्सदा ।

अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ।
आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् ॥
वाच्यवाचकनिर्मुक्तं हेयोपादेयवर्जितम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं वैष्णवं पदमश्नुते ॥

ऐहिक और पारलौकिक फलभोग में अनासक्त योगी इस समाधिरूपा विद्या के प्रयत्न से और सर्वदा सन्ध्यादिकालमें अच्छे प्रकार अभ्यास करे। जो आनन्दस्वरूप सर्वव्यापी शान्त अद्वितीय आत्मा को देखता है। उसे न तो किञ्चित् प्राप्तव्य और न किञ्चित् ज्ञातव्य अवशिष्ट रहता है। वह कृतकृत्य होता और जीवन्मुक्त होता है। वह जीवन्मुक्त पुरुष परमात्मा के उत्तम पद को प्राप्त करता है। जो पद अविद्यान्धकार से रहित सर्व भ्रम से विवर्जित, आनन्द, अमल, शुद्ध, मनसा वचसा अतीत, वाच्यवाचकनिर्मुक्त, हेयोपादेयवर्जित और प्रज्ञानघन है।

यहां विश्व आदि वाच्य और अकार आदिक वाचक हैं। दुःख का नाम हेय (त्याज्य) और विषय सुख का नाम उपादेय (ग्राह्य) है। इस प्रकार माण्डूक्य श्रुति का अभिप्राय चिरंतन आचार्यों ने प्रकाशित किया है। इस जीव का उद्धार जिस किसी प्रकार से करना चाहिये। हे पुत्री! यह जीव अथवा अन्तःकरण सदा विषय सुख की ओर दौड़ता है। तू आंख उठा कर अपने चारों ओर देख। यह ज्ञानी और विवेकी मानवगण कैसे २ आत्मघातक अविद्या कर्म में फंसे हुए हैं। तू प्रथम दोनों काल की सन्ध्या में ओङ्कार का जप उस के अर्थ का विचार और चिद्रूप का चिन्तन उक्त प्रकार से कर।

राजकुमारी—वन्दनीया मातः! जिस श्रुति के आधार पर आप ने इस गूढ़ रहस्य का उपदेश मुझ अज्ञानिनी को दिया है। यदि वह श्रुति अनतिविस्तर हो तो अर्थसहित उस का भी ज्ञान मुझे करावें।

रूपकुमारी देवी—तेरी श्रद्धा और भक्ति देख सार्थ माण्डूक्य श्रुति सुनाती हूं। गम्भीर भाव से और एकाग्र हो उसे धारण कर।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥
सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्मसोऽयमात्मा चतुष्पात्

ओम् यह अक्षर यह सब है। उस का सूक्ष्म व्याख्यान किया जाता है। भूत वर्त्तमान, भविष्यत् यह सब ओंकार ही है। और त्रिकाल व्यतिरिक्त जो कुछ अन्य है वह भी ओंकार ही है १—निश्चय यह सब ब्रह्म है। यह आत्मा ब्रह्म है। वह यह आत्मा चतुष्पात्—चार चरण वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोन-
विंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंश-
तिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥४॥

आत्मा का प्रथम चरण

आत्मा का प्रथम चरण वैश्वानर है जिस का स्थान जागरण है जिस की प्रज्ञा बाहर रहती है उस के सात अङ्ग होते हैं। १—स्वर्गलोक मूर्द्धा हैं। २—सूर्य्य नेत्र हैं। ३—वायु प्राण है। ४—आकाश शरीर है। ५—समुद्रादि रूप जल मूत्रस्थान है। ६—पृथिवी पाद है। ७—होमीय अग्नि मुख है। ये सात अङ्ग वैश्वानर के हैं। यद्यपि स्वर्गलोकादिक विश्व के अङ्ग बन नहीं सकते तथापि ये विराट् के अङ्ग हैं। उस विराट् से वैश्वानर का अभेद है। अतः वैश्वानर के अङ्ग कहे गये हैं। उसके उन्नीस मुख हैं। वे ये हैं पञ्चप्राण, पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय और चार अन्तःकरण ये उन्नीस मुख के समान भोग

के साधन हैं। अतः मुख कहलाते हैं। पुनः वह वैश्वानर स्थूलभुक्= स्थूल का भोक्ता है अर्थात् इन उन्नीस मुखों से स्थूल शब्दादिकों को बाह्यवृत्ति द्वारा जागरणावस्था में भोगता है। अतः वैश्वानर को जागरितस्थान, बहिःप्रज्ञ और स्थूलभुक् कहते हैं।

आत्मा का द्वितीय चरण

आत्मा का द्वितीय चरण तैजस है जिस का स्थान स्वप्न है। जिस की प्रज्ञा भीतर रहती है। जिस के सात पूर्वोक्त अङ्ग हैं। और पूर्वोक्त उन्नीस मुख हैं और जो प्रविविक्तभुक्=सूक्ष्म वस्तुओं का भोक्ता विश्व (वैश्वानर) और तैजस दोनों के सात अङ्ग और उन्नीस मुख कहे गये हैं इन में भेद यह है। विश्व के अङ्गादि ईश्वर रचित हैं और तैजस के अङ्गादि मनोमय हैं। तैजस का भोग सूक्ष्म और विश्व का स्थूल है। इस पर ध्यान दे।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयःपादः ॥५॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

आत्मा का तृतीय चरण

जब सुप्तजीव किसी काम की कामना नहीं करता और न किसी स्वप्न को देखता उसे सुषुप्त कहते हैं। आत्मा का तृतीय चरण प्राज्ञ है। जिस का स्थान सुषुप्ति है। जो एकीभूत प्रज्ञानघन और आनन्दमय रहता है। क्योंकि वह आनन्दभुक्=आनन्द का भोक्ता और चेतोमुख रहता है ॥५॥ यह सर्वेश्वर, यह सर्वज्ञ, यह

अन्तर्य्यामी, सब की योनि और भूतों की उत्पत्ति और लय का स्थान है।

यह सब को प्रत्यक्ष है कि सुषुप्त्यवस्था उसी का नाम है जिस में किञ्चित् भी स्वप्न नहीं देखता। जागरित अथवा स्वप्नकी जिस अवस्था में सुख दुःखादि का किञ्चित् भी अनुभव नहीं रहता। अब यहां प्रश्न होता है कि ऐसी अवस्था में आत्मा का क्या स्वरूप और कौनसी वृत्ति रहतीहै? ऐ पुत्री! तू विचारकर देख उससमय सम्पूर्ण बाह्य और आन्तर वृत्तियां एक ही केन्द्र में इकट्ठी हो जाती हैं। केवल आनन्द ही भोक्ता रहता है यदि आनन्दभोक्ता न हो तो गाढ़ निद्रासे उठकर लोग कहतेहैं कि मैंने आज सुखशयन किया और सब थकावटें दूर होगईं। ऐसी २ बातें क्यों कर कहते। इस लिये प्राज्ञ एकीभूत और आनन्दभुक् इत्यादि शब्द से कहा गया है और जिस हेतु इस अवस्था में ईश्वर और प्राज्ञ का सर्वथा अभेद होता है। अतः प्राज्ञ को सर्वेश्वर और सर्वज्ञ इत्यादि विशेषण श्रुति देती हैं। अब आगे चतुर्थ पाद श्रवण कर।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥

आत्मा का चतुर्थ चरण

आत्मा को चतुर्थ चरण अद्वैत आदि शब्द से कहा जाता है। वह अद्वैत न अन्तःप्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ न उभयतः प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ न अप्रज्ञ। किन्तु वह अदृश्य=नेत्रादि का अविषय। अव्यवहार्य्य=प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार के अयोग्य। अग्राह्य=कर्मेन्द्रियों का अगम्य। अलक्षण=असाधारण धर्म शून्य। अचिन्त्य=शुष्कतर्क

के अगोचर। अव्यपदेश्य = शब्द शक्ति के अगोचर। एकात्मप्रत्ययसार = सगत भेदशून्यत्व एकत्व, सर्वदेह में पूर्णत्व जो। आत्मत्व और चिद्रूपत्व जो प्रत्यत्व और आनन्दत्व जो सारत्व इत्यादि धर्म विशिष्ट को एकात्म प्रत्यय सार कहते हैं। प्रपञ्चोपशम = प्रपञ्च का अभावरूप क्योंकि कल्पित पदार्थ का जो अभाव वह अधिष्ठानस्वरूप होता है। शिव शुद्ध सर्वदोष रहित। अद्वैत = द्वैतरहित। चतुर्थ = विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप जो तीन चरण तदपेक्षया चतुःसंख्यापूरक ईदृग् जो वस्तु उस को चतुर्थ चरणरूप से (मन्यन्ते) मानते हैं। वह आत्मा है वही ज्ञातव्य है।

यद्यपि इस का भाव श्रुति शब्दों से ही विस्पष्ट है। तथापि यहां किञ्चित् यह वक्तव्य है। जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं सब को प्रत्यक्ष ही हैं और जो श्रुति में चतुर्थ अवस्था का निरूपण है वह मुक्त्यवस्था अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना है।

सोयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा उत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

आत्मा और ओङ्कार का अभेद

इस चतुष्पाद आत्मा का चतुष्पाद ओङ्कार के साथ अभेद

चिन्तन करे। वह आत्मा ओङ्कार के साथ ज्ञातव्य है। ओङ्कार के पाद और मात्रा जानने योग्य हैं। अकार, उकार, मकार, ये मात्रा और पाद हैं। ८। जागरितस्थान वैश्वानर जो आत्मा का प्रथम चरण वह ओङ्कार की प्रथमा मात्रा अकार है। जो इस को जानता है वह सब कामनाओं को पाता है ॥ ९ ॥ स्वप्नस्थान तैजस जो आत्मा का द्वितीय चरण है। वह ओङ्कार की द्वितीया मात्रा उकार है। इस को जो जानता है, वह ज्ञानसमूह को पाता है। सर्वत्र समान होता है। अब्रह्मवित् के कुल में वह नहीं होता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥ अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद। १२। इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

सुषुप्तस्थान प्राज्ञ जो आत्मा का तृतीय चरण वह ओङ्कार की तृतीया मात्रा मकार है। जो इस को जानता है वह सब विघ्न का नाश करता है। और सब जानता है। ११। चतुर्थ मात्रा रहित अव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम, शिव अद्वैत स्वरूप है। ओङ्कार आत्मा ही है। जो ऐसा जानता है वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है।

राजकुमारी-श्रीमती जी! ब्रह्म के सविशेष-ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् ये तीन रूप और शुद्धचैतन्य जो निर्विशेष है। वह चतुर्थ है। इस प्रकार सविशेष निर्विशेष भेद से ब्रह्म के स्वरूप का कुछ बोध हुआ है। इसी प्रकार जीवात्मा के सविशेष प्राज्ञ, तैजस और विश्व ये तीन रूप और चतुर्थ अव्यवहार्यरूप। इस का भी कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी प्रकार ओङ्कार के सविशेष-अकार, उकार

मकार और निर्विशेष अमात्र चतुर्थरूप और इन तीनों की एकता और लय भी कुछ जाना किन्तु जो मुझे इस में सन्देह हुआ है वह यह है। जैसे जीव की तीन अवस्थाएं-जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति तो प्रत्यक्ष हैं। चतुर्थ मुक्त्यवस्था भी एक प्रकार प्रत्यक्ष ही है, किन्तु ईश्वर के चारों रूपों अथवा अवस्थाओं का परिचय शोभन रीति से नहीं होता। जैसे कोई एक पुरुष प्रातः काल ईश्वरोपासना में निमग्न हो किञ्चित् काल के लिये सर्वविकारवर्जित हो किन्तु उपासना छोड़ पश्चात् संसार के सारे दुर्व्यसनों में क्रमशः आधिक्यरूप से फंसता जाय यहां तक कि रात्रि में मद्यपान, व्यभिचार, लम्पटता आदि महा दुष्कर्मों में डूब जाय। और पुनः प्रातः काल कुछ देर शुद्ध और तत्पश्चात् चाण्डालवत् अशुद्ध बनता जाय और यही क्रम उसका आह्निक का हो तो क्या वह पुरुष शुद्ध और प्रशंसनीय कहला सकता है। इसी प्रकार परमात्मा कुछ काल शुद्ध तत्पश्चात् ईश्वरादिरूपसे अपवित्र बनता जाय तो क्या वह शुद्ध ब्रह्म कहला सकता है। और भी जैसे जीवात्मा की तीन अवस्थाएं क्षणिक अर्थात् अधिक से अधिक दो तीन सौ वर्ष की हो सकती हैं। तद्वत् ब्रह्म की ईश्वरादि तीन अवस्थाएं क्षणिक प्रतीत नहीं होतीं। क्योंकि यह सृष्टि अनादि और अनन्त दीखती है। इस का अन्त कभी होगा या न होगा इस का निर्णय कौन कर सकताहै। इस अवस्था में ब्रह्म भी सदा बद्ध ही रहताहै यही कहना पड़ेगा क्योंकि न संसार का अन्त होगा और न ब्रह्म की मुक्ति होगी। इसका क्या भेद है? प्रथम मुझे समझाइये।

रूपकुमारी देवी-मतिमति! पुत्री! तेरे प्रश्न से मैं बहुत प्रसन्न हुई। प्रथम तू यह विचार कि सूर्य्य का किरण अशुद्ध और शुद्ध सब वस्तु पर पड़ता है तो क्या वह अशुद्ध और उसकी अवस्था में कोई भेद होताहै। जलके तरंग से चन्द्रमा चञ्चल प्रतीत होता है। वास्तव में क्या चन्द्रमें कोई विकार आजाताहै। आकाश सर्वव्यापक होने पर भी सविशेष निर्विशेष दोनों है। इसी प्रकार ब्रह्म को जान और जैसे

स्वप्न में अनन्तकाल और अनन्तदुःख भासित होते हैं। बहुत हमारे लिये यह संसार अनादि और अनन्त हो किन्तु ईश्वर के निकट स्वप्नवत् क्षणिकातिक्षणिक है। परमार्थरूप से न सृष्टि, न स्रष्टा, न अन्यान्य किञ्चित् प्रपञ्च का लेश, न मानसिक, न बाह्य व्यापार है। यह ब्रह्म सदा शुद्ध, मुक्त, आनन्दस्वरूप है। तू भी आनन्दरूपा है। इसी की अभ्यासद्वारा वृद्धि कर। प्रतिदिन समाधि में प्रणव के अभ्यास से और अन्तर्मुखी हो उस आनन्द की मात्रा बढ़ाती जा। पुनः उपक्रान्त वस्तु की ओर आ।

शुद्ध प्रणव

वाच्यब्रह्मवत् वाचक प्रणव भी निर्विकार है। ब्रह्म के जितने अग्नि, मित्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, काली, दुर्गा आदि वाचक हैं। वे सब ही लिङ्गादि विकार युक्त हैं। किन्तु ओङ्कार नहीं। ब्रह्म शब्द के भी रूप इस प्रकार होते हैं।

प्रथमा–ब्रह्म	ब्रह्मणी	ब्रह्माणि
द्वितीया–„	„	„
तृतीया–ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः

इत्यादि।

ईश्वरार्थ में ब्रह्मन् शब्द नपुंसक और इतरार्थ में पुलिङ्ग और नपुंसक दोनों होते हैं। किन्तु तद्विपरीत ओम् शब्द अव्यय होने से निर्विकार है। सातों विभक्तियों में उस के समान रूप होंगे। जैसे–

प्रथमा—ओम्	ओम्	ओम्
द्वितीया–ओम्	ओम्	ओम्
तृतीया–ओम्	ओम्	ओम्
चतुर्थी–ओम्	ओम्	ओम्

इत्यादि।

प्रणव की श्रेष्ठता

जैसे ब्रह्म श्रेष्ठ है तद्वत् शब्दों और मन्त्रों में प्रणव सर्व श्रेष्ठ

हैं क्योंकि मन्त्र में जब तक ओम् न लगाया जाय तब तक वे अशुद्ध समझे जातेहैं। जैसे-ओम् कृष्णाय नमः ओम् रामाय नमः इत्यादि। वैदिक मन्त्रभी ओम् विना उच्चरित नहींहोते जैसे-ओंअग्निमीळे पुरोहितम् इत्यादि। वैदिक मन्त्र की एक और विशेषता है कि अन्तिम टि ओम् हो जाता है। जैसे-"रत्नधातमम्" इस अन्तिम पद को रत्नधातमोम् पढ़ेंगे।

प्रणव की व्यापकता

इस में प्रथम यह गूढ़ रहस्य जानना चाहिये जैसे ब्रह्म, माया और जीव व्यवहार में तीनों पृथक् २ प्रतीत होते हैं। वस्तुगत्या तीनों एक ही हैं क्योंकि बीच में मायाकल्पित वस्तु है इस लिये अधिष्ठान भूत ब्रह्म से भिन्न नहीं और जीव ब्रह्म एक ही है यह मैं बारम्बार कह चुकी हूं। तद्वत् अ, उ, म् तीनों पृथक् भासित होने पर भी मिल कर एक ओम् बन जाता है। जैसे ब्रह्म, माया, जीव मिल कर यह ब्रह्माण्ड भासित होता है तद्वत् तीनों मात्राएं मिलकर एक ओम् विराजमान है। यद्यपि इस के विश्व आदि अनेक अर्थ लिये गये हैं। तथापि अकार ब्रह्मवाचक, उकार जीववाचक और मकार मायावाचक है। जैसे वर्णमाला अ इ उ इत्यादि। और क ख ग इत्यादिक में अकार प्रथम और क ख ग इत्यादि व्यञ्जन में व्यापक है तद्वत् ब्रह्म सब का प्रथम और सब में व्यापक है। और भी-जैसे क ख ग इत्यादि व्यञ्जन में अकार की व्यापकता का ज्ञान गुरु विना नहीं होता। तद्वत् जगत् में ईश्वर की व्यापकता का बोध आचार्य्य विना नहीं होता।

संस्कृत में अ इ उ ऋ लृ पांच ही हस्व स्वर हैं। इन में उ मध्यगत है तद्वत् ओम् में उकार मध्यवर्ती है और जैसे ब्रह्म और माया के बीच जीव है तद्वत् इस ओम् में ब्रह्म और माया वाचक अकार, मकार के मध्यवर्ती जीववाचक उकार है। संस्कृत में कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पंवर्ग ये पांच ही वर्ग हैं और इस में मकार अन्तिम है तद्वत् ओम् शब्द में मकार अन्त्य है।

गूढ़ रहस्य

ब्रह्म और जीव चेतन होने से स्वतन्त्र और माया जड़ होने से परतन्त्र है। तद्वत् अकार उकार स्वर होने से स्वतन्त्र और व्यञ्जन होनें से मकार परतन्त्र है।

प्लुत ओम्

व्याकरणानुसार मन्त्र के आदिमें ओम् को प्लुत करके उच्चारण करना चाहिये। इसी हेतु ओ के पर प्लुत का चिह्न तीन संख्या लिखी जाती है। जपकाल में भी कुछ देर प्लुत ओङ्कार का ही उच्चारण करना चाहिये। धीरे २ केवल अर्थ की भावना रहनी चाहिये। तत्पश्चात् अर्थ को भी मुख्य तद्वाच्य अथवा तल्लक्ष्य ब्रह्म में शरवत् तन्मय होजाय। इस से बहुत चित्त की एकाग्रता होती है। श्रुति भी कहती है—

"तज्जलानिति शान्त उपासीत"

तज्ज, तल्ल और तदन् उसको समझता हुआ उपासक शान्त होकर उसकी उपासना करे। तज्ज=यह संसार उस से होता है।

"तस्माज्जायत इति तज्जम्"

तल्ल=उसी में इस का लय होता है।

"तस्माल्लीयत इति तल्लम्"

तदन्=उसी से जीता है।

"तेन अनिति (जीवति) तदन्"

पुनः इसी अर्थ को श्रुतियां कहती हैं:—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। इत्यादि,

ओंकार का माहात्म्य

संक्षेप से ओङ्कार के जप का माहात्म्य और फल योगशास्त्रानुसार इस प्रकार जाने।

"तस्य वाचकः प्रणवः। सू० २७। तज्जपस्तदर्थभावनम् ।२८। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।२९। व्याधिस्त्यान संशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।३०। दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।३१।"

(तस्य) उस ईश्वर का (वाचकः) बोधक शब्द (प्रणवः) ओङ्कार है। (तज्जपः) उस प्रणव का जप और (तदर्थभावनम्) उस प्रणव के अर्थभूत ईश्वर का चिन्तन कर्तव्य है। (ततः) उस पूर्वोक्त ईश्वर के प्रणिधान से (प्रत्यक् चेतन) अन्तःकरणमें स्थित चेतन रूप आत्मा का (अधिगमः+अपि) साक्षात्कार भी होजाता है (च) और (अन्तरायाभावः) विघ्नों का अभाव होता है। वे अन्तराय कौन हैं—क्रमशः कहते हैं।

व्याधि—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीन प्रकार के रोग स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता, इच्छा होने पर भी किसी कार्य्य करने की क्षमता न होने का नाम स्त्यान है। संशय, प्रमाद, आलस्य ये तीनों प्रसिद्ध हैं। अविरति—विषयेन्द्रिय संयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य का अभाव। भ्रान्तिदर्शन—विपर्य्यज्ञान अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य प्रकार का ज्ञान। अलब्धभूमिकत्व—किसी प्रतिबन्धक वश से मधुमती आदि योगभूमि का लाभ न होना। अनवस्थितत्व—स्थिरता का अभाव (चित्तविक्षेपाः)

ये चित्तविक्षेप और (ते + अन्तरायाः) वे नव योग के विघ्न कहलाते हैं। दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व = शरीरकम्पन, श्वास, प्रश्वास ये पांचों ही (विक्षेप सह भुवः) पूर्वोक्त विक्षेपों के संग होने वाले हैं। हे पुत्री ! ओंकार के सम्बन्ध में अधिक जानना चाहती है, तो पण्डित शिवशङ्कर कृत ओंकारनिर्णय देख।

उपासनाविवेक

राजकुमारी–मातः ! ईश्वर निखिलपापरहित शुद्ध पवित्र है और उस से विपरीत जीवात्मा है। यदि ईश्वर को जीव मानें तो उसका ईश्वरत्व जाता रहता है। तब शास्त्र अनर्थक होजाते हैं। यदि जीव को ही ईश्वर मानलें तो अधिकारीके अभाव से भी शास्त्र का आनर्थक्य ही प्राप्त होता है; और प्रत्यक्षादिविरोध भी होता है। अतः मेरी बुद्धि में सेव्यसेवक भावरूप से और पृथक् बुद्धिसे यदि उपासना की जाय तो श्रेयस्कर होगा।

रूपकुमारी–यद्यपि तेरा कथन किसी विशेष अवस्था में माना जा सकताहै किन्तु श्रुत्यनुकूल अभेददर्शन हीहै। देख पूर्व भी श्रुति द्वारा अभेदका प्रतिपादन किया गयाहै और भी थोड़ासी यह सुन। परमेश्वर प्रक्रिया में जाबाल ऋषिगण कहते हैं–

त्वम्वा अहमस्मि भगवो देवते अहम्वै त्वमसि देवते

निश्चय, भगवन् ! तू मैं हूं और मैं तू है। इस वाक्य से अभेद का ही साधन है। और भी–

"अहं ब्रह्मास्मि" "एषत आत्मासर्वान्तर एष त आत्मा आत्मान्तर्याम्यमृतस्तत्सत्यम्"

मैं ब्रह्म हूं। यह मेरा आत्मा सब में व्यापक है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृतहै। वह सत्य है। वह आत्माहै। वहतूहै। यहां भी अभेददर्शनहै। यदि कहाजाय कि जैसे प्रतिमामें विष्णुबुद्धि करते हैं इस प्रकार प्रतिमा और विष्णु में तादात्म्यबुद्धि होती है तद्वत् ब्रह्म

को प्रतिमारूप अपने में ध्यान करने से भी तादात्म्य होगा 'इस प्रतीकोपासना से भी एक प्रकार अभेद चिन्तन होगा'। यह कथन भी अयुक्त हैं। क्योंकि श्रुति में सर्वत्र अभेद का ही उपदेश है। जैसे—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मि। न स वेद मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। सर्वं तम्परादाद्यो ऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।

जो कोई "यह अन्य है", "मैं अन्य हूं" इस बुद्धि से अन्य देवता को उपासन करता है वह नहीं जानता। वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है। जो यहां भेद देखता है। सब उसको छोड़ देता है जो आत्मा से अन्यत्र सब को जानता है इत्यादि अनेक श्रुतियां भेददर्शन का अपवाद करती हैं। और तू ने विरुद्धगुणवाले परमेश्वर और जीव में परस्पर आत्मत्व सम्भव नहीं, ऐसा जो कहा था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि विरुद्धगुण मिथ्याकल्पित है यह वारम्वार कह चुके हैं। इस हेतु तू पुनः २ अहंब्रह्मास्मि इत्यादि महावाक्यों का अर्थ विचार कर।

इस प्रकार मन को स्थिरता के लिये योगादि शास्त्रों में उपदिष्ट साधनों को भी यदि ग्रहण करे तो कोई क्षति नहीं। किन्तु इस बात पर सदा ध्यान रख कि सदा सर्वत्र अभेद चिन्तन ही मुख्यलक्ष्य हो।

महावाक्यार्थविवेक

इसी प्रसंग से "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि महावाक्यों का अर्थप्रतिपादन संक्षेप से किया जाता है। तीन सम्बन्धों से "तत्वमसि" यह वाक्य अखण्डार्थबोधक होता है। वे सम्बन्ध

ये हैं:—सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यता, लक्ष्यलक्षणभाव। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक दो शब्दों के एक अर्थ में जो प्रवृत्ति उसे सामानाधिकरण्य कहते हैं। जैसे "वह यह देवदत्त है" इस वाक्य में "वह" शब्द का अर्थ परोक्षकाल और परोक्षदेश सहित देवदत्त का ग्रहण है और "यह" शब्द का अर्थ वर्त्तमान काल और वर्त्तमान देश इन दोनों से युक्त देवदत्त का ग्रहण है। इस प्रकार वह और यह इन दोनों शब्दों की प्रवृत्ति और निमित्त भिन्न २ हैं। इन दोनों शब्दों का एक देवदत्तपिण्ड में जो तात्पर्य्यग्रहण करना है यह सामानाधिकरण्य है। वैसा ही

"तत्त्वमसि"

इस वाक्य में परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यवाचक जो तत् शब्द और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यवाचक त्व पद इन दोनों का एक चैतन्य में तात्पर्य्यग्रहण करना चाहिये।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध

व्यावर्त्तक को विशेषण और व्यावर्त्य को विशेष्य कहते हैं। अपने आधार को अन्य से विभिन्नरूप में जो पद बतलावे वह व्यावर्त्तक और जो वस्तु उस विशेषण के कारण विभिन्न सिद्ध हो वह व्यावर्त्य। जैसे "नीलकमल" यहाँ नील विशेषण कमल विशेष्य है। अब "वह यह देवदत्त" इस वाक्य में और यह शब्द का वाच्य जो एतत्काल और एतद्देशसम्बन्धविशिष्ट देवदत्तपिण्ड है वह "यह" है और वह शब्द का वाच्य तत्काल तद्देशविशिष्ट देवदत्तपिण्ड है। जब इन दोनों में विभिन्नता प्रतीत नहीं होता है तब अन्यान्यभेदव्यावर्त्तकद्वारा विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध होता है। इसी प्रकार वह तू है—इस वाक्य में परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का "वह" शब्द वाचक है। और अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य का

रपद वाचक है इन दोनों का अन्योन्यभेदव्यावर्त्तकद्वारा विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है।

लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध

असाधारण धर्मप्रतिपादक वाक्य को लक्षण और तत्प्रतिपाद्य अवशिष्ट वस्तु को लक्ष्य कहते हैं। जैसे " वह यह देवदत्त " इस वाक्य में " वह " और "यह" शब्दों में अथवा इन दोनों शब्दों के अर्थों में जो विरुद्ध वह काल और यह काल, वह देश और यह देश उन से युक्त जो देवदत्त उस में परस्पर विरोध को छोड़ अविरुद्ध देवदत्तपिण्ड के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध होता है। इसी प्रकार वह तू है-इस वाक्य में " वह " और " यह " पदों में अथवा इन दोनों के अर्थों में जो विरुद्ध परोक्षत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टता उस के त्याग से अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होता है इसी को भागत्याग लक्षणा कहते हैं।

लक्षणा विवेक

लक्षणा तीन प्रकार की है १-जहती २-अजहती ३-जहदजहती अथवा भागत्याग लक्षणा। पद का जो अर्थ से सम्बन्ध उसे वृत्ति कहते हैं। वह वृत्ति दो प्रकार की है एक शक्तिवृत्ति दूसरी लक्षणावृत्ति। न्यायरीति से शक्ति का लक्षण यह है। जिस पदसे जिन अर्थ को सुनते ही प्रतीति हो ऐसी जो ईश्वर की इच्छा उस को शक्ति कहते हैं किन्तु वेदान्तरीति से शक्ति का लक्षण इस प्रकार है। घटपद-के श्रोता को कलशरूप अर्थज्ञान करने का जो घटपद में सामर्थ्य है वह घटपद की शक्ति है। ऐसे सब पदार्थों में शक्ति जाने। जैसे वह्नि में अपने से मिलते ही वस्तु के दाह करने की सामर्थ्य-रूप शक्ति है। वैसे ही श्रोता के कर्ण से मिलते ही वस्तु के ज्ञान करने की जो पद में सामर्थ्य वह शक्ति कहलाती है। जैसे अग्नि में

दाह की शक्ति, जल में गीला करने, तृषा हरने, पिण्डबांधने आदि की शक्ति है। इस प्रकार पदमें भी अर्थ देने की शक्ति है।

शक्य--शक्ति से युक्त को पद कहते हैं। उस पद का जो वाच्य उसे शक्य कहते हैं। शक्य को वाच्य और अभिधेय भी कहते हैं। जिसका मुखसे उच्चारण करते हैं उसे पद, संज्ञा, नाम, वाचक अभिधान इत्यादि नाम से पुकारते हैं। और जो वस्तु मुख से बाहर घट, पट, जल, वस्त्र, पशु, पक्षी आदि सहस्रशः पदार्थ हैं वे संस्कृत भाषा में शक्य, अभिधेय, वाच्य, ज्ञेय, वस्तु आदि कहाते हैं। अर्थात् शब्द किसी वस्तु का नाम होता है और जिस का नाम होता है वह वस्तु नामी कहलाती है।

लक्षणा-जहां शब्द की शक्ति से यथार्थ बोध नहीं होता वहां लक्षणावृत्ति से अर्थ किया जाता है।

"शक्यसम्बन्धो लक्षणा"*

शक्य के सम्बन्ध का नाम लक्षणा है जिस अर्थ का लक्षणा से बोध होता है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है। वह लक्षणा जहती अजहती और जहदजहती यद्वा भागत्यागलक्षणा है।

जहतीलक्षणा-जहां सर्व वाच्यार्थ का त्याग कर वाच्यार्थ के सम्बन्धी की प्रतीति हो वहां जहती लक्षणा होती है। जैसे किसी ने कहा "गङ्गा में ग्राम है" इस स्थान में गङ्गा पद की तीर में जहती लक्षणा है क्योंकि गङ्गा पद का वाच्यार्थ देवनदी का प्रवाह है। उस में ग्राम की स्थिति का असम्भव है। अतः समस्त वाच्यार्थ को त्याग तीर में गङ्गा पद की जहती लक्षणा है। वाच्य के सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। इस स्थान में गङ्गा पद का वाच्य जो जल प्रवाह उस का तीर से संयोगसम्बन्ध है। अतः गङ्गा पद के वाच्य

*-टि०-लक्षणाशक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः। न्यायसिद्धान्त-

का जो तौर से सम्बन्ध वह लक्षणा है। और सारे वाच्य का यहां त्याग है। अतः यह जहती लक्षणा है।

अजहती लक्षणा-वाच्यार्थ सहित वाच्य के सम्बन्धी का जिस पद से ज्ञान हो उस पद में अजहती लक्षणा होती है। जैसे किसी ने कहा "शोण दौड़ता है" वहां शोण पद की लालरंग वाले अश्व में अजहती लक्षणा है। क्योंकि शोण नाम लाल रंग का है। अतः शोण पद का वाच्य लाल रङ्ग है। उस में धावन का असम्भव है। इस कारण शोण पद का वाच्य जो लालरङ्ग तत्सहित अश्वमें शोण पद की अजहती लक्षणा है। गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है और लाल भी रूप का भेद होने से गुण है। अतः शोण पद का वाच्य जो लाल रङ्ग उस का गुणी अश्व के साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध वह लक्षणा, और वाच्य का यहां त्याग नहीं। अतः यहां अजहती लक्षणा है।

भागत्यागलक्षणा-जहां पदों के वाच्यार्थों में से एक भाग का त्याग और दूसरे भाग का ग्रहण हो वहां भागत्यागलक्षणा होतीहै। इस को जहदजहतीलक्षणा भी कहते हैं। जैसे प्रथम दृष्ट पदार्थ को अन्य देश में देख कर किसी ने कहा "वह यह है" यहां भागत्याग लक्षणा है। क्योंकि अतीतकाल में और अन्य देश में स्थित वस्तु को "वह" कहते हैं। अतः अतीत काल सहित और अन्य देश सहित वस्तु "वह" पद का वाच्यार्थ है। और वर्तमानकाल में और समीप देश में स्थित वस्तु को "यह" कहते हैं। अतः वर्तमानकाल सहित और समीप देश सहित वस्तु "यह" पद का वाच्यार्थ है। और अतीतकाल और अन्य देश सहित जो वस्तु वही वर्तमानकाल और समीप देश सहित है। यह समुदाय का वाच्यार्थ है। वह सम्भव नहीं। क्योंकि अतीतकाल और वर्तमानकाल का और अन्यदेश का और समीप देश का परस्पर विरोध है। अतः दोनो पदों में देश काल जो वाच्यभाग उस त्याग वस्तु मात्र में दोनो पदों की भागत्यागलक्षणा है।

महावाक्य में लक्षणा—"तत्वमसि" यह एक महावाक्य है इस में "तत् त्वम् और असि" ये तीन पद हैं। यहां "तत् पद" और "त्वम्पद" का वाच्यार्थ दिखलाते हैं। सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, व्यापक, स्वतन्त्र, परोक्ष, मायी, अनादि, अनन्त, बन्ध मोक्षरहित इत्यादि धर्म वाला ईश्वर चेतन "तत्पद" का वाच्यार्थ है।

त्वम्पदवाच्यनिरूपण—अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिछिन्न, अनीश, कर्म्माधीन, अविद्यामोहित, बन्धमोक्षवान्, प्रत्यक्ष इत्यादि धर्मवाला जीव चेतन "त्वम्पद" का वाच्यार्थ है।

वाक्यार्थ में लक्षणा—"तत्वमसि" यहाँ तत् पद से जगत् की उत्पत्ति करने वाला सर्वशक्ति, सर्वज्ञता आदिक धर्म सहित ईश्वर का ग्रहण है। त्वं पद से अल्पशक्ति, अल्पज्ञता आदिक धर्म वाले जीव का ग्रहण है। असि=है। तब "तत्वमसि" पद का अर्थ यह है—वह तू है। यह कहने से ईश्वर जीव की एकता वाच्यार्थ से भान होती है सो हो नहीं सकती। क्योंकि सर्वशक्ति और अल्पशक्ति। सर्वज्ञ और अल्पज्ञ। विभु और परिछिन्न। स्वतन्त्र और कर्म्माधीन। परोक्ष और प्रत्यक्ष। मायी और अविद्यामोहित इत्यादि विरुद्ध गुण वाले जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं यह कहना "अग्नि शीतल है" इस के समान है। अतः यहां वाच्यार्थ का त्यागलक्षणा से लक्ष्यार्थ होगा।

महावाक्यार्थ में जहतीलक्षणा असम्भव—सम्पूर्ण वेदान्त का ज्ञेय साक्षी चेतन और ब्रह्म चेतन है। वह साक्षी चेतन और ब्रह्म चेतन "त्वं पद और तत् पद" के वाच्य में लीन है। और जहतीलक्षणा जहां होती है वहां सम्पूर्ण वाच्य का त्याग और वाच्य के सम्बन्धी का ग्रहण होताहै। अतः महावाक्यमें जहतीलक्षणा मानें तो वाच्यार्थ जो चेतन उस का त्याग और चेतन से भिन्न किसी असत् जड़ आदि का ग्रहण होगा। अतः महावाक्य मे जहतीलक्षणा नहीं।

महावाक्यमें अजहतीलक्षणा का असम्भव—जहां अजहतीलक्षणा होती है वहां समस्त वाच्यार्थ रहता है। और वाच्य से अधिक का ग्रहण होता है। यदि महावाक्य में अजहतीलक्षणा स्वीकार करें तो वाच्यार्थ सारा रहेगा। किन्तु महावाक्य में वाच्यार्थ विरोधसहित है। विरोध दूरीकरणार्थ लक्षणा होती है। अतः अजहतीलक्षणा, माने तो महावाक्य में विरोध दूर न होगा। अतः अजहती का यहां त्याग है।

महावाक्य में भागत्याग का स्वीकार—तत् पद का वाच्य ईश्वर है और त्वं पद का वाच्य जीव। इन में परस्पर विरोधी धर्म त्याग शुद्ध असंगत चेतन का ग्रहण करना चाहिये। यही भागत्यागलक्षणा है। इस स्थान में यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जीव का स्वरूप अनेक प्रकार से अद्वैत ग्रन्थों में कहा है। विवरण ग्रन्थ में अज्ञान में प्रतिबिम्ब जीव और बिम्ब ईश्वर कहा है। विद्यारण्य के मत में शुद्ध सत्वगुण सहित माया में आभास ईश्वर और मलिन सत्वगुण सहित जो अन्तःकरण का उपादान कारण अविद्या का अंश उस में आभास जीव कहा है इत्यादि।

चार महावाक्यों में भागत्याग—भागत्यागलक्षणा से ईश्वर और जीव के स्वरूप में लक्ष्य जो चेतन भाग उस की एकता को "तत्त्वमसि" यह महावाक्य दिखलाता है। "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ब्रह्म है इस महावाक्य में आत्म पद का जीव वाच्य है। और ब्रह्मपद का ईश्वर वाच्य है पूर्ववत् दोनों पदों की लक्षणा है। "लक्ष्यार्थ परोक्ष नहीं" इस अर्थ को "अयं" पद दिखलाता है। यह आत्मा ब्रह्म है। यह वाक्य का अर्थ है।

"अहंब्रह्मास्मि"—इस महावाक्य में अहं पद का जीव वाच्य है और ब्रह्म पद का ईश्वर वाच्य है। दोनों पदों की चेतना भाग में लक्षणा है। मैं ब्रह्म हूं यह वाक्य का अर्थ है।

ब्रह्म शब्द–यद्यपि ब्रह्म शब्द का वाच्य भी सोपाधिक है। क्योंकि व्यापक वस्तु का नाम ब्रह्म है। वह व्यापकता दो प्रकार की होती है। एक आपेक्षिकव्यापकता दूसरी निरपेक्षिकव्यापकता। जो वस्तु किसी पदार्थ की अपेक्षा से व्यापक हो। और किसी की अपेक्षा से न हो। उस में आपेक्षिकव्यापकता होती है। जैसे पृथिव्यादि की अपेक्षा से मायाव्यापिका है और चेतन की अपेक्षा से नहीं है। अतः माया में आपेक्षिकव्यापकता है। और जो वस्तु सब की अपेक्षा से व्यापक हो उस में निरपेक्षिक व्यापकता होती है। वह निरपेक्षिकव्यापकता चेतन में है। क्योंकि चेतन के समान अथवा चेतन से अधिक अन्य कोई व्यापक नहीं। किन्तु चेतन ही सब से व्यापक है। इन दोनों प्रकार की व्यापकता सहित जो वस्तु वह ब्रह्म शब्द का वाच्य है। वह दोनों प्रकार की व्यापकता मायाविशिष्ट चेतन में है। क्योंकि विशिष्ट में जो माया अंश है उस में आपेक्षिकव्यापकता और चेतनांश में निरपेक्षिकव्यापकता है। यद्यपि मायाविशिष्ट चेतन में निरपेक्षिकव्यापकता असंगत है। क्योंकि चेतन के एक देश में माया है। उस मायाविशिष्ट चेतन से शुद्ध चेतन की व्यापकता है। तथापि मायाविशिष्ट जो चेतन है वह परमार्थ दृष्टि से शुद्ध चेतन से भिन्न नहीं। किन्तु शुद्ध रूप ही है। अतः मायाविशिष्ट में भी जो चेतनांश है उस में निरपेक्षिकव्यापकता है। इस रीति से मायाविशिष्ट ही ब्रह्म शब्द का वाच्य हो सकता है और शुद्ध चेतन ब्रह्म शब्द का लक्ष्य है। अत एव ईश्वर और ब्रह्म शब्द दोनों समानार्थक प्रतीत होते हैं। तथापि ब्रह्म शब्द का यह स्वभाव है। वह बहुत स्थान में लक्ष्यार्थ को और किसी स्थान में वाच्यार्थ को दिखाता है। ईश्वर शब्द का यह स्वभाव है वह बहुत स्थानमें वाच्यार्थ का बोध दिखलाता है। अतः लक्ष्यार्थ को लेकर के ब्रह्म शब्द का अर्थ भिन्न रूप से वर्णित हुआ है।

राजकुमारी–श्रीमती जी के उपदेश से मुझ को बहुत कुछ ज्ञान

वृद्धि होती जाती है। आख्यायिकाओं, ओंकारोपासना और ईश्वरो आदि उपासनाओं से सच्छास्त्र के गूढ़ २ सिद्धान्तों का भी कुछ ज्ञान हुआ है। किन्तु मेरे हृदय में शतशः शङ्काएं भरी हुई हैं कहाँ तक श्रीमती के निकट उन का निवारण करूं। तथापि श्रीमती को कष्ट देकर भी पूछना चाहती हूं कि अन्तःकरण की वृत्तियों के भेदों को मुझे सुनायें।

इति श्री रूपकुमारीकृते वेदान्तपुष्पाञ्जला-
ख्यायिकाविवेकोङ्कारोपासनादि
गुच्छः समाप्तः

प्रमाणविवेक

रूपकुमारीदेवी—नृपपुत्री ! प्रमाणनिदर्शनपूर्वक अतिसंक्षेप से अन्तःकरण की वृत्तियों का वर्णन करूंगी। इसके पूर्व तुझे यह जानना चाहिये कि ज्ञान की मात्रा बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक अनुभवद्वारा बढ़ती जाती है। कुछ पूर्वजन्म का संस्कार और कुछ इस जन्म का संस्कार इन दोनों से संसार का कार्य्य होता रहता है। इस सृष्टि में जीव सृष्टि अतिविलक्षण है यह तू देख रही है। एक कोष्ठक से लेकर सहस्रशः कोष्ठक तक जीव इस पृथिवी पर पाए जाते हैं। बहुत से, प्रत्युत अगण्य जीवशरीर भूमि पर अधिक हैं। जिन को आज कल आविष्कृत सूक्ष्म यन्त्र द्वारा देख सकते हैं। हम अपने इन्द्रियों द्वारा तब तक उनको नहीं देख सकतीं जब तक उन सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता न लेवें। क्या आश्चर्य्य है कि अत्यन्त अणुतम कीट में भी वेही सब गुण देखे जाते हैं जो हम मनुष्यों में हैं। वे अणुतम कीट भी मनुष्यवत् सुख दु.ख का पूरा अनुभव करते हैं। पारिवारिक सुख का भी आनन्द वे उठाते हैं। देख, चींटियां सदा अपने परिवार के साथ देखी जाती हैं। बहुतसी चींटियां मिल कर सुन्दर घर बनाती हैं। बहुत भ्रमर मिल कर कैसा उत्तम स्वगृह रचना करते हैं। इस प्रकार पशु पक्षी इत्यादि सर्वजीव में मनुष्यवत् ही प्रायः सब व्यवहार होते हैं। हां, इतनी बात अवश्य है कि मनुष्य जाति में उत्तरोत्तर उन्नति आश्चर्य्यरूप से होती चली आती है। शैशवावस्था में जिस वस्तु का लेश भी नहीं रहता वह यौवनावस्था में अतिवृद्ध हो जाती है। लज्जा, घृणा, दया, प्रेम, सदाचार, विचार इत्यादि क्रमशः बढ़ते जाते हैं। अनुभव से बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। शैशव में मनुष्यशिशु को भय नहीं देखती क्योंकि यदि सिंह वा सर्प वा अग्नि उस शिशु के निकट लाया जाय तो जातमात्र बालक में भय का कोई विकार नहीं पाया जाता। किन्तु खटमल आदिक जीवों में प्रायः जन्मकाल से ही भय देखा जाता है। एवमस्तु विषयान्तर में न जाकर प्रकृत मनुष्यजाति का यहां वर्णन करना है।

इसी जाति में विधि, निषेध, सदाचार, कदाचार, मान, अपमान, मर्य्यादा, बोध, अबोध इत्यादि की मीमांसा होती है।

देख, ज्ञान प्राप्ति की सामग्रियां बहुत हैं तथापि विचार करने से वे थोड़ी हैं। मनुष्यजाति अन्यान्य जातिवत् अपूर्ण ही है। इस को अपने उदर के अभ्यन्तर का भी पूर्ण बोध नहीं इस शरीर में ही कितनी वस्तुएं कहां हैं, क्योंकर यह शरीर रुग्ण और कभी नीरोग कोई बलिष्ठ कोई दुर्बल कोई लम्बे और खर्व कोई जन्म से ही अन्धे, गूंगे और कोई सर्वांग कुष्ठ इत्यादि भेद क्यों होता है। इसका भी तो परिचय मनुष्य को नहीं। एक ही वायुमण्डल और देश में रहते हुए कोकिल क्यों काले और बक क्यों श्वेत इत्यादि का कौनसा ज्ञान मनुष्य को प्राप्त है। इस प्रकार कोटियों अज्ञानों से आवृत किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर किस दरजे तक मनुष्य अभिमानी, गर्वान्वित, और मदोन्मत्त हो जाता है। यह तू देख रही है। मैं सत्य कहती हूं कि मनुष्यजाति अतिशय मूढ़ा है तथापि इस में अहङ्कार की सीमा नहीं यद्यपि इस की आयु क्षणिक और विषय सुख भी तदनुसार स्वल्प तथापि इतना ही। नरनारियां कितनी सौख्यवती हो रहा हैं। ये सब लीलाएं इसी आत्मा के विकाश का फल है। क्योंकि सृष्टि की आदि से आज तक महात्मा अपनी २ बुद्धि के अनुसार सब देशों और सब कालों में उत्तमोत्तम उपदेश देते आए तथापि यह जाति सुखिनी नहीं हुई और न भविष्यत् में होने की कोई प्रत्याशा देखती हैं। इतने प्रयत्न होने पर भी मनुष्य में भ्रातृभाव का लेश भी न आया शत्रुता सदा से बढ़ती ही चली आई और बढ़ती चली जाती है। स्वार्थ का महासागर यह जाति है इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। हे राजपुत्रि! तू अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र कर। वृत्तियों का ही मैं संक्षिप्त भेद बतलाती हूं। ध्यान से सुन।

प्रत्येक मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को प्राप्त करना चाहता है। यह साधारण प्रवृत्ति है। इन में भी काम और अर्थ की ओर सर्वप्राणी की प्रवृत्ति है। मनुष्यजाति धर्म की

और बढ़ती तो है किन्तु छल, कपट, आडम्बर, कुटिलता और अभिमानादि अनेक दोषों से दूषित होने पर भी वह पुरुष अपने को धर्म धुरन्धर समझता है। इस जगत् में मानवलीला अत्यन्त रोचक और शोचप्रद है। मोक्ष की ओर तो कोटियों मे एक आध पुरुष ही अग्रसर होते हैं। हे पुत्री! ये सारी लीलाएं परिस्थिति के अनुसार होती हैं। परिजन, पुरजन, देशजन और विदेशजन इत्यादिकों की दशा और कार्य्यक्रम देख कर मनुष्य अपना भी क्रम वैसा ही रखना चाहता है। भूपतियों तथा धनाढ्य पुरुषों की प्रशंसनीय गति देख कर वह भी तत्समान बनने की चेष्टा करता है। कभी विद्या का महत्व देख वा सुन विद्वान् होना चाहता है। कभी चिरस्थायी स्वर्गीय सुख को सुन उसकी सिद्धि के साधन में प्रवृत्त होता है। कभी तपस्वी और व्रती बन तीर्थों और देशों में यात्रा करना अथवा वन में एकान्तवास चाहता है। मनुष्यों की चित्त वृत्तियों का कहीं अन्त नहीं है। यह वृत्ति पृथिवी से भी बड़ी है। समुद्र इस के एक कोने में छिप सकते हैं। यदि कहा जाय कि वृत्ति की लम्बाई और चौड़ाई उतनी है जितना यह महान् आकाश है तो यह अत्युक्ति न होगी। उपदेशप्रदर्शक ब्राह्मण, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में चित्तवृत्तियों का चित्र साधु रीति से खैंचा गया है। यद्यपि वे काल्पनिक गाथाएं हैं तथापि वे बहुधांशों में मनुष्य पर घट सकती हैं। नमुचि नाम का असुर प्रलय काल पर्य्यन्त जीवित रहना चाहता था। हिरण्य कशिपु भी शाश्वतिक आयु का प्रार्थी हो त्रिभुवन का राज्य प्राप्त करके भी सन्तुष्ट न हुआ। रावण सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में रखकर त्रिलोकीपिता जगदीश के कार्य्य को भी हंसा करता था। इसी प्रकार अनेक असुरोंका वृत्तान्त दिखला चित्तवृत्ति कैसी प्रबल और बढ़ती जाती है इस का वर्णन दिखलाया है। एवमस्तु। हे पुत्री तू निज अनुभव से और परित-स्थित मनुष्यों के चरित्रों को देखने से चित्तवृत्तियों की परीक्षाकर और ऋषियों, मुनियों, और आचार्य्यों की शिक्षा की प्रणाली के

अनुसार चित्तवृत्तियों को रोकने के लिये प्रयत्नवती हो और समाधिनिमग्ना होकर अपने स्वरूप को पहचान और ध्यान धर।

शास्त्रों में चित्तवृत्तियों का निरूपण अतिविस्तार से और शास्त्रीय शब्दों द्वारा किया गया है। विषय कठिन है तथापि सरल भाव से मैं उनका संक्षिप्त निरूपण करती हूं। प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। स्मृति को छोड़ अनधिगत और अबाधित विषय के ज्ञान का नाम प्रमा है अर्थात् यथार्थानुभव का नाम प्रमा है। असाधारण साधन का नाम करण है। जैसे रूप के ज्ञान के लिये नेत्र असाधारण कारण हैं। नेत्र के बिना रूप का बोध कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार श्रोत्रादिक भी अपने २ विषय ग्रहण करने में असाधारण करण हैं। यद्यपि स्मृतिज्ञान भी अबाधित है किन्तु अनधिगत नहीं। भ्रमादिक ज्ञान अनधिगत तो है किन्तु अबाधित नहीं क्योंकि अधिकरण ज्ञान से भ्रम ज्ञान बाधित हो जाता है।

शङ्का होती है कि यह घट यह घट इत्यादि प्रकारक धारावाहिक स्थल में अधिगत ही ज्ञान रहता है। वहां लक्षण समन्वय कैसे ?

उत्तर—ऐसे स्थल में जैसे नीरूप काल का भी इन्द्रियवेद्यत्व वेदान्त मत में स्वीकृत है वैसे ही धारावाहिक बुद्धिस्थल में भी पूर्व२ ज्ञान का अविषय जो तत् तत् उत्तर कालिक क्षण उसका वह विषय होता है। अतः अव्याप्ति दोष नहीं। किञ्च सिद्धान्त में ज्ञान भेद का स्वीकार नहीं। धारावाहिक बुद्धि स्थल में जब तक घट स्फुरण रहता है तबतक घटाकार जो अन्तःकरण की वृत्ति वह एक ही रहती है नाना नहीं। क्योंकि वृत्ति को रोकने वाली दूसरी वृत्ति जब तक उत्पन्न नहीं होती तब तक एक ही स्थायी वृत्ति रहती है। और तत्प्रतिफलित चैतन्यरूप घटादिक ज्ञान भी तात्कालीन एक ही रहता है। इस लिये अव्याप्ति शङ्का भी नहीं।

पुनः शङ्का होती है कि सिद्धान्त में घटादिक ज्ञान भी मिथ्या है। चैतन्यज्ञान से उसका बाध होता है। तब घटादिक ज्ञान प्रमाण कैसे ?

उत्तर—ब्रह्मसाक्षात्कार के अन्तर घटादिक ज्ञान का बाध होता है संसार दशा में नहीं। क्योंकि श्रुति कहती है:—

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्। यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति"

जिस तत्व की साक्षात्कार दशा में ब्रह्मसाक्षात्कारवान् पुरुष का सब आत्मा ही होता है। उस दशा में किस कारण से किस इन्द्रिय से किस विषय को देखे? क्योंकि तत्वज्ञान से सबका बाध होजाता है। जिस संसार दशा में द्वैत के समान होता है उस दशा में इतर, इतर को देखता है। इस से सिद्ध है कि संसार दशा में घटादिक ज्ञान अबाधित रहता और ब्रह्म साक्षात्कार दशा में सब का बाध हो जाता है। इस हेतु घटादि प्रमा में अव्याप्ति नहीं। कहा भी गया है:—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥

जैसे देहेन्द्रियादिका ज्ञान प्रमाण समझा जाता है तद्वत् ब्रह्म साक्षात्कार जब तक नहीं हुआ है तब तक ही लौकिक प्रमाण समझा जाता है।

वे प्रमाण छः हैं, वे ये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष प्रमाके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमितिप्रमा के करण को अनुमान, उपमिति प्रमा के करण को उपमान, शाब्दी प्रमा के करण को आगम, अर्थापत्ति प्रमा के करण को अर्थापत्ति, और अभाव प्रमा के करण को अनुपलब्धि कहते हैं। सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा भी चैतन्य ही है।

शङ्का—निरवयव अन्तःकरण को परिणामात्मिका वृत्ति कैसे?

उत्तर—अन्तःकरण निरवयव नहीं। सिद्धान्त में वह सावयव स्वीकृत हुआ है। क्योंकि श्रुति कहती है "तन्मनोऽसृजत" तब मन को बनाया। वृत्तिरूप ज्ञान का मनो धर्मत्व है। इस में प्रमाण यह है

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव ॥

काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा) धी (ज्ञान) भी (भय) ये सब मन ही हैं। यहां धी शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान का ग्रहण है। अतएव कामादिक भी मनोधर्म कहलाते हैं। मन, चित्त, और अन्तःकरण ये तीनों एकार्थक हैं।

शङ्का- मैं चाहती हूं, मैं जानती हूं, मैं डरती हूं इत्यादि अनुभव आत्मा का धर्म प्रतीत होता है। तब कामादिक की अन्तःकरण धर्मता कैसे ?

उत्तर-जैसे लोहगोलक स्वयम् जलाने वाली चीज़ नहीं। तथापि जब वह लोह अग्नि से सन्तप्त हो जाता है तब लोग कहते हैं कि "यह लोहगोलक जलाता है"। क्योंकि लोह और अग्निताप दोनों मिश्रित होगये हैं। तद्वत् सुखाद्याकारपरिणामी जो अन्तःकरण उस अन्तःकरण में चैतन्याध्यास के कारण "मैं सुखी, मैं दुःखी हूं" इत्यादि व्यवहार होता है। वास्तव में सुख दुःखादि का ज्ञान भी अन्तःकरण का परिणाम है। तथापि आत्मा का परिणाम इस लिये मालूम होता है कि आत्मा और अन्तःकरण दोनों सम्मिलित हैं।

शङ्का-अन्तःकरण इन्द्रिय है। परन्तु मैं जानती हूं इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं। इस लिये अतीन्द्रियजन्य है। तब "मैं जानती हूं" इत्यादि की प्रत्यक्षविषयता कैसे ? भाव यह है कि मैं जानती हूं, मैं डरती हूं इत्यादि ज्ञान तो प्रत्यक्ष है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण नयनादिक हैं। उनसे यह ज्ञान होता नहीं। आप कहती हैं कि इस का ज्ञान अन्तःकरण से होता है। तब इस की प्रत्यक्षता नहीं होनी चाहिये।

उत्तर-अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं है।

शङ्का—" मनः षष्ठानीन्द्रियाणि " यह मन को षष्ठ इन्द्रिय कहा गया है।

उत्तर—नहीं, यहाँ अतिन्द्रिय भी मन से षट्त्व संख्या की पूर्ति की गई है। क्योंकि इन्द्रियगत संख्या की पूर्ति इन्द्रिय ही से की जाय यह नियम नहीं। क्योंकि—

"यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति"

यजमान सहित पांच आदमी इडा (यज्ञशेषान्न) खाते हैं। यहाँ ऋत्विग्गत जो पञ्चत्व संख्या उस की पूर्ति अनृत्विक् यजमान से की गई। और भी—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।

यहाँ वेदगत पञ्चत्व संख्या का पूरण अवेद महाभारत से किया गया है। और भी—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

इन्द्रियों से पर अर्थ हैं और अर्थों से पर मन है यह श्रुति मन को अनिन्द्रिय कहती है।

शङ्का—मनके अनिन्द्रिय होने से सुखादि प्रत्यक्ष का साक्षात्कारत्व न होगा।

उत्तर—इन्द्रियजन्य ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है—यह नियम नहीं क्योंकि तब अनुमिति का भी मनोजन्य होने से साक्षात्कारत्व हो और ईश्वर ज्ञान का अनिन्द्रियजन्य होने से साक्षात्कारत्व कभी न हो।

शङ्का—सिद्धान्त में प्रत्यक्षत्व प्रयोजक कौन?

समाधान—क्या ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक (प्रेरक) पूछती है? यद्वा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछती है? प्रथम पक्ष का उत्तर यह है—प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद ही प्रयोजक है। क्योंकि चैतन्य त्रिविध है। १—प्रमातृचैतन्य २—प्रमाणचैतन्य ३—विषयचैतन्य। यहाँ घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को विषय चैतन्य,

अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाणचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्य कहते हैं। सिद्धान्त में एक ही चैतन्य है। यह बारबार कथित हुआ है। इस हेतु प्रमाता (ज्ञाता जानने वाला जीव) प्रमाण नयनादिक इन्द्रिय और प्रमेय घटपटादि सम्पूर्ण जगत् ये तीनों चैतन्य ही हैं। इन तीनों में व्यावहारिक भेद है पारमार्थिक नहीं। और इन तीन चैतन्यों के सन्निकर्ष से जो चतुर्थी प्रमा (यथार्थबोध) होती है। वह भी चैतन्य ही है।

वृत्तिनिर्गमन

जैसे तड़ागस्थ जल किसी छिद्रसे निकल खेत की क्यारियों में जा उसी के आकारके समान त्रिकोण चतुष्कोण टेढ़ा सीधा आकार वाला होजाता है, अथवा जैसे मूषा (साँचा) में ढाला तरल धातु उसी के आकार के समान होता है। वैसे ही तैजस अन्तःकरण भी नेत्रादि छिद्रद्वारा निकल घटादि विषय देश को पा घटादि विषय के आकार में परिणत होता है इसी परिणाम का नाम वृत्ति है। और इस प्रकार अन्तःकरण से वृत्ति बाहर निकलती है। इस को वृत्तिनिर्गमन कहते हैं। अनुमित्यादि स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति का गमन वह्न्यादि देश में नहीं होता। क्योंकि वहां वह्न्यादि और चक्षुरादि का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं है और "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्षस्थल में घटादि का और तदाकार वृत्ति का बाहर एक देश में सन्निकर्ष होने से तदुभयावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। यद्यपि अन्तःकरण वृत्ति और घटादिक विषय दोनों विभाजक अर्थात् परस्पर भिन्नदेशज्ञ हैं। तथापि वृत्ति द्वारा एक देशस्थ होजाने से भेद के उत्पादक नहीं होते। अतएव मठान्तरवर्ती घट तदवच्छिन्न जो आकाश वह मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं। तथा च " यह घट है " यहां घट प्रत्यक्षस्थल में घटाकार जो वृत्ति सो घट संयोगी है। इस लिये घटावच्छिन्न जो चैतन्य उस का और तद्वृत्त्यवच्छिन्न जो

जो चैतन्य उस का अभिन्न होने से घटांश में घट ज्ञान की प्रत्यक्षता है। इसी प्रकार अन्यान्य प्रत्यक्षता के सम्बन्ध मे भी जानना।

"तू दशम है" इत्यादि स्थल में सन्निकृष्ट विषय मे शब्द से अपरोक्षज्ञान का स्वीकार है। अतएव "पर्वतवह्निमान् है" इत्यादि ज्ञान भी वह्नि अंश में परोक्ष और पर्वतांशमें अपरोक्ष है क्योंकि पर्वतावच्छिन्न चैतन्य का बहिर्निःसृत जो अन्तःकरणवृत्ति तदवच्छिन्न जो चैतन्य उस से अभिन्न है। किन्तु वह्नि अंश में अन्तःकरण की वृत्ति निःसृत होकर वहां नहीं जा सकती। इस हेतु वह्निअवच्छिन्न चैतन्य का और प्रमाण चैतन्य का परस्पर भेद है। वैसा अनुभव भी होता है "पर्वत देखती हूं" और वह्नि का अनुमान करती हूं।

जहां पक्ष असन्निकृष्ट है उस अनुमिति के सर्वांश में ज्ञान परोक्ष ही होता है। "चन्दन सुगन्धित है" इत्यादि ज्ञान भी चन्दनखण्डांश में अपरोक्ष किन्तु सौरभांश में परोक्ष है। क्योंकि सौरभ्य की चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण की अयोग्यता है।

शङ्का–एक ही ज्ञान को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों कहने से ज्ञान का जातित्व सिद्ध न होगा।

उत्तर–जातित्व न हो यह इष्ट ही है "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान घटत्वादि के सद्भाव से प्रमाण है न कि उस का जातित्व स्वीकार करने से।

चतुर्विधवृत्तियां

१–संशय २–निश्चय ३–गर्व ४–स्मरण चतुर्विध वृत्ति भेद से एक ही अन्तःकरण को मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त शब्द से पुकारते हैं कहा गया है:–

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त ये चार भीतर के करण हैं। इस

लिये ये अन्तःकरण कहाते हैं। इन के क्रमशः संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ये चार विषय हैं।

द्विविधप्रत्यक्ष

सविकल्पक निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान का नाम सविकल्पक। जैसे घट को मैं जानता हूं इत्यादि ज्ञान। संसर्गानवगाहिज्ञान का नाम निर्विकल्पक है। जैसे "यह यह देवदत्त है" "वह तू है" इत्यादि वाक्यजन्यज्ञान है।

शङ्का–यह शाब्द ज्ञान अप्रत्यक्ष है। क्योंकि इन्द्रियों से इस की उत्पत्ति नहीं।

उत्तर–ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान की ही प्रत्यक्षता है। यह वेदान्त में स्वीकार नहीं। किन्तु योग्य वर्तमान विषयक होने से प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से भेद होना प्रत्यक्ष प्रयोजक है यह कहा गया है। इस हेतु "वह यह देवदत्त है" इस वाक्य से जन्य जो ज्ञान उस का सन्निकृष्ट विषय होने से बहिर्निःसृत जो अन्तःकरण वृत्ति उस के द्वारा देवदत्तावछिन्न चैतन्य का और वृत्त्यवछिन्न चैतन्य का अभेद होने से "वह यह देवदत्त है" इस वाक्यजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता है एवम् "तत्वमसि" इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान का भी प्रत्यक्षत्व है। क्योंकि प्रमातृ चैतन्य का ही वह विषय है। इस लिये दोनों में अभेद बनाही है।

शङ्का–वाक्यजन्य ज्ञान पदार्थ संसर्गावगाही होने से निर्विकल्पक कैसे।

उत्तर–वाक्यजन्यज्ञान की विषयता में पदार्थ की संसर्गता स्वीकार नहीं। अनभिमत संसर्ग का भी वाक्यजन्य ज्ञान का विषयत्व आजायगा। किन्तु तात्पर्य ही का यहां ग्रहण है। प्रस्तुत यह है कि "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्" हे सौम्य! पहले यह सब सद्रूप ही था। इतना प्रारम्भ करके–

"तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

यह सत्य है वह आत्मा है वह तू है ऐसा उपसंहार करते हैं। इस से विशुद्ध ब्रह्म में सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य है। यह निश्चय होता है। तब तात्पर्य्य का अविषय जो संसर्ग उसको कैसे बतलावें यही तत्वमस्यादि वाक्यों का अखण्डार्थ है। जो संसर्ग में न प्रवेश करके यथार्थ ज्ञान का जनक हो वह अखण्डार्थ है। कहा गया है:—

संसर्गासंगिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

वाक्यों का जो संसर्ग उस से रहित जो हेतुता वही अखण्डार्थ कहलाता है। अथवा तत्प्रातिपदिकार्थ अखण्डार्थ है।

पुनः प्रत्यक्ष दो प्रकार का है एक जीव साक्षी दूसरा ईश्वरसाक्षी अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य उस को जीव कहते हैं। और अन्तःकरणोपहित जो चैतन्य उसे जीव साक्षी कहते हैं। प्रथम लक्षण में अन्तःकरण विशेषण है। द्वितीय लक्षण में उपाधि है। यह दोनों का भेद है। कार्य्य में प्रविष्ट होकर जो व्यावर्त्तक वह विशेषण है। और कार्य्य में न प्रविष्ट होकर जो व्यावर्त्तक हो वह उपाधि है। जैसे "रूप विशिष्ट घट अनित्य है" यहां रूप विशेषण है "कर्ण शष्कुलीगत जो आकाश वह श्रोत्र है" यहां कर्णशष्कुली उपाधि है। इसी उपाधि को नैयायिक परिचायक कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष हुआ कि यद्यपि अन्तःकरण जड़ होने के कारण विषय भासक न होने से विषयभासक चैतन्य का उपाधि है। यह जीव साक्षी प्रत्येक शरीर में नाना है। क्योंकि यदि आत्मा एक हो तो मैत्रके ज्ञान से चैत्र का भी ज्ञान हो।

मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षी कहते हैं। वह एक है क्योंकि उसकी उपाधिभूता जो माया वह एक है।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

इत्यादि श्रुति में मायाशब्दगत जो बहुवचन आया है वह मायागत बहुतशक्तियों को बतलाता है। अथवा माया में सत्व,

रज, तम ये तीन गुण हैं। इन के सूचनार्थ बहुवचन आया हुआ है। एक वचन का भी प्रयोग बहुत है यथाः—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्॥ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥ अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते॥ योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

प्रकृति को माया जाने और महेश्वर को मायी। रक्तशुक्लकृष्णरूपवती, विविध प्रजाओं को समानरूप में बनाती हुई एक अजा (माया) है। उसको एक अज (जीव) सेवता हुआ सोचता रहता है। और दूसरा जीव भोगभोगकर निवृत्त हुई उस माया को छोड़ देता है। जिस परमात्मा को हृदय में सन्निविष्ट होने पर योगिगण सर्वत्रव्यापिनी अति प्रबला माया को लांघ जाते हैं। उस व्यापी विद्यास्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो।

इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में एक वचन के बल से लाघवार्थ माया एक है यह निश्चय होता है। उस माया से उपहित चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते हैं। वह अनादि है क्योंकि उसकी उपाधिभूता माया अनादि है। मायावच्छिन्न चैतन्य को परमेश्वर कहते हैं। तब ईश्वर और ईश्वरसाक्षी में भेद सिद्ध होता है कि ईश्वरत्व में माया विशेषण है और साक्षित्व में माया उपाधि है। वह परमेश्वर यद्यपि एक है तथापि उपाधि भूता जो माया तन्निष्ठ जो सत्व, रज और तम गुण तदनुसार ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर इत्यादि नामवाले होते हैं।

पुनः प्रत्यक्ष द्विविध है एक इन्द्रियजन्य और दूसरा इन्द्रिय अजन्य अर्थात् इन्द्रिय से अजन्य। सुखादि प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य है क्योंकि

मन इन्द्रिय नहीं है यह पूर्व में कह आए हैं। इन्द्रिय पांच हैं घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा। सब ही इन्द्रिय अपने २ विषय में संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक होते हैं। उन में घ्राण, रसना और त्वचा इन्द्रिय अपने स्थान में रहते हुए ही क्रमशः गन्ध, रस, और स्पर्श की प्राप्ति करते हैं किन्तु नयन और श्रोत्र ये दोनों विषय देश में जाकर स्व स्व विषय का ग्रहण करते हैं। श्रोत्र भी नयनादिवत् परिछिन्न हैं इस लिये दूरस्थ दुन्दुभी आदि के निकट नहीं पहुंच सकता इस लिये मैंने दुन्दुभी का शब्द सुना यह अनुभव होता है। इस प्रकार संक्षेप से प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण वेदान्तपरिभाषा के अनुसार किया गया है।

निष्कर्ष

वेदान्त मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छः प्रमाण हैं। यथार्थज्ञान का नाम प्रमा है प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के करण को अनुमानप्रमाण, शाब्दी प्रमा के करण को शब्दप्रमाण, उपमितिप्रमा के करण को उपमान प्रमाण, अर्थापत्ति प्रमा के करण को अर्थापत्ति प्रमाण और अभाव प्रमा के करण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अज्ञान का बोधक प्रमाण कहाता है। अथवा प्रमाके करण को प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षप्रमा के करण चक्षुरादि इन्द्रिय हैं। इस हेतु चक्षुरादि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष प्रमा दो प्रकार का है एक अभिज्ञाप्रत्यक्ष दूसरी प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष। केवल इन्द्रियादि सम्बन्धजन्यज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष सामग्री सहित जो संस्कारजन्य ज्ञान वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है। यह प्रत्येक भी आन्तर प्रत्यक्षप्रमा और बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाके भेद से दो प्रकार की है। आन्तर प्रत्यक्षप्रमा भी दो प्रकार की है। एक आत्मगोचर दूसरी अनात्मगोचर। आत्मगोचर भी दो प्रकार की है एक शुद्धात्मगोचर दूसरी विशिष्टात्मगोचर। शुद्धात्मगोचर भी दो प्रकार की है एक ब्रह्मगोचर दूसरी ब्रह्मगोचर इत्यादि भेद जानने चाहियें।

अनुमानप्रमाणनिरूपण

अनुमिति प्रमा का जो करण उसे अनुमानप्रमाण कहते हैं। लिङ्गज्ञानजन्य जो ज्ञान उसे अनुमिति कहते हैं जैसे पर्वत में धूमका प्रत्यक्षज्ञान होके वह्नि का ज्ञान होता है। वहां धूम का जो प्रत्यक्ष ज्ञान वह लिङ्गज्ञान है उस से वह्नि का ज्ञान होता है अतः पर्वत में वह्नि का ज्ञान अनुमिति है। जिस के ज्ञान से साध्य का ज्ञान होता है वह लिङ्ग कहलाता है। अनुमितिज्ञान के विषय को साध्य कहते हैं। यहां अनुमितिज्ञान का विषय वह्नि है अतः वह साध्य है। धूम ज्ञान से वह्नि रूपसाध्य का ज्ञान होता है। अतःधूम लिङ्ग है। व्याप्य के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान होता है। अतः व्याप्य लिङ्ग और व्यापक को साध्य कहते हैं। व्याप्ति वाले को व्याप्य और व्याप्ति के निरूपक को व्यापक कहते हैं। अविनाभावरूप सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम में वह्नि का अविनाभावरूप सम्बन्ध है। वही धूम में वह्नि की व्याप्ति है। अतः धूम वह्नि का व्याप्य है उस व्याप्तिरूप सम्बन्ध का निरूपक वह्नि है अतः धूम का व्यापक वह्नि है। जिस के बिना जो न हो उस में उस का अविनाभावरूपसम्बन्ध होता है। वह्नि बिना धूम होता नहीं अतः वह्नि का अविनाभावरूप सम्बन्ध धूम में है। वह्नि में धूम का अविनाभाव नहीं क्योंकि तप्तलोह में धूम बिना वह्नि है अतः धूम का व्याप्य वह्नि नहीं किन्तु वह्नि व्याप्य धूम है।

जहां अनुमिति होती है वहां प्रथम महानसादिक में वारम्वार धूम वह्नि का सहचार देख मूलोच्छेदरहित ऊंची धूम रेखा में वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्षरूप निश्चय होता है पर्वतादिक में हेतु का प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर संस्कार का उद्भव होके व्याप्ति की स्मृति होती है। तत्पश्चात् "यह पर्वत वह्निमान् है," ऐसा अनुमिति ज्ञान होता है। वहां व्याप्ति का अनुभव करण है। व्याप्ति की स्मृति व्यापार है। पक्ष में साध्य का ज्ञानरूप अनुमिति फल है। इस रीति

से वाक्यप्रयोग विना व्याप्ति ज्ञानादिक से जो अनुमिति होती है उस को स्वार्थानुमिति कहते हैं। उसके करण व्याप्ति ज्ञानादिक स्वार्थानुमान कहलाते हैं।

जहां दो पुरुषोंका विवाद हो वहां वह्निनिश्चयवाला पुरुष अपने प्रतिवादी की निवृत्ति के लिये जो वाक्य प्रयोग करे उसे परार्थानुमान कहते हैं अर्थात् स्वार्थ और परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का है। न्यायसाध्य को परार्थ कहते हैं। अवयवसमुदाय का नाम न्याय है। अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं१-प्रतिज्ञा २-हेतु ३-उदाहरण। अथवा १-उदाहरण २-उपनय ३-निगमन। न्यायशास्त्रगत पांच अवयव वेदान्त में नहीं माने जाते।

उदाहरण- न्याय के अनुसार भी।

"पर्वतोवह्निमान् धूमात्। योयो धूमवान् सोऽग्निमान् यथामहानसः"।

इतने वाक्य के प्रयोग से अनुमान की सिद्धि हो सकती है। इस में तीन अवान्तर वाक्य हैं। उन के क्रमशः प्रतिज्ञादिक नाम हैं। साध्यविशिष्टपक्ष का बोधक वाक्य प्रतिज्ञावाक्य कहलाता है। ऐसा "पर्वतो वह्निमान्" यह वाक्य है। वह्निविशिष्ट पर्वत है। ऐसा बोध इस वाक्य से होता है। यहां वह्नि साध्य है पर्वत पक्ष है। प्रतिज्ञावाक्य से उत्तर जो लिङ्गबोधक वचन उसे हेतु वाक्य कहते हैं। ऐसा धूमात् यह वाक्य है। हेतुसाध्य का सहचार बोधक जो दृष्टान्त प्रतिपादक वचन उसे उदाहरण वाक्य कहते हैं। वादि प्रतिवादी का जहां विवाद नहो किन्तु दोनों का निर्णीत अर्थ जहां हो वह दृष्टान्त कहलाता है। इस रीति से प्रतिज्ञादिक तीनों का समुदाय रूप महावाक्य से विवाद की निवृत्ति होती है। महावाक्य सुन कर यदि प्रतिवादी आग्रह करे अथवा व्यभिचार की शङ्का करे तो तर्क से ही उस की निवृत्ति करनी चाहिये। इस हेतु प्रमाण का सहकारी तर्क है। इस रीति से

तीन अवयवों का समुदाय रूप जो महावाक्य उसको परार्थानुमान कहते हैं। तदनन्तर जो अनुमिति हो उसे परार्थानुमिति कहते हैं।

वेदान्त वाक्यों से जीवमें ब्रह्मका अभेद निर्णीत है यह अनुमान से भी सिद्ध होता है। जैसे

" जीवो ब्रह्मा भिन्नः चेतनत्वात् यत्र यत्र चेतनत्वं तत्रतत्रब्रह्माभेदः। यथा ब्रह्मणि।"

यहतीन अवयवोंका समुदायरूप महावाक्य है। अतः यहपरार्थानुमान है। यहां जीवपक्षहै ब्रह्मा भेद साध्यहै। चेतनत्व हेतुहै। ब्रह्म दृष्टान्तहै। यदि प्रतिवादी यहां ऐसा कहे कि जीव में चेतनत्व हेतु तोहै किन्तु ब्रह्माभेदरूप साध्य नहीं है। इस रीति से पक्ष में चेतनत्व हेतु का ब्रह्माभेद रूपसाध्य से व्यभिचार की शङ्का करे तो तर्क से ही उस शङ्का की निवृत्ति करे। तर्क का यह स्वरूप है। जीव में चेतनत्व हेतुमान कर ब्रह्माभेदरूप साध्य न माने तो चेतन को अद्वितीयता प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा। किन्तु अनिष्ट का निवर्त्तक तर्क कहलाता है। श्रुति का विरोध सर्व आस्तिकों को अनिष्ट है।

पुनः व्यावहारिकप्रपञ्चोमिथ्या। ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। यत्र यत्र ज्ञान निवर्त्यत्वं तत्रतत्र मिथ्यात्वं। यथा शुक्तिरजतादौ "

यहां "व्यावहारिकप्रपञ्च" पक्षहै ' मिथ्यात्व" साध्यहै "ज्ञान निवर्त्यत्व" हेतुहै "व्यावहारिक प्रपञ्चो मिथ्या" यह प्रतिज्ञावाक्यहै। "ज्ञाननिवर्त्यत्वात् ' यह हेतुवाक्य है।" यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तत्र मिथ्यात्वम्। यथाशुक्तिरजतादौ " यह उदाहरण वाक्य है। यहां भी प्रपञ्च को ज्ञाननिवर्त्यत्व मान कर मिथ्यात्व न माने तो सत् की ज्ञान से निवृत्ति नहीं बनती। अतः ज्ञान से सकल प्रपञ्च की निवृत्तिप्रतिपादक श्रुतिस्मृतियों का विरोध होगा। इस तर्क से व्यभिचार शङ्का की निवृत्ति हो सकती है। इस रीति से वेदान्तके

अर्थ के अनुसारी अनेक अनुमान हैं। परन्तु वेदान्तवाक्यों से अद्वितीयब्रह्म का जो निश्चय उस की सम्भावनामात्र का हेतु अनुमान प्रमाण है। स्वतन्त्र अनुमान ब्रह्मनिश्चयका हेतु नहीं क्योंकि वेदान्तवाक्यों के विना अन्यप्रमाण की ब्रह्म में प्रवृत्तिनहीं।

न्यायमत में केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयिव्यतिरेकी भेद से तीन प्रकार का अनुमान अङ्गीकार है। जहां हेतुसाध्य के सहचारज्ञान से हेतु में व्याप्ति का ज्ञान होता है वह अन्वयीअनुमान कहाता है। जहां साध्याभाव में हेत्वभाव के सहचारदर्शन से हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो वह केवल व्यतिरेकीअनुमान कहाताहै। केवलान्वयी अनुमान में अन्वयसहचार का उदाहरण मिलता है। किन्तु केवल व्यतिरेकी अनुमान में व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण मिलता है। यह भेद है। जहां दोनों के उदाहरण मिले, वहां अन्वयिव्यतिरेकी अनुमान जानना। ऐसा अनुमान " पर्वतो वह्निमान् " है। इस को प्रसिद्धानुमान कहते हैं। यहां अन्वय के सहचार का उदाहरण महानस है और व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण महाह्रद है। इस रीति से तीन प्रकार का अनुमान नव्यायिक कहते हैं।

वेदान्तमत में केवल व्यतिरेकी का प्रयोजन अर्थापत्ति से होता है। और केवलान्वयी अनुमान वेदान्त में नहीं है। क्योंकि सर्व पदार्थों का ब्रह्म में अभाव है। अतः व्यतिरेक सहचार का उदाहरण ब्रह्म मिलता है। यद्यपि वृत्तिज्ञान की विषयतारूप ज्ञेयता ब्रह्म में है। उस का अभाव ब्रह्म में बनता नहीं। तथापि ज्ञेयतादिक मिथ्या है। मिथ्य पदार्थ और उस का अभाव एक अधिष्ठान में रहते हैं। इस हेतु जिस को नय्यायिक अन्वयिव्यतिरेकी कहते हैं वहां अन्वयी नाम एक प्रकार का अनुमान है। यह वेदान्त का मत है। यहां संक्षेप से अनुमान प्रमाण कहा है।

उपमानप्रमाणनिरूपण

सादृश्यप्रमा का जो करण उस को उपमान कहते हैं। जैसे गोज्ञान

वाला पुरुष वन में जाकर गवय को देख कहे कि यह पिण्ड मेरी गौ के सदृश है। तदनन्तर उस को यह निश्चय होगा कि इसी पशु के समान मेरी गौ भी है इसी का नाम उपमान है। उपमा से जिसको बोध हो वह उपमान है। अन्वय और व्यतिरेक से गवयनिष्ठ जो गौ सादृश्यज्ञान वह करण है। और गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान फल है। भेदसहित समान धर्म को सादृश्य कहते हैं। जैसे गवय में गौ के भेद सहित समान अवयव गवय में हैं वहां गौ के सादृश्य है। गौ के समान धर्म गौ मे है। गौ का भेद अश्व में है। समानधर्म नहीं। अतः सादृश्य भी नहीं। चन्द्र के भेद सहित आह्लाद जनकतारूप समानधर्म मुख में है। वही मुख में चन्द्र का सादृश्य है।

यद्यपि उक्त ज्ञान को उपमिति माने तो आत्मा में किसी का सादृश्य नही। अतः जिज्ञासु को अनुकूल उदाहरण नहीं मिल सकता। इत्यादि शङ्का समाधान करके उपमान का निश्चय करना चाहिये।

शब्दप्रमाण निरूपण

शाब्दीप्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते हैं। जिस वाक्य का तात्पर्य्य विषयीभूत जो संसर्ग उसका किसी प्रमाण से बाध न हो वह वाक्यप्रमाण है। वाक्यजन्यज्ञान के लिये आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य्यज्ञान ये चार करण होते हैं। पदार्थों की परस्पर जिज्ञासाविषयत्व उसकी जो योग्यता उसे आकांक्षा कहते हैं। जैसे क्रिया श्रवणमें कारक की, कारकश्रवणमें क्रिया की करणश्रवण मे इतिकर्त्तव्यता की जिज्ञासा होती है। "अस्ति" कहने से "घटः पटः" इत्यादि की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार घटः ऐसा उच्चारण करने से अस्ति आदि क्रिया की आकांक्षा होती है "नयनेन" इस करण कारण के सुनने से "भगवन्तं पश्यति" इत्यादि इति कर्त्तव्यता की आकांक्षा होती है। योग्यता उसे कहते हैं जिस से तात्पर्य्यविषयीभूतसंसर्ग का बाध न हो। जैसे "वह्निना सिञ्चति"

आग से सींचता है इत्यादि वाक्य में तादृश संसर्ग का बाध होता है। इस लिये यह योग्यता नहीं। "किन्तु जलेन सिञ्चति" यही योग्यता है। तत्वमस्यादि वाक्यों में भी वाच्याभेद के बाध होने पर भी लक्ष्यस्वरूपा भेद में बाध का अभाव है इस लिये योग्यता होती है। व्यवहित न होकर पदजन्य जो पदार्थोपस्थिति उसे आसत्ति कहते हैं। मानान्तरोपस्थापित पदार्थ का जो अन्वय-बोध उस के अभाव से भी कहीं पर पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है। इसी हेतु अश्रुतपदार्थस्थल में उस २ पद का अध्याहार होता है। जैसे "द्वारको" इतना कहने से "बन्दकरो" इस पद का अध्याहार होता है। वक्ताकी इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। जिस अर्थ में तात्पर्य्यज्ञान नहीं होता उसका शाब्द बोध नहीं होता। जैसे "सैन्धवमानय" इस वाक्य से भोजन समय में अश्व का तात्पर्य्य वक्ता का नहीं है। अतः इस में अश्व का शाब्द बोध नहीं होता। इसी प्रकार गमन समय में लवण का शाब्दबोध नहीं होता। यदि तात्पर्य्य ज्ञान शाब्द बोध का हेतु न हो तो "सैन्धवमानय" इस वाक्य से भोजन समय में अश्व का और गमन समय में लवण का बोध होना चाहिये। अतः शाब्द बोध में तात्पर्य्यज्ञान हेतु है।

शाब्दी प्रमा दो प्रकार की है एक व्यावहारिकी दूसरी पारमार्थिकी। व्यावहारिकशाब्दीप्रमा भी दो प्रकार की है एक लौकिक वाक्यजन्य दूसरी वैदिक वाक्य जन्य "नीलोघटः" इत्यादि लौकिक वाक्य हैं। "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वैदिक वाक्य हैं। जैसे नील के अभेद वाला घट है यह प्रथम वाक्य का अर्थ है। वैसे वज्रहस्त के अभेदवाला पुरन्दर है। यह द्वितीय वाक्य का अर्थ है। प्रथम वाक्य में विशेषण बोधक नीलपद और घट पद विशेष्य बोधक है। द्वितीय वाक्य में वज्रहस्त पद विशेषण बोधक और पुरन्दर पद विशेष्यबोधक है। इस रीति से लौकिक वैदिक वाक्यों की समानता है।

वैदिक वाक्य दो प्रकारके हैं। एक व्यावहारिक अर्थ के बोधक, दूसरे परमार्थतत्व के बोधक। ब्रह्म से भिन्न सारा व्यावहारिक अर्थ कहाता है। परमार्थतत्व केवल ब्रह्म ही है। ब्रह्मबोधक वाक्य भी दो प्रकार के हैं। तत्पदार्थ के वा त्वं पदार्थ के स्वरूप के बोधक अवान्तर वाक्य हैं। जैसे "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" यह वाक्य तत्पदार्थ का बोधक है। "य एष हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" यह वाक्य त्वंपदार्थ के स्वरूप का बोधक है। तत्पदार्थ त्वंपदार्थ के अभेद के बोधक "तत्वमसि" आदिक महावाक्य हैं।

हे राजकुमारी! शाब्दी प्रमा में अनेक विवाद उपस्थित होते हैं। इस भारत भूमि पर ही जो शतशः मत प्रचलित हो रहे हैं उन का कारण भी शब्द प्रमाण ही है। अब शब्द प्रमाण कारण बनगया है इस में सन्देह नहीं किन्तु प्रथम नहीं था। क्योंकि सब से प्रथम [illegible]र अनादि तो वेद ही हैं अतः मनुष्य की प्रारम्भावस्था में यद्यपि [illegible]क ही मत था किन्तु शनैः २ वैदिक सिद्धान्त में परिवर्तन होता [illegible]ा। वेद का भी तात्पर्य्य लोग भिन्न २ समझने और लगाने लगे। [illegible]द ईश्वरीय ज्ञान है" इस में भी बहुत आचार्य सन्देह करनेलगे। इस प्रकार अपने २ विचार के अनुसार अनेक सम्प्रदाय इसी भारत में चला दिए। धर्मश स्त्री कहते हैं कि "केवल हमारा ही कथन वेदानुसारी है" और जितने धर्मशास्त्र हैं वे वेदविरुद्ध हैं अतः वे त्याज्य भी हैं। इसी प्रकार पौराणिक और तान्त्रिक आदिक आचार्यों का भी कथन है। और आश्चर्य्य की बात यह है कि वे परस्पर विरुद्ध रहने पर भी वेदानुसारी और ईश्वर प्रणीत ही माने जाते हैं। पुराणरचयिता वास्तव में कौन इसका अब तक निर्धारण नहीं हुआ तथापि एक कल्पित व्यास नाम मान कर पुराणों के रचयिता वेही कहे जाते हैं। तन्त्रशास्त्र के वक्ता वा प्रणेता साक्षात् सदाशिव महादेव ही मानेजाते हैं इसी प्रकार अन्यान्य श्रीरामानुज, कबीर, नानक आदि एतद्देशीय आचार्य्य तथा मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि विदेशी धर्मप्रचारक भी ईश्वर वा ईश्वरप्रेरित ईश्वर समान

ही माने जाते हैं। प्रत्युत साक्षात् परमात्मा से भी कुछ अधिक कहे गए हैं। ईश्वर में कितने ही विश्वास क्यों न कोई रक्खे किन्तु ईसा प्रभु के ऊपर उस पुरुष का यदि विश्वास न हो तो वह स्वर्ग का सुख कदापि नहीं पासकता वह अन्धकूप में वा अग्निज्वाला में सदा के लिये गिरा दिया जायगा।

हे राजकुमारी बात इसमें यह है कि जब कोई लोकोत्तर महापुरुष अपनी प्रतिभा से नवीनमत स्थापित करना चाहते हैं तब वे प्रथम स्वजाति, स्वधर्म, स्वकुल और स्वदेश के अनुकूल बहुत सी सामग्रियां इकट्ठी करने लगते हैं। कभी वे मौन होकर कहीं एकान्त में बैठकर मानो, तपस्वी बन जाते हैं। कभी अपने देश से दूर जाकर कुछ नवीन बातें सीखकर स्वदेशकी भद्दी बातों का खण्डन और निजकपोल कल्पित बातों का मण्डन करके अज्ञानी पुरुषों पर निज प्रभाव जमाने लगजाते हैं। कभी कुछ मनमानी बातें कहकर अपनी विद्वत्ता प्रकाशित करने लगजाते हैं। कभी कुछ अलौकिक चमत्कार, जो वास्तव में साक्षात् वञ्चकता अथवा धूर्त्तता होती है दिखला कर अतिमूढ़जनों को अपने फन्दे में फंसा लेते हैं। गतानुगतिक, भेड़चाल और निर्बुद्धि सदा से जनता चली आती है। वे सब उन के पशु बनने लगते हैं और उनपशुओं से वे धूर्तराट् अपने मनः काम पूर्णकर सिद्धबनता जाता है। क्रमशः देखा देखी अच्छे बुरे चोर साधु विद्वान् मूर्ख सब प्रकार के मनुष्य उन में सम्मिलित होने लगते हैं। यद्यपि परम्परागत अनेक विवेकी पुरुष अपने कुल धर्म में अनेक दोष देखते भी हैं तौभी उस जटिल और संगठित धर्म से पृथक् होना कठिन होजाता है। जैसे पशुओंऔर पक्षियों में स्वाभाविक अनेक जातियां और उपजातिया बनी हुई हैं और वे प्रकृत्यनुकूल वरतते हैं वे अपनी जाति और उपजाति को छोड़ अन्यमें संमिलित नहीं हो सकते क्योंकि प्रकृति इन को उस काम से रोकती है। जैसे घोड़ा कदापि गजादि पशुओं में सम्मिलित नहीं हो सकता वैसे ही हे राजकुमारी मनुष्यों ने भी अपनी २ कृत्रिम एक एक

जाति बनाली है । इस लिये उन्हे उससे निकलना कठिन हो जाता है क्योंकि अपनी २ जातिको पृथक्त्वसिद्धि के लिये पृथक् २ नियम सदाचार अनुष्ठान पूजा पाठ इत्यादि बना लिये गये हैं ।

इस लिये हे राजकुमारी ! शाब्दी प्रमा में अनेक बखेड़े खड़े हो जाते हैं जिस हेतु हम वैदिक धर्म्मावलम्बी हैं । इस लिये हमें वेद प्रिय हैं । मुसलमानों को कुरान, क्रिस्तानों को बाइबिल, बौद्धों को धर्मपिटक, तान्त्रिकों को तन्त्र और सिक्खों को ग्रन्थसाहेब प्रिय हैं परन्तु विचार यहाँ यह है कि क्या सर्व ग्रन्थों के समान ही वेद भी हैं ? नहीं ऐसा कदापि नहीं । इसी लिये श्रीशङ्कराचार्य्य ने वेदान्त के द्वितीय अध्याय में तर्कास्त्र लेकर ही अन्यान्य मतों का शिरच्छेदन किया है । और अच्छी रीति से विविध तर्कों द्वारा वेद की श्रेष्ठता और अन्यान्य मतों को निःसारता दिखलाई है । इसी प्रकार श्रीदयानन्दसरस्वती ने भी सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ में वेद की उच्चता दिखला पृथिवी पर के प्रसिद्ध २ सारे मतों की असत्यता और तुच्छता कही है । हे राजकुमारी ! यह संसार अतिविलक्षण अत्याश्चर्य्य है । इस में यद्यपि मनुष्य जाति अन्यान्य जातियों की अपेक्षा परम विवेकवती और बुद्धि शालिनी है तथापि अनेक कारण-वश ऐसी भेड़ चाल चल पड़ी है अथवा ऐसा दृढ़ अटूट और अजीर्ण पाश बना लिया गया है । और उस में एक २ समुदाय ऐसा फंसा लिया गया है कि वह वह समुदाय उस २ पाश से मुक्त नहीं हो सकता । यह अत्यन्त आश्चर्य्य की बात है ।

अथ अर्थापत्ति प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण संक्षेप से निरूपित हुए । तू इनका आशय समझभी गई होगी । तेरी मुखछवि से ऐसा भासित होता है । अब अर्थापत्ति प्रमाण को संक्षेप से बतलाती हूँ । ध्यान से इसे सुन कर हृदय में रख । उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाती है । वहां उपपाद्यज्ञान करण होता

और उपपादकर्फहोताहैजिसकेबिना जो अनुपपन्नहै वहवहां उपपाद्य होता और जिस के अभाव में जिसकी अनुपपत्तिहोती वह वहां उपपादकहोता है। उदाहरण से इसको इसप्रकार जान। किसी ने कहा कि "यद्यपि यह पुरुष दिन में नहीं खाता तथापि पीन (मोटा) है" यहां विचार करना है कि भोजन के बिना कोई मोटा नहीं होसकता वह प्रतिदिन क्षीण और कृश होता जायगा। किन्तु यह पुरुष दिन में न खाकर भी पीन बना हुआ है। यह कैसे हो सकता है अतः यहां कोई कल्पना करनी होगी। रात्रि भोजन यहां कल्पित होगा। क्योंकि रात्रि भोजन के बिना दिन में सदा अभोजक पुरुष को मोटाई नहीं हो सकती। अतः रात्रि भोजन यहां उपपादक है और पीनत्व उपपाद्य है। जो उत्पन्न किया जाय वह उपपाद्य और जो उत्पन्न करे वह उपपादक होता है। लक्षणसमन्वय इस प्रकार होता है। रात्रि भोजन के बिना दिन में अभोजी पुरुष का पीनत्व (मोटाई) अनुपपन्न है इस कारण तादृश पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में तादृश पीनत्व की अनुपपत्ति होती है अतः रात्रिभोजन उपपादक है। अर्थापत्ति शब्द का समास इस प्रकार हो सकता है। अर्थकी आपत्ति अर्थात् कल्पना वह अर्थापत्ति। रात्रिभोजन की जो कल्पना तद्रूप जो प्रमिति (प्रमा, ज्ञान) उस प्रमिति में जो अर्थ की आपत्ति (कल्पना) वह अर्थापत्तिप्रमा है। इसका नाम षष्ठीतत्पुरुष है। बहुब्रीहि समास भी यहां होता है जैसे—कल्पना करण जो पीनत्वादिज्ञान उस में अर्थ की आपत्ति हो जिस से वह अर्थापत्ति।

अर्थापत्ति के दो भेद हैं:—१—दृष्टार्थापत्ति और २—श्रुतार्थापत्ति। जहां दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना होती है वहां दृष्टार्थापत्ति होतीहै। क्योंकि उपपाद्य पीनत्व दृष्ट है। और जहां श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्तिज्ञान से उपपादक की कल्पना हो वहां श्रुतार्थापत्ति होती है। जैसे किसी ने पूछा कि मेरा मित्र सोमदेव घर पर है? उत्तर मिला नहीं। इस से उसे विदित हुआ

कि मेरा मित्र गृह पर इस समय नहीं है किन्तु कहीं बाहर गया हुआ है।सुनने से ऐसा मालूम-हुआ अतःइसका नाम श्रुतार्थापत्तिहै।

श्रुतार्थापत्ति के भी दो भेद हैं। एक अभिधानानुपपत्ति दूसरी, अभिहितानुपपत्ति। जहां वाक्य के एक अवयव के सुननेसे अन्यथा-भिधान की अनुपपत्ति हो और उससे अभिधानोपयोगी किसी अन्य पदकी कल्पना हो वहां अभिधानाउपपत्ति होती है। यथा-किसी ने कहा कि ये लड़के 'द्वार' इतने कहने से ही लड़का शीघ्र उठा द्वार को बन्द कर दिया। यहां केवल 'द्वार' कहने से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती "द्वार बन्द करदे" इतना कहने से वाक्यार्थ विदित होता है किन्तु अभिप्रायवित् पुरुष केवल "द्वार" पद के उच्चारण से ही समझगया कि यह "द्वारबन्दकरनेको कह रहे हैं" अतः यहां "द्वार" सुनकर "बन्दकरो" इतनी क्रिया की कल्पना की जाती है इस हेतु इसको अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। अभिधान जो कथन उसकी जो अनुपपत्ति=असिद्धि=अयोग्यता वह अभिधानानुपपत्ति। अभिहितानुपपत्ति वहां होता है जहां वाक्यार्थ ही अनुपपन्न हो अन्य अर्थ की कल्पना करे जैसे "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" "स्वर्गाभिलाषी जन ज्योतिष्टोमनाम के यज्ञ से यजन करे" यहां शङ्का होती है कि यज्ञ तो दो एक दिन में समाप्त हो जाताहै तब उससे स्वर्ग कैसे होगा। इस प्रकार यज्ञ करना व्यर्थ सिद्ध होता है। किन्तु याग व्यर्थ है नहीं क्योंकि यागके लिये श्रुति की आज्ञा है वह व्यर्थ कैसे होसकताहै इस हेतु एक अपूर्वशक्ति की कल्पना होती है जो याग से उत्पन्न होकर चिरकालस्थायिनी और स्वर्गप्रापिका होतीहै। इत्यादि अर्थापत्ति प्रमाण का भेद जानना।

हे पुत्री! सारे अर्थों का बोध स्वय ही पुरुष को होने लग जाता है जब उसका मन अन्तर्मुखी न और निरुद्ध रहना है। तू जितना ही मनन और मन में तर्क वितर्क करती जायगी उतनी ही तू बुद्धिमती होती जायगी। मनन और तर्ककरने से ही पुरुष विलक्षण और विचक्षण होताहै। सकल शास्त्र का उत्पत्तिक्षेत्र यह अन्तःकरण ही

है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं किन्तु वा क्षेत्र अनेक प्रकार से तैयार होताहै। निज अनुभवसे, अध्ययनसे, विद्वानोंके संग से, तर्कवितर्क से, पुनः पुनः अभ्याससे, भूयोभूयः मनन करनेसे इत्यादि इस क्षेत्रको उर्वरा शस्यसम्पन्न बनाने के अनेक उपाय कथित हैं। किन्तु मनन ही इस का मुख्य अंग है। तू प्रत्येक वस्तु के ऊपर थोड़ा मनन करता रह देख, थोड़े से दिनों में गूढ़ से गूढ़ तत्व तुझे स्वयं भासित होने लगेगा। तब वह प्रातिभासिक जगत् आश्चर्यमय और विज्ञानमय, प्रतीत होगा। तब ब्रह्मकी सत्ता इस समस्त जगत् में और कवियों की सत्ता शब्दमय संसार में देखेगी। शब्द संसार कविगण का एक खेल मात्र है।

अनुपलब्धिप्रमाणनिरूपण

अभाव की प्रमाके असाधारण कारण को अनुपलब्धिप्रमाण कहते हैं। प्राचीन नैयायिक निषेधमुखप्रतीति के विषय को अभाव कहते हैं। यह अभाव दो प्रकार का है एक संसर्गाभाव, दूसरा अन्योन्याभाव। उनमें अन्योन्याभाव एकही है। संसर्गाभावके चार भेद हैं। १–प्रागभाव २–प्रध्वंसाभाव ३– सामयिकाभाव और ४–अत्यन्ताभाव है। अभेद के निषेधक अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। अथवा अत्यन्ताभाव से भिन्न उत्पत्ति और नाश से शून्य अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। इसी को भेद, भिन्नता, अतिरिक्तता और पृथक्त्व भी कहते हैं। नाशशून्य तो प्रध्वंसाभाव भी है। वह उत्पत्ति शून्य नहीं। उत्पत्ति-नाशशून्य तो आत्मा भी है वह अभावरूप नहीं। किन्तु भावरूप है। उत्पत्तिनाशशून्य अभावरूप तो अत्यन्ताभाव भी है, पर अन्योन्याभावरूप नहीं किन्तु उस से भिन्न है। "घटः पटो न" ऐसा कहने से घट में पट के अभेद का निषेध होता है। इस हेतु घट में पट के अभेद का निषेधक है। अतः घट में पट का अन्योन्याभाव है। उस से भिन्न अभावको संसर्गाभाव कहतेहैं। अनादि सान्त जो अभाव वह प्रागभाव कहलाता है। अपने प्रतियोगी के उपादान कारण में प्रागभाव रहता है। जैसे घट के प्रागभाव का प्रतियोगी घट है। उसका

जो उपादानकारण कपाल उस में घट का प्रागभाव है। वह अनादि अर्थात् उत्पत्ति रहित और सान्त (अन्तवाला) है। अनादि अभाव तो अत्यन्ताभाव भी है किन्तु वह सान्त नहीं। सान्त अभाव तो सामयिकाभाव भी है किन्तु वह अनादि नहीं। और वेदान्त सिद्धान्त में अनादि और सान्त माया है वह अभाव नहीं। किन्तु जगत् का उपादानकारण होने से सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय भावरूप माया है।

सादि अनन्त जो अभाव उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे मुद्गरादिक से घटादि का ध्वंस होता है। अनन्त अभाव तो अत्यन्ताभाव भी है वह सादि नहीं। सादि अभाव तो सामयिकाभाव भी है वह अनन्त नहीं। सादि अनन्त तो मोक्ष भी है क्योंकि ज्ञान से मोक्ष होता अतः सादि है और मुक्त को पुनः संसार नहीं होता। अतः अनन्त है। परन्तु मोक्ष अभावरूप नहीं किन्तु भावरूप है। यद्यपि अज्ञान और उस के कार्य्य की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं निवृत्ति नाम ध्वंस का है। अतः मोक्ष भी अभावरूप सिद्ध होता है। तथापि कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठानरूप होता है। अज्ञान और उस का कार्य्य कल्पित है। अतः उन की निवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्मरूप है। अतः अभावरूप मोक्ष नहीं। किन्तु ब्रह्म रूप होने से भावरूप है।

उत्पत्ति और नाशवाला जो अभाव वह सामयिकाभाव कहलाता है। जहां किसी काल में पदार्थ होता और किसी काल में नहीं होता। वहां पदार्थशून्य काल में उस पदार्थ का सामयिकाभाव होता है। जैसे भूतलादिक में घटादि किसी काल में रहता और किसी काल में नहीं रहता वहां घटशून्यकालसम्बन्धी भूतलादिक में घटादि का सामयिकाभाव है। जो किसी समय में हो और किसी समय में न हो वह सामयिकाभाव है। भूतल से घट को अन्यदेश में लेजाय तब घट का अभाव भूतल में उपजता है। और पुनः यदि उसी भूतल में घट ले जाय तब घट का अभाव भूतल में नष्ट होजाता है। इस प्रकार

सामयिकाभाव उत्पत्तिविनाशवाला है। उत्पत्तिवाला तो प्रध्वंसाभाव भी है वह नाशवाला नहीं। नाशवाला तो प्रागभाव भी है किन्तु वह उत्पत्तिवाला नहीं। उत्पत्तिनाशवाले घटादिक भूतभौतिक अनेक पदार्थ हैं वह अभाव नहीं। किन्तु विधिमुख प्रतीति के विषय होने से भावरूप हैं। अन्योन्याभाव से भिन्न जो उत्पत्तिशून्य और नाशशून्य अभाव उसको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जहां किसी काल में जो पदार्थ न हो वहां उस पदार्थ का अत्यन्ताभाव होता है। जैसे वायु में रूप और गन्ध किसी काल में नहीं होता वहां रूप और गन्ध का अत्यन्ताभाव है। आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द कदापि नहीं रहते। अतः रूपादिक का अत्यन्ताभाव आत्मा में है। इसी प्रकार शशशृंग, खपुष्प, सर्पपद इत्यादिक भी इस के उदाहरण हैं।

इस प्रकार अभाव का कुछ वर्णन न्यायशास्त्रके अनुसार किया गया है। इस में जितना अंश वेदान्तविरुद्ध है वह संक्षेप से यहां दिखलाया जाता है। यथा कपाल में घट के प्रागभाव को अनादि कहा है वह प्रमाणविरुद्ध है। क्योंकि घटप्रागभाव का अधिकरण सादि और प्रतियोगी घट भी सादि है। प्रागभाव की अनादिता कैसे हो सकती। यदि माया में सकलकार्य्यों के प्रागभाव की अनादिता कहें तो सम्भव है क्योंकि माया अनादि है किन्तु माया में कार्य्य का प्रागभाव मानना व्यर्थ है और सिद्धान्त में इष्ट भी नहीं। अतः प्रागभाव सादिसान्त है।

नैयायिक मत में प्रध्वंसाभाव भी अपने प्रतियोगी के उपादान में ही रहता। अतः घट का ध्वंस कपालमात्रवृत्ति और अनन्त है। यह न्याय के कथन असंगत हैं क्योंकि घट ध्वंस का अधिकरण जो कपाल उस के नाश से घट ध्वंस के नाश होने से प्रध्वंसाभाव भी सादिसान्त है। इसी प्रकार अन्योन्याभाव भी सादिसान्त अधिकरण में सादिसान्त है। जैसे घट में पट का अन्योन्याभाव है। उसका अधिकरण घट है। वह सादि और सान्त है। अतः घटवृत्ति पटान्योन्याभाव भी सादिसान्त है। अनादि अधिकरण में

अन्योन्याभाव अनादि है। परन्तु अनादि भी सान्त है। जैसे ब्रह्म में जीव का भेद है यह जीव का अन्योन्याभाव है। उस का अधिकरण ब्रह्म है। यह अनादि है। अतः ब्रह्ममें जीव का भेद रूप अन्योन्याभाव अनादि है। और ब्रह्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिद्वारा भेद का अन्त होता है। अतः सान्त है। अनादि पदार्थकी भी ज्ञानसे निवृत्ति अद्वैतवाद में इष्ट है। इसी लिये शुद्ध चेतन, १–जीव २–ईश्वर, ३–अविद्या ४–अविद्याचेतन का सम्बन्ध और ५–अनादि का परस्पर विरुद्ध ६–ये षट् पदार्थ अद्वैत मत में स्वरूप से अनादि हैं। और शुद्ध चेतन को छोड़ पाच की ज्ञान से निवृत्ति मानी गई है।

शङ्का–जीव और ईश्वर को अद्वैतवाद में मायिक कहते हैं। माया का कार्य्य मायिक कहलाता है। अतः जीव ईश्वर मायाके कार्य्य हैं। इन्हें अनादि भी कहना विरुद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार है। जीवेश्वर माया के कार्य्य हैं। इस लिये वे मायिककहलाते हैं यह अर्थ यहां नहीं। किन्तु माया की स्थिति के अधीन जीवेश्वर की भी स्थिति है। अतः वे मायिक कहलाते हैं। इस रीतिसे अनादि अन्योन्याभाव भी सान्त है वैसा ही अत्यन्ताभाव भी आकाशादिवत् अविद्या का कार्य्य है और विनाशी है। इस प्रकार अद्वैत मत में सारे विनाशी हैं कोई अभाव नित्य नहीं। और अद्वैतवाद में अनात्मन् पदार्थ माया के कार्य्य हैं। अतः आत्मा से भिन्न वस्तुयें की नित्यता नहीं हो सकती। जैसे घटादिक भावपदार्थ माया के कार्य्य हैं। वैसे अभाव भी माया के कार्य्य हैं। अतः मिथ्या है।

अप्रमावृत्ति भी यथार्थ अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति को यथार्थ अप्रमा कहते हैं। स्मृति भी, यथार्थ अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। उन में यथार्थ स्मृति भी दो प्रकार की है। एक आत्मस्मृति दूसरी अनात्मस्मृति। तत्वमस्यादिवाक्यजन्य अनुभव से, आत्मतत्व की स्मृति होती है वह यथार्थ आत्मस्मृति है। व्यावहारिकप्रपञ्च का मिथ्यात्व अनुभव उसका जो संस्कार उससे मिथ्यात्वरूपमें प्रपञ्च की स्मृति होतीहै।

वह यथार्थ अनात्मस्मृति है। और अयथार्थस्मृति भी दोप्रकार की है एक आत्मगोचर दूसरी अनात्मगोचर। अहङ्कारादिकों में आत्मत्वभ्रमरूप अनुभव के संस्कार से अहङ्कारादिकों में आत्मत्व की स्मृति और आत्मा में कर्तृत्वके अनुभवके संस्कार से "आत्मा कर्त्ता है" यह स्मृति होती है। दोनों आत्मगोचर अयथार्थस्मृति हैं। और प्रपञ्च में सत्यत्वभ्रम के संस्कार से "यह प्रपञ्च सत्य है" यह स्मृति होती है। वह अनात्मगोचर अयथार्थ स्मृति है। यद्यपि संसारदशा में जिस ज्ञान के विषय की बाध न हो वह यथार्थज्ञान कहलाता है। अतः उक्त स्मृति अप्रमा है। और यथार्थ अयथार्थ दोनों हैं यह कहना असङ्गत प्रतीत होता है। इसका भाव यह कि स्मृति परमार्थदृष्टि से अयथार्थ ही है। तथापि उक्तलक्षण के अनुसार संसारदृष्टि से जो उस की यथार्थता वह आपेक्षित है। अतः स्मृति को यथार्थप्रमा कहने में कोई दोष नही।

अयथार्थ अप्रमा भी दो प्रकार की है एक स्मृतिरूप अविद्या की वृत्ति दूसरी अनुभवरूप। उद्भूतसंस्कारमात्रजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। ज्ञान अन्य भी हैं किन्तु वे संस्कारजन्य नही। संस्कारजन्य प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी है किन्तु वह संस्कारमात्रजन्य नही। अनुभव के बाध से उत्पन्न जो स्मृति का हेतु भावना नाम का संस्कार वह तो निरन्तर रहता है। अतः स्मृति सदा होनी चाहिये। किन्तु वह संस्कार अनुद्भूत रहता है। अतः कहीं भी अतिव्याप्ति दोष नहा। वह स्मृति यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ अनुभवजन्यस्मृति यथार्थ है उस का वर्णन पूर्व में हो चुका है। और अयथार्थ अनुभवजन्य स्मृति अयथार्थ है। वह अयथार्थ अप्रमा के अन्तर्गत है। अनुभव में यथार्थता अबाधित है। अबाधितार्थ विषयक अनुभव यथार्थ है। उसी को प्रमा कहते हैं। अतः अबाधितार्थ के अधीन अनुभव में यथार्थता है। और स्मृति में यथार्थता और अयथार्थता अनुभव के अधीन है। स्मृति से भिन्न जो ज्ञान उसे अनुभव कहते हैं। वह भी यथार्थ अयथार्थ भेद से दो

प्रकार का है । यथार्थानुभव पूर्व कहा गया है। अयथार्थ अनुभव भी संशय, निश्चय और तर्क भेद से तीन प्रकार का है। अयथार्थ को ही भ्रम, भ्रान्ति और अध्यास कहते हैं। संशय, निश्चयरूप भ्रम अनर्थ का हेतु है। अतः वह भी निवर्त्तनीय है। इस कारण इस का भी निरूपण करना आवश्यक है । एक धर्मी में विरुद्ध जो नाना धर्म का ज्ञान उस को संशय कहते हैं। वह संशय भी दो प्रकार का है। एक प्रमाण संशय, दूसरा प्रमेय संशय। प्रमाणगोचर सन्देह को प्रमाणसंशय कहते हैं । उसी को प्रमाणगत असम्भावना भी कहते हैं। "वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्म में प्रमाण है वा नहीं" इस का नाम प्रमाण संशय है प्रमेयसंशय भी आत्मसंशय और अनात्म संशय भेदसे दोप्रकारका है। अनात्मसंशय अनन्त है। उसका वर्णन कठिन है। आत्मसंशय भी अनेक प्रकार का है। यथा आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न अथवा भिन्न है। अभिन्न है तो भी सर्वदा अभिन्न है अथवा मोक्ष काल में ही अभिन्न है। सर्वदा अभिन्न हो तो भी आनन्दादिक ऐश्वर्य्य वाला है अथवा आनन्दादि रहित है इत्यादि अनेक प्रकार के संशय हो सकते हैं केवल त्वम्पदार्थगोचर संशय भी आत्मगोचरसंशय है । आत्मा देहादिक से भिन्न है या नहीं। अणुरूप, वा मध्यम परिमाण वा विभु है। कर्त्ता वा अकर्त्ता है। एक है वा अनेक हैं। इत्यादि अनेक संशय केवल त्वम्पदार्थगोचर हैं। केवल तत्पदार्थगोचर भी अनेक प्रकार के संशय हैं। ईश्वर कैसा है वह कहाँ रहता है उसका रूप क्या है। वह कैसे सृष्टि चलाता है। किसी वस्तु को लेकर अथवा अभाव से ही इससृष्टि को रच देता। वह देहधारी अथवा अदेहधारी है। इसके निकट आयुध,वाहन, सेना आदि हैं या नहीं इत्यादि शतशः प्रमेयगत संशय हो सकते हैं। संशयका भी कहीं अन्त नहीं है। इस हेतु मन में इस को पुनः२ विचार।

निश्चयरूप भ्रमज्ञान ।

संशय से भिन्न जो ज्ञान उस को निश्चय कहते हैं । शुक्ति को शुक्तिस्वरूप से यथार्थ ज्ञान और शुक्ति का रजतस्वरूप से भ्रमज्ञान

दोनों संशय से भिन्न ज्ञान होने के कारण निश्चयरूप हैं। स्वाभावाधिकरणावभास को भ्रम कहते हैं। जैसे शुक्ति में जहां रजतभ्रम होता वहां स्व कहने से रजत और उस का ज्ञान उस का पारमार्थिक और व्यावहारिक जो अभाव उसका अधिष्ठान जो शुक्ति उस में रजत और उस के ज्ञान का जो अवभास वह भ्रम कहाता है। अथवा अधिष्ठान से विषमसत्ता वाले अवभास को भ्रम कहते हैं। वेदान्तशास्त्र में उस का नाम अध्यास भी है। व्याकरणरीति से अध्यास पद के और अभ्यासपद के विषय और ज्ञान दोनों वाच्य हैं। वह अध्यास अनेक प्रकार का है। इसका वर्णन लक्षणप्रकरण में होचुका है। अतः पुनः इसका वर्णन अपेक्षित नहीं।

यहां प्रमाणनिरूपण के प्रसङ्ग से संशयादि का भी दिग्दर्शन दिखलाया गया है। यद्यपि लोक में जिस संशय और भ्रम की किसी प्रकार से निवृत्ति होजाती उन का ही उदाहरण शास्त्रों में दिया हुआ है। किन्तु जिस वस्तु के सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानों को छोड़ अन्यान्य मनुष्यों को भ्रम में भी सत्यता ही प्रतीत होती है। उस २ वस्तु की सिद्धि सब शास्त्रो में नही रहा करती। वह विज्ञानआदि शास्त्र हैं। बालक को भी रज्जु में शुक्ति में स्थाणु में और आकाश में क्रमशः सर्प, रजत, पुरुष और श्यामत्व आदि का भ्रम शीघ्र निवृत्त होजाता है। किन्तु जीव की सत्ता इस शरीर से भिन्न है वा नहीं इस सृष्टि का कर्त्ता कोई है वा नहीं ये दोनों अत्यन्त उपयोगी विषय अब तक विवादग्रस्त हैं। आस्तिकों और नास्तिकों में इसीका महान् विवाद है। तब प्रमाणनिरूपण से ही क्या फल मिलता है। वास्तव में जिन आचार्य्यों की युक्तियां प्रबल होती हैं वे अपने समुदाय में पूज्य और प्रमाण कहलाते हैं। किन्तु वे ही प्रतिभाशाली आचार्य्यगण्य और मान्य नहीहोते। श्रीशङ्कराचार्य्य जैनियोंमें माननीय नहीं। इसी प्रकार आज कल के महातार्किकों में भी उनको प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

प्रमाणनिरूपण से यह न समझ लेना कि इन ही प्रमाणों से सब

वस्तु की स्थिति विदित हो जायगी। किन्तु पदार्थ ज्ञान के लिये अन्यान्य बहुत से उपाय नवीन रीति पर अथवा प्राचीन रीति पर जो आविष्कृत हुए हैं वे भी ज्ञातव्य और मन्तव्य हैं। जैसे नक्षत्रों की अथवा सूर्यचन्द्रों की कैसी गति, स्थिति और सत्ता है इसका ठीक निर्णय उक्त षट्प्रमाणों से नहीं हो सकता। इस के लिये अतिप्राचीन काल में काशी प्रभृति स्थानों में मान मन्दिर बनाए गए थे। उन में बहुत से यन्त्र विरचित हुए थे। उनके द्वारा सूर्यादि की गतिका कुछ पता लगाया करते थे। इस वर्त्तमानकाल में बड़े २ अद्भुत यन्त्र पाश्चात्य देश में बनाए गए हैं। उन से भी बहुत अद्भुत बातें निर्णीत होती हैं। अतः वैसी प्रमाणरूप से ज्ञातव्य और अध्येतव्य हैं। इसी प्रकार इस समय जो अन्वेषण और गवेषण से हाईड्रोजन औक्सिजन, नाईट्रोजन आदि अनेक मूलतत्व विद्वानों को विदित हुए हैं वे भी वेदितव्य हैं।

हे राजकुमारी! मैं ने तुम से कहा है कि अन्तःकरण की वृत्तियां ही पदार्थ के अनुसार नानारूपवती होती हैं। बहुत सी वस्तुओं के ज्ञान के लिये लच्छेदार शास्त्रीय परिभाषाओं का अध्ययन अपेक्षित नहीं। तू देखती है कि प्रत्यक्षप्रमाण के अनेक भेद होते हुए भी वास्तव में इसका स्वरूप क्या है इस विषय का यत्किञ्चित् ज्ञान अथवा व्यावहारिकज्ञान पामर पुरुषों को भी समानरूप से ही होता है अथवा है। आंख, कान, घ्राण, जिह्वा और त्वचा परमेश्वर ने सब को दी है। विद्वान् और अतिमूर्ख दोनों ही दूध को श्वेत, काक को श्याम, आम्र को मधुर पुष्प को सुगन्धित और कोमल देखते और जानते हैं। इस में विचार की आवश्यकता, ही क्या। विद्वान् को जैसे मधुर आम खट्टा नहीं मालूम होता उसी प्रकार मूर्खको भी। क्या मूर्ख और विद्वान् एक काव्य के भिन्न २ रूप देखते हैं? नहीं। कदापि नहीं। वह यह मेरा काशी में देखा हुआ मित्र है इत्यादि प्रत्यभिज्ञास्थल में और भागत्यागलक्षणा में दोनों को समान ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार जैसे प्रत्यक्षस्थल में विद्वान् को भ्रम होता वैसे

मूर्ख को भी। रात्रि में रज्जु को देख कर सर्प भ्रान्ति दोनों में तुल्य-रूप से होती है। इस प्रकार कहीं तो विपरीत बात पाई आती है। मूर्ख को एक वार ईश्वर की व्यापकता बतलाने से बोधहो जाताहै किन्तु तद्विपरीत नानातर्क वितर्क करके विद्वानों को व्यापकता का झटिति बोध नहीं होता।

क्या न्यायशास्त्र को पढ़कर ही लोग अनुमान करतेहैं? मूर्खातिमूर्खजन नदी की वृद्धि देख कहीं वर्षा हुई होगी ऐसा झट अनुमान कर लेते हैं। यदि इस सृष्टिका बनाने वाला कोई नहीं है तो क्षेत्र में बीज दिये बिना क्यों नहीं गेहूं उत्पन्न होजाता। क्या इत्यादि अनुमान सर्वसाधारण नहो कर लेते? प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही अनुमान है इस को बालिश भी जानते हैं। सहचारज्ञान बिना किस को बोध होता है। अप्रत्यक्षस्थल में दोनों ही समान हो भ्रमाब्धि में डूबे रहते हैं। चन्द्रमामें श्यामता क्यों दीखती है इसका निश्चय विद्वानोंमें भी नहीं। वर्षा कैसे और क्यों होती है। इस में विद्वान् क्या अनुमान करतेहैं। प्लेगी पुरुष को उतना ताप क्यों झटसे होजाता है अथवा ज्वर के समय क्योंकर ज्वरी पुरुष अतिशीत से कपने लगता है। और कभी २ शीत के बाद झट से ताप क्यों चढ़ जाताहै। इस में विद्वानों का क्या अनुभव है। ऐसी २ अनन्त वस्तुएं हैं जिन में विद्वानों की भी बुद्धि झट से प्रसरित नहीं होती। हिमालय पर्वत के ऊपर सदा हिम क्यों जमो हुआ रहताहै। इसका क्याकारण, विद्वान् क्या बतलातेहैं। हे राजकुमारी! अनुमानसे भी बहुत २ स्वल्प वस्तुओं का निश्चय किया है। कोटिशः वस्तुएं अनिश्चितरूप से पड़ी हुई हैं। जिसकी जितनी बुद्धिहोतदनुसार, अनुमान कल्पित करलेताहै। अनुमान से यदि सब बात की सिद्धि हो तो विवाद ही क्यों रहे। एक सम्प्रदायी तुलसी धारण से मुक्ति का अथवा सुखस्थानप्राप्ति का अनुमान करता है। तो दूसरा रुद्राक्ष धारण से। तीसरा केवल द्वारिका में मुद्रा लेने से। चौथा केवल भगवन्नाम कीर्तन से। पञ्चम भगवदवतारों की प्रतिष्ठा पूजा आदि से। षष्ठ अहं ब्रह्मास्मि के

श्रवण से इत्यादि २ शतशः मजहबी और शास्त्रीय झगड़े प्रतिदिन आंखों से देखती है, तो बतला तो सही अनुमान से किस बात का निश्चय हुआ। तू तो प्रति दिन देखती है तेरे द्वार पर तुच्छातितुच्छ दो चार रुपये पैसे के लिये टकराते रहते हैं। इधर उधर मारे फिरते हैं। इस में सन्देह नहीं सांसारिक अपेक्षा अतिप्रबल है। जिस को विद्या कदापि भुला नहीं सकती। क्या क्षुधा और पिपासा विद्वानों को न सतावेगी। हां इतनी बात सत्य है कि जितेन्द्रिय और धैर्यवान् पुरुष इतस्ततः मारे नहीं फिरते। वे अपने परिश्रम से कमाए हुए शाक को भी अमृत समझते हैं। धन के लालच में पामर पुरुषों का मुख भी देखा नहीं चाहते। किन्तु ऐसे पुरुष हैं कितने कोटियों में विरल। उनही को साधु सन्त कहते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में अनुमान से सर्व साधारण अपना २ काम चला लेते हैं। परन्तु परमार्थ में सब ही मूढ़ बने हुए हैं। यह सारी लीलाएं आत्मा के विकासमात्र हैं। इसी आत्मा से चारों वेद नाना ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषदें अङ्ग उपांग और जो कुछ भूत भविष्य वर्त्तमान में हैं निःसृत हुए हैं। इस महानात्मा को छोड़ जो अन्यत्र विद्या ढूंढते हैं वे ही मूर्ख हैं। इसी आत्मा से सब कुछ निकलते हैं इसी का अध्ययन तू कर। हे पुत्री! बड़े २ वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, वामदेव कण्व, भृगु, व्यास, शङ्कराचार्य्य, पाणिनि, पतञ्जलि इत्यादि इसी आत्मा के एक २ विस्फुलिङ्ग थे। इस को सत्य जान।

उपमा से भी आपामर व्यवहारिक काम ले रहे हैं। उचित और अनुचित, उत्कृष्ट और निकृष्ट, सुसंगत और असंगत इत्यादि अनेक प्रकार के उपमा दे देकर कविगण अपने अपने कथन को सुन्दर बनाते हैं। उपमा से जो ज्ञान हो उसी का नाम उपमिति प्रमा है। उपमा-उपमान दोनों शब्द समानार्थक हैं। किन्तु यहां विचार यह है कि इस उपमान प्रमाण से यथार्थ ज्ञान कितना होता है। यदि उपमानों के उदाहरण दे देकर के खण्डन किया जाय तो इस के लिये एक बृहत् ग्रन्थ बन कर तैयार हो जाय। प्रथम सांख्य का

एक उदाहरण देकर बतलाती हूं। सांख्यवित् कहते हैं कि जैसे गौ के स्तन से दुग्ध स्वयं स्रवित होने लगता है तद्वत् प्रधान भी स्वयमेव पुरुष के लिये प्रवृत्त होता है। साधारण पुरुषों की दृष्टि में यह उपमा वा दृष्टान्त अखण्डनीय प्रतीत होगा। किन्तु यह उपमा निःसार है। क्योंकि गौ चेतन है उस के प्रेम से वत्स के लिये दुग्ध स्रवित होता है। परन्तु प्रधान अचेतन है वह स्वयं कैसे प्रवृत्त होगा। अचेतन रथ अचेतन मिट्टी पत्थर की प्रवृत्ति नहीं देखते हैं। हे पुत्रो! अब इस पर अनेक विवाद उपस्थित हो सकते हैं। सांख्यवादी कह सकते हैं कि अचेतन वायु चल रहा है। अचेतन मेघ आकाश में दौड़ रहा है। अचेतन पृथिवी असंख्य वस्तुओं को उपजा रही है। इसी प्रकार अचेत दूध भी वत्स के लिये स्रवित हो सकता है। अब सांख्यप्रदत्त उपमाओं पर विचार करो उन की सत्यता कहांतक सिद्ध हो सकती है। चेतन और अचेतन में उद्देश और अनुद्देश का भेद है। वायु यह नहीं समझता मुझ को दो या चार कोस अथवा अमुक स्थान तक ही चलना चाहिये। मेघ का भी गमन अनुद्दिष्ट है अमुक ग्राम में वा अमुक देश में जाकर मुझे बरसना है यह मेघको नहीं मालूम। यदि मालूम होता तो समुद्र में ही क्यों वर्षा होती। अथवा भक्त पुरुषों ही के क्षेत्रों में जा बरसता। इस हेतु वायु और मेघ उद्देश रहित होने से अचेतन हैं। इसी प्रकार पृथिवी का भी कोई उद्देश सिद्ध नहीं होता। वर्षा ऋतु में अगण्य उद्भिज्ज उत्पन्न होते और थोड़ी ही गरमी पाकर वे भस्म हो जाते हैं। पृथिवी उस की रक्षा नहीं कर सकती। किन्तु गौ को दूध अपने स्तन से चुलाने का एक उद्देश प्रतीत होता है। यद्यपि वह उस की शक्ति में नहीं है तथापि अधिक प्रेमवश अथवा दुग्ध के आधिक्य से स्तन से तुरन्त गिरने लगता है। पुनः इस पर सांख्यकार कह सकते हैं कि सहस्रशः चेतनों की चेष्टाओं का कुछ उद्देश प्रतीत नहीं होता। बालकों की क्रीड़ा का क्या उद्देश है। चींटियों के प्रतिक्षण कार्य्यासक्त होने का कोई उद्देश निर्णीत नहीं होसकता। पक्षियोंके गान का भी .....

उद्देश रहता है। क्या मनुष्य प्रसन्न हों या अन्यान्य पक्षिगण प्रमुदित हों। इस लिये कोकिल गान करते हैं। यदि कुछ और दूर बढ़े और कुछ नास्तिक का अंश ले लें तो उद्देश का कुछ भी पता न चलेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तु जन्म लेते ही मर जाते हैं। बहुतसे कीड़े वस्त्रकोश बना कर स्वयं मर जाते हैं। वर्षा ऋतु में असंख्य जीव उत्पन्न हुए देखे जातेहैं। घोंघ शुक्ति, शङ्ख, सर्प, कच्छे, कर्कट और नाना पतङ्ग इन की सृष्टि का क्या उद्देश है। सर्पिणी अपने बच्चे को ही खा जाती है। कर्कट पेट में ही अपनी माता को खा जाते हैं। ऐसे २ घृणित निष्प्रयोजन निरर्थक सहस्रशः जीव और उद्भिज्ज पृथिवी पर विद्यमान हैं। और अनेकानेक वस्तुएं दृष्टान्त में दी जा सकती हैं। सृष्टि का कुछ उद्देश प्रतीत नहीं होता। अतः उद्देश अनुद्देश का बखेड़ा व्यर्थ है।

हे पुत्री! इस प्रकार विविध उपमा देकर सांख्यवादी अपना पक्ष रोप सकते हैं। और खण्डन करने वाले खण्डन भी कर सकते हैं। तथापि चेतन और जड़ में उद्देश अनुद्देश का बहुत कुछ पता लगता है। सृष्टि का उद्देश हो या न हो इस विषय को यहां मैं छोड़ कर चेतन के उद्देशों का कुछ वर्णन करती हूं। यह तो निर्विवाद है कि अचेतन रथकी स्वयम् गति नहीं होती। एवमस्तु। इसे भी छोड़ो प्रत्येक चेतन जीव अपनी उदर पूर्त्ति की चेष्टा करता है। अतः क्षुधा पिपासा की निवृत्ति यह उद्देश सब में समान रीति से विद्यमान है इस के अतिरिक्त शरीर की गति और स्थिति ठीक रखने के लिये अन्यान्य चेष्टाएं बहुत सी करनी पड़ती हैं। हां, ये बातें ठीक हैं कि मनुष्येतर जातियों में उन गतियों और स्थितियों का वास्तविक विवेक नहीं। किन्तु स्वभाव से ही उन की प्रवृत्ति और निवृत्ति, मानो हो रही है। तथापि उनका एक उद्देश अवश्य है। आकाश में कभी २ नृत्य करते हुए विविध पतङ्ग देख पड़ते हैं। उन का उद्देश हमें ज्ञात न हो। किन्तु वहनिष्प्रयोजननहीं। क्या जानें आमोदप्रमोद के लिये ही वे पतङ्गआकाश में नृत्य करते हों। क्या आकाशमें गिर्द्धा

का मरोना व्यर्थ है। नही इस लिये चेतन की प्रत्येक चेष्टा उद्देश-मयी है। किन्तु वायु प्रभृति की गति का उद्देश कुछ प्रतीत नहीं।

हे पुत्री! क्या यह विवाद यहां ही शान्त हो गया? नहीं। यह विवाद बहुत दूर तक जा सकता है। इस में बहुत सी कोटियां हो सकती हैं। क्या सांख्यवादी वायुप्रभृति की गति का कोई उद्देश नहीं बतला सकते। सुनो वे कह सकते हैं कि सब चेतन में प्राण देने के लिये मैं भ्रमण कर रहा हूं। यह वायु समझते हैं। मैं शीतल करने के लिये और उत्पत्ति शक्ति बढ़ाने के लिये यात्रा कर रहा हूं। ऐसा मेघ समझते हैं। मेघ अथवा वायु नहीं समझते हैं यह ज्ञान आप को कैसे हुआ। आप जब तक एक भी चेतन को पृथक् नहीं देखते तब चेतन २ बकना व्यर्थ है। और इस विवादग्रस्त वस्तु को लेकर पक्ष सिद्ध करना भी एकदेशी अथवा विश्वास की बात है। पारमार्थिक नहीं। एक ही वस्तु की नाना अवस्थाएं हो सकती हैं। विविध विकास होते रहते हैं। अतः चेतनाचेतन को झगड़ा भी व्यर्थ ही है। एवम्विध नास्तिक मत आजाता है। परन्तु मैं यह कहतीहूं कि यदि नास्तिक मत ही परमार्थ हो तो क्या आस्तिक मत केवल विश्वास का पात्र ही है। वास्तव में कुछ नहीं। एवमस्तु। एक चेतन जब निरिन्द्रिय अथवा एकेन्द्रिय है दूसरा चेतन उतना सूक्ष्म और अणुतम है जिसको इस आंख से कदापि नहीं देख सकते केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखतेहैं। तीसरा चेतन गजादि बहुत स्थूलहै। चौथा आम्रादि चेतन जिह्वा कर्णादि रहित है। और अपने स्थान से इधर उधर विचलित भी नहीं हो सकता। इस प्रकार चेतन का विचार करती हुई कह सकती हूँ कि रेणु और रथ आदि चेतन ऐसे हैं जो स्वयम् कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते। क्या यह मेरा पक्ष लोगों को रुचिकर होगा? क्या शङ्कराचार्य्य प्रभृति नाना तर्कों से इस का निराकरण करेंगे। परन्तु मैं तो यह कह रही हूं विवाद का अन्त कहां है। और उपमान से कितनी बातें सिद्ध होती हैं। यदि गवय और गौ में सादृश्य देख और उस से मनुष्य जाति में किञ्चित् बोध का पता लगा उपमानको महत्व देवें तो यह उचित नहोगा। एवमस्तु।

आगे चल इसी प्रकार अग्निसे धूम निकलता है यह एक अतिज्ञात्वं पुरुष को भी विदित है। गंवार से गंवार इस को जानते हैं। मेघ से वर्षा होती है इसे पञ्चवर्षीय बालक भी समझते हैं। और कहते हैं कि पूर्व ओर काली घटा छाई है। पानी बर्षेगा। इत्यादि प्रसिद्ध सहचार अथवा लिङ्ग देखकर अनुमान प्रमाण की दृढ़ता बतलाना कहां तक ठीक है। विचार कर।

प्रथम जैसे धूम देख कर अग्नि का अनुमान करते हैं वैसा ही इस सृष्टिरूप कार्य्य को देखकर कर्त्ता ईश्वर का अनुमान कर सकते हैं? नहीं। धूम और अग्नि में सहचार है मेघ और वर्षा में सहचार है और यह प्रत्यक्ष है। किन्तु ईश्वर और सृष्टि में कौन सा सहचर है क्या किसी ने सृष्टि को बनाते हुए ईश्वर को देखा है। जैसे तन्तुवाय को वस्त्र बनाते हुए देख कह सकते हैं कि सारे वस्त्र किसी से बनाए हुए हैं। इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर को भी कुछ रचते हुए देख आता तो कार्य्य से कारण का अनुमान कर लेते। परन्तु यहां सब वस्तु अगम्य हैं। इस पर यदि कोई कहे कि सूर्य्यादि वस्तु को दूसरा कोई बना नहीं सकता। इस लिये जो इसके बनाने वाला वही ईश्वरपद वाच्य है। इसपर भी बहुत से विवाद उपस्थित होंगे। लोक में देखते हैं कि सामग्रियों को लेकर ही वस्तु बनाता है और वह शरीरी होताहै। उसका कोई आधार और स्थान नियत होता। किन्तु ईश्वर के निकट कौनसी सामग्री थी वह कहां था उस का शरीर कैसा था। इत्यादि अनेक तर्क उपस्थित होंगे। इसी को लेकर शास्त्रियोंमें अनेक भेद उपस्थित हुए हैं। पहले से ही सामग्री थी कुम्भकारवत् इस का निमित्तकारण ईश्वर है वेदान्ती कहते हैं कि सामग्री न थी बिना सामग्री से ही यह सृष्टि बन गई। वास्तव में यह सृष्टि है ही नहीं। यह अध्यासमात्र और विवर्तमात्र है। इत्यादि विवाद क्यों चल पड़ा। इसका केवल कारण यह है कि जैसे अग्नि और धूम में अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् अग्नि बिना धूम हो ही नहीं सकता। इस लिये धूम अग्नि का लिङ्ग (चिह्न) है। वैसा

विस्पष्ट चिह्न यदि कर्त्ता ईश्वर और कार्य्य जगत् में होता तो ऐसा विवाद कभी उपस्थित न होता मूर्खातिमूर्ख भी वस्त्र स्वयम् बनकर प्रस्तुत होगया है ऐसा विवाद कोई नहीं करता। किन्तु जगत् की कार्य्यकारणता में सदा लड़ाई चली आती है। क्योंकि यहां धूमवत् चिह्न नियम नहीं। और चिह्न ज्ञान बिना अनुमान हो नहीं सकता अब एक प्रसिद्ध अनुमान का उदाहरण देती हूं। जिस से किसी बात को स्थिरता नही हो सकती। जैसे " पृथिवी अचला, गतिराहित्यात् यथा घटः" पृथिवी अचला है क्योंकि इस में गति नहीं देखी जाती। जैसे घट। अब इस के विपरीत अनुमान सुन "पृथिवी गतिमती, आकाशे विद्यमानत्वात् यथा सूर्य्यादिः" यह पृथिवी स्थिर नहीं चलने वाली है क्योंकि आकाश में स्थित है जो २ आकाश में विद्यमान हैं वे चलने वाले होते हैं। जैसे सूर्य्यादि। पदार्थ अब इस द्विविध अनुमान से कौनसी बात सिद्ध होगी। क्या 'पृथिवी अचला है वा चला है। पुनः 'पृथिवी चेतनाजननधर्मत्वात् यथामनुष्यजननीः' पृथिवी चेतना है क्योंकि इस में उत्पन्न करने की शक्ति है। यह पृथिवी उद्भिज्ज और उष्मज जन्तुओं को उत्पन्न करती है। जो २ उत्पन्न करती है वह २ चेतना होती है जैसे मनुष्य की माता। पुनः इसके विपरीत " पृथिवी अचेतना, पञ्चभूतान्तर गतत्वात् यथा जलादिः" यह पृथिवी अचेतना है क्योंकि पञ्चभूतों के अन्तर्गत है जो २ पञ्चभूत के अन्तर्गत है वह २ अचेतन है। जैसे जल आदि। हे पुत्री! अब तू विचार कर अनुमान से कितनी बातों की सिद्धि सकती है। अनुमान और दृष्टान्त घड़ने वाले सब तरह के अनुमान और दृष्टान्त घड़ सकते हैं। परन्तु अविनाभावसम्बन्ध रखने वाला धूमवत् यदि चिह्न हो तो कदापि भी अनुमान में गलती न होती। किन्तु वैसा है नहीं। अतः अनुमान की प्रतिष्ठा वेदान्त में नहीं। किन्तु केवल श्रुति की ही प्रतिष्ठा है। इस को बारंबार तू मनन कर। बहुत से शास्त्र बच्चों के खेलही प्रतीत होंगे।

अच्छा अब प्रत्यक्षप्रमा की भी थोड़ी सी परीक्षा करतीहूं।

इन इन्द्रियों के द्वारा हम कहां तक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दोनों आंखों से देखते हैं कि चन्द्र के चारों ओर एक गोल रेखा वृत्ताकार में घिर गई है। जिसको परिधि कहते हैं। लोग कहते हैं कि आवश्यकतानुसार सूर्य्य और चन्द्र सभा लगाते हैं। जब चारों तरफ कुण्डलाकार में देवगण बैठ जाते हैं तब दोनों के परितः परीधि अथवा परिवेष प्रतीत होता है। परन्तु वक्तव्य यहां यह है कि हमारी आंख बतलाती है कि यह परिवेष चन्द्र सूर्य्य के निकट है किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। आधुनिक विद्वानों ने अनेक तरह से सिद्ध कर दिखलाया है कि चार पांच कोस की दूरी पर ही वह परिवेष बनता है। विद्वान् दीपक आदि के निकट वैसा ही परीवेष बना भी लेते हैं। द्वितीय उदाहरण भी सुन सूर्य्योदय और सूर्य्यास्त के समय आकाश और सूर्य्य भी लाल दीखते हैं। यहां हमारे नयन हम को धोखा दे रहे हैं। क्योंकि हम से पश्चिम दो एक कोस की दूरी पर आकाश रक्त प्रतीत होता है। परन्तु हम जहां हैं वहां का आकाश रक्त प्रतीत नहीं होता किन्तु उसी सन्ध्याकाल में दो एक कोस पूर्वदिशास्थ पुरुष हमारे समीपस्थ आकाश को लाल देखते हैं। इस प्रकार निर्णय करने से मालूम होगा कि वास्तव में कहीं भी लालिमा नहीं है। मैं कहां तक उदाहरण बतलाऊं। विज्ञानशास्त्र पढ़कर देख पांचों ज्ञानेन्द्रिय बहुत स्थलों में केवल धोखा दे रहे हैं। भौतिक विज्ञान शास्त्र में इस के बहुत से उदाहरण दिये हुए हैं। ग्रन्थ विस्तरभय से मैं यहां नहीं बतलाती। देख मेघ सीधे खड़े कुछ दूर पर दीखतेहैं। आकाश पृथिवी दोनों मिले हुए भासतेहैं। नक्षत्र परस्पर सटे हुए मालूम होते हैं। इत्यादि शतशः उदाहरण धोखे के हैं। सूर्य्य पूर्व से पश्चिम की ओर नहीं जाता। इस को विद्वानों ने सब तरह से स्थिर कर दिया। सूर्य्य अस्त नहीं होता। मैं कहां तक बतलाऊं यह जगत् ही धोखे की टट्टी है। इसी कारण वेदान्ती श्रुति को ही अपना महास्त्र समझते हैं। क्योंकि यह निरपेक्ष प्रमाण है।

अब अनुपलब्धि अर्थात् अभाव प्रमाको भी कुछ विस्पष्टरूप से बतलाती हूं। अभाव से भी कुछ थोड़ा बहुत बोध होता है। जैसे किसी ने पूछा कि इस गृह में जल है? उत्तर मिला नहीं। जलाभाववान् यह घर है इतने कहने से कुछ तो बोध अवश्य हुआ। मालूम हुआ कि यहां जल नहीं है कहीं अन्यत्र मिलेगा। निषेध करने से जिस बात की प्रतीति होती है वही अभाव का स्वरूप है। यह अभाव चार प्रकार का है इस को यों समझ जो वस्त्र अभी यह है वह कुछ दिन पहिले नहीं था सदा यह वस्त्र चला आता है यह कोई नहीं सकते। हां, दो चार दिनों से या दो चार वर्षों से यह वस्त्र चला आताहै इसके पूर्वमें यह नहींथा। इसीका नाम प्रागभाव है। प्राक् अर्थात् पूर्व में जिसका अभाव हो वह प्रागभाव। अब यहां शङ्का होती है कि वा तब में यह वस्त्र कभी नहीं था। क्या अब बना है। इसके दो उत्तर होते हैं। इस प्रकार का यह वस्त्र कभी नहीं था और रूपान्तर में था इस प्रकार दोनों उत्तर हो सकते हैं। क्योंकि अपने उपादान कारण रुईमें विकृतरूप से वस्त्र था। रुई अपने उपादान कारण वृक्ष में थी। वृक्ष बीजमें था, बीज पृथिवी में था, पृथिवी परमाणु में थी। इस प्रकार परम्परा के अन्वेषण से सब प्रागभाव प्रतियोगी परमाणु में जाकर स्थित होंगे। इस लिये प्रागभाव को अनादि कहा है। क्योंकि जो यह वस्त्र है उसके पूर्वाभाव का कहीं आदि नहीं है। जो यह वस्त्र अब बना है, उसका अभाव सदा से चला आता है। इस लिये वह अनादि है। किन्तु अनादि होने परभी यह सान्त है। क्योंकि अब यह वस्त्र बनकर तय्यार होगया तब उस अभाव का भी अन्त होगया। क्या इसे तू नहीं समझती या आंखों से नहीं देखती। अब आगे चल।

अब इसी वस्त्र को आगमें जलादे अथवा फाड़ चीर दे अब इस वस्त्र का प्रध्वंसाभाव होगया। अर्थात् ध्वंसरूप अभाव होगया। वह ध्वंसाभाव सान्त और अनादि है। यह ठीक है। प्रागभाव से विरुद्ध प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंस इस समय हुआहै इसलिये इसकी

आदि उत्पत्ति अथवा आरम्भ प्रत्यक्ष है। किन्तु यह ध्वंस इस वस्त्र का सदा बना रहेगा। इस लिये यह सान्त है। इस की भी स्थिति परमाणु में जाकर होती है। क्योंकि फाड़ने अथवा चीरने से यह वस्त्र तन्तुरूप में आया। तन्तु भी गलने,सड़ने, जलने आदि विकार से अन्ततोगत्वा परमाणुरूप ही में आवेगा परमाणु का नाश नहो॥

अब इसी वस्त्र में सामयिकाभाव समझ। किसी काल में इस स्थान में यह नहीं था, एक समय में इसका अवश्य अभाव था, इस हेतु सामयिकाभाव इस वस्त्र का था इस में संशय नहीं। अब चतुर्थ अत्यन्ताभाव का भी भेद सुन। वास्तव में अत्यन्ताभाव कोई वस्तु नहीं। मनुष्य बुद्धि अत्यन्ताभाव की कल्पना स्वतन्त्ररूप से कर नहीं सकती। हम अत्यन्ताभाव के उदाहरण देते हैं। जैसे खपुष्प=आकाशकुसुम। यहां आकाश और पुष्प दोनों वस्तु ए जगत में विद्यमान हैं। हां, जैसे पृथिवी पर फूल उपजते हैं वैसे ही आकाश में फूल उपजते नहीं इस लिये अत्यन्ताभाव का खपुष्प उदाहरण है। इसीप्रकार शशशृङ्ग वन्ध्यापुत्र आदिक हैं। शश भी एक वस्तु जगत् में विद्यमान है। और शृङ्ग भी बैल आदि पशुओं के शिर पर विद्यमान है। किन्तु जैसे बैल के शिर पर सींग उपजता है वैसा ही शश के शिर पर नहीं। इस हेतु अत्यन्ताभाव भी एक प्रमाणसिद्ध होता है।

एक अभाव अन्योन्याभाव नाम से प्रसिद्ध है। जैसे " घटः पटो न पटो घटो न " घट पट नहीं है और पट घट नहीं। घट में पटत्व का अभाव और पट में घटत्व का अभाव यह विस्पष्ट है। इस प्रकार अभाव से भी कुछ बोध होता है। किन्तु पारमार्थिक बोध इस से भी नहीं। जैसे घट में पटत्व का अभाव है अर्थात् घट पट नहीं है। वैसे ही जीव में ब्रह्म का अभाव है। यह लोक सिद्ध करते हैं। क्योंकि जीव में अल्पज्ञता आदि और ईश्वर में सर्वज्ञता आदि धर्म देख कर दोनों में अन्योन्याभाव की कल्पना करते हैं। परन्तु श्रुति इसके विरुद्ध जाती है। जो ब्रह्म है वही जीव है। जो जीव है वही ब्रह्म है।

ऐसासर्ष श्रुति का तात्पर्य्य है। अब मैं समझती हूं कि प्रमाण का कुछ तत्व तू समझ गई होगी।

वेदान्त शास्त्र में स्मृतिज्ञान को प्रमाण नहीं कहा गया है। यह सुनकर तुझे कुछ आश्चर्य्य प्रतीत हुआ होगा। वास्तवमें स्मृतिज्ञान प्रमा है इस में सन्देह ही क्या जो श्लोक लड़के जिसरूप से कण्ठस्थ करतेहैं उसी रूपसे उन्हें स्मरण भी रहताहै। तब वह प्रमा क्यों नहीं। यह बात सुनती आई हूं कि पूर्व समय में लेख नहीं था। गुरु वेद शिष्य को सुनाया करते थे। शिष्य उन्हें कण्ठस्थ कर लेते थे। इस लिये वेद का नाम श्रुति भी है। परन्तु सृष्टि की आदिकालसे अब तक भी लोक स्मरण करते आए तब स्मृतिज्ञान प्रमा क्यों नहीं। काशी को जैसा हमने देखाथा वैसा ही इस समय स्मरण भी होता है। विश्वनाथ का मन्दिर सुवर्णजटित है। उसी के निकट अन्नपूर्णा का वैसा ही मन्दिर है। गंगा के तट पर काशी है। यह सब मेरी स्मृति में है। जयपुर में बैठ कर मैं काशी को इन इन्द्रियों से प्रत्यक्षरूप में नहीं देख रही हूं। मेरे अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा काशी नहीं पहुंचती। क्योंकि काशी यदि वृत्ति पहुंचती तो इस कोठे में भी अन्य वस्तुओं को देख लेती। और इस समय काशी में घूमते हुए सब को जानलेती। इस लिये सिद्ध है कि स्मृति में सारी बातें हैं। साक्षी देने वाला पुरुष स्मरण से ही सब वस्तु का वर्णन करता है। मैं स्मृतिशक्ति द्वारा ही नाना शास्त्रों की बातें सुना रही हूं। वास्तव में यदि मनुष्यजाति स्मृति शून्य होती तो यह अतितुच्छ जीव कहलाता। स्मरण इस की शोभा है अतिसूक्ष्म जीव में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है खटमल दीप देखते ही बड़े वेग से भागता है। क्योंकि उसे त्रास का स्मरण सदा से चलाआता है। योगशास्त्र में भी प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा ये पांच चित्तवृत्तियां कही गई हैं। इत्यादि विचार से स्मृति का भी प्रमात्व सिद्ध होता है। किन्तु परमार्थदृष्टि से इस का अप्रमात्व है। क्योंकि सब ही अनुभूतविषय वैसा ही स्मृत भी हो यह कोई निश्चय

निश्चादत नहीं। किसी एक वस्तु के पुनः २-घोकने से कन्ठस्थ होती है। यदि उसकी आवृत्ति न की जाय तो वह भूल भी जाती है। कलकत्ते के देखे हुए सब ही पदार्थ स्मृतिगोचर नहीं हैं। इसी समय जितने आदेश और उपदेश तू सुनती जाती है सब का स्मरण नहीं रह सकता। भ्रमण के समय सहस्रशः भिन्न २ पदार्थ देखते सुनते, स्पर्श करते सूंघते हैं परन्तु क्या सब की स्मृति बनी रहती है? नहीं। इस हेतु इसे अप्रमा कहा है। अप्रमा प्रमा मे कुछ भेद यों देख। आंख से जिस वस्तु को जिसरूप में जितने काल तक देखती रहती है उस वस्तु का उसी रूप में उतने काल तक कभी परिवर्तन नहीं होता। कोई बैल देख रहा है तो क्या जब तक वह उसको देखता रहता है तब तक कोई विकृति अथवा विसम्वाद होता है? नहीं। इसी प्रकार अन्यान्यप्रमाणों के सम्बन्ध में भी जान। किन्तु अब ही जो तू उपदेश सुन रही है या दशवर्ष पूर्व जितनी बातें सुनी थीं क्या सब स्मृति में हैं? नहीं। इत्यादि प्रमाण के अनेक विषय हैं। भूयो-भूयः मनन करने से सब तत्तत् वस्तु विदित होती जाती है। अब इस विषय को यहा ही समाप्त करती हूं। और अन्यान्य चित्तवृत्तियों का कुछ अंश यहां संक्षेप से दिखलाऊंगी। जिस से इस जगत् में सुख और कल्याण फैले। हे पुत्री! इस विलक्षण संसार में जीव आकार क्या २ विचित्र लीला दिखलाता है यह विचार॥

आनन्दविवेक

राजकुमारी—मैंने श्रीमती की सेवा से शास्त्रों और कुछ वेदोंका तत्त्व जाना। कर्म और उपासना में भी मेरी प्रवृत्ति अधिक थी। कुछ दिन से न्यून होती जाती है। मेरी उत्सुकता ब्रह्मजिज्ञासा की ओर अधिक बढ़ती जाती है। इस संसार से मुझे भय हो रहा है। मैं स्वयं कौन हूं कैसे इस ब्रह्म को पाऊं। क्या सम्भव है कि मैं उस परमानन्द को प्राप्त कर सकूंगी। मैं श्रीमती के निकट विनीतभाव से जिज्ञासा करती हूं कृपया इस की शिक्षा दे कृतार्था कीजिये।

प्रिये राजकुमारी। तू सर्वदा मेरा उपदेश सुनती है। आज तेरी

साक्षात् जिज्ञासा से अतिप्रसन्ना हुई हूं। मैं तुझे सदुपदेश दूंगी। अवहिता होकर श्रवण कर। तू मेरी वृत्ति देख करभी ऐसीजिज्ञासा क्यों करती है। तू स्वयं ब्रह्मरूपा आनन्दघना है। तब आनन्दकी उपलब्धि की जिज्ञासा करना भ्रममात्र है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है। आनन्द तुझे सर्वदा प्राप्त ही है। तू स्वयं आनन्दमयी है। और जन्ममरण प्रवाहरूपसंसार का लेश भी तुझ में नहीं। तब उसकी निवृत्ति और उससे डर क्या।

राजकुमारी–भगवतिमाता आप के कथन का आशय मैं नहीं समझती। मैं सदा ब्रह्म के न पाने से उदासीना और चिन्तानिमग्ना रहती हूं। और जानती और देखती भी हूं कि बाह्यविषयों के संग से थोड़ा सा आनन्द यह जीव प्राप्त करता है। शास्त्र प्रतिपादित और श्रुत आनन्द घन का एक बिन्दु भी तो यह जीव पाता हुआ नहीं देखा जाता। कहा गया है–

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।

घर के कोने में मधु मिले तो पर्वत पर क्यों जाय। अतः पुनः मुझे विस्पष्टरूप से समझाइये।

रूपकुमारी–प्रिय पुत्रि! आनन्द तो इस हृदय से ही उत्पन्न होता है। यह हृदय ही आनन्द का क्षेत्र है यदि आत्मा जो हृदयस्थ है आनन्दमय न होता तो उस से आनन्द की उत्पत्ति ही कैसे होती आम्र में मधुरता है तो उसके चूसने से माधुर्य्य बोध करते हैं। यदि समुद्र में अपरिमेय जल न हो तो उस से मेघ बन कर संसार में सिञ्चन कैसे हो। यदि पृथिवी में सर्व बीजों का कोश न होता तो सारे बीज इस से कैसे निकलते। यदि सूर्य्य में स्वयं ताप न होता तो इस भूमि पर इतना ताप कहां से आता। इत्यादि उदाहरणों से क्या सिद्ध होता है। जिस में जो सामर्थ्य रहता है वह उससे निकलता भी रहता है। इसी प्रकार आत्मा में आनन्द का स्रोत न होता तो इस से आनन्द कैसे निकलता। हे राजकुमारी! जैसे किसी

स्रोत का मुख बन्द कर दिया जाय तो जल उसी के भीतर बन्द, रहेगा। यदि मुंह खोल दिया जाय तो उससे जल धारा निकलने लगेगी। यही बात इस अन्तःकरण के साथ है। हां, इस में कुछ व्याख्यान और गुरु की आवश्यकता है। यह विषय बहुत मीमांसनीय है। जब पाणिनि अपने अद्भुत व्याकरणाष्टक बनाने में तत्पर होगये तब एक प्रकार क्षुधा पिपासा निवृत्त होगई। रचनानन्द में इतने निमग्न हुए कि ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण चलते फिरते इस तरह सर्वत्र ही शब्दमयी देवी ही दृष्टि आती थी। स्वप्न में भी वही देवी उपस्थित होती थी। शब्दमय ही संसार उन्हें भासित होने लगा। शब्द के विचार से उन के शरीररूप पिण्ड का अभेद होगया। उन का मन यदि कहीं था तो शब्दमयी देवी के चरण में। हे पुत्री! मैं कहां तक बतलाऊं उस रचनानन्दाब्धि में डूब कर पाणिनि एक ऐसा आनन्दप्रद रत्न निकाल लाए कि जिसको धारण कर आज सहस्रशः पुरुष आनन्दस्वरूप होरहे हैं।

वैशेषिक शास्त्र रचयिता को लोग कणाद, कणभक्षी, कणभोक्ता क्यों कहते हैं। इस के मुख्य दो कारण हैं। प्रथम मुख्य कारण यह है कि इस सम्पूर्ण जगत् को कणमय अर्थात् परमाणुमय समझते थे जो कुछ पृथिवी से लेकर चींटी तक पदार्थ दीखते थे वे कणों के ढेर हैं। ईश्वरी विचित्र शक्ति से ये कण ऐसे मिल गए हैं कि इन का पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता। इस परमाणुओं के संयोग की विलक्षणता देख २ कर इतने यह आनन्दनिमग्न हुए कि उस आनन्द को पा परमाणुनिरूपक महान् वैशेषिक शास्त्र रच दिया। जब ये वैशेषिक शास्त्र रचने लगे तो पोषण पालन की सारी चिन्ता छोड़ और इधर उधर टकराने से विघ्न की शङ्का कर खेतोंसे कणों को चुग २ कर अपना निर्वाह करने लगे। इस लिये भी इन्हें कणाद कहते हैं। अब इन दो दृष्टान्तों से बात क्या निकली। पाणिनि और कणाद के अन्तःकरण में आनन्द के स्रोत बन्द थे विचाररूप संघर्षण से उन का मुंह खुल गया और आनन्द लूटने लगे। यद्यपि इन को

आनन्द एक विषयके संग से हुआ। तथापि यदि अन्तःकरण सरस न होता तो वह निफलता ही कहां से।

हे पुत्री! यह सम्पूर्ण पदार्थ भी थोड़ा बहुत आनन्दयुक्त है। श्रुति स्वयं कहती है कि उस आनन्द में परमात्मा के योग से यह सृष्टि भी आनन्दमयी होरही है। इसको तू अच्छी तरह से विचार में इस में अनेक दृष्टान्त देकर तुझे बतलाऊंगी। कस्तूरी जिस घर में या जिस वस्त्रके अभ्यन्तर होती है वह गृह और वस्त्र सुगन्धित हो जाते हैं। मलयाचलस्थ श्रीखण्ड के निकटस्थ वृक्ष भी शीतल और सुरभित बन जाते हैं। वह वाटिका सौरभों से परिपूर्ण रहती है जिस में सुगन्धित पुष्प विकसित होते रहते हैं। देखो इस सरोवर का जल कैसा सुगन्धमय होरहा है क्योंकि इस में कमल खिल रहे हैं। वसन्त कैसा आनन्दप्रद होता है। कुसुम हंसने लगते हैं। कोकिल मधुर गान करते हैं मधुप गूंजते फिरते हैं वायु मन्द मन्द शीतल सुगन्धित बहने लगता है। ऐसे वसन्त के पहुंचते ही केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु पक्षी और उद्भिज आदि भी मदोन्मत्त दीखने लगते हैं। किञ्चित् वसन्त का आनन्द पाकर सबही आनन्द में पागल हो जाते हैं। हे पुत्री इन उदाहरणों से तूने क्या समझा। जब आनन्दघन परमात्मा सर्वव्यापक है ता उस के योग से अखिल जगत् क्यों न आनन्दमय होगा। जब थोड़ी सी कस्तूरी, चन्दन, कुसुम इत्यादि वस्तुयें से वासित वस्तुएं भी तत्समान होती हैं तब उस आनन्दमय परमात्मा से वासित यह त्रिलोकी आनन्दमयी न हो यह आश्चर्य की बात है। इस में सन्देह नहीं कि यह जगत् आनन्दमय है। और उसआनन्दको मात्राको लोग लूटभी रहेहैं। शिशुगण क्रीड़ामें आनन्दपाते हैं। कपिवृन्द वृक्षोंकी शाखाओंपर कूदनेमें ही प्रफुल्लित होते हैं। ये समस्तलताएं आनन्द से ही मतवाली हो रही हैं कोकिल अपने गान से आनन्द प्रगट कर रहे हैं। विषयी विषय में आह्लाद पा रहे हैं। आज देख इस नृत्य में कितने सहस्र लोग इकट्ठे होगये हैं। जिस हेतु इन्हें इस नृत्य में बड़ा ही आनन्द मालूम

होता है। इस हेतु चारों तरफ से यहां लोग टूट पड़े हैं। इत्यादि मैं कहां तक वर्णन करूं। यह संसार आनन्दमय है। इसमें संशय नहीं किन्तु हे पुत्री! कस्तूरी में अथवा चन्दन में जितनी सुगन्धि है उतनी वासित वस्तुओं में नहीं। बस इसी बात का यहां विचार करना है। जिस के जल से यह सम्पूर्ण पृथिवी रसमयी हो रही है उस समुद्र में कितना जल है यह देख। जिस के ताप से त्रिभुवन तप्त हो रहा है उस में कितना ताप है उसे सोच। इसी प्रकार जिस आत्मा के योग से यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय हो रहा है उस में कितना आनन्द है इस की मीमांसा कर। ब्रह्म का नाम ही आनन्दमय है। और वह तू है तो तुझमें कितना आनन्द है इसका निरूपण कौन कर सकता है। हां, इस में सन्देह नहीं की घसने से जैसे चन्दन से सुगन्धि निकलती, अरणी से अग्नि वैसे ही विषयरूप संघर्ष से इस अन्तःकरण से आनन्दस्रोत बहने लगता है। परन्तु जो स्वयम् आनन्दरूप वृक्ष हो वह वृक्ष दूसरे से आनन्द लेने की चेष्टा क्यों करे। कदाचित् तू कहेगी यदि मैं आनन्दमयी होती तो मुझे शोक और चिन्ता ही क्या होती। मैं समझती हूं कि जो आम स्वयम् मधुर है उसको सदा माधुर्य का भान होता होगा। वह अमधुर कभी न होगा। दूध कभी अपने रूप में तिक्त न होगा। और निम्ब मधुर न होगा। वैसे यदि मैं आनन्दमयी होती तो कभी शोकमयी न होती। जैसे बिना प्रयास से बिना सोचे विचारे भूख और प्यास लग जाती है। बलात्कार निद्रा आ घेरती है। क्योंकि ये सब स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार आनन्द भी यदि स्वाभाविक होता तो सर्वदा इस का भान होता रहता। हे मातः! सूर्य के निकट कभी अन्धकार जाने का साहस कर सकता है क्या तेज और तिमिर दोनों इकट्ठे हो सकते हैं। इस से मेरी स्वल्प-बुद्धि में यह बात आती है कि आनन्द आगन्तुक है स्वाभाविक नहीं। इसे हमें समझाइये।

राजकुमारी—अच्छा मैं दूसरी तरह से समझाने की चेष्टा करती हूं। क्या मिरची में आगन्तुक कटुता है? नहीं। किन्तु उस के पके

बीज में बहुत स्वल्प कटुता रहती है और उसी एक अतिसूक्ष्म बीज से अब दो चारसौ मिर्च फल गये हैं और बीजापेक्षा प्रत्येक में अधिक कटुता है इतनी कटुता कहां से आई क्या पृथिवी, जल, वायु और तेज से वृक्ष ने कटुता खैंची है ? यह तो हो नहीं सकता। अब यहां आश्चर्य की बात यह है कि प्रारम्भावस्था में कटुता बहुत किञ्चित् रहती है किन्तु पक कर तैयार होने पर कटुता बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार कच्चे केले में माधुर्य्य नहीं रहता। परन्तु पकने पर वह केला कितना मधुर हो जाता है। इसी प्रकार आम, लीची, अंगूर आदि की व्यवस्था है। तो क्या इन पूर्वोक्त वस्तुओं में कटुता और मधुरता आगन्तुक कही जायगी ? नहीं। किन्तु उत्पत्तिकक्षण से परिपक्वावस्था तक एक समान कटुता वा मधुरता नहीं रहती। परन्तु उस २ पदार्थ का स्वाभाविक गुण मधुरता है इस में संशय नहीं। वैसे ही इस आत्मा को भी जान। इस आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है। किन्तु अनेक कारण वश वह स्वभाव तिरोहित रहता है। क्योंकि निकृष्टगुण वाली अविद्या ही इस आत्मा की उपाधि है। अविद्योपहित उस आत्मा से आत्मगुण जितना प्रकाशित होना चाहिये उतना नहीं होता। अविद्या महती प्रबला है। इस लिये आत्मा के अच्छे २ गुण को प्रकाशित नहीं होने देती वह उन्हें ढांकती रहती है। मन चञ्चल कर देती है। विषयवासना की ओर ले जाती है इस अविद्या को लोग नहीं समझते। इस लिये प्रथम थोड़े ही परिश्रम से, थोड़े ही मनन से, थोड़ी सी तपस्या से इस अविद्या को दूर करले। तब देख इस आत्मा से कैसा मधुर, जगत्सुखदायी, लोकोपकारी, स्वाभीष्ट-साधक, आनन्दस्रोत बह निकलता है। देख वह संन्यासी इतना स्थूल, इतना आनन्द, इतना प्रफुल्लित सदा हंसता हुआ सदा निश्चिन्त यदृच्छालाभ सन्तुष्ट क्यों है ? इस को कहीं खाने पीने सोने आदि का ठिकाना नहीं। घर द्वार भी कहीं नहीं। वस्त्रहीन जलपात्र रहित केवल भूशय्या तथापि यह नीरोग दिव्यमूर्त्ति अति स्वच्छ दीखता

है। इसका क्या कारण है? निःसन्देह इस में अविद्या का लेश अब नहीं रहा। अतः केवल आनन्द का स्रोत ही इस में विद्यमान है।

राजकुमारी! वास्तव में बाह्य पदार्थ के सम्प्रयोग से आनन्द नहीं होता। यदि होवे तो एक विषय से तृप्त पुरुष जब दूसरे विषय की इच्छा करे तब भी उस का प्रथम विषय से आनन्द बना रहना चाहिये। परन्तु बना रहता नहीं और भी बहुत दिनों से वियुक्त प्रिय पुत्र के पुनः संयोग से प्रथम क्षण में जो आनन्द उपलब्ध होता है वह सदा बना रहना चाहिये क्योंकि आनन्द का कारण पुत्र उस के साथ है। इस से बाह्य पदार्थ द्वारा आनन्द नहीं है यह सिद्ध होता है। पुनरपि समाधि में परमानन्द की प्राप्ति होती है। यह योगशास्त्र कहता है सो न होना चाहिये। क्योंकि समाधि में किञ्चित् विषय का भी सम्बन्ध नहीं। और भी–सुषुप्ति में भी परमानन्द की प्राप्ति होती है सो न होनी चाहिये। सर्वानुभव से सिद्ध है कि सुषुप्ति में किसी विषय का सम्बन्ध नहीं। हे राजकुमारी! समस्त आनन्दमय यह आत्मा है, जो तू है।

राजकुमारी–श्रीमती यदि यह संसार स्वरूप से ही अविद्यमान है तो आकाश कुसुमवत् इस की प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। मैं आप और इतर की प्रतीति सब को सदा होती है। अतः इस को असत्य कैसे कहूं इसको समझाइये।

परमार्थरूप से यह जगत् नहीं है। तथापि अज्ञानवशतः मिथ्या प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ, आकाश में नीलत्व, रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत इत्यादि परमार्थ से नहीं हैं। किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है। वैसे संसार दुःख आत्मा में मिथ्या है, वास्तविक नहीं। जैसे रज्जु के ज्ञान से भ्रमात्मक सर्प का विध्वंस होता है तद्वत् आत्मज्ञान से मिथ्या संसार का विनाश होता है। तुझ में संसाररूपी दुःख की प्रतीति मिथ्या ही भ्रान्तिसे है उस को निवृत्ति की इच्छा बन नहीं सकती है। जैसे कोई बाजीगर किसी को मिथ्या शत्रु दिखलावे तो उसके मारने की इच्छा किसी को नहीं होती।

इसी प्रकार मिथ्या संसार की निवृत्ति की इच्छा भी व्यर्थ है। राजकुमारी ! आत्मस्वरूप के अज्ञान से जगत्‌रूपी खेल प्रतीत होता है वह आत्मज्ञान से मिटता है। जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होता वह उस के ज्ञान से मिटता है यह नियम है। जैसे रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न सर्प का विनाश पुनः रज्जु के बोध से होगा। वैसे ही आत्मज्ञान से मिथ्या जगत् का नाश होगा। तेरे में यह जगत् कभी नहीं क्योंकि यह मिथ्या है मिथ्या वस्तु अधिष्ठान की हानि नहीं करती। जैसे मरीचिका का जल पृथिवी को गीला नहीं करता। तद्वत् मिथ्या संसार तुझे हानि नहीं पहुंचा सकता। और मैं "सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हूं" इस निश्चय का नाम ज्ञानहै। यही मोक्ष का साधन है दूसरा नहीं। उस का उपदेश प्रथम कह आई हूं।

प्रियपुत्रि ! जगत् का उपादान कारण अज्ञान है (अज्ञान, माया, अविद्या, तम आदि एकार्थक हैं) उस अज्ञान के नाश से जगत् का स्वयं नाश होजायगा। क्योंकि उपादान के नाश के पश्चात् कार्य्य नहीं रहता। उस अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से होता है। कर्म और उपासना से नहीं क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है कर्मोपासना नहीं। जैसे गृहगत अन्धकार अन्यान्यक्रिया से दूर न होकर केवल प्रकाश से विध्वस्त होता है। तद्वत् ज्ञानरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार का विध्वंस होना है।

राजकुमारी—पूज्या माता यह ठीक है कि अज्ञान से ज्ञान का नाश होता है। किन्तु मैं सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपा हूँ, यह मुझे प्रतीत नहीं होता। क्योंकि मैं सुख दुःख की धात्री, पुण्यपाप की कर्त्री, अशुद्धा, विमूढा, दीना हूं। ब्रह्म में न तो पुण्य न पाप न जन्म न मरण न सुख न दुःख अर्थात् समस्तोपाधि से रहित है। ब्रह्म और मैं तेजस्तिमिरवत् परस्पर विरुद्ध हैं। इस हेतु दोनों की एकता कैसे? और भी वेद कहता है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं

परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यन-श्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

एक बुद्धिरूपी वृक्षपर दो समान पक्षी हैं। उन में एक कर्म का फल भोगता है दूसरा भोगरहित शुद्ध असग है। इस में भोक्ता जीव और अभोक्ता परमात्मा प्रतीत होताहै। अतः दोनों की एकता कैसे? और भी कर्मोपासना का विभाग सब वेद और शास्त्र करते हैं। यदि ब्रह्म जीव की एकता हो तो वे कर्मोपासनादि कर्म व्यर्थ होंगे। क्योंकि यदि जीव ब्रह्म है तो किस उद्देश से वह कर्म करेगा? अथवा ब्रह्म ही जीव है तो उसे सब कुछ स्वयं प्राप्त है। फिर वह कर्म में क्यों प्रवृत्त हो। पुनः कर्मफलदाता भी कोई सिद्ध न होगा। इस विधिनिषेधात्मक सर्वशास्त्र की निष्प्रयोजनता सिद्ध होगी।

समाधान-इस भ्रम का निवारण चार प्रकार के आकाशों और आत्माओंसे हो सकताहै। वे चार भेद ये हैं। १-घटाकाश २-जलाकाश ३-मेघाकाश ४-महाकाश। और आत्मा के चार भेद ये हैं। १-कूटस्थ २-जीव ३-ईश्वर ४-ब्रह्म। इन चारोंका स्वरूप अच्छीतरह से पहचान तबतू निःसंशया होगी। १-जलसे परिपूरितघटको जितना अवकाश आकाश देता है उतने आकाश को घटाकाश कहते हैं। २-जलपरिपूरित घट में नक्षत्रादि सहित आकाश का जो प्रतिबिम्ब और घटाकाश दोनों मिल कर जलाकाश कहाता है (१)। ३-मेघ को जितना अवकाश आकाश देताहै और मेघस्थ जलमें जो आकाश का प्रतिबिम्ब इन दोनों का नाम मेघाकाश है। ४-बाहर और भीतर जो एकरस से व्यापक अवकाश है उसका नाम महाकाश है।

---

(१) टि० यहाँ कोई शंका करते हैं कि आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता केवल नक्षत्रादि का प्रतिबिम्ब होता है। क्योंकि रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब होताहै। नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे।

समाधान-रूपरहित पदार्थ का भी प्रतिबिम्ब होता है। जैसे रूपरहित शब्दकी प्रतिध्वनिहै यह शब्द का प्रतिबिम्बहै।

१–बुद्धि अथवा व्यष्टि ज्ञान का अधिष्ठान चेतन का नाम कूटस्थ है २–नानाकाम और कर्म सहित बुद्धिमें चेतनके प्रतिबिम्बको जीव कहते हैं। यहां केवल प्रतिबिम्बमात्रको जीव नहीं कहते हैं। किन्तु जैसे घटाकाश सहित आकाश प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहतेहैं।तद्वत् बुद्धिमेंजो चिदाभासऔर बुद्धिकाअधिष्ठान चेतन दोनोंकानामजीव है। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य स्वामीने लिखा है बुद्धि,तद्गतचिदाभास और इन दोनों का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य इन तीनों का नाम-जीव है। अतः बुद्धि अथवा अविद्या और उसमें स्थित जो चिदाभास और उन का अधिष्ठान कूटस्थ ये तीनों मिलकर जीव कहलाता है। ३–माया में जो चेतन की छाया और माया का अधिष्ठान चेतन इन दोनों का नाम ईश्वर है वह मेघाकाश के समान है। ४–ब्रह्माण्ड के अन्तर और बाहर जो महाकाशवत् समस्त परिपूर्ण है उसे ब्रह्म कहते हैं। वह न तो भिन्न और न दूर है। क्योंकि जो वस्तु अपने से भिन्न और देशरूपोपाधिवाली होती सो पृथक् और दूर कही जाती। ब्रह्म भिन्न नहीं। किन्तु सब का आत्मा और देशादिक सर्वोपाधि से रहित है। अतः वह न पृथक् न दूर है। इस प्रकार चार प्रकार के चेतनों का वर्णन किया। उन में से जीव के स्वरूप में जो मिथ्या आभास अंश वह पुण्य पाप करता और वही फल भोगता है। इसीं से यह सुखी दुःखी भी रहता है और कूटस्थ जो चेतन वह कल्याण कारी है। इस हेतु प्रथम जो शंका हुई थी कि बुद्धिरूपी वृक्ष पर दो पक्षी हैं। एक परमात्मा और दूसरा जीव यह उस का उत्तर हुआ। किन्तु यहां पर परमात्मा और जीव का ग्रहण नहीं। किन्तु कूटस्थ प्रकाशमान है और आभास भोक्ता है। इस से यह बात सिद्ध हुई कि जीव के स्वरूपमें जो आभास अंश वह पुण्य पाप करता है और उस का फल भोगता है। किन्तु ईश्वर में जो आभास अंश है वह कर्म का फल देता है। इस लिये अविद्या दूर करने से आनन्द की प्राप्ति होती है। देख महाकाश का कहीं अन्त नहीं। इसी प्रकार महान् आत्मा का भी कहीं अन्त नहीं।

शंकुन्तलभी-मातः! आप की बात थोड़ी २ समझ में आती है। परन्तु समस्त वाक्यार्थ बोध नहीं होता। यह तो समझ गई हूं कि आत्मा में आनन्द है और वह विषयों के सङ्ग से दो अरणी के संघर्षणसेअग्निवत् प्रकट होता है। और यह आत्मा महाकाशवत् व्यापक है। किन्तु शङ्का तो यह हो रही है कि उपाधि भेदसे यह जगत् नाना रूप में भासित होरहा है. और वे ही उपाधियां दुःखके कारण भी हैं। परन्तु ये उपाधियां वास्तविक नहीं है यह कैसे मालूम हो। घट, पट, मठ, शरीर,आकाश पाताल इन सहस्रशः वस्तुओं को अपनी आंखों से देख रही हूं फिर इनको मिथ्या कैसे कहूं। समाधि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है यह भी कल्पित प्रतीत होती है। प्रथम सयोग में वियुक्त पुत्र के समेलन से जो आनन्द और उस से जो अश्रुपात होता है वह सदा स्थिर क्यों न रहता। क्योंकि आनन्दजनक पिता पुत्र सम्मेलन विद्यमान ही हैं। अतः इसका भी कुछ वर्णन सुनना चाहती हूं।

आभास की सात अवस्थाएं

रूपकुमारी-इस पर आभास की सात अवस्थाओं की सूक्ष्म व्याख्या करती हूं। सम्भव है कि उससे तेरी शङ्का की निवृत्ति कुछ हो। वह इस प्रकार है। १-अज्ञान २-आवरण ३-भ्रान्ति ४-छिन्नाज्ञान ५-भ्रान्तिनाश ६-हर्ष। मैं ब्रह्म नहीं हूं, इस व्यावहार का हेतु अज्ञान है। ब्रह्म है ही नही और उस का भाव भी नहीं होता। इस व्यवहार का हेतु आवरण है। क्योंकि दो प्रकार की अज्ञानशक्तियाँ हैं। एक असत्वापादिका दूसरा अभानापादिका। इन दोनों का नाम आवरण है। वस्तु नहीं है, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्तिका नाम असत्वापादिका और वस्तुका भान नहीं होता, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति का नाम अभानापादिका है। इस रीति से ब्रह्म नही है इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की असत्वापादिका शक्ति है और ब्रह्म का भान नहीं होता इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की अभानापादिका शक्ति है। इन दोनों का नाम आवरण है। जन्ममरणादिक जो संसार

उसकी कूटस्थ में जो प्रतीति उसे वेद में भ्रान्ति कहते हैं और इस का नाम शोक भी होता है। परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार के ज्ञान हैं। " ब्रह्म नहीं है " इस आवरणांश को " ब्रह्म है " ऐसा परोक्ष-ज्ञान विनष्ट करता है। क्योंकि " सत्य ज्ञान अनन्तरूप ब्रह्म है " इस ज्ञान का नाम परोक्षज्ञान है। वह ' ब्रह्म नहीं है " ऐसी प्रतीति का विरोधी है। " मैं ब्रह्म हूं " ऐसा जो अपरोक्षज्ञान वह सकल अवि-द्याजाल का विरोधी है। अतः "मैं ब्रह्म को नहीं जानता" यह अज्ञान है और ब्रह्म नहीं है " और " भान नहीं होता" यह आवरण है। और " मैं ब्रह्म नहीं हूं किन्तु पुण्य पाप का कर्त्ता और सुख दुःख का भोक्ता जीव हूं " यह भ्रान्ति है। इतने अविद्याजाल का अपरो-क्षज्ञान नाश करता है।

भ्रान्तिनाश

मुझ में जन्म मरण सुख दुःख और अन्यान्य संसार धर्म कुछ भी नहीं है। मैं कूटस्थ अजन्मा ब्रह्म हूं। इस विचार से समस्त भ्रान्तियों का नाश होता है। अतः इसको भ्रान्तिनाश और शोकनाश भी कहते हैं। " मैं अद्वय ब्रह्म हूं ' इस प्रकार के निश्चयात्मक बोध से जो एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है उस का नाम हर्ष है।

अज्ञान को आश्रय और विषय चेतन है

विषय जो घटपटादि वे तमोगुण के कार्य्य हैं। अतः वे स्वरूप से जड़ है। उन में अज्ञान और आवरण हैं। अतः यह शङ्का होती है कि अज्ञान और उस का आवरण विचार दृष्टि से चेतन में हैं। घट पटादिक में नहीं। क्योंकि अज्ञान चेतन का आश्रित है। और चेतन को ही विषय करता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। सात अव-स्थाओं का वर्णन से भी अज्ञानका आश्रय अन्तःकरण सहित आभास कहा है। वह अज्ञान का अभिमानी है। " मैं अज्ञानी हूं " ऐसा अभिमान अन्तःकरण सहित आभास को होता है। इस हेतु अज्ञान का आश्रय चेतन है। आभास सहित अन्तःकरण नहीं। क्यों

कि आभास सहित अन्तःकरण अज्ञान का कार्य्य है। जो जिस का कार्य्य होता है वह उसका आश्रय नहीं होता। अतः चेतन ही अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय है और चेतन को ही अज्ञान विषय करता है। स्वरूप का जो आवरण करना है वही अज्ञान का विषय करना है। वह अज्ञानकृत आवरण जड़ वस्तु नहीं हो सकता क्योंकि जड़ वस्तु स्वरूप से ही आवृत है। उस में अज्ञानकृत आवरण का कुछ भी उपयोग नहीं। इस रीतिसे अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों चेतन ही हैं। जैसे गृह का अन्धकार गृह के मध्य को आवरण करता और गृह ही में रहता है।

समाधान—जसे चेतन के स्वरूप से भिन्न सद्सद्‌ विलक्षण अज्ञान चेतन के आश्रित है। उस अज्ञान से चेतन आवृत होता है। वैसे घट के स्वरूप से भिन्न अज्ञान यद्यपि घट के आश्रित नहीं। तथापि अज्ञान ने ही स्वरूप से प्रकाश रहित घट पटादिक को जड़-स्वरूप रचा है। अतः सदा ही अन्ध के समान आवृत हैं। अज्ञान ने घटादिक का आवृतस्वभाव किया है। क्योंकि तमोगुणप्रधान अज्ञान से भूतों की उत्पत्ति द्वारा घटपटादिक उपजते हैं। वह तमोगुण आवरण स्वभाव वाला है। अतः घटादिक प्रकाश रहित अन्ध ही होता है। इस रीति से अन्धनरूप आवरण घटादिकमें अज्ञानकृत स्वभाव सिद्ध है। और घटादिक के अधिष्ठान चेतनाश्रित अज्ञान चेतन को आच्छादित करके स्वभाव से आवृत घटादिकों को भी आच्छादित करता है। यद्यपि स्वभाव से आवृत पदार्थ के आवरण में प्रयोजन नहीं। तथापि आवरणकर्ता पदार्थ प्रयोजन की अपेक्षा से बिना ही निरावरण के समान आवरण सहित में भी आवरण करता है। यह लोक में प्रसिद्ध है। उस अज्ञान से आवृत घट में व्याप्त जो अन्तःकरण की आभाससहित घटाकार वृत्ति उसमें वृत्ति में जो आभास भाग वह घट को प्रकाशित करता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थ में वृत्ति और आभास दोनों का उपयोग है। जैसे अन्ध-कार में मृन्मयपात्र अथवा लोहमय पात्र ढाकन से ढका हुआ हो.

यहां दण्ड से ढ़ोकन को फोड़दे तो भी दीपक विना उस निरावरण पात्र का प्रकाश नहीं होता किन्तु दीपक से प्रकाश होता है । तद्वत् अज्ञान से आवृत जो घट उस के आवरण को यद्यपि वृत्ति भग्न भी कर देती है। तथापि घटका प्रकाश नहीं होता । क्योंकि घट स्वरूप से जड़ है और वृत्ति भी जड़ है। उस का आवरणभङ्गमात्र प्रयोजन है। अतः उस से प्रकाश नहीं होता। इस हेतु घटका प्रकाश आभास है। नेत्र का विषय जो वस्तु उसके प्रत्यक्षज्ञान की यह रीति है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों का भी बोध समझ लेना चाहिये।

इतने व्याख्यान से सिद्ध यह हुआ कि अज्ञानावरण अतिशय प्रबल है। इस हेतु वास्तवस्वरूप का बोध नहीं होता। श्रीकृष्ण, ने कहा है:—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"

इस में सन्देह नहीं कि जैसे क्षुधा और पिपासा स्वभाव से ही सब प्राणियों में प्रकटित हो जाती है। वैसे सब प्राणियों में आनन्द का प्रकाश उतना नहीं होता। जिस हेतु यह संसार ही अज्ञानकृत है और अज्ञान नाम ही है अविवेक का, अतः संसार में आनन्द ढक गया और दुःख की मात्रा कुछ बढ़ गई। सब से प्रथम इस पेट की चिन्ता ने प्राणियों को बहुत अंश में दुःखमय बना दिया। प्रत्येक प्राणी कुछ खाना चाहता है यदि उस प्राणी को अपने परितःस्थित अनुकूल भोजन न मिला तो अनुचित व्यवहार वह करने लग जाता है। सिंह इस लिये प्राणियों को मार २ खाने लग गया कि उस को फल फूल न मिल सके। जल में रहते हुए मत्स्य इस कारण अपने सजातीय भाइयों को खाने लग गये कि उन्हें अन्य प्रकार से अपना निर्वाह न सूझा। जिस समय कुत्ती और गीदड़नी क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं उस समय अपने बच्चों को भी खाती हुई देखी गई हैं। सर्पिणी अपने बच्चे को खा जाती है यह प्रसिद्ध है। कर्कटी को अपने बच्चे ही खा जाते हैं यह भी प्रत्यक्ष

है। यहां तक सुना और देखा गया है कि मानुषी भी अत्यन्त दुर्भिक्षावस्था में अपने सन्तान को खाती हुई पकड़ी गई है। क्या कहा जाय इन उद्भिज्जजातियों में भी अपने २ पोषण के लिये एक जाति दूसरी जाति को नष्ट करने के लिये चेष्टा करतीहै। जब इस प्रकार प्रचण्ड क्षुधा जागृत है तो इस संसार में दुःख का घोर दृश्य क्यों न दीख पड़े। यद्यपि मनुष्येतर जातियों के क्लेशों की चिन्ता न करती हुई क्षणमात्र मानवजाति की ओर आती हूं तो और भी आश्चर्य लीला में डूब जाती हूं। मानवजाति न कभी सुखिनी हुई और न होने की कोई भविष्यत् आशा ही देखती हूं। इस में केवल क्षुधा पिपासा ही जागरूक नहीं हैं। किन्तु अनन्त अनन्त कामनाओं से यह जाति आवृत है। क्षुधापिपासा की निवृत्ति का उपाय अथवा सामग्री जिसके पास विद्यमान है वह निज समाजमें प्रतिष्ठा मान मर्य्यादा आदि चाहता है। भोग विलास की आयोजना करने लगता है और इस प्रकार पृथिवी पर के सब ही पदार्थों का भण्डार अपने गृह को बनाना चाहता है। हे पुत्री! सन्तोष कहां है। महान् सम्राट् भी त्रिभुवन को अपने वश में करना चाहता है। वश करके भी वह तृप्त न होगा। इस के उदाहरण शतशः पुराणों और अन्यान्य ग्रन्थों में कथित हैं। हिरण्यकशिपु, रावण, नमुचि, ययाति, इन्द्र आदिक हैं। तब इस अवस्था में चित्तवृत्तियों को बढ़ाकर नष्ट होना उचित है अथवा वृत्तियों को रोक कर अपने में स्थित होना योग्य है। हमने जिस सन्यासी का अभी ही तुम से निर्देश किया है जो यहां ही रहता है वह कितना आनन्द है। उसकी प्रतिष्ठा भी कम नहीं। क्योंकि जिस ओर वह जाता है वहां ही झुण्ड के झुण्ड लोग उस के दर्शन और पैर छूने के लिये दौड़ते हैं। वह मूर्ख भी नहीं क्योंकि वह सर्वशास्त्रवित् है। जाति में भी नीच नहीं क्योंकि वह उत्तम कुल का ब्राह्मण है। इत्यादि सर्वगुण सम्पन्न रहने पर भी सग्रही नहीं। वृत्तियां इस की अवरुद्ध हैं। सदा अपने में स्थित हो आनन्दमय होरहा है। कृष्ण ने कहा है:—

विहायकामान्यः सर्वान् पुमांश्चरतिनिस्पृहः।
निर्ममोनिरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

हे पुत्री ! पुनः श्रीकृष्ण ने कहा है:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

किसी न किसी उपाय से इस आत्मा का उद्धार करे इस को न गिरावे। बड़े २ ऋषि और मुनि अपने दिव्यज्ञान से कह गये हैं कि शूकर कुक्कुर सर्प तथा अन्यान्य निकृष्ट से निकृष्ट योनि में यह जीव अपने कर्म के अनुसार जा गिरता है। इस पृथिवी पर ही कितने प्रकार के शरीर हैं उनको कौन गिन सकता है। यदि मनुष्य शरीर पाकर इस आत्मा का उद्धार न किया तो तू अवश्य जान कि पुनः इन सब शरीरों में जाकर कर्म भोगना होगा। ऐसा ऋषि और मुनि कहते हैं इस हेतु जिस किसी उपाय से इस आत्मा का उद्धार करे। काम क्रोधादिक को छोड़ अपने में स्थित हो तब ही आनन्द का स्रोत इस से निकलेगा। यहां एक दृष्टान्त देती हूं। कोई एक लालची पुरुष एक साधु की सेवा करने लगा। साधु जी ने प्रसन्न होकर उस से कहा कि बेटा ! तू मुझ से क्या चाहता है। मुझ गरीब की सेवा तू क्यों करता है ? अपना मनोरथ कुछ बतला ? उस लालची ने कहा कि मैं अत्यन्त निर्धन हूं मेरी स्त्री और अनेक सन्तान हैं। हे गुरो ! इनका निर्वाह अत्यन्त कठिन हो गया है। आप त्रिकालदर्शी हैं मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि परिवार सहित मैं सुखी होऊं। साधु ने कुछ सोच विचार कर कहा कि देख बच्चा ! मुझ को गुरु जी ने एक पारसमणि दिया था। उसको अपने जीवन के लिये निरर्थक और हानिकारी समझ उस पर्वत पर पत्थरों में फैंक दिया। मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि वह पारसमणि उन ही पत्थरों में अब तक विद्यमान है। यह लोभ लेकर तू वहां जा और प्रत्येक पत्थर के टुकड़ों को लेलेकर इस लोहे से छुआना। जिस पत्थर से यह लोहा सोना बनजाय उसी को पारसमणि समझकर उठा लाना। उससे तू अपनी

निर्वाह के लिये लोहे को सोना बना लिया करेगा। वह लालची उस पर्वत पर जाकर वैसा ही करने लगा। किन्तु लोहे से पत्थर को छुआ छुआ कर जल्दी २ दूसरी ओर फेंकने लगा। कुछ दिन में वह पारसमणि उसको मिला किन्तु झट से अपने लोहे में मिलाकर फेंक दिया। क्योंकि उसको फेंकने का ही अभ्यास अधिक होगया था। अब अपने लोहे को सुवर्णमय देखा तो बड़े जोर से रोने लगा और कहने लगा कि हाय, मैं ने क्या यह अनर्थ और अनुचित किया। फिर इतना परिश्रम मुझ से कैसे होगा। एक बार तो इस के खोजने में इतना समय और परिश्रम लगा है। द्वितीय वार इस के अन्वेषण में कितना समय लगेगा। इसको कौन कह सकता है। साधु के निकट आकर वह अपना वृत्तान्त सुनाकर रोने लगा। साधु ने कहा कि इस में तेरा दोष है मैं क्या करूं। पुनः उसे ढूंढकर निकाल ले। पुनः तेरे इस में बहुत वर्ष बीतेंगे।

इस दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तिकम यह भावहै कि माना कि यह मनुष्य शरीर पारसमणि है जो तुझको कोटियों जन्मों के पश्चात् मिला है। इससे मुक्तिरूप सुवर्ण बना सकती है। इस से तू सदा के लिये सुख भोग सकती है। गमनागमन छूट सकता है। मरणक्लेश से सदाके लिये निवृत्तहो सकती है। यदि इस पारस शरीरसे ईश्वरकोन पहचान। इस को उस लालची के समान फेंक डाला तो पुनः कितने जन्म मरणों के पश्चात् यह मानव शरीर मिलेगा इसका किञ्चि-न्मात्र भी निश्चय नहीं। इस हेतु इस क्षणिक सुख को छोड़ सदा स्थायी अक्षय ब्रह्मानन्द की ओर आ। मैं पुनः श्रुति से लेकर एक दृष्टान्त बतलाती हूं। जिसमें संसार की अनित्यता तुझे प्रतीत होगी और सम्भव है कि उसको सुनकर तू भी अमृता होगी।

प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी महाराज जनक जी के मुख्य आचार्य्य ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य थे। राजगुरु होने के कारण ऋषि के कितने धन और सम्पत्तियां थी उस का अनुमान तू सहज में कर सकती है। जनक जी ने उन्हें समस्त सम्पत्तियां दे रक्खीं थीं। एक समय राजा एक

ऋषि का उपदेश सुन उनने प्रसन्न हुए कि अपना सम्पूर्ण राज्य ऋषि को देने के लिये तैयार होगये। ऋषि ने कहा कि राज्य से न हम और न आप अमृतको पा सकेंगे। जिससे अमृत पावें उसका उपाय सोचना चाहिये। उन ऋषि की मैत्रेयी भार्य्या थी। जब ये याज्ञवल्क्य सन्न्यास लेने के लिये तैयार हुए तब भार्य्या मैत्रेयी को बुला कर कहा कि तू अब सारी सम्पत्तिका भोग कर और इसे सम्भाल मैं आजसे परिव्राट् होना चाहता हूं। इसपर मैत्रेयी बोली कि भगवन्! यदि यह सम्पूर्ण पृथिवी समस्तवित्तों से पूर्ण होकर मुझे मिले तो क्या मैं उन वित्तों को दान पुण्य में दे और खर्च कर और उत्तम से उत्तम शुभ कर्म्मों में लगा व्यर्थ एक पैसा भी न फेंक जहां तक हो अपनी बुद्धि और शास्त्र के अनुसार यज्ञ में ही लगा कर और इस के अतिरिक्त स्वयं भी शास्त्रानुसार तप, पूजा पाठ और बड़े २ अनुष्ठान में आसक्त होजाऊं तो क्या मैं इस जननमरण प्रवाह से छुटकारा पा अमृता होजाऊंगी? यह मुझे कृपया बतलावें। इस के उत्तर में याज्ञवल्क्य बोले कि हे प्रिये! वित्त से जो २ कुछ कार्य्य और सम्भोग हो सकता है वही होगा। वित्त से अमृत की आशा नहीं। यह सुन पुनः मैत्रेयी बोली कि यदि वित्तद्वारा अमृत की आशा मैं नहीं कर सकती तो ऐसे वित्त से मुझे क्या प्रयोजन? जिस से मैं अमृता होऊं वैसा ही उपदेश मुझे आप दीजिये। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी की प्रशंसा कर उपदेश देने लगे।

अरे मैत्रेयी! पतिके कामके लिये पतिप्रिय नहीं होता। किन्तु आत्मा के कामकेलिये पतिप्रिय होताहै। पत्नीके कामकेलिये पत्नी प्रिया नहीं होता किन्तु आत्मा के काम के लिये पत्नी प्रिया होती है। पुत्रों के काम के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये पुत्र प्रिय होते हैं। वित्त के काम के लिये वित्त प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मा के काम के लिये वित्त प्रिय होता है। ब्राह्मण के काम के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता किन्तु आत्माके कामके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के कामके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता किन्तु

आत्मा के काम के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोगों के काम के लिये लोक प्रिय नहीं होते। किन्तु आत्मा के काम के लिये लोक प्रिय होतेहैं। देवों के कामके लिये देव प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये देव प्रिय होतेहैं। भूतों के काम के लिये भूत प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये भूत प्रिय होतेहैं। सब के काम के लिये सर्वप्रिय नहीं होता किन्तु आत्मा के काम के लिये सर्वप्रिय होता है।

हे प्रिये! वही आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। इसी आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से यह सब कुछ विदित होता है। ब्राह्मण उसको अपने से पृथक् कर दे जो आत्मा से अन्यत्र ब्राह्मणत्व को देखता है। क्षत्रिय उस को अपनेसे पृथक् कर दे जो आत्मासे अन्यत्र क्षत्रियत्व को देखता है। सब लोग उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मा से अन्यत्र लोकत्व को देखता है। सब देव उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मा से अन्यत्र देवत्व को देखता है। सब उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मासे अन्यत्र सबको देखताहै। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, ये लोक, ये देव, ये भूत, यह सब आत्मा ही है।

हे पुत्री! इन उपर्युक्त द्विविध उपदेशोंसे याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको यह दिखला रहे हैं कि यह जगत् इतना स्वार्थान्ध है कि दूसरों के लिये कुछ भी नहीं करता किन्तु अपने लिये ही यह सदा आसक्त रहता है। किन्तु यहां और भी परम सम्मोह की बात है कि अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये भी बहुत कुछ थोड़ा करता है। तू देख थोड़े से भोग विलास थोड़ीसी क्षुधा पिपासा की निवृत्ति थोड़ी सी मानमर्य्यादा और अतिक्षणिक थोड़े से राज्य के लिये कितनी उत्कण्ठा से कितने परिश्रम से कितने उच्चावचकर्मों से कितनी चोरी डकैती लम्पटता द्यूतादि व्यवहार और कितने असदाचरण से करते करवाते हैं। किन्तु हे सुमुखि पुत्रि! जो सम्भोग जो सुख और जो आनन्द कभी क्षय होने वाला नहीं। अनन्त २ प्रलयों में भी

जिसका नाश नहीं जिस आनन्द की एक मात्रा के तुल्य यह सम्पूर्ण विषयानन्द नहीं। यह त्रिलोकी नहीं, यह इन्द्रादि देवविभव नहीं। उस मोक्षानन्द के लिये कोई भी चेष्टा नहीं करता। जिसको पाकर सब ही आनन्द तुच्छ प्रतीत होते हैं। इस विषय को ऋषि स्वयं आगे कहेंगे।

द्वितीय उपदेश का भाव जितना ही सरल उतना ही कठिन काम है। तू यह तो देख इस महान् आत्मा से भिन्न वस्तु ही क्या है? प्रथम इस शरीर को ही देख। यदि सूर्य्य नहो तो तेरा उत्तमोत्तम नयन क्या कर सकता है। अन्धकार में तू क्यों नहीं देखती इस से प्रतीत होता है कि तेरा यथार्थ नयन भुवनभास्कर है, अपना नयन नहीं। वैसे ही यदि वायु न हो तो तेरी त्वचा, स्पर्श बोध नहीं कर सकती और कान भी शब्द नही सुन सकते। पृथिवी न हो तो तेरी नासिकाएं व्यर्थ हो जांय। जल न हो तो रसना को रस की प्रतीति कदापि न हो। यदि यह समष्टि जगत् न हो तो तेरा व्यष्टि शरीर कदापि बन नहीं सकता। अन्न से यह शरीर बनता है यह प्रत्यक्ष है। तो इस से क्या सिद्ध हुआ कि इस समष्टि जलजगत् का तू एक बुलबुला है। जैसे इस छत्रक का अस्तित्व इस गोमयके ऊपर निर्भर है। इन उद्भिज्जों का अस्तित्व भूमि पर निर्भर है। चतुर्विध शरीर इन ही भौम पदार्थों से उत्पन्न होकर इन्हीं में लीन होजाते हैं। समुद्र जल से नाना जीवशरीर बन२ कर उसी जल में सड़ते गलते पचते रहते हैं। वैसा ही इन पांच भूतों की विद्यमानता में ही यह समस्त सृष्टि बनती और बिगड़ती रहती है। तो यह सिद्ध हुआ कि इन ही पांच भूतों के दृश्यादृश्य सब ही कार्य्य हैं; और ये ही इन सब प्राणियों का आधार और जीवन हैं। अब आगे मैं दिखाती हूं कि इन पांच भूतोंका आधार और जीवन कौनहै? निःसन्देह सबका जीवन यह महान् आत्मा ही है। जैसे सूर्य्य विना हमारा नयन बन ही नहीं सकता वैसे ही उस परमात्मा बिना ये पञ्चभूत कदापि बन नहीं सकते। उस ब्रह्म के अस्तित्व पर ही ये पञ्चभूत स्थित हैं। अब तू

समझ गई होगी कि इस महान् आत्मा से भिन्न वस्तु ही कौन है। इसी हेतु श्रुति कहती है कि आत्मा से अन्यत्र ब्राह्मणत्वादि मत देख। जो कुछ है वह सब आत्मा ही है। इसी में अथवा एतत् स्वरूप ही इस लोक वेद व्यवहार और जो कुछ भूत भविष्यत् वर्तमान में है और होगा, देख। तब ही तुझ से और ऐसे देखने वाले प्रत्येक प्राणी से आनन्दस्रोत प्रवाहित होगा। पुनः आगे याज्ञवल्क्य अपनी प्रिया मैत्रेयी से क्या कहते हैं—इस पर ध्यान दे।

हन्यमान दुन्दुभि के निकले हुए शब्दों को कोई पकड़ना चाहे तो यह असम्भव है। किन्तु दुन्दुभिनवजाया जायतो उस के शब्द उसी में रहेंगे। इसी प्रकार शङ्ख या वीणाके निःसृत शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता। किन्तु उन का बजाना ही बन्द कर दिया जाय तो सब शब्द उन में ही भरे रहेंगे। जैसे गीली समिधाओं से अथवा ईंधनों से मिश्रित अग्निसे धूप पृथक् होकर निकलते हैं। अरे मैत्रेयी! वैसे ही इस महान् भूतात्माका यह सब निःश्वसित है। जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब इसी परमात्मा के निःश्वसित हैं।

जैसे सब जलों का समुद्र एकायन (एक आश्रय) है। सब स्पर्शों का त्वचा एकायन है। सब रसों का जिह्वा एकायन है। सब गन्धों का नासिकाएं एकायन हैं। सब रूपों का चक्षु एकायन है। सब शब्दोंका श्रोत्र एकायन है। सब सङ्कल्पोंका मन एकायन है। सब विद्याओं का हृदय एकायन है। सब कर्मों का हस्त एकायन है। सब वेदों का वाणी एकायन है। वैसे ही सम्पूर्ण जगत् का परमात्मा एकायन है।

जैसे सैन्धव का एक खण्ड जल में रख दिया जाय। तो जल में ही लीन हो जायगा। पुनः उस को जल से पृथक् करना कठिन हो जायगा। जहां २ से जल लेगी वहां २ लवणमय जल ही मिलेगा। वैसे ही अरे मैत्रेयी! यह महान् अनन्त अपार विज्ञानघन आत्मा है।

इन ही भूतों से उठ कर इन में हीं नष्ट होता है मर कर इस की संज्ञा नहीं रहती। अरे मंत्रेयी! ऐसा मैं कहता हूं। याज्ञवल्क्य अन्तिम उपदेश देकर ज्योंही चुप हुए त्योंही मैत्रेयी निवेदन करने लगी कि हे भगवन्! यहां ही मुझ को आपने मोह में डाल दिया। आपने जो यह कहा कि "मर कर संज्ञा नहीं रहती" यह वाक्य मेरे मोहका कारण है। इस पर ऋषि ने उत्तर दिया अरे! मैं मोहवश यह नहीं कहता किन्तु विज्ञान के लिये इतना ही योग्य है। हे प्रिये! जहां द्वैत सा होता है वहां इतर २ को सूंघता। इतर २ को देखता। इतर इतर को सुनता। इतर २ से बोलता। इतर २ को मानता। इतर २ को जानता परन्तु जहां इस का सब आत्मा ही होता है वहां किस से किस को सूघे। किस से किस को देखे। किस से किस को सुने। किस से किसके साथ बोले। किससे किसको माने किससे किस को जाने। जिस से यह सब कुछ जानता है उसको किस से जाने। विज्ञाता को किस से जाने। इति।

इस प्रकार अपने पति का उपदेश सुन मैत्रेयी, सब कुछ त्याग ब्रह्मध्यान में लीना हो ब्रह्मरूपा हुई। वैसा ही जो कोई इस तत्व को समझेगा वह भी वैसा ही होगा। हे पुत्री! इस संसार की तुच्छता और क्षणस्थायिता जान अपने स्वरूप को तू पहचान। थोड़े ही साधनों के पश्चात् "सोऽहम्" "अहम् ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के तात्पर्य्यज्ञान से अमृतरूपा होगी।

श्रुति कहती है-

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

जहां से मन के साथ वचन लौट आते हैं। उस ब्रह्मानन्द को जानता हुआ योगी कभी भयभीत नहीं होता। पुनः श्रुति कहती है-

रसोवै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ॥
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।
एष ह्येवाऽऽनन्दयाति ॥

निश्चय वह रस है। रस को ही पाकर यह जीव आनन्दी होता है। कौन जीता कौन श्वास प्रश्वास लेता। यदि यह परमात्मा आनन्दमय न होता। यही सब प्राणियों को आनन्दित करता। पुनः-

यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथसोऽभयं गतोभवति। यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।

जब वह योगी इस अदृश्य चिन्मय अनिर्वचनीय निराश्रय सर्वाधार परमात्मा में अभयप्रतिष्ठा पाता है तब वह अभय होता है। जब वह योगी अपने और उपास्य देव में अन्तर करता है तब भी उसे भय होता है। पुनः-

भीषाऽस्मात् वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः॥

इस के डर से वायु चलता है। इसके डर से सूर्य्य उदित होता है इसी के डर से अग्नि, इन्द्र और, पञ्चममृत्यु दौड रहा है।

हे पुत्रि! इन श्रुतियों में दोतीन बातें विस्पष्टरूप से वर्णित हुई हैं। जैसे अंगूर, आम्र और कदलीफल परिपक्वावस्था में रसमय ही रहते हैं। तद्वत् यह ईश्वर भी रसमय है। अतः श्रुति कहती है- " रसोवैषः " वह रस है। जैसे विषयी विषय में और गृहस्थ पुत्रादिक में कृपण धनी धनमें राजा राज्य में भ्रमर मधु में और अन्यान्य जीव आहार विहार में रस प्राप्त करते हैं। वैसे ही जब योगी उस ब्रह्म के चिन्तन में ही रस लूटते हैं क्षणमात्र भी उस रसपान से

अलग नहीं होते । खान, पान, शयन, भ्रमण, प्रलपन, भाषण और लौकिक व्यवहार काल में भी तन्मय रहते हैं। तन्मय होजाते हैं। अपने को भूल जाते हैं। उपास्य को ही अपना रूप समझने लगते हैं। उस समय हे पुत्री! वास्तव में उपास्य उपासक में अभेदभाव होता है और "सोऽहम्" "अहम् ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतिवचन अनायास उन के मुख से निकलते हैं उन्हें पुण्य कर्मों के फल भोगने का स्वर्गादि लोकों में हर्ष। अथवा पाप कर्मों से नरकादि वास की चिन्ता हर्ष विस्मय शोक मोह अशन पिपासा लौकिक वैदिक सर्वव्यवहार सर्वद्वन्द्व सर्वचेष्टाएं निवृत्त होजाती हैं। इसलिये श्रुति कहती है कि "सोऽभयम् गतो भवति"। वह अभय को प्राप्त होता है।

हे पुत्री! जिस के भय से सूर्य्य और मृत्यु भी डरते हैं। उस को क्योंकर भय हो। जहां द्वैत वहां भय। जहां अद्वैत वहां भय कहां? यदि एक ही दरिद्री वास्तव में राजा बनजाय तो उसे पुनः दारिद्रय का भय कैसे। इस लिये श्रुति कहती है "तस्य भयम् भवति"। उस को भय होता है जो ब्रह्म से अन्तर करता है। हे पुत्री! इसके सब कर्म क्षीण होजाते हैं। श्रुति भी कहती है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

उस परमात्माके दर्शन होने पर हृदयग्रन्थि टूट जातीहैं सर्वसंशय निवृत्त हो जाते हैं और सर्व कर्म भी क्षय को प्राप्त होते हैं। गीता भी कहती है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

जैसे प्रदीप्त अग्नि शुष्क इन्धनों को भस्म कर देता है। वैसे ही हे अर्जुन! ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है। यहां सर्व शब्द-

से अशेष पुण्यों और पापों का ग्रहण है। हे पुत्रि ! जिस के दर्शन-मात्र से दूसरों का भी पापक्षय होता है। उस ब्रह्मीभूत पुरुष का पापक्षय होता है। यह कहना ही क्या है। भगवान् वसिष्ठ कहते हैं-

यस्यानुभवपर्यन्तं तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्त्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥

जिसकी बुद्धि अनुभवपर्यन्त तत्व में स्थित रहती है उस के दर्शनमात्र से इतर जन सब पापों से छूट जाते हैं। इस ज्ञानी का कुल भी परमपवित्र हो जाता है। यथा-

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन॥
अपारसंवित् सुखसागरेऽस्मिन्।
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

परमानन्द परब्रह्म में जिस का चित्त लीन होता है उस से कुल पवित्र होता है जननी कृतार्थ होती है। यह पृथिवी भी पुण्यवती होती है। उसके पश्चात् थोडी सी आनन्द मीमांसा दिखला कर इस प्रकरण को समाप्त करती हूं। वह यह है:-

साधुयुवा हो, सर्व शास्त्रों के तत्त्वों को जानता हो, अध्यापक भी हो, ज्ञानी नीरोग दृढ़हृष्ट पुष्ट बलिष्ठ निश्चिन्त श्रोत्री हो और उस की सम्पूर्ण पृथिवी सम्पूर्ण वित्तों से पूर्ण हो तब यह एक मानुष आनन्द कहाता है। जो ये शतमानुष आनन्द हैं, वह मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द है। जो ये मनुष्यगन्धर्वों का शत आनन्द है वह देवगन्धर्वों का एक आनन्द है। देवगन्धर्वों का जो ये शत आनन्द है वह पितरों का एक आनन्द है। पितरों के जो ये शत आनन्द है वह अजानदेवों का एक आनन्द है। अजान देवोंके जो ये शत आनन्द है वह कर्मदेवों का एक आनन्द है। कर्मदेवों का

जो ये शत आनन्द हैं वह देवों का एक आनन्द है। देवों के जो ये शत आनन्द हैं वह इन्द्र का एक आनन्द है। इन्द्र के जो ये शत आनन्द हैं वह बृहस्पति का एक आनन्द है। बृहस्पति के जो ये शत आनन्द हैं वह प्रजापति का एक आनन्द है। प्रजापति के जो ये शत आनन्द हैं वह ब्रह्म का एक आनन्द है।

हे पुत्री! इस से ब्रह्म के आनन्द की सीमा मत समझ वह असीम है और उसका आनन्द भी असीम है। यहां प्ररोचनार्थ जीवों की प्रवृत्ति के लिये आनन्द की मीमांसा कही है। परन्तु वह आनन्द-स्वरूप ही है। वह आनन्द का महासागर है। जैसे जल के अतिरिक्त समुद्र कुछ पदार्थ नहीं। ताप से भिन्न कुछ अग्नि वस्तु नहीं। ताप और प्रकाश के अतिरिक्त सूर्य्य कोई पदार्थ नहीं। वृक्षसमूह को त्याग वन शब्द ही व्यर्थ है तद्वत् आनन्द के व्यतिरिक्त ब्रह्म कोई वस्तु नहीं। आनन्दस्वरूप ही वह है। आनन्दमय उसका नाम ही है। उस आनन्द की उपासना कर। कुछ दिन में तुझे अध्यास का बोध होने लगेगा और उस अध्यास के विगलित होने से तू अपने स्वरूप में स्थिता हो जायगी। वास्तव में जननमरण, सुखदुःख, हर्ष-विस्मय इत्यादि द्वन्द्वों का जो तू अनुभव कर रही है वह सर्वथा मिथ्या है। श्रुति कहती है:—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम्॥
निर्विकल्पमनन्तञ्च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्॥
अप्रमेयमनादिञ्च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥

न विरोध न उत्पत्ति न बद्ध न साधक न मुमुक्षु और न मुक्त

कोई है। यही परमार्थ विद्या है। जो निष्कल, निर्विकल्प, निरञ्जन ब्रह्म है वही ब्रह्म मैं हूं। यह जान कर ध्रुव ब्रह्म को प्राप्त होना है। निर्विकल्प अनन्त हेतुदृष्टान्तवर्जित अप्रमेय और अनादि जो ब्रह्म उसे जान बुध दुःखों से छूटता है। इस हेतु सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त पूर्ण आनन्दमय और मन्त्रवर्णित आत्मा को जान विमुक्त होता है।

इतिश्री रूपकुमारीकृते वेदान्तपुष्पाञ्जली प्रमाणविवेकानन्द विवेकनिरू-
पणगुच्छः समाप्तः।

स्वप्नविवेक

राजकुमारी-श्रीमती ! जी स्वप्न के दृष्टान्त से जागरण पदार्थों को मिथ्या कहना उचित नही । क्योंकि जाग्रतावस्था में अनुभूत पदार्थों की स्वप्न में स्मृति होती है अतः स्मृतिज्ञान के विषय जागरण के पदार्थ सत्य होने से उन का स्वप्न में स्मृतिरूप ज्ञानभी सत्य ही है। यह मुझे प्रतीत होता है ।

रूपकुमारी—यहां यह रहस्य तू जान । पूर्वकाल सम्बन्धी पदार्थ का ज्ञान स्मृति होती है। जैसे पूर्व दृष्ट हस्ती की " वह हस्ती " ऐसी स्मृति होती है। और " यह हस्ती संमुखस्थित है " ऐसाज्ञान स्मृति नहीं किन्तु प्रत्यक्ष है और स्वप्न में तो " यह हस्ती आगे स्थित है यह पर्वत है यह नदी है " ऐसा ज्ञान होता है। अतः जागरण में देखे पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं। किन्तु हस्त्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि कहें कि जागरण में अनुभूत पदार्थ का जो संस्कार उसी के बल से स्वप्न में समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति कहाती है। अतः स्वप्न का ज्ञान स्मृति रूप है। यह शंका ठीक नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है १—अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष २—प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष। केवल इन्द्रिय सम्बन्ध से जो ज्ञान वह अभिज्ञारूपप्रत्यक्ष कहलाता है जैसे नेत्र के सम्बन्ध से " यह हस्ती है " ऐसा ज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है और पूर्वज्ञानके संस्कार से और इन्द्रियसम्बन्ध से जो ज्ञान होताहै वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है। जैसे पूर्वदृष्ट हस्ती का " वह हस्ती यह है " यह प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष है। यहां पूर्व हस्तीके ज्ञान का संस्कार और हस्ती से नेत्र का सम्बन्ध दोनों प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष के हेतु हैं। अतः " संस्कारजन्य ज्ञान स्मृतिरूप ही होता है " यह नियम नहीं। किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी संस्कारजन्यज्ञान होता है। परन्तु इन्द्रिय सम्बन्ध विना जो केवल संस्कारजन्य ज्ञान है वह स्मृति ज्ञान है। स्वप्न में हस्ती आदि का ज्ञान केवल संस्कारजन्य

नही । किन्तु निद्रारूप दोषजन्य है और हस्ती आदि के समान स्वप्न में कल्पित इन्द्रिय भी हैं अतः इन्द्रियजन्य है । इस रीति से स्वप्न का ज्ञान जागरण के पदार्थ की स्मृति नहीं और निद्रा से जाग कर पुरुष ऐसा कहता है कि " मैं ने स्वप्न में हस्ती आदि को देखा " यदि हस्ती आदि की स्वप्न में स्मृति हो तो जागकर पुरुष ऐसा कहे कि " मैंने स्वप्न में हस्ती आदि का स्मरण किया " ऐसा कोई नहीं कहता । अतः जागरण के पदार्थ की स्वप्न में स्मृति नहीं और " जागरण में जो देखे सुने पदार्थ हैं उनका ही स्वप्न में ज्ञान होता है " यह भी नियम नही । किन्तु जागरण में अज्ञात पदार्थ का भी स्वप्न में ज्ञान होता है । कदाचित् स्वप्न में ऐसे विलक्षण पदार्थ प्रतीत होते हैं जो सम्पूर्ण जन्म में कभी देखे सुने नहीं गये । उनका ज्ञान स्मृति नहीं ।

यद्यपि अन्यजन्म के ज्ञान के संस्कार से भी स्मृति होती है । तथापि स्वप्न में कोई पदार्थ ऐसे प्रतीत होते हैं जिनका जागरण में किसी जन्म में ज्ञान संभव नहीं । जैसे अपने मस्तकछेदन को आप स्वयं नेत्र से स्वप्न में देखता है । वहां अपना मस्तकछेदन नेत्र से जागरण में कदापि किसी ने नहीं देखा । अतः जागरण पदार्थ के ज्ञान के संस्कार से स्वप्न में स्मृति नहीं । ऐसे स्वप्नको स्मृतिरूप खण्डन में अनेक युक्तियां ग्रन्थकारों ने कही हैं । परन्तु स्वप्न को स्मृति मानने में पूर्वोक्त दूषण अतिप्रबल है ।

जागरण स्वप्न की तुल्यता

जागरण के समान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुटी स्वप्न में प्रतीत होती है । अतः कण्ठ की नाड़ी के अन्तर ही सब कुछ उत्पन्न होता है । उपनिषद् में यह वर्णन है जागरण के पदार्थ स्वप्न में नहीं प्रतीत होते किन्तु रथ और घोड़े तथा मार्ग तथा रथ में बैठने वाले इत्यादि स्वप्न में नवीन उत्पन्न होते हैं । अतः पर्वत, समुद्र, नदी, वन, ग्राम, पुरी, सूर्य, चन्द्र इत्यादि जो कुछ स्वप्न में देखते हैं वह

नवीन उत्पन्न होते हैं। यदि स्वप्न में पर्वतादिक न हों तो उन का स्वप्न में प्रत्यक्षज्ञान भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि विषय से इन्द्रिय का सम्बन्ध अथवा अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। अतः पर्वतादिक विषय और उनके ज्ञानके साधन इन्द्रिय तथा अन्तःकरण समस्त अन्तर में उत्पन्न होते हैं।

शङ्का—स्वप्न के जो पदार्थ प्रतीत होते हैं उन की उत्पत्ति यदि अङ्गीकार करें तो जैसे स्वप्नदृष्टान्त से जागरण के पदार्थ के समान उत्पत्ति वाले होने से स्वप्न के पदार्थ भी सत्य होने चाहियें और स्वप्न के प्रति पदार्थ की उत्पत्ति न मानें तो यह दोष नहीं। क्योंकि जागरण के पदार्थ उत्पन्न हुए प्रतीत होतेहैं और स्वप्नमें पदार्थ बिना उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं अतः स्वप्न में बिना हुए पदार्थ का ज्ञान भ्रममात्र है। इन की उत्पत्ति माननी योग्य नहीं।

समाधान—जिस वस्तुकी उत्पत्तिमें जितना देशकालादि सामग्री कारणहैउतनीसामग्री बिना जो उपजे वह मिथ्या है और स्वप्नके हस्ती आदिकीउत्पत्तिके योग्य देश काल नहीं।बहुत कालमें और बहुत देशमें उपजने योग्य हस्ती आदिक क्षणमात्र काल में सूक्ष्म कण्ठदेश में उपजते हैं। अतः मिथ्या है। यद्यपि स्वप्नावस्था में देश काल भी अधिक प्रतीत होते हैं तथापि अन्यपदार्थ के समान स्वप्नमें अधिक काल और अधिक देश भी अनिर्वचनीय प्रातिभासिक उत्पन्न होते हैं क्योंकि विषय बिना प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं और स्वप्न में अधिक देश काल का ज्ञान होता है। व्यवहारिक देश काल न्यून है। अतः प्रातिभासिक उत्पन्न होता है। परन्तु स्वप्नावस्था में उत्पन्न जो प्रातिभासिक देश काल वह स्वप्नावस्था के हस्ती आदि के कारण नहीं। किन्तु निद्रा सहित अविद्या से स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वही अविद्या कारण है। जो दोष सहित अविद्या से जन्म होता है। वह शुक्तिरजतवत् मिथ्या है। इस रीतिसे अविद्याका परिणाम और चेतन का विवर्त्त स्वप्न है।

त्रिविधसत्ताएं

यहां शङ्का होती है कि जिस पक्ष में ब्रह्म चेतन स्वप्नका अधिष्ठान है और अविद्या उपादान कारण है वहां अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है। और स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः ब्रह्मज्ञान बिना अज्ञानी को जागरण में स्वप्न की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये। और भी-जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान कारण अविद्या है वैसे वेदान्त सिद्धान्त में जागरण के व्यावहारिक पदार्थों का भी अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान अविद्या है। अतः जागरण पदार्थों को व्यावहारिक और स्वप्न को प्रातिभासिक कहना ठीक नहीं।

समाधान-निवृत्ति दो प्रकार की होती है कारण सहित कार्य्य का विनाशरूप अत्यन्त निवृत्ति तो स्वप्न की जागरण में ब्रह्मज्ञान बिना नहीं होती। परन्तु दण्ड के प्रहार से जैसे घट का मृत्तिका में लय होता है। वैसे स्वप्नका हेतु जो निद्रा दोष उसके नाशसे अथवा स्वप्न के विरोधी जागरण की उत्पत्तिसे अविद्या में लयरूप निवृत्ति स्वप्न की ब्रह्मज्ञान बिना सम्भव है।

द्वितीय शङ्का का समाधान यह है। जागरणके देहादिक पदार्थों की उत्पत्ति में तो अन्य दोष रहित केवल अनादि अविद्या ही उपादान कारण है और स्वप्नके पदार्थोंमें सादि निद्रा दोष भी अविद्या का सहायक है। अतः अन्य दोष रहित केवल अविद्याजन्य व्यावहारिक है। और सादि दोष सहित अविद्याजन्य प्रातिभासिक है। इस रीति से स्वप्न के पदार्थों में जागरण पदार्थों से विलक्षणताहै।

यद्यपि वेदान्त परिभाषादिक ग्रन्थों में पूर्वप्रकारसे व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों का भेद कहाहै। अतः तीन सत्ताएं मानी हैं। विद्यारण्यस्वामी ने तीन सत्ताओं का प्रसंग इस प्रकार लिखा हैः-दो प्रकार के देहादिक पदार्थ हैंः-१-ईश्वररचित यह बाह्य है २-जीव के सङ्कल्परचित यह मनोमय और अन्तर है। इन दोनों में

अन्तर मनोमय साक्षी भास्य हैं और ईश्वररचित बाह्य है। वह प्रमाताप्रमाण के विषय हैं। अन्तर मनोमय देहादिक ही जीव के सुख दुःखके हेतु हैं। ईश्वररचित पदार्थ सुख दुःखके हेतु नहीं। अतः मनोमय पदार्थों की निवृत्ति मुमुक्षु को अपेक्षित है अन्य की नहीं। यहां उदाहरण यह है:-किन्हीं दो पुरुषोंके दो पुत्र विदेशमें गये। उन में एक कापुत्र मरगया दूसरे का जीता रहा। और जीवित पुत्रने बहुत धनधान्य प्राप्तकर किसीके पुत्रद्वारा अपने पिताको अपनी विभूतिका और दूसरे को पुत्र के मरण का समाचार भेजा। वहां समाचार देने वाला दुष्ट था। अतः जीते पुत्र के पिता को कहा कि तेरा पुत्र मर गया और मरे पुत्र के पिता को कहा कि तेरे पुत्र का शरीर नीरोग है और बहुत धन कमाया है। थोड़े ही दिनों में बड़े समारोह के साथ आवेगा। उस वञ्चक का वचन सुन जीवत्पुत्र का पिता रोने और अत्यन्त शोक करने लगा। इस रीति से देशान्तरस्थित ईश्वररचित पुत्र यद्यपि जीता है तौ भी मनोमय पुत्र के मरण से वह दुःखित हुआ। दूसरे का ईश्वररचित पुत्र मरगया। उसको दुःख नहीं हुआ। क्योंकि मनोमय पुत्र जीता है और सुखी होने लगा। अतः जीव सृष्टि ही सुख दुःख का हेतु है ईश्वर सृष्टि नहीं। इस रीति से विद्यारण्य स्वामी ने जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि दो प्रकार की कही है। वहां जीवसृष्टि प्रातिभासिक और ईश्वरसृष्टि व्यावहारिक है। इसीप्रकार अन्यग्रन्थों में भी तीन प्रकार की सत्ताएं कही गईहैं। चेतनकी परमार्थ सत्ता और चेतन से भिन्न जड़ पदार्थों की व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है। कोई कहते हैं कि सकल अनात्मपदार्थ की एक ही प्रातिभासिकसत्ता है। अतः दो प्रकार की ही सत्ताएं हैं। चेतन की परमार्थ सत्ता और चेतन से भिन्न सकल अनात्मपदार्थ की प्रातिभासिक सत्ता है। जागरण और स्वप्न के पदार्थों में किञ्चित्मात्र भी विलक्षणता नहीं। इस में ये हेतु हैं:-

जैसे देशकाल सामग्री बिना स्वप्नके गजादिक पदार्थ उपजते हैं। अतः वे मिथ्या हैं। वैसे ही आकाशादिक प्रपञ्च की ब्रह्म से उत्पत्ति

होती है। उस ब्रह्म में देश काल का लेश भी नहीं। स्वप्न में गजादि पदार्थ के योग्य यद्यपि देश काल नहीं तथापि अल्प देश काल है। किन्तु आकाशादिक की सृष्टि में अल्प देशकाल भी नहीं। क्योंकि देशकाल रहित परमात्मा से आकाशादिक की उत्पत्ति कही गई है। इस कारण तैत्तिरीय श्रुति में आकाशादि की क्रम से सृष्टि कही है। देश काल की सृष्टि नहीं। यहां तैत्तिरीय श्रुति का और सूत्रकार भाष्यकार का भी यही अभिप्राय है। आकाशादिक प्रपञ्च की उत्पत्ति देशकाल सामग्री बिना होती है। अतः आकाशादिक स्वप्नवत् मिथ्या हैं।

राजकुमारी—यह तो मुझे श्रीमती जी के कथन से ज्ञात हुआ कि स्वप्नवत् आकाशादिक सृष्टि मिथ्या है और जैसे स्वप्न में नाना सृष्टियां होती रहती हैं। वैसे ही यह बाह्य जगत् किसी व्यक्ति के स्वप्न में उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। निःसन्देह वह व्यक्ति ब्रह्म है तो क्या ब्रह्म में ही यह सब स्वप्न हो रहा है। इस को पहले मुझे समझाइये, तब पुनः शङ्का अवशिष्ट रह जायगी तो पूछूंगी। क्योंकि उत्तरोत्तर, शङ्का और समाधान के श्रवण से मुझे ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है।

रूपकुमारी—सम्पूर्ण जगत् किस के स्वप्न में हो रहा है इस में अपना अनुभव न कुछ कहकर सिद्धान्तमुक्तावलीरचयिता, आचार्य्य, ब्रह्मज्ञानी श्रीप्रकाशानन्दकी सम्मति सुनाती हूं। सावधान होकर सुन—वस्तुतः एक ही नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव 'उपनिषन्मात्रगम्य, अनन्त अनादि परमात्मा है। वही अज्ञान के आश्रित हो जीवभाव को पा देव, तिर्यक, और मनुष्यादि देहों को कल्पित कर उनके उपकरण के लिये ब्रह्माण्डादि चतुर्दशभुव बना उन २ देहोंमें कोई देव कोई मनुष्य कोई हिरण्यगर्भ कोई सर्वस्रष्टाब्रह्मा, पालकविष्णु, संहारकर्त्ता रुद्र इत्यादि २ नाना कल्पना करता है। उन के उपाधि सत्व रज तम ये तीन गुण हैं। इस कारण ब्रह्मा विष्णु महेश में सर्वसामर्थ्य होता है। यही ब्रह्म मैं कोई ब्राह्मणकुमार हूं उन की भक्ति और पूजा

नमस्कारादि के अनुष्ठान से और श्रवणादिक साधन से मोक्ष सिद्ध करूंगा। इस प्रकार ईश्वर भी जागरण में भ्रान्त होता है।

पुनः जागरणप्रपञ्च को समेटकर स्वप्नमें निद्रादोष से दूषित वैसे ही प्रपञ्च को बना उस २ देहों और इन्द्रियों के योग्य भोगों को भोग वसिष्ठआदि मुक्त हुए, अन्यबद्ध हैं। मैं भी कोई बद्धदुःखी संसारी जीव ब्रह्मज्ञान से मुक्त होऊंगा। इस प्रकार कल्पना कर पुनः उस अवस्था का उपसंहार कर सर्वभ्रमनिवृत्ति रूपा सुषुप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही परिपूर्ण स्वयम् प्रकाशानन्दैकस्वभाव वह आत्मा अपने अज्ञानवश जीव और संसारी इत्यादि शब्द वाला होता है। इस के अतिरिक्त कोई संसारी नहीं। उसी अज्ञानवश आत्मा को जब कोई उत्तम आचार्य्य मिलते और उनसे ज्ञानोपदेश सुनता पापों से निवृत्त हो धर्म्मनिष्ठ होता है। वैराग्य और तपस्यादि सत्कर्म में उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता जाताहै। सज्जनोंके साथ सङ्ग दुष्ट पुरुषों के संसर्गका भी त्याग और तत्वमस्यादिवाक्यों का निरन्तर अभ्यास करता है तब आत्मसाक्षात्कार उदित होता है। तब वही आत्मा अज्ञान और उसके कार्य्यों का उपसंहार कर स्वानन्दतृप्त अपने महिमा में स्थित हो 'मैं मुक्त हूं' इस परमार्थ का द्रष्टा होता है। इस अवस्था में इस से भिन्न कोई संसारी नहीं। जो द्वैत को देखे।

इस से क्या सिद्ध होता है कि यह सारा जगत् ईश्वर में ही कल्पित है और वही मानो स्वप्न भी देख रहा है। ऐन्द्रजालिक लीलावत् सब मिथ्या है।

राजकुमारी—यह श्रीमती का कथन ठीक है। परन्तु पुनः मेरे हृदयमें एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, वह यह है क्या मनुष्य ही स्वप्न देखते हैं या अन्यान्यजीव भी? यदि मनुष्येतरजीव स्वप्न नहीं देखता तो इसका क्या कारण? और मनुष्य ही तब क्योंकर स्वप्न देखते हैं।

रूपकुमारी—यद्यपि इस के निश्चय करने की आवश्यकता नहीं तथापि तेरे प्रश्नका संक्षेप उत्तर इस प्रकार है। सब ही प्राणी स्वप्न देखते हैं। क्योंकि प्रायः मनुष्य के समान ही इतर जन्तुओं में भी

धर्म पाये जाते हैं। क्योंकि आहार, निद्रा, भय और स्मरण इत्यादि सब धर्म तुल्य हैं। वैज्ञानिकों ने यहां तक सिद्ध किया है कि कुत्ता प्रभृति दो चार वर्षों के पश्चात् भी अपने वियुक्त स्वामी को पहचानता है। यह प्रसिद्ध है कि बहुत से पक्षी एक देशको त्याग दूसरे देश चले आते हैं। नियमपूर्वक वे वैसा करते हैं। उन्हें किस ऋतु में कहां उपयुक्त आहार मिलेगा, यह मालूम रहता है। इत्यादि विचार से प्रतीत होता है कि पश्वादि जन्तु भी स्वप्न देखते होंगे। जो कुछ हो, मैं तो यह कहती हूं कि मनुष्यस्वप्न देखता है और यह मिथ्या है इस को सब कोई जानते हैं। इस हेतु इस पर अधिक न विचार कर आगे आत्मविभूति देख।

जगद्वैलक्षण्य और उसका समन्वय

यह सम्पूर्ण जगत् विलक्षण है इस को अतिपामर जन भी जानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु के लिये किसी शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती इसके लिये गुरु के निकट अध्ययन कोई नहीं करता। सर्प के काटने से मनुष्य का प्राणान्त होता है। किन्तु तत्समान ही अन्य पिपीलिका के दंशन से कुछ नहीं होता। एक अन्न जितना मधुर है उतना दूसरा नहीं। जितना दूध गौ और भैंस दे सकती है उतना मृगी नहीं। कहीं शीतलता है तो दूसरी जगह अत्युष्णता है। कहां तक मैं वर्णन करूं मुझे यहां मनुष्य की विलक्षता दिखलाना ही अभीष्ट है। इसी जाति के कल्याण के लिये समस्त वेदों और शास्त्रों की प्रवृत्ति है। विधि अथवा निषेध, लज्जा अथवा मान मर्यादा और प्रतिष्ठा मुक्ति और बन्धन इस के लिये ही हैं। इस लिये इस जाति का जिस से उद्धार हो वैसा करना उचित है। अतः इस में जो बड़ी विलक्षणता है संक्षेप से उसे दिखलाती हूं।

देव और असुर में महती विलक्षणता है। इस के बहुत से उदाहरण शास्त्रों में हैं। किन्तु इन दोनो के वर्णन के पूर्व यह कह देना उचित समझती हूं कि कदाचित् तू देव शब्द से सूर्य, चन्द्र,

अग्नि, वायु, इन्द्र न समझले और असुर शब्द से हिरण्य कशिपु, बलि, वृत्र, नमुचि, इत्यादि का ग्रहण न करले। परन्तु मेरा अभिप्राय केवल मनुष्य जाति से है। अनुकूल वेदविहित ज्ञानिविज्ञानि सम्पत विज्ञानानुकूल प्रकृत्यनुकूल स्वार्थ और परार्थ के तत्ववित् परद्रोहादि से निवृत्त सात्विक भद्र पुरुषों को देव और तद्विपरीतों को असुर मैं कहती हूं। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्यों में कैसी विलक्षणता है तू विचार। वैदिकज्ञान विना किसी वस्तु का निश्चय करना यद्यपि अतिकठिन है तथापि व्यवहार के लिये बहुत सी व्यवस्थाएं भी नियमितरूप से और कार्य्य में परिणत इस में देखती हैं। प्रथम हिंसा को तू पाप जान। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। किन्तु इससे कितने मनुष्य निवृत्त हैं। इस पृथिवी के आज कल के भूगोल के अनुसार पण्डितगण पांच सात विभाग करते हैं। मुख्य विभाग ये हैं–एशिया, यूरोप, अफ्रिका और चतुर्थ अमेरिका। धर्म भी मुख्य ये हैं–वैदिक, क्रिस्तानी, इसलामी और बौद्ध। अब मैं जगत् से पूछती हूं कि हिंसा को त्याज्य कहने वाले भी अहिंसक कितने हैं। यूरोपवासी प्रायः सब ही जन्तुओं को खाते हैं। हां, अपनी मनुष्य जाति के ऊपर उनकी दया है। किन्तु इन्हें रोटी और साकके समान न खाकर इनकी क्या २ दुर्दशा करतेहैं यह ऐतिहासिक पुरुषों से पूछो या इतिहासों में पढ़ कर देखो। इसी प्रकार मुसलमान, बौद्ध, पारसी आदिक भी मांसभक्षी हैं। अब वैदिक धर्मावलम्बी केवल इस भारतवर्ष में हैं, उनकी दशा देखो। एक जैनधर्मावलम्बी और कुछ वैष्णव अमांसभक्षी हैं। ब्राह्मण से लेकर चर्मकारपर्य्यन्त हिन्दू हिंसक हैं। मछलियां उनके लिये शाक चटनी हैं। हजारों मन नहीं २ लाखों मन गंगा से और अन्यान्य नदियों से मत्स्य पकड़े और मारे जाते हैं। इन के खाने वाले हम ही भारतवासी हैं। हे पुत्री! लाखों मत्स्य, लाखों पक्षी, लाखों पशु प्रतिदिन भारतवर्ष में ही मारे जाते हैं और अन्यान्य महाद्वीपों में कितने मारे जाते हैं उनकी गणना कौन कर सकताहै।

इस प्रकार देखने और हिसाब लगाने से शत सख्या में एक भी अहिंसाव्रती सिद्ध न होगा। यह भी लोग सिद्ध करते हैं कि जैसा आत्मा मनुष्यशरीर में है वैसा ही इतर प्राणियों में भी। अब इतने वर्णनके पश्चात् विलक्षणताकी ओर आ। एक भी यदि अवैधहिंसा अर्थात् कानूनविरुद्ध मनुष्य हत्या हो जाती है तो कितनी आपत्ति राजा की ओर से उस घातक पुरुष के ऊपर आती है। किन्तु वही मनुष्य घातक लाखों मत्स्यों और पशुयोंको मार दे तो वह न समाज में घातक, अपराधी, अथवा पातकी अथवा अधर्मी अथवा निन्द्य माना जाताहै। इस से क्या सिद्ध हुआ। अथवा क्या निर्णय होगा। हिंसापाप है अथवा कुछ नहीं। यदि हिंसा पाप है तो हिंसा के पाप कहने वाला इस समार से कहीं दूसरी जगह चला जाय। अथवा मनुष्यमात्र से उस को घृणा होनी चाहिये। क्योंकि शत संख्या में एक आध ही अहिंसक सिद्ध होता है।

हे पुत्री! यह कितने आश्चय की बात है कि एक मनुष्य की हत्यापर इतना कोलाहल और दूसरी ओर सहस्र जीवों की हत्या पर भी मौनावलम्बन! इतना ही नहीं किन्तु पृथिवी पर के समस्त धर्म्मपुस्तकों में बलिदान का विधान है। प्राचीन काल से अब तक सैंकडेपीछे निनानवे आदमी इसबलिदानको उचित ईश्वरोपदिष्ट सत्पुरुषों से अनुष्ठित और अनुमोदित समझते आए हैं। आजकल काली के ऊपर और भगवती के नाम पर कितने बकरे चढ़ाए जाते हैं। आश्विन मास की दुर्गा पूजा में इस दृश्य का भयङ्कर नाटक खेला जाता है। स्थान २ में भैंसे भी बलि दिये जाते हैं। आधुनिक श्रौत पुस्तकोंमेंविचित्र२वधसे पशुयोंके मारनेकी विधीलिखीहुईहै। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" यह एक प्रकार का न्याय होगया है। परमोपयोगी गौव और बैलों को भी हमारे मुहम्मदीय भाई बलिदान देते हैं। इन बलिदानों को लेले कर बायबिल के जिहोवा आदि देवता, कुरान के अल्लाह, तन्त्र की दुर्गा आदि देवियां और अन्यान्यदेवगण बड़े प्रसन्न होते हैं। लोगों को ऐसी ही धारणाहै। अब

दूसरी ओर देख मनुष्य का वलिदान देवता नहीं लेते प्रत्युत् हठात् यदि कोई मनुष्य वलिदान दे तो देवता असन्तुष्ट होते हैं। बायबिल के उत्पत्तिके २० वें अध्याय में लिखा है कि जब इब्राहीमका पुत्र इसहाक उत्पन्न हुआ तब वह १०० एक सौ वर्ष का था। वह अपने पुत्र को वलिदान देना चाहता था। किन्तु इब्राहीम ने छुरी लेने को ज्योंही हाथ बढ़ाया कि अपने पुत्र को वलि करे त्योंही जिहोवाके दूत ने स्वर्ग से उसको पुकार के कहा कि हे इब्राहीम !, उस ने कहा क्या आज्ञा ? दूत ने कहा इस लड़के पर हाथ मत बढ़ा और न उस से कुछ कर क्योंकि तूने जो मुझ से अपने पुत्र वल्कि एकलौते पुत्र को भी नहीं रख छोड़ा इस से अब मैं जान गया कि तू परमेश्वर का भय मानता है। यह सुन के इब्राहीम ने आंखें उठाईं और क्या देखा कि मेरे पीछे एक मेंढ़ा अपने सींगों से एक झाड़ी मे उलझा हुआ है सो इब्राहीम ने जाके उस मेंढ़े को लिया और अपने पुत्र सन्ती होमबलि करके चढ़ाया। इत्यादि बाइबिल की कथा है। कुरान के ३७ वें अध्याय में कुछ परिवर्त्तन के साथ इब्राहीम और इसहाक के बलिदान का वर्णन है। वैसे ही ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आई है कि हरिश्चन्द्र अपने पुत्रके स्थान में शुनःशेप को वलि देना चाहते थे। जिस के सम्बन्ध में मनु जी लिखते हैं:-

अजीगर्त्तः सुत हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥

अजीगर्त्त अपने लड़के को मारने के लिये आगे बढ़ा तौ भी वह पाप से लिप्त न हुआ।

इस कथा का वर्णन यों है कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र नहीं होता था। नारदादिक कतिपय ऋषियों ने कहा कि यदि आप वरुण देवता की आराधना करें तो पुत्र आपके अवश्य होगा। राजा ने वरुण की आराधना की। किन्तु प्रसन्न होकर वरुण ने कहा कि यदि तू उसी पुत्र से मेरी पूजा करे तो तुझे पुत्र दूंगा। अन्ततो गत्वा राजा के

पुत्र हुआ। वह अब यौवनावस्था में प्राप्त हुआ तो अपने स्थान में एक ब्राह्मण पुत्र को खरीदकर लाया और पिता हरिश्चन्द्र से कहा कि वरुण देवता के ऊपर इसी का बलिदान चढ़ाइये। इस के पिता अजीगर्त्त को साथ इस लिये ले आये हैं कि वही अपने पुत्र का हनन भी करेगा। इत्यादि

हे पुत्री! देख मनुष्य का कितना अविवेक और अन्याय है। विद्वानों ने स्थिर कियाहै कि सकल प्राणी समान हैं और भगवान् ने ही उनको भी बनाया है। जिस प्राकृत नियम से मानव सृष्टि हुई है उसी नियम के आधीन कीटाणु की भी उत्पत्ति हुई है। मनुष्य सृष्टि में कोई भी विचित्रता नहीं। अथवा मानले कि इनमें विचित्रता हो तौ भी क्या? देवगण क्योंकर पशु बलिदान से प्रसन्न हों और मनुष्य बलिदान से रुष्ट। हे पुत्री! ये सब केवल कल्पित बातें हैं। न कोई चेतन देव बुभुक्षित हैं और न देवियो, किन्तु मनुष्य की बुद्धि का यह एक विकाशमात्र है। पक्षपात है। अन्याय और मूर्खता है। जलचर, पृथिवीचर नभश्चर प्राणियों को खाकर भी मनुष्य तृप्त न कदापि हुआ न होगा। उन्मत्त मनुष्यजाति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये अपने अनुकूल नियम बनातीहै। उसी को धर्म और कानून आदि के नाम से पुकारते हैं।

हे पुत्री! अब तू अच्छी तरह से मन में विचार देख। किस को न्यायी, किस को अत्याचारी, किस को आततायी कहेगी? तू क्या निश्चित सिद्धान्त स्थापित करेगी? मनुष्यों की बुद्धियों और धर्म पुस्तकों की यदि चक्कर में और परीक्षाओं में पड़ेगी तो निःसन्देह तू पगली होजायगी। परन्तु मैं तुझ से पूछती हूं कि यदि कोई तेरी गर्दन काटने के लिये दौड़े अथवा तुझे नाना प्रकार से क्लेश पहुंचावे तो क्या तू इस कुकर्म को सहन करेगी। निःसन्देह अपने सामर्थ्यभर अपने प्रिय शरीर की रक्षा करेगी? किन्तु असमर्थावस्था में तू कुछ नहीं कर सकती। अभी तू इस नगर से बाहर अकेली नानाभूषणादि धारण कर निकल। देखेगी कि तेरी क्या दशा होती है। इसीप्रकार

ये सकल पशु और पक्षी असमर्थ और अवाक् हैं। इस लिये इन पर मनुष्यों का अस्त्र शस्त्र सहजतया चल पड़ता है। मनुष्य के ऊपर मनुष्य को शस्त्र चलाने में बहुतसी बाधाएं उपस्थित होती हैं। हे पुत्री! जैसे अपने को हम और तू मरवाना नहीं चाहतीं। इसी प्रकार सकल प्राणी हत्या से डरते हैं। इस कारण हिंसा पापजनक है इस में किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। किसी दयालु ने कहा है:-

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
योऽस्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते॥

जैसे अपने प्राण अभीष्ट हैं वैसे ही अन्यान्य प्राणियों के भी। अपने आत्मा के समान ही साधुगण भूतों पर दया करते हैं। जो जिसका मांस खाता है इन दोनों में अन्तर देखो। भक्षक की क्षणिका प्रीति होती है और भक्ष्य का प्राण ही निकल जाता है।

राजकुमारी-माता यह निश्चय बहुत दिनों से मुझ को है और आज आप के उपदेश से दृढ़ हो गया कि हिंसा महापाप है तो भी सृष्टिलीला देख कुछ शङ्का होती है। उस की निवृत्ति श्रीमती के उपदेश से ही होगी। पाश्चात्यविद्वानों के ग्रन्थों में हिंसा अहिंसा के ऊपर विवाद अथवा निर्णय नहीं रहता। सामजिकता को लक्ष्य कर के मनुष्यव्यवस्था में हिंसा का निषेध अथवा युद्ध आदि का निषेध रहता है। परन्तु भारतवर्षीय बहुत से आचार्यों के ग्रन्थों में इस पर बृहद्विवाद देखते हैं। दो चार आचार्यों को छोड़ अन्ततो गत्वा अहिंसा ही परम धर्म है। इसीको यहां के आचार्य्य स्थिर करते हैं। परन्तु मैं अपनी बुद्धि से बालभाव से शङ्का करती हूं। श्रीमती जी अवश्य क्षमा करेंगी। क्या मनुष्यजाति हिंसासे निवृत्त रह सकती है? शास्त्र कहता है कि चार प्रकार के जीवों में एक उद्भिज्जजीव हैं। परन्तु इन्हीं उद्भिज्जों के ऊपर विशेष कर मनुष्यों का जीवन निर्भर

है। जितने खाद्य गेहूं, चावल, मूंग आदि अन्न हैं। शाक और तरकारियां हैं। वे सब इन उद्भिज्जों से ही उत्पन्न होते हैं। इन के अतिरिक्त पवित्र से पवित्र जिस जल का पान हम सब करती हैं उस जल में सूक्ष्मनिरीक्षण यन्त्रद्वारा अगण्य अणुकीट दीखते हैं। पुनः प्लेग हैजा आदि रोग इन कीटों से ही उत्पन्न होते हैं। औषधद्वारा उन रोगकीटों का दमन न किया जाय तो वे रोग कदापि शान्त नहीं हो सकते। चलते फिरते कितने जीवों की हत्या होती है। हम लोग उसपर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं देते। मनुष्य जाति को छोड़ अन्यान्य पश्वादि जातियों में हिंसा की मात्रा बहुत बलवती दीखती है। कोई २ पक्षी दो चार सहस्र कीटों को खाकर अपना निर्वाह करता है। ज्यों ही पांख वाली चींटियां आकाश में उड़ने लगती हैं त्योंही नभश्वर विहगगण उन्हें खाने लगतेहैं। सिंह गीदड़ आदिकों को,गीदड़ शशकादिकों को खा जाते हैं। मत्स्य मत्स्यों का संहार करते हैं। जब इस प्रकार हिंसामय संसार स्वतः बना हुआ है दुर्बलों को खाकर बलवती जातियां अपना निर्वाह करती हैं तो सर्वबलवान् मनुष्य इतर जातियों को खाकर यदि अपना निर्वाह कर लेते हैं तो इसमें क्षति ही क्या? और धर्मलोप ही क्यों हो? मैं समझती हूं जब कुछ आदमी हिंसा से डरने और इसको पाप मानने लगे तब ही विवेकी विद्वानों ने कहा होगा कि व्यर्थ हिंसा करना पाप है। किन्तु उन पश्वादिकों से देवताओं और पितरों की अर्चना करके यदि मनुष्य उन पशुओं को खाय तो इस में कुछ दोष नहीं। प्रत्युत बहुधांश में पुण्य होता और पशुओं का पशुत्व मोचन से उपकार होता है। देवता भी इस से प्रसन्न होते हैं?

रूपकुमारी—इस में सन्देह नहीं, कि मनुष्यजाति सर्वहिंसा से निवृत्त नहीं रह सकती। प्रथम उद्भिज्जों के काटने खाने पीने और मर्दन आदि से हिंसा होती है या नहीं? इस पर थोड़ा विचार यह है कि अभिमानी जीव जिस शरीर में रहता है। उस शरीर के हनन से हिंसा होती है किन्तु जिस में अनुशायी जीव वास करते हैं उस

के छेदन भेदन से हिंसा नहीं कहलाती। जरायुज, अण्डज और ऊष्मज शरीरों के जीव अभिमानी हैं। उद्भिज्ज-शरीरोंके जीव अनुशायी हैं। यह मेरा शरीर है ये मेरे पुत्रादिक हैं–इन के वियोग और संयोग से दुःख और सुख होते हैं। इत्यादि बोधयुक्त जीव को अभिमानी कहते हैं। और भी-हिंसक को देख ये तीनों प्रकार के जीव भागते हैं। अपनी रक्षा का उपाय सोचते हैं। सुख दुःख का पूरा अनुभव करते हैं। हनन के समय बहुत क्लेश के साथ रोते और चिल्लाते हैं। क्रूर से क्रूर मनुष्य को भी इन की हत्या के समय करुणा होती है। किन्तु उद्भिज्ज शरीरोंमें प्रत्यक्ष रूपसे सुख दुःखानुभव की कोई चेष्टा प्रतीत नहीं होती और न इन में अभिमान ही देख पड़ता है। इसी कारण भगवान् ने इन को स्थावर रूपमें बनाया है और अन्यान्य जीवों को जङ्गमरूप में। यह एक महान् भेद है। जङ्गम जीव एक स्थान को त्याग दूसरे स्थान में जा अपना निर्वाह कर सकते हैं। स्थावरों में यह शक्ति नहीं। अतः स्थावर के छेदन भेदन से हिंसा नहीं होती। यत्किञ्चित् अति सूक्ष्म दोष होता भी हो तो वह अनिवार्य्य और क्षन्तव्य है।

अब अणु जीव जो जलादिक में निवास करते हैं और रोगों में उत्पन्न होते हैं। वे क्षणिक हैं। क्षण २ में उत्पत्ति और विनाश इन का स्वयम् होता रहता है। पेट में जाने पर भी तदवस्थित ही रहते हैं। अथवा उदरस्थ जीव रक्तस्थजीव एक दूसरे को खाया करते हैं। परस्पर जीविकार्थ इनमें घोर संग्राम होता है। औषधादियोंसे इनकी वृद्धि रोकी जाती है। इन की वृद्धि अपनी अनुकूल दशा में अगण्य रूप से होती है। दो चार पलों में एक दो रोगकीटों से दो चार सहस्र हो जाते हैं। वे स्वयम् भी क्षण २ भर में मरते और जीते रहते हैं इस लिये इन की भी हिंसा हिंसा नहीं। अब तू ने जो यह बात कही कि जब हिंसामय जगत् है तो मनुष्य पश्वादिकों को मार कर खाय तो क्या क्षति–इस पर यह विचार है, कि पूर्व में मैं कह आई हूं कि विधि निषेध मनुष्य जाति के लिये है। और भी–

इसमें विवेक और ज्ञान की अधिकता है। यद्यपि जरायुज, अण्डज और पिण्डज अन्यान्य सब धर्मों में समान हैं तथापि ज्ञान और विवेक में अन्यान्य जीवों से मनुष्य की असमानता है। इसी कारण मनुष्य जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। विवेक चिता रहा है और साक्षी दे रहा है कि मनुष्य के लिये हिंसा करना अनुचित है। हम मनुष्य अपने सुख दुःख का जैसा अनुभव करते हैं वैसे ही इन पशुवों के क्लेश के ऊपर भी स्वभाव से ही दया का अनुभव करते हैं। वे हम से डर कर भागते हैं और अपनी रक्षा का उपाय भी करते हैं। यहां तक देखा गया है कि जहां अधिक व्याध रहते हैं वहां से पशु और पक्षी भाग जाते हैं। परस्पर व्याध के गमन की सूचना भी अपनी बोलियों से देते हैं। इत्यादि कारणवश मनुष्य के लिये हिंसा निषिद्ध है।

और भी-मनुष्य जाति अन्यान्य बहुत उपायों से अपना निर्वाह करने में समर्थ है। खेती से, फलों को उपजाने से, कन्दों और मूलों के सेवन से इस का अच्छी तरह से निर्वाह हो सकता है। प्रकृति ने इतने फल, वृक्ष और वनस्पतियां दे रक्खी हैं कि इन को संग्रह कर मनुष्य परम सुखी रह सकता है। और भी-जैसे पशु और पक्षियों में बहुत से ऐसे हैं जो फलों, अन्नों और घासों पर ही निर्भर हैं और बहुत से मांसों पर। जो घास भोजी गौ हिरण और अन्न भोजी शुकादिक हैं वे कभी मांसाहारी नहीं होते और व्याघ्रादिक मांसाहारी जीव घासाहारी नहीं होते। किन्तु इस से विपरीत मनुष्य मांसाहारी, फलाहारी, अन्नाहारी, शाकाहारी अपने अभ्यास वश सब कुछ हो गया है। इस अवस्था में इसे उचित है कि मांस को छोड़ अन्नाहारी ही सदा बना रहे।

अब इस पर अधिक न विवेचना कर अन्य विषय को लेता हूं क्योंकि एक एक विषय पर एक एक छोटा मोटा ग्रन्थ बन सकता है और बना हुआ भी है। यहां मुझे केवल वैलक्षण्य दिखलाना है। सब विषयों के निर्णय करने का स्थान वेदान्त में नहीं। जहां तक

आत्मोद्धार के लिये वैराग्यादिकों की आवश्यकता है वहां तक ही मैं वर्णन कर सकती हूं। अतः पुनः विलक्षणता की ओर ध्यान दे। हिंसा के सम्बन्ध में यह विलक्षणता दिखलाई गई कि एक मनुष्य की हत्या के बदले के लिये घोर संग्राम उपस्थित हो सकता है। कचहरीमें लाखो रुपये खर्च हो जातेहैं। किन्तु लक्षों पशुयोंको हत्या के लिये कोई चिन्ता नहीं। अब परस्पर मनुष्य ही में विलक्षणता देख। यदि एक राजा निरपराध दश बीस मनुष्योंको अथवा दोसहस्र मनुष्योंकोअपनेस्वार्थ सिद्धिके लिये देशके देशोंको मारदे, जलादे, भस्म करदेतो कुछ चिन्ताकी बात नहीं। तद्विपरीत यदि एक साधारणजन अपराधी, उन्मत्त राजा को भूल से भी मार दे तो यह कितना घोर पाप और अनुचित समझा जायगा। राजवंश साक्षात् देवजात माना जाताहै। ब्राह्मण मुखसे, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरुसे, शूद्र पद से उत्पन्न हुआ। इतना मिथ्या गढ़ने पर भी सन्तुष्ट न होकर राजगण करने कहवाने लगे कि हमारा वंश साक्षात् सूर्य्य भगवान् से, चन्द्रदेव से, अग्नि से पैदा हुआ है। अमुक राजा साक्षात् इन्द्रका ही अवतार है। सम्राट् केवल एक ही देवता के अंश से नहीं। किन्तु आठ दश देवों के अंशों से होता है। इसी प्रकार की कल्पना सर्वत्र इस पृथिवी पर विद्यमान हैं। यद्यपि समान रूप से मनुष्यता एक ही है। तथापि अपने २ स्वार्थ के लिये अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते गये। पुनः आगे देख। यूरोपनिवासी अफ्रिकानिवासीमनुष्यो की ऐसी दुर्दशा करनेपर लगगए कि एक एक का एकप्रकार नाश कर दिया। पशुयों और शाकों के समान उन हबशियों को बाजारों में बेचा करते थे। दासों का क्रय विक्रय अतिप्राचीन काल से चला आता है। राजधानियों मे बहुत से मनुष्य खोजे बनाकर रक्खे जाते थे और अब भी रक्खे जाते हैं। एक एक पुरुष कभीर सहस्रशः स्त्रियों को रख लेता है। ऐसा घोरतर दृश्य आज भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त कोई इस संसार को तुच्छ समझ कौपीन धारण करना भी व्यर्थ समझता है। एक कौड़ी भी अपने साथ रखना पाप मानता है और कोई एक फूटी कौड़ी को भी

बड़े यत्नसे बश रखताहै। कोटियो रुपये उपार्जन करके भी सन्तुष्ट नहीं होता। इत्यादि विलक्षणता के ऊपर ध्यान दे। यह सब दैवी सम्पत्ति का दिग्दर्शन है।

अब आसुरी सम्पत्ति की ओर आ। बहुत मनुष्य इस अभिप्राय से तप, श्मशानसाधन और मन्त्र जप करते हैं कि मैं सदा अमर होऊं किसी प्रकार कदापि न मरूं। ऐसे ही मनुष्यों को दृष्टि में रखकर नमुचि, हिरण्यकशिपु और रावण आदि की कथा कल्पित हुई है। कोई इस लिये सिद्ध बनना चाहता है कि जगत् की सुन्दरियां, अप्सराएं, किन्नरियां, गन्धर्वकन्याएं, देवस्त्रियां और सारी सम्पत्तियां मुझे प्राप्त हों। इसी प्रकार सहस्रशः विलक्षणताएं केवल मनुष्यसमाज में विद्यमान हैं।

यहां यह विचार करनाहै कि इस पृथिवीपर कोईभी सौ दोसौवर्ष से अधिक न रहा। जो अपने को योगी योगिराज कहते थे। क्या वे आज कहां हैं? वलि, विभीषण, मार्कण्डेय, व्यास आदि इस पृथिवी पर कहां हैं? बड़े २ पृथिवी के विजयियो का नाममात्र भी नहीं है सभ्यता की आद्यावस्था से अद्यावधि अगण्य असंख्य राजा हुए किन्तु एकका भी नाम इस भूमिपर अवशिष्ट है? वे मदोन्मत्त भूपतिगण, अपने समय में अपने को अजर अमर देवाभिमानी सर्वश्रेष्ठ समझते थे। परन्तु जैसे कुत्ताआदियों का नाम मरने पर मिटजाता है वैसा ही वे लोग भी आए और चले गए। इत्यादि मानवदशा पर विचार करने से क्या सिद्ध होता है? जब दोनों प्रकार के साधु असाधु इस पृथिवी परके क्षणिक अतिथिहैं तो कौनसा मार्ग अवलम्बनीय है। यह तो अपने शास्त्रों और विचित्रसृष्टियो के देखने से विदित होता है कि पुनर्जन्म अवश्य है। यदि मानव शरीर पाकर आत्मोद्धार न किया तो निस्सन्देह किस २ जाति में गिर कर जन्म लेकर क्या २ दुःख भोगना होगा। इस को कौन कह सकताहै? फिर ऐसा ज्ञानी और विवेकी मानवदेह मिलेगा या न मिलेगा इस का भी कौनसा निश्चय?

इस लिये हे पुत्री ! इस कर्मक्षेत्र को प्राप्त कर जो आत्मोद्धार नहीं करता उसका व्यापार उस निर्बुद्धि के समान है जो चन्दन को काट कर अर्कवृक्ष लगाना चाहता है। सोने की हण्डिका (हांड़ी) में लशुन पकावे। सोने के हलसे जोतकर भांग का खेत करे। गौ को न पोष कर दूध की आशा से गदही को पाले। इस में सन्देह नहीं कि इस मानवशरीर को प्राप्तकर जो तप नहीं करता वह मानो अपने गृह में सांपों को पाल रहाहै। वह जानकर अपने चारों ओर कांटों का खेत कर रहा है। वह अमृत के स्थान में विष का संग्रही है। जब इस शरीर से उत्तम से उत्तम मुक्ति को पा सकता है तो उसको न पाना कितनी हानि की बात है। श्रुति कहती है:-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदी-न्महती विनष्टिः।

यहां यदि जान लिया तो ठीक है। यदि न जाना तो महान् विनाश है। इस हेतु अपने को जानने की पूरी चेष्टा करनी चाहिये। बहुत मनुष्य इस विचार में रहते हैं कि चतुर्थाश्रम में ही इस का साधन करूंगा। यह ठीक है कि मुक्ति का साधन बिना सन्यास के नहीं होसकता। किन्तु वह सन्यास तब लिया जाय जब सब इन्द्रियां शिथिल होजायं। शरीर जर्ज्जर होजाय। केश पकजांय। त्वचाएं ढीली पड़जायं अर्थात् सर्वथा असमर्थावस्था प्राप्त होने पर संन्यास ग्रहण किया जाय। निःसन्देह ऐसे संन्यास से कदापि मुक्ति की आशा नहीं। वृद्धावस्था में मननशक्ति और श्रवणशक्ति का ह्रास होजाता है। तब वह कैसे "अहम् ब्रह्मास्मि" इत्यादिवाक्य द्वारा अथवा ब्रह्म चिन्तन अथवा अभेदज्ञान कर सकता है।

आश्चर्य्य अथवा अति आश्चर्य्य यह है कि मनुष्य जान कर भी क्यों इस व्यामोह में फंस जाता है इस का पता नहीं लगता। मूढ़ातिमूढ़ से बातें करो तो उसके मुखसे भी अनायास यह शब्द निकलेगा कि यह संसार मिथ्या जो क्षणिक है। बड़े प्रतापी दुर्योधन

रावण आदि सम्राट् कहां चले गये और कोटियों जीव कहां चले जा रहे हैं ?। मैं क्या कहूं मैं सब जानता हूं परन्तु घर के जञ्जाल ने, ऐसा घेर रक्खा है कि इससे छुटकारा एकक्षण भी नहीं होता। लोग कहते हैं कि गदहे का बन्धन मरने पर भी नहीं छूटता। कुछ दिन हुए कि देटियो के विवाह से निश्चिन्त हुआ अब दूसरी ही चिन्ता लगी। दो चार नाती पोतों का विवाह बहुत जलदी करना है। दूसरी ओर माके श्राद्धमे कईसौ ऋण होगये। इधर राजेन्द्रकी भाभी बराबर रुग्ण रहती है। क्या कहूं दवा देते २ हारगया। अजी! महाराज आप से दो चार बातें कर लेनेकी भी मुझे फुरसत नहीं। इत्यादि २ ज्ञान और अज्ञान दोनों की बातें सब करेंगे किन्तु कोटियों में एक आध ही। साधनसम्पन्न हो आत्मदर्शनके लिये यत्न करेगा। जानता भी है कि नाना नरकादियों में मैं नाना क्लेश सहूंगा। यम यातना तीव्रता से मेरे ऊपर आवेगी। मैं संसारसागर में डूबकर अनन्त २ क्लेश भोगूंगा-इत्यादि। तथापि आत्मोद्धार में लोगों की प्रवृत्ति नहीं। इस वैलक्षण्य को देख यदि तू उस भगवान् की शरणमें आना चाहती है तो बहुत शीघ्र आजा।

इति श्रीरूपकुमारी कृते वेदान्तपुष्पाञ्जली स्वप्न-जगद्वैलक्षण्य-विवेकनिरूपणा-भिधेयो गुच्छः समाप्तः।

प्राप्यविवेक

राजकुमारी-श्रीमती जी! मेरी बहुत सी शङ्काएं निवृत्त हो गईं और ब्रह्मध्यान से मुझे अतिशय आनन्द प्राप्त होता है। कभी कभी मैं अपने को भूल तन्मयी होने लगगई हूं। आशाहै कि थोड़े ही दिनों में मैं अपने स्वरूप को पहचानने में समर्था हो जाऊंगी। किन्तु यह मेरी प्रियतमा सखी प्रियंवदा मुझ से बहुत शङ्काएं किया करती है इसे आज साथ ले आई हूं यदि श्रीमती की आज्ञा हो तो यह श्रीमती के निकट अपना मनोभाव प्रकट करे।

रूपकुमारी-ऐ पुत्रियो! हमारी प्रबल, उत्कट और चिरस्थायी कामना बनी रहती है कि लोगों का उद्धार कैसे हो? राजव्यवस्था और कुछ कुलमर्य्यादा के कारण अन्यत्र जाकर प्रचार कर सकती नहीं। यद्यपि इस सब को मैं अति तुच्छ समझती हूं और महात्माओं की कृपा से मैं सर्वथा शास्त्र चिन्तनही में रहती हूं। इस शरीर से स्वभावतः बाह्य क्रियाएं होती रहती हैं किन्तु मेरा मन उस परम पिता से पल भर भी वियुक्त नहीं होता। तू देखती है, अन्यान्य बहुत सी स्त्रियां ब्रह्मकथा सुनती ही रहती हैं। इस अवस्था में तेरी सखी पियंवदा यदि मुझ से अपनी शङ्का निवृत्त करले तो इस में क्षति क्या?

प्रियंवदा-श्रीमती जी! आप की मुझ पर बड़ी कृपा हुई। मैं आप के दर्शन से सदा अपने आत्मा को पवित्र करती रहती हूं। मेरा मन प्रतिमाओं, तीर्थों और अन्यान्य व्रतो मे इतना नही लगता जितना श्रीमती के दर्शन में। आपका ही ध्यान मैं दोनों संध्याओंमें नियम से करती हूं। राजकुमारी पद्मावती जो मेरी परमप्रिया है उस के संग से मुझे ब्रह्मज्ञान का कुछ बोध हुआ है किन्तु शङ्काएं भी बहुत हो जाती हैं।

१-जब मैं अपने हाथों से फूल, तुलसी और बिल्वपत्र आदि चुन कर विष्णु और महादेव की पूजा करती थी तो मुझ को बड़ा

आनन्द आता था। एकादशी चतुर्दशी आदि व्रत करने में भी बहुत हर्ष और आल्हाद होता था किन्तु जब से अपनी सखी का उपदेश सुन कर "अहब्रह्मास्मि" का ध्यान अथवा चिन्तन करने लगीं तब से उदासीनता अधिक छागई। कभी २ चित्त विक्षिप्त हो जाता है उस निर्गुण में मन स्थिर नहीं होता। यद्यपि सत्य, ज्ञान, आनन्द-घन, रसमय, परमकृपालु, सर्वत्रपरिपूर्ण, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप जो परमात्मा है वही मैं भी हूं-यह बहुश: सुना है और बड़े वेग से और उत्कण्ठा से आसन लगा कर "अहब्रह्मास्मि" का ध्यान लगाने बैठ जाती हूं किन्तु थोड़ी ही देर में वह ध्यान उखड़ जाता है और पुनः सगुण उपासना ही की ओर चित्त दौड़ जाता है। अतः मुझे ऐसा उपदेश मिले कि मैं अपने स्वरूप को जान मैत्रेयी के समान अमृतभागिनी होऊं।

रूपकुमारी—तेरे कथन और प्रश्न से हमारा मन बहुत प्रसन्न हुआ। तू जो कहती है वह ठीक है। यद्यपि वेदान्त का मार्ग अति सरल है तथापि अतिशयित कठिन भी है। इस में लोगो का मन नहीं लगता यह ठीक है। बड़े क्लेश से यह मार्ग कोटियों में किसी एक को मिलता है इसी लिये ब्रह्मज्ञानियों के दो चार ही उदाहरण वेदान्त में गाये जाते हैं। वामदेव, जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, अरुन्धती, लोपामुद्रा आदि।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिक भी तो माया से बद्ध ही हैं। तब मनुष्यजाति की कथा ही क्या? ये तीनों देव राग, द्वेष से भरे हुए हैं। देवता के कार्य्य के लिये असुर बलि को भगवान् ने छला है। ब्रह्मा को इतना मोह हुआ कि उस ज्योति के पता लगाने के लिये ऊपर गया जब पता न चल सका तब कुछ मिथ्यासाक्षी बना कर और साथ ले नीचे आया। उसका यह गर्हित व्यापार देख उस ज्योतिने ब्रह्माको अपूज्य बनाया। महिम्नः स्तोत्र मे यह-श्लोक आया है:—

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः।
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ॥
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्।
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥

पुराणों में इस का प्रसंग इस प्रकार से गाया जाता है कि एक समय ब्रह्मा और विष्णु लड़ने लगे कि "मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं" उतनेही में एक अग्निमय लिङ्ग ज्योति उत्पन्न हुई और उससे आक शवाणी निकली कि जो तुम दोनों में से इस लिङ्ग के आदि अन्त का पता लगा लेगा वही श्रेष्ठ माना जायगा। तब उसका पता लगाने के लिये ब्रह्मा ऊपर चले और विष्णु नीचे गये। अर्ब खर्ब वर्ष जाते२ जब विष्णु को उस ज्योतिर्लिङ्ग का कहीं भी पता न लगा तो नीचे से ऊपर आ उसी स्थान में बैठ गये। ब्रह्मा भी ऊपर जाकर लिङ्ग के अन्त का पता न लगा सका तब लौटने लगा। मार्ग में गौ और एक फूल को कहा कि आप दोनों मेरे साथ चलें और वहां यह साक्ष्य दें कि ब्रह्मा लिङ्ग के अन्त का पता लगा आए। जब इस प्रकार दोनों उसी स्थान पर आए और पुनः विवाद करने लगे तो पुनः ज्योतिर्लिङ्ग से आकाशवाणी हुई, कि ब्रह्मा मिथ्यावादी और विष्णु सत्यवादी है। जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा भी मिथ्या भाषण कर के अपना महत्त्व चाहता था तो औरों की क्या गणना। इतना ही नहीं किन्तु वह प्रजापति अपनी पुत्री पर मोहित हुआ यह कथा भागवतादि में अतिप्रसिद्ध है।

महादेव के सम्बन्ध में भी ऐसी २ बहुत कथाएं गाई जाती हैं। सती के वियोग से महादेव को कितना दुःख हुआ। दक्ष के यज्ञ में महादेव का कैसा निरादर हुआ। जब इस प्रकार तीनों देव रागद्वेष में गिरे हुए हैं तो उनकी बनाई हुई जीवों की कथा ही क्या? इन्द्रादि देव की अतितुच्छ कथा पुराणों में वर्णित है। अहल्या के

रूप पर मोहित हो निकृष्ट कर्म्म कर इन्द्र की जो दुर्दशा हुई उसको पुराण अच्छी तरह से बतला रहा है।

हे पुत्री! इस लिये जन्मजन्मान्तर के पापों से ग्रसित ये जीव क्योंकर ब्रह्म की ओर जावें। एक तो मन ही अति चञ्चल दूसरे विषयवासना अति प्रबला। तीसरी लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का अतिप्रबल वेग। आडम्बर जगत् में इतना बढ़ा हुआ है कि इस में सहजतया लोगों की प्रवृत्ति होती है, मन्दिर यज्ञ, तीर्थ, भ्रमण एकादशी आदि इत्यादि २ अनुष्ठानमें झटसे लोगों की प्रवृत्ति होती है यज्ञादि कर्म्म तत्कालशोभाप्रद और कीर्त्तिप्रदायी होता है। दश बीस अथवा सौ पचास श्रोत्रिय आनुष्ठानिक पुरोहित आदि ब्राह्मण पीताम्बर पहन चन्दन लगा कुशासन पर बैठ बाहर से गम्भीरताधर और मौनावलम्बी वन कहीं वेद मन्त्र पढ़ने लगते हैं। कतिपय ऋत्विक् समिधाओं और शाकल्यों को शुद्धथालियों में रख कुण्डों में अग्नि प्रज्वलित कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्वाहा शब्द से लोगों के हृदय को प्रफुल्लित करने लगतेहैं। कहीं यजमान और पुरोहित फूल, अक्षत, गन्ध दीप, ताम्बूल, मधुर और घण्टा घड़ियाल शङ्ख वस्त्र आदि नानाविध सामग्रियां लेकर कृष्णादिप्रतिमाओं की पूजामें मन्त्रादिजपमें तत्पर होजातेहैं। कहां ढोल कहीं नृत्यकहीं संगीत होने लगतेहैं ऐसी दुर्गादि पूजा महोत्सव में सहस्रशः नर नारियांभी एकत्रित होजातीहैं सहस्रशः बकरे भैंसेकटने लगजातेहैं। इत्यादि २ वस्तुएं पूजकों के तथा दर्शकों के मन को अपनी ओर खैंच लेती हैं और इसके अतिरिक्त उस यजमान का देश में कीर्त्ति भी फैल जातीहै। इस प्रकार कर्मकाण्ड में सर्व साधारण का चित्त आकृष्ट होजाता है।

वेदान्तशास्त्र कर्मकाण्ड का सर्वथा निषेध भी नहीं करता। अतत्ववित् पुरुषों के लिये कर्म्मकाण्ड आवश्यक है। कर्मद्वारा बाह्य और आन्तरिक शुद्धि जहां तक हो, करे किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के

लिये अन्ततोगत्वा केवल ज्ञान ही है। "ज्ञानान्मुक्ति" ऐसी सर्व-शास्त्रकारों की घोषणा है। कर्मकाण्डवर्णन पूर्व में भी कह आई हूँ। इस लिये यहाँ पुनः वर्णन करने से पुनरुक्त होगा। तथापि दो चार बातें पुनः यहाँ श्रुति से दिखलाती हूँ:-

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

ये यज्ञरूप प्लव (नौकाए) अदृढ हैं जिन में यजमान पुरोहित मिलकर अठारह १८ पुरुष कर्म करते हैं। इसको जो श्रेय (मुक्ति-साधन) समझते हैं वे मूढ़ हैं और वे जरा और मृत्यु को पाते हैं। पुनः——

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं
कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्ते-
नातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

यद्यपि बहुत से पुरुष अविद्या में वर्त्तमान हैं तथापि वे अपने को कृतार्थ समझते हैं। ऐसा समझने वाले वास्तव में बालक हैं। किन्तु रागवश वे कर्मकाण्डो नहीं समझते इस हेतु पुण्यफलों को भोग पुण्यलोक से गिर पड़ते हैं। पुनः-

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

जो कोई इष्टों (यज्ञों) आपूर्त्तों (सरोवर बान्ध मार्गादि बनवाना) को जो श्रेष्ठ मानते हैं और इन से उत्कृष्ट मोक्षप्रद ज्ञान-मार्ग है इसको नहीं समझते वे अतिमूढ़ हैं। वे स्वर्ग में जा पुण्य-फल भोग हीनतर लोक में जागिरते हैं। इसके विपरीत ज्ञानकाण्ड की श्रुति इस प्रकार प्रशंसा करती है।

तपःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

जो श्रद्धा और तप करते हुये शान्त हो भैक्ष्यचर्य्या द्वारा अपने को पोषते हुए अरण्य में वसते हैं वे निष्पाप हो सूर्य्य द्वार से वहां पहुंचते हैं जहां वह अमृतस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। इसी प्रकार गीता आदि सब पुस्तकों में ज्ञान की ही श्रेष्ठता गाई गई है। बहुत से उदाहरण भी ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें दिये हुए हैं। प्राचीन ऋषिगण जितने हुए वे सब ही इसी मार्ग पर चला करते थे।

और भी-मन में विचार कर देख। कर्म बहुविध हैं। प्रत्येक देश प्रत्येक धर्मपुस्तक में भिन्न २ रूपसे कर्म्मों का वर्णन करते हैं। कहीं तेजस्तिमिरवत् विपरीत कर्म्म कह गये हैं जैसे पुराण प्रतिमापूजा विधान करता है। इस के विपरीत मुसलमान मूर्त्तिपूजा से अति-घृणा रखते हैं। वैष्णवों को पशु वलिदान से अत्यन्त द्वेष है। किन्तु शाक्तों की इस में अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा है। इस प्रकार जैसे कर्म-काण्ड में बहुविध भेद पाते हैं वैसे ज्ञान में भेद नहीं। सब देश और सर्व धर्मपुस्तकों में ज्ञान समान रूप से वर्णित है। वस्तुयों तथा ईश्वर और जीवों का ज्ञान समानरूप से वर्णित है। इस हेतु कर्म अनित्य और ज्ञान नित्य वस्तु है। हे पुत्रो! कुछ दिन कर्मकरके ज्ञान की ओर आने के लिये प्रयत्न कर। थोड़े ही दिनों में ज्ञान साधन से जो आनन्द प्राप्त होगा वह त्रिलोकी राज्य की भी प्राप्ति से नहीं हो सकता।

प्रियंवदा—श्रीभर्ताजी के उपदेश से मेरे हृदय में ज्ञानकी श्रेष्ठता सर्वथा खचित होगई। इसमें सन्देह मुझे न रहा किन्तु इस के सम्बन्ध में कुछ और भी सुनना चाहती हूं जिस से उत्तरोत्तर इस में दृढ़ता होजाय।

रूपकुमारी—एवमस्तु। इन वक्ष्यमाण बातों पर ध्यान दे। श्रुति कहती है:—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥

धीर ब्राह्मण को उचित है कि उसी को जानकर बुद्धि चढ़ावे अन्यान्य बहुत शब्दों का ध्यान न करे क्योंकि वह केवल वचन का श्रम हेतु है। श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो जन अनन्य अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार के ज्ञान से मत्स्वरूप होकर मुझे चिन्तन करते हुए सब काल में उपासना करते हैं उन नित्याभियुक्त सत्परायण भक्तों के लिये योग (अलब्ध-प्रापण) और क्षेम (लब्धरक्षण) दोनों देता हूं। इन दोनों वचनों से यही सिद्ध होता है कि एकाग्र होकर इस परमात्मा में तत्पर होजाय। पुनः विद्यारण्यस्वामी अपने पञ्चदशी ग्रन्थ में सन्न्यासियों को जिस प्रकार व्यवहार करने के लिये लिखते हैं उन मे से कुछ बातें सुनाती हूं, वे ये हैं:—

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया॥१॥

जो अज्ञ दुःखी जन हैं वे पुत्रादिकों के जञ्जाल मे पड़कर सांसारिक बनें परन्तु मैं जो परमानन्दपूर्ण हूं, वह मैं किस इच्छा से संसारी बनूं। १।

अनुतिष्ठन्तु कर्म्माणि परलोकपिपासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२॥
व्याचक्षतान्ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥३॥

परलोक को प्राप्ति की कामना वाले भले ही कर्म्म करें किन्तु जो मैं सर्वलोकात्मक हूं वह किस उद्देश से क्यो कर कर्म करू ।२। जो अधिकारी हैं वे शास्त्र की व्याख्या करें । अथवा वेदों को पढ़ावें । किन्तु सर्वक्रिया शून्य मेरा अधिकार ही नहो । ४ ।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किम्मे स्यादन्यकल्पनात् ।४।
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्म्मानेवमहं भजे । ५ ।

न निद्रा, न भिक्षा, न स्नान, न शौच मैंचाहता न करता हूं । मुझ मे इतर द्रष्टा इन क्रियाओं को कल्पना करते हैं किन्तु दूसरों की कल्पना से क्या । ४ । दूसरे ढेर में स्थापित अग्नि गुञ्जाराशि को न जलावेगा । इसी प्रकार अन्यारोपितससार धर्मों का अनुसरण मैं नही करता ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥ ६ ॥
विपर्य्यस्तो निदिध्यासेत किं ध्यानमविपर्य्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥७॥

जिन्हें तत्त्व नहीं ज्ञात वे सुनें किन्तु जानता हुआ मैं क्यों सुनूं। सशयापन्न जन मनन करें किन्तु संशय रहित मैं क्यों मनन करू ।६।

भ्रान्तपुरुष निदिध्यासन करें किन्तु भ्रान्तरहित मुझे ध्यान से क्या ! देह और आत्मा में भ्रान्ति मुझे कदापि होती ही नहीं । ७ ।

प्रारब्धकर्म्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्त्तते ।
कर्म्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ।८।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ।९।

प्रारब्ध कर्मके क्षीण होने पर व्यवहार निवृत्त होजाता है किन्तु कर्मों के क्षयन होने पर सहस्र ध्यानसे भी व्यवहार की निवृत्तिनहीं होती ॥ ८ ॥ व्यवहार की क्षीणता के लिये यदि ध्यान इष्ट हो तो वह तुझे हो किन्तु व्यवहारमें बाधा न देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करूं ९।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततोमम ।
विक्षेपोवा समाधिर्वा मनसःस्याद्विकारिणः॥१०॥

नित्यानुभवरूपस्य कोमे वानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।११।

मुझे विक्षेप नही है इसलिये समाधि भी नहीं लगाता । विक्षिप्त विकारी मन में विक्षेप अथवा रोकने के लिये समाधि होती है ।१०॥

मैं स्वयम् नित्य अनुभवस्वरूप हूं । तब मुझ से अनुभव पृथक् कैसे । जो कर्त्तव्य थे वे किये गये जो पाने थे वे पाये यह मुझे निश्चय है ।११।

व्यवहारो लौकिकोवाशास्त्रीयो वाऽन्यथापिवा।
ममाकर्त्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्त्तताम् ॥ १२ ॥

अथवा कृतकृत्योपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्त्तेऽहं का मम क्षतिः ॥१३॥

अकर्त्ता और अलेप मेरे प्रारब्ध कर्म के अनुसार लौकिक अथवा शास्त्रीय अथवा अन्यथा व्यवहार हों । १२ । अथवा कृतकृत्य भी मैं लोकों के अनुग्रह की इच्छा से यदि शास्त्रीय मार्ग से ही कर्म में प्रवृत्त होऊं तो इस से मेरी क्षति ही क्या ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्त्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् १४॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥१५॥

मेरा शरीर देवार्चन, स्नान, शौच, और भिक्षा आदि में प्रवृत्त हो तद्वत् वाणी मन्त्र जपे अथवा वेदान्त पढ़े । मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे यद्वा ब्रह्मानन्द में लीन हो किन्तु साक्षी मैं न कुछ करता न कराता हूं ॥ १५ ॥

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥१६॥
बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात्कथं मृतः ॥१७॥

न अविद्या न उस का कार्य्य मेरा बोध बाधित कर सकता है पहले ही तत्वबोध से वे दोनों बाधित होगये ॥ १६ ॥ यदि अविद्या का कार्य्य कदापि बाधित नहीं होता क्योंकि यह प्रत्यक्ष दीखता है। यदि ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं । क्योंकि जीता चूहा यदि मार्जार को न मारता तो मरा हुआ चूहा मार्जार को कैसे मार सकता है।

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुविद्धाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥१८॥

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्य्यैर्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥१९

जो महादेव के अस्त्र से न मरा वह शल्यरहित बाण से विद्ध होकर मरेगा इस में क्या प्रमाण । १८ । आदि में ही मेरा बोध अपने विचित्र कार्य्यों से संयुक्त माया के साथ घोर संग्राम करके विजय पा चुका है । तब अब इस सुदृढ़ बोध को बाधित कौन करेगा । १६ ।

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्य्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥२०॥
य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२१॥

निज बोध से मारित अविद्या और उस के कार्य्य भले ही बने रहें किन्तु बोध सम्राट् को उन से भय नहीं वरन् उन से कीर्त्ति ही है । २० । जो ब्रह्मज्ञानी ऐसे अति शूरवीर बोध से कदापि वियुक्त नहीं होता । उस की देहस्थित प्रवृत्ति यद्वा निवृत्ति से क्या । २१ ।

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वापवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२२॥

बोधहीन पुरुष को कर्म प्रवृत्ति में आग्रह न्याययुक्त है क्योंकि स्वर्ग अथवा अपवर्ग के लिये पुरुषों को यत्न करना अवश्य चाहिये ।

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२३॥
एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२४॥

कर्मसंगी पुरुषों के मध्य यदि विद्वान् हो तो उन के अनुरोध से काय, मन और वाणी द्वारा निखिल क्रियाएं किया करे ॥२३॥ किन्तु बोधाभिलाषी जनों के मध्य यदि ज्ञानी पुरुष विद्यमान हो तो इनके बोध के लिये सब क्रियाओं को दूषित करता हुआ वह ज्ञानी स्वयं भी क्रियाओं को त्याग दे ।

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्त्तते तत्पिता यतः ।२५।
अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ।२६।

ज्ञानी को अज्ञानी के अनुसार वर्त्तना उचित है क्योंकि बालक के अनुसार ही उस का पिता वर्त्तता है ।२५। बालक अपने मां बाप को अज्ञानवश मारता पीटता है तथापि माता पिता न क्लेश मानते और न क्रुद्ध होते हैं प्रत्युत बालक को लाड प्यार करते हैं ॥२६॥

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किन्तु तेषां स्याद्यथाबोधस्तथाचरेत्।२७
येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्य्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्य्यमस्त्यत्र तद्विदः ।२८।

अज्ञानियों से विद्वान् निन्दित हों । यद्वा स्तूयमान हो । किन्तु वह ज्ञानी न किसी को निन्दा न स्तुति करे प्रत्युत उन अज्ञानियों को जिस से बोध हो वैसा ही करे ।२७। जिस २ आचार विचार से अज्ञानी को बोध हो उसे ही ज्ञानी करे किन्तु अज्ञों के बोध के अतिरिक्त कुछ न करे ।२८।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौनिरन्तरम् ।२९

कर्तव्य कर्म कर चुकी। प्राप्य वस्तु पाई। अतः परितृप्त ज्ञानी जन स्वमनसे इस प्रकार सदा मानते हैं।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥३०॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥३१

मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। क्योंकि मैं अपने आत्मा को सदा जानता हूं। मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं क्योंकि ब्रह्मानन्द मुझे विस्पष्ट भासित होता है। ३०। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। क्योंकि आज सांसारिक दुःख नहीं देखता। मैं धन्य हूं, मैं धन्य हूं क्योंकि मेरा अज्ञान कहीं भाग गया। ३१

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥३२
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः॥३३

मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। अब मेरा कुछ कर्तव्य नहीं। मैं धन्य हूं। मैं धन्यहूं। क्योंकि आज मेरा सब प्राप्तव्य प्राप्त हुआ। ३२। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। लोक में मेरी तृप्तिकी उपमा नहीं। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। धन्य धन्य मैं हूं। पुनः पुनः मैं धन्य हूं।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम्॥३४॥

अहो पुण्य, अहो पुण्य, दृढता से फलित हुआ, फलित हुआ। इस पुण्य सम्पत्ति के भागी हम हुए। धन्य हम। धन्य हम।३४।

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहोगुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् । ३५ ।

अहो शास्त्र, अहो शास्त्र । अहो गुरु, अहो गुरु । अहो ज्ञान अहो ज्ञान । अहो सुख, अहो सुख ।३५।

हे प्रियंवदे ! इस प्रकार अनेक आचार्य्यों ने ज्ञान के कर्तव्यों का वर्णन किया है । इतने उपदेश से तू अवश्य समझ गई होगी कि ज्ञान के अनन्तर पुनः कर्म करने को आवश्यकता नहीं जब तक पूर्ण बोध न हो तब तक ओङ्कारोपासना और "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि ध्यान और समाधि करे किन्तु जीवनमुक्त पुरुष के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं होता । पञ्चदशी से हम ने तुझे जो उपदेश सुनाया है वह जीवन्मुक्त पुरुष के लिये ही है । तू भी उस दशा से अत्यन्त दूरस्था है अतः तेरे लिये यह उपदेश है कि तू अन्यान्य व्यर्थ कर्मों को न कर के आत्मसम्बन्धी श्रवण, मनन और निदिध्यासन सदा कर और दोनों सन्ध्याएं एकान्तमें बैठ "अहं ब्रह्मास्मि" का चिन्तन कर । इस से उत्तरोत्तर ज्ञानोदय होता जायगा । इति संक्षेपतः ।

प्रियंवदा—श्रीमती जी के उपदेशामृत से मैं तृप्त होगई हूं किन्तु पुनः २ श्रीमती के मुखारविन्द से निःसृत वचनों को पान करना चाहती हूं अतःपुनरपि किञ्चिन्मात्र विवक्षुहूं। वह यह है कि श्रीविद्यारण्यस्वामी जी के उपदेश में अनेक सन्देह मुझ को होता है । यदि कर्मों का सर्वथा त्याग हो तो अश्वमेध, राजसूय, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, सर्वमेध, दर्शेष्टि, पूर्णमासेष्टि इत्यादि २ वैदिक कर्म तथा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्य्यन्त गृह्यकर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राज्यव्यवस्था, धर्मव्यवस्था तथा तीर्थ, व्रत, सम्प्रदाय देवार्चनआदि इत्यादि २ सर्वव्यवहार का ही इस संन्यास धर्म से लोप हो जायगा क्योंकि इस में सर्वकर्म परित्याग का ही उपदेश दिया जाता है ।

पुनरपिः—

यदि अन्य सम्प्रदाय के समान यह मत विस्तारित किया जाय तो

मेरी बुद्धिसे थोड़े दिनोंमें ही मानव जाति का इस भूमि पर से प्रलय या लोप हो जायगा। क्योंकि जैसे वैष्णव गृह में बाल्यावस्था से ही लोग मत्स्य मांस भक्षण् का परित्याग कर देते हैं। कण्ठी, तिलक, मुद्रा इत्यादि चिह्न धारण करते हैं। राम कृष्णादि प्रतिमा का पूजन और उन ही देवों के मन्त्र स्तोत्र कथा पुराण व्रत आदि में तत्पर हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य सम्प्रदायी भी अपने सम्प्रदाय के अनुकूल सदाचार करने लगे हैं। वैसे ही परमश्रेष्ठ, परमहितकारी, वेदविहित और सर्वशिष्टानुमोदित और अङ्गीकृत 'इस वेदान्त का प्रचार यदि गृहस्थमे हो तो मनुष्यजातिकी क्या दशा होगी केवल ओङ्कारोपासना अथवा " अहम् ब्रह्मास्मि " का ध्यान ही, वह भी कहीं २ रह जायगा। सर्वत्र ब्रह्मज्ञान के कारण वेदादिशास्त्र का अध्ययन भी बन्द हो जायगा। विवाहादिक लौकिक व्यवहार ही क्योंकर किए जांयगे। भोजनादिक में प्रवृत्ति भी क्यों होगी। लोग, क्या स्त्रियां, क्या पुरुषगण क्या बालकगण सब ही वैराग्ययुक्त होकर लौकिक अथवा वैदिक कर्म त्याग परिव्राट् बन इतस्ततः प्रारब्ध कर्म के अनुसार रहा करेंगे। कौन किस को खिलावेगा। यद्वा कौन खायेगा। कौन कृष्यादि व्यापार करेगा? सब तो ब्रह्मरूप,निष्क्रिय, निरञ्जन हो रहेंगे। इस प्रकार थोड़े काल में मनुष्य जाति इस पृथिवी से उठ जायगी यदि इस वेदान्तधर्मका प्रबलता से प्रचार हुआ। हे मातः! अतः मुझ बालिका मे जो यह महासन्देह उत्पन्न हुआ है कृपया इसका निवारण कर मुझे अधिकारिणी बनावें।

श्रीरूपकुमारी–तेरे इस प्रश्न से मैं बहुत प्रसन्ना हुई हूं निःसन्देह जब तक मन में संशय उत्पन्न होते रहें तब तक अपने आचार्य्य, पुरोहित गुरुआदि से पूछकर उनकी निवृत्ति करता जाय। किन्तु हे पुत्री! यह ब्रह्मोपदेश अतिकठिन, दुर्गम, अविज्ञेयहै अतः इसके लिये ब्रह्मनिष्ठपुरुष के निकट जाकर ही इस का श्रवण करे जैसा श्रुति कहती है।

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

सामग्री सम्पन्न हो परम वैराग्ययुक्त ब्राह्मण उस विज्ञान के लिये ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के निकट पहुंचे। सर्वभाव से कपटादि त्याग, ऋजुभाव ग्रहण कर प्रसन्न चित्त हो शमदमादियुक्त ऐसा शिष्य यदि प्राप्त हो तो वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठगुरु तत्वतः उस ब्रह्म विद्या का उपदेश करे। जिस से उस शिष्य को अक्षर सत्यपुरुष का ज्ञान हो।

एवमस्तु, अब तेरी शङ्काओं का कुछ उत्तर संक्षेप से देती हूं। ध्यान से श्रवण कर। इन का कुछ वर्णन अनुबन्धचतुष्टय में भी हो चुका है। प्रथम तू यह समझ सर्वांश में सब के लिये वेदान्त शास्त्र का उपदेश नहीं है। वेदान्त केवल सन्यासियों के लिये ही उपदिष्ट है। शम दमादि सर्वपुरुष के लिये अभिप्रेत है। प्रथम अधिकारी वह है जो निखिल वेद और उनके अर्थ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ब्राह्मणादि ग्रन्थ और तर्कादि शास्त्रों में परम निपुण हो। इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या इत्यादि २ विद्याओं में कुशल हो। इस से यह सिद्ध हुआ कि विधिवत् उपनीत हो, आचार्य्यकुल में जा वेद से लेकर लौकिक विद्या तक सब का अध्ययन करे इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम की प्रथम रक्षा हुई तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो स्वर्गादि इष्ट साधन ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म्मों को कर अनिष्ट-साधन ब्रह्महननादि निषिद्ध कर्म्मों को न कर और सत्यादिभाषण से अन्तःकरण को पवित्र करने में लगे जिसके न करने से प्रत्यवाय हों ऐसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म, पुत्र जन्मादि के उपलक्ष में अनुष्ठेय जातकर्मादि आदि नैमित्तिक कर्म और पापक्षय मात्र साधन

चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तकर्म इत्यादि २ कर्म्मों का अनुष्ठान गार्हस्थ्याश्रम में करे। तदनन्तर वानप्रस्थाश्रम में चित्तैकाग्रता के लिये ओंकारादि उपासना सूर्य्यादि में ब्रह्मचिन्तन कर के जब बुद्धि शुद्ध हो सकल पाप की निवृत्ति हो तब ब्रह्मजिज्ञासा की ओर आवे। इस से गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम की भी रक्षा कही गई है। इस के पश्चात् जिस किसी को ऐहिक सकल भोग से और पारलौकिक स्वर्गादिफल भोग से भी परमवैराग्य उत्पन्न हुआ हो और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान आदि पूर्णतया उदित हुए हों और इस संसार को अतितुच्छ जन्ममरणादि महादुःख का अनुभव करे और ब्रह्मप्राप्ति की उत्कट इच्छा हो तब वह पुरुष वेदान्त का अधिकारी होगा। क्योंकि श्रुति भी कहती है:-

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय
प्रक्षीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे॥

जिस का चित्त शान्त हो और जितेन्द्रिय हो और भ्रम, विप्रलिप्सादि दोषरहित आज्ञाकारी गुणवान् सर्वदा अनुगत और मोक्ष की इच्छा करने वाला हों ऐसे शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये।

इतने से ही प्रियंवदा! तेरी शङ्का निवृत्त होगई होगी अब तू समझ सकती है कि वेदान्त का अधिकारी कौन, और यह भी समझ गई होगी कि वैष्णवादि सम्प्रदाय के समान यह वेदान्त मार्ग कोई सम्प्रदाय नहीं। इस लिये किसी लौकिक वैदिक कर्म्म का उच्छेद नहीं हो सकता और बाल्यावस्था में अथवा प्रत्येक स्त्री पुरुष की प्रवृत्ति भी इस में कदापि नहीं हो सकती। इस लिये संसार के लोप का चिन्तन मतकर। ऐ पुत्री! यह तो तू समझ

बाल्यावस्था में अथवा मौढ्यावस्था में इस को कोई कदापि भी समझ सकताहै ? जैसे दोचार वर्षीय बालकको लज्जा और विवाहादिक विषय कदापि समझ में नहीं आ सकता। परम सुन्दरी के शृंगार से वह कदापि मोहित नहीं हो सकता। जैसे अल्पवयस्क छात्र कदापि अष्टाध्यायी और रेखागणित आदि का तत्व नहीं जान सकता तद्वत् इस वेदान्त की शिक्षा को भी सब नहीं समझ सकते। जन्म जन्मान्तर में जिसने बहुत से पुण्य सञ्चित किये हैं जिन्हें पुण्यबल से अच्छे गुरु मिलते हैं। योगादि के अभ्यास से और वेदान्त के पुनः २ श्रवण से जिन का अन्तःकरण परमनिर्मेल हो चुका है और ऐहिक और पारलौकिक भोगों को जिन्हों ने अतितुच्छ समझ लिया है उन में से एकाध की इस में प्रवृति होती है।

तू यह तो देख ब्रह्मज्ञान कर्म्मकाण्ड इत्यादि का उपदेश सृष्टि की आदि से ऋषिगण करते आए हैं किन्तु कर्म्म में कितने लोगों का प्रवेश हुआ और ज्ञानमार्ग मे कितनों का ? आज भी पृथिवी पर कितने परमहंस देख पड़ते हैं ? कहना पड़ेगा, अर्ब खर्ब में कोटि २ वर्ष के अभ्यन्तर कभी एक आध ही ब्रह्मज्ञानी आत्मदर्शी हुए हैं। इस लिये जैसे अन्य सम्प्रदाय के उपदेश और सदाचार ग्रहणादि बाल्यावस्था ही से होने लगते हैं। तद्वत इसका उपदेश नहीं हो सकता और जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने २ भिन्न २ चिह्न हैं वैसे संन्यासी के लिये कोई चिह्न नहीं। कण्ठी, तिलक, माला, मुद्रा, सिन्दूर, पञ्चककार, पञ्चमकार इत्यादि २ विविध चिह्न भिन्न २ देवता भिन्न २ उपासना पूजापद्धति आदि हैं तद्वत् वेदान्तमार्ग में नहीं। कण्ठी और तिलक धारण से ही वैष्णव बनजाता परन्तु सन्यासी के लिये अथवा विवेकी पुरुष के लिये यदि कोई चिह्न है तो वह केवल ज्ञानमात्र है, आत्मदर्शनमात्र है। कर्म काण्ड में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु आश्चर्य्य की बात है कि अपने ज्ञान के लिये एक की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। हे पुत्री ! इस लिये चतुर्थाश्रम इस मार्ग के लिये योग्य कहा गया है।

तथापि यदि सद् गुरु के मिलने से प्राक्तन जन्मजन्मान्तर के बल से यदि सन्यासाश्रम के पूर्व ही ज्ञान वैराग्य युक्त हो तो वह पुरुष भी इसका अधिकारी है। यद्यपि तुम लोगों को न उतनी तपस्या और न विद्या और न समाधिप्रभृति साधन हैं। तथापि वारंवार मेरे उपदेशों के श्रवण से और प्राक्तन जन्म के पुण्यबल से इस में प्रवृत्ति हुई है और राजकीय भोगादि में भी तुम्हारी प्रवृत्ति नही देखती किन्तु उन भोगों से उदासीनता और इस ओर उत्कट उत्कण्ठा देख कर ही राजपुत्री पद्मावती प्रभृति को मैं इस का उपदेश करने लगी।

प्रियवदा—श्रीमती के उपदेश से ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतीत हुई। निःसन्देह ज्ञान श्रेष्ठ है मैं भी इस का अनुभव अब करने लगी। किन्तु पुनः शङ्का इस विषय में रह गई है और यह शङ्का वास्तव में श्रीमती के उपदेश से ही उत्पन्न हुई है। वह यह है कि जैसे अन्यान्य कार्य्यों को करते हुए नित्य नैमित्तिक आदि कर्म्म लोक करते हैं। समय नियत कर उस २ समय मे उस २ कर्म्म के करने में बहुत सरलता होती और अभ्यास और परिपाटी भी बन्ध जाती है तद्वत् सांसारिक काम करते हुए भी मनुष्य ब्रह्मज्ञान का भी अभ्यास समय पर करले तो क्या क्षति।

रूपकुमारी—ब्रह्मज्ञान वैसा पदार्थ नहीं जो सब क्रियाओं के साथ किया जाय यह कोई अनुष्ठेय वस्तु नही। जैसे पूजा, पाठ, यज्ञादि नियत हैं वैसा यह नियत वस्तु नहीं। अमावास्या को दर्शेष्टि, पूर्णमासी को पौर्णमासेष्टि, एकादशी को एकादशीव्रत, ग्रहण में गङ्गादि स्नान, आश्विन में दुर्गा पूजा वैशाख में स्नानादिक नानाव्रत इत्यादि २ नियत काल, द्रव्य, स्थान होते हैं। तद्वत् इस ब्रह्मज्ञानके लिये न काल, न मास, न तिथि, न देश, न स्थान इत्यादि नियम है। इस के अतिरिक्त इस में सब से विशेषता यह है कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् उस पुरुष को किसी काम में स्वयम् प्रवृत्ति नही होती। यहां तक कि शरीरधारणार्थ और लोकलज्जानिवृत्यर्थ अशन, वसन में भी ज्ञानी

की प्रवृत्ति नहीं होती । अपने को वे सर्वथा भूल जाते हैं । ठीक बालक सी उनकी अवस्था होती है। जैसे बालक को लज्जा का बोध नहीं होता वस्त्र भी धारण नहीं करता । जगत् की भी कोई चिन्ता नहीं रहती । इस कारण केवल क्रीडातिरिक्त अन्य काम में शिशुगण का प्रवेश नहीं तद्वत् परमहंस होते हैं । बालक से इन मे यह विशेषता होती है कि बालक ऐहिक क्रीडामें युक्त रहता है किन्तु परमहंस ब्रह्मानन्दरूप महासागर में डूबा रहता है इस लिये शौचादिक क्रिया में भी किञ्चिन्मात्र भी परमहंस की प्रवृत्ति नहीं देखती । तब समय नियत कर वह ब्रह्मज्ञान का भी अभ्यास करे यह कैसे हो सकता है।

और भी–किसी युवा वा वृद्ध पुरुष से कहा जाय कि जो २ खेल क्रीड़ा आप शैशवावस्था में किया करते थे उसको अब कीजिये तो वे उत्तर देंगे कि वे खेल उसी समय के लिये थे । अब उन के खेलने में लज्जा और घृणा होगी । इस हेतु हे पुत्री ! इस मार्ग में वही आवे जो प्रथम वेद से लेकर लौकिक सब शास्त्र जानता हो । द्वितीय, निःशेषतया सकल भोगों से उस के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ हो। पुत्र कलत्र राज्य और सांसारिक मान प्रतिष्ठा इत्यादि सबको तिलाञ्जलि दे चुका हो । केवल ब्रह्म जानने की ही अत्युत्कट इच्छा उत्पन्न हुई हो । वही किसी अच्छे गुरु के निकट जाकर ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण करे ।

प्रियंवदा–माता ! तब तो यह मार्ग अति कठिन है । जब भगवन्नामोच्चारण से अथवा अन्यान्य यज्ञ व्रतादि के अनुष्ठान से भी मुक्ति लाभ पुरुष कर सकता है तो इन सहज मार्गों को छोड़ कर वेदान्तविहित मार्ग मे लोक क्यों प्रविष्ट हों ।

रूपकुमारी–तेरा कथन बहुधाश में योग्य है किन्तु आत्मज्ञान बिना मुक्ति नहीं । मार्ग बहुत कहे गये हैं इसमें सन्देह नहीं । किन्तु श्रुति प्रतिपादित जो मार्ग है वही आत्मोद्धार के लिये समर्थ है । परमपुरुषार्थ आत्मा ही है । उसका त्याग कदापि करना उचित नहीं ।

प्रियंवदा-एक इस में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये सबकी चेष्टा है। किन्तु आत्म प्राप्ति की चेष्टा में कोई भो लगा हुआ नहीं है। दूसरी बात यह है कि आत्मा तो प्राप्त है ही फिर उस की प्राप्ति क्या ? । सब के शरीर में आत्मा विद्यमान है वही श्रवण मनन इत्यादि व्यापार करता है। इस के अतिरिक्त यदि कोई वस्तु हो नहीं तो वह स्वतःप्राप्त है। इस के लिये चेष्टा करना सर्वथा निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। तीसरी बात यह है कि यदि मुक्तिमें कुछ विशेषता नहीं है किन्तु वह केवल कैव-ल्य ही है अर्थात् न वहां सुख न दुःख, न विधि न निषेध, न प्रकाश न अन्धकार, न खेल, न क्रिया, न निवृत्ति, न मित्रोंके साथ भाषण, न शत्रुओं से कलह अर्थात् सर्वव्यवहार सर्व क्रिया से शून्य यदि मुक्ति है तो मुझे यह निरर्थक ही प्रतीत होती है। किसी ने ठीक कहा है:-

वरं वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं य इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं मन्तुमर्हति गौतम ॥

हे गौतम ! जो कोई शून्य वृन्दावन में शृगाल भी होने की इच्छा करता है वह अच्छा है किन्तु निर्विषय मोक्ष उस से अच्छा नहीं। माता ! जैसे पुराणादिक में वर्णन आता है कि गो लोकादि में जाकर सेवक सेव्य परमात्मा का सदा दर्शन पाता रहता है और संकीर्त्तन इत्यादि सब सुख भोगता है किन्तु मुक्ति में यदि वह जीव केवल एकाकी ही रहता तो उसको आनन्द ही क्या आता होगा और ऐसे आत्मा की प्राप्ति ही से क्या ?

रूपकुमारी-इसमें सन्देह नहीं कि सकल मनुष्यसमाज सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति की चेष्टा में लगा हुआ है। आत्म-प्राप्ति का यत्न किसी को नहीं। श्रुति यह कहती है.-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
निदिध्यासितव्यः। इत्यादि

इस आत्मा के उपलम्भ के सम्बन्ध में सिद्धान्तमुक्तावलिरचयिता श्रीप्रकाशानन्द यति की सम्मति थोड़ी सी सुनाती हूं। ध्यान से श्रवण कर:-

आत्माय: सर्ववस्तूनां यदर्थं सकलं जगत्।
आनन्दाब्धिः स्वतन्त्रो ऽसावनादेयः कथंवद॥

सर्व वस्तुयें का जो आत्मा है जिस के लिये यह सकल जगत् है। जो आनन्दाब्धि स्वतन्त्र है वह आत्मा अग्राह्य कैसे? कह।

यदन्यद्वस्तु तत्सर्वं यद्भेदे नरशृंगवत्।
सत्ता सर्वपदार्थानामनादेयः कथं वद॥

जो कुछ अन्य वस्तु है वह सब जिस के भेदमें मनुष्यशृंगवत् मिथ्या है जो सर्वपदार्थों की सत्ता है वह आत्मा अग्राह्य कैसे? कह।

यद्वशे प्राणिनः सर्वे ब्रह्माद्याः कृमयस्तथा।
ईशानः सर्ववस्तूनामनादेयः कथं भवेत्॥

जिसके वश में सर्वप्राणी, ब्रह्मादि देव और कृमि हैं और जो सर्ववस्तुयें का ईश्वर है वह अग्राह्य कैसे हो?

यच्चक्षुः सर्वभूतानां मनसो यन्मनो विदुः।
यज्ज्योतिर्ज्योतिषां देवो नोपादेयःकथंविभुः॥

जो सर्व भूतें का नयन है जिसको मन का भी मन जानते हैं। जो ज्योतियें का ज्योति है वह विभुदेव ग्राह्य कैसे नहीं।

मोदप्रमोदपक्षाभ्यामानन्दात्मा तमोगतः।
जीवयत्यखिलान् लोकाननादेयः कथ कुतः॥

जो आत्मा आनन्दस्वरूप है जो मोद और प्रमोदरूपपक्षों से अखिल लोकों को जिला रहा है वह आत्मा अग्राह्य कैसे और क्यों ?

यस्यानन्दसमुद्रस्य लेशमात्रं जगद्गतम् ।
प्रसृतं ब्रह्मलोकादौ सुखाब्धिं कः परित्यजेत्॥

जिस आनन्दसमुद्र का लेशमात्र इस जगत् में प्राप्त है । जो ब्रह्मलोक से लेकर सर्वत्र व्याप्त है उस आनन्दाब्धि को कौन त्यागे ?

हैरण्यगर्भमैश्वर्यं यस्मिन्दृष्टे तृणायते ।
सीमा सर्वपुमार्थानामपुमर्थं कथं भवेत् ॥

जिस के देख लेनेसे हिरण्यगर्भका ऐश्वर्य्य भी तृणवत् होजाताहै जो सर्व पुरुषार्थों की सीमा है । वह अपुरुषार्थ कैसे ?

यत्कामा ब्रह्मचर्यन्त इन्द्राद्याः प्राप्तसम्पदः।
स्वस्वभागं त्यजन्त्येव न पुमर्थः कथं नृणाम्॥

सर्वैश्वर्य्य सम्पन्न इन्द्रादि देवभी जिस की कामना से ब्रह्मचर्य्य करते हुए अपने २ भोग त्याग देते हैं वह आत्मा मनुष्यों का पुरुषार्थ कैसे नहीं ?

यद्दिदृक्षाफलाः सर्वाः वैदिक्यो त्रिविधाः क्रियाः॥
यागाद्या विहितास्तस्मिन्नुपेक्षा वद ते कथम्॥

जिस के दर्शन के लिये ही विविध वैदिक क्रियाएं की जाती हैं यागादि भी जिस के लिये किये जाते हैं । उस में तेरी उपेक्षा कैसे ? कहो ।

यद्दृष्टिमात्रतः सर्वाः कामाद्या दुःखभूमयः ।
विनश्यन्ति क्षणेनासावुपादेयः कथं न ते ॥

जिस की दृष्टिमात्र से कामादिक समस्त दुःख क्षण में विनष्ट हो जाते हैं वह आत्मा तेरा ग्राह्य कैसे नहो ?

आह्लादरूपता यस्य सुषुप्ते सर्वसाक्षिकी ।
तत्रोपेक्षा भवेद्यस्य तदन्यः स्यात्पशुः कथम् ॥

सुषुप्त्यवस्था में जिस की आह्लादरूपता सर्वसाक्षिकी और प्रत्यक्षा हो उस में जिस की उपेक्षा हो वही महापशु है । उस से अन्य पशु कैसे ।

इत्यादि स्वामी प्रकाशानन्द यतिवर के कथन से आत्मा ही उपादेय, पुरुषार्थ और सीमा है । अन्य नहीं । हां लोगों की इस ओर प्रवृत्ति नहीं है इस लिये श्रुति का दोष कुछ नहीं । लोगों की प्रवृत्ति तत्व की ओर नहीं होती । कोटियों में से एकाध पुण्यात्मा पुरुष ही सत्य पहचान सब वस्तुयों को त्याग कर आत्माके साक्षात्कार में संलग्न होता है । लोक जैसा कहे वैसा ही किया जाय इस में प्रमाण कुछ नहीं और लोकबुद्धि से ही वेदातिरिक्त सब ग्रन्थ, शास्त्र पुराणादिक और विविध सम्प्रदाय निःसृत हुए हैं । इस हेतु वे जैसा कहें वैसा ही करना भी चाहिये, यह असंगत है । श्रुत्यनुकूल मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है । लोकानुसार कर्त्तव्य का निषेध स्वयं श्रुति करती है । यथा:—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मोन जानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुमः पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे ॥

वहां चक्षु नहीं जाता, वाणी नहीं जाती, मन भी नहीं, न हम जानते न समझते हैं । जैसे इसका अनुशासन (उपदेश) हो । विदित अथवा अविदित दोनों से वह अन्य ही है । यह हम पूर्वजों से सुनते आए हैं । जो हमको उस की व्याख्या करके सुनाते थे ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जो वचन द्वारा अच्छी तरह से उदित न होता जिसने वचन को उदित किया है उसी को ब्रह्म तू जान । यह ब्रह्म नहीं जिसको उपासना सब कर रहे हैं ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् । तदेव० ।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।तदेव०।
यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदंश्रुतम्।तदेव०।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

मन से जिसका मनन नही होता । जिस ने मन का मनन किया है ऐसा कहते हैं । उसी को ब्रह्म तू जान यह ब्रह्म नहीं । जिस की उपासना सब करते हैं । जिस को नेत्र से नही देखता जिससे नेत्रों को देखता है उसी को० । जिस को श्रोत्र से नही सुनता जिस से यह श्रोत्र सुना जाता है उसी को० । जो प्राण से सांस नहीं लेता किन्तु जो प्राणको सांस देता है उसीको ब्रह्म तू जान । यह ब्रह्म नहीं है । जिस को उपासना सब करते हैं ।

इन मन्त्रों से विस्पष्टतया दिखलाया गया है कि जिस की उपासना पूजा पाठ में लोग लगे हुए हैं और सर्वसाधारण जिस को परमपुरुषार्थ समझते हैं व स्तव में वह ब्रह्म नही है । न वह परमपुरुषार्थ ही है । माता से बढ़कर श्रुति कल्याणकारिणी है और यह जीव बात बातमें अपने उद्देश से विच्युत होजाता है । इसलिये श्रुति भ्रान्त जीव को सन्मार्ग पर लेजाने के लिये वारंवार सदुपदेश देती रहती है । इस हेतु सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये भी चेष्टा करते हुए मनुष्य अपने उद्देश को प्राप्त नहीं होते । अतः श्रुति के उपदेश के अनुसार चलना ही उचित है ।

अब जो तेरा प्रश्न "प्राप्त आत्मा की प्राप्ति क्या ?" यह है इसका संक्षेप से उत्तर यह है । आत्मा यद्यपि सदा प्राप्त ही है तथापि यह अपने को भूले हुए है । इसलिये इसकी प्राप्ति की चेष्टा भूयोभूयः की जाती है । इस के सम्बन्ध मे अनेक बातें पूर्व में कह आई हूं । पिष्टपेषण करना व्यर्थ है । तथापि प्रसिद्ध उदाहरण बतला कर आगे

चलूंगी। किसी पुरुषका कङ्कण यद्यपि हाथमें ही था तथापि उसेऐसा भ्रम होगया कि मेरा कङ्कण कहीं गिरगया। इस लिये वह व्याकुल होकर कङ्कण ताकता फिरता था। किसी आप्त पुरुष ने उसे कहा कि तू कैसा मूढ़ है तेरे हाथ में ही यह कङ्कण है देख तू व्यर्थ क्यों व्याकुल होता। वह भ्रान्त कङ्कण देख अति प्रसन्न हुआ। यहां प्राप्त कङ्कण की ही प्राप्ति है परन्तु विस्मरण के कारण पुनः उसकी प्राप्ति कही जाती है।

हे पुत्री! आत्मसम्बन्ध में प्रायः सबही भ्रान्त हैं क्योंकि कपिल ऐसे तत्वज्ञानी आत्मा को विभु मानते हुए भी बहुविध मानते हैं अर्थात् आत्मा अनन्त हैं। कणाद भी आत्मा का अनन्तत्व ही स्वीकार करते हैं। चार्वाक आदि इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इस अवस्था में कहना पड़ता है कि आत्मविमुख यह सम्पूर्ण जगत् है। श्रुति ही इस को यथार्थरूप से बतलाती है इस कारण वारवार इस का मनन, श्रवण और निदिध्यासन करते रहना चाहिये। अब जो तेरा प्रश्न मुक्ति के निर्विषयत्व सम्बन्ध में है वहां केवल इतना ही वक्तव्य है कि श्रुति को छोड़ अन्य कल्पनाएं मानना ही अनर्थ का बीज है, क्योंकि ईश्वर एक है वही प्राप्य है इसमें तो किञ्चिन्मात्र भी किसी आस्तिक को सन्देह नहीं। तब प्रथम तीन ब्रह्मा विष्णु महेश मानना ही व्यर्थ है। क्या एक ही ईश्वर में कर्तृत्व पातृत्व संहर्तृत्व तीनों सामर्थ्य नहीं हैं जो तीन ईश्वर तीन सामर्थ्यों से युक्त माने जायं। कहीं भी श्रुति त्रैतवादिनी है? नहीं, किन्तु श्रुति विरुद्ध पुराणादिक सर्वशास्त्र त्रिदेवताप्रधानतापरक हैं। ये सब कल्पित होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं। समय २ पर किसी कारणवश उस २ समय के आचार्य वैसी २ रोचक बातें बना लिया करते हैं। तदनुसार ही ब्रह्मा विष्णु महेश भी बना लिये गए। अतः गोलोक, कैलाश और इन्द्रपुरी केवल रोचकमात्र हैं। इसी प्रकार अन्यान्य सहस्रशः सम्प्रदाय भी वेदविरुद्ध चल पड़े। यह भी हेय हैं।

हे पुत्री! यह तो विचार यदि मुक्ति भी सविषय हो अर्थात् उस

अवस्था में उत्तमोत्तम खान पान, सम्भोग, नृत्य गानादि-इत्यादि लौकिकवत् ही हों तो वे लोकवत् ही विनश्वर भी होंगे। तब इसके लिये क्लेश कर तपस्या प्रभृति का प्रयोजन ही क्या। पामरातिपामर पृथिवीस्थ सहस्रशः पुरुषों को वैसा सुख यहां ही प्राप्त है और भी जहां शरीर और पार्थिव अथवा भौतिक वस्तु की सत्ता होगी वे अवश्य ही क्षणिक होंगे। तब इसके लिये चेष्टा करना सर्वथा मूर्खता है। पशुप्राय अतिमूढ़जनों के लिये वैसा उपदेश किया गया है कि इस प्रकार भी वे कुछ सदनुष्ठान की ओर आवें असत्य की ओर से सत्य की ओर मुख फेरें।

मुक्तिकी अवस्थामें केवल आनन्दही आनन्द रहताहै, इसको सब नहीं समझ सकते हैं। केवल समाहित योगिगण ही समाध्यवस्था में अनुभव करते हैं। जगत् में इस की कोई उपमा नहीं जिस के द्वारा यह समझाया जाय। जिस ने कभी मधुरता का स्वाद नहीं जाना है उस को सहस्रों व्याख्यानों से भी सहस्र पण्डित मिलकर भी माधुर्य्य का बोध नहीं समझा सकते। किन्तु मधुर आम्रादि भोजन कर लेने से तत्काल ही स्वयं उसको मधुरता का ज्ञान झट से होजायगा। इस हेतु श्रुति कहती हैः-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूंस्वाम्॥

यह आत्मा व्याख्यानों से लभ्य नहीं होता न मेधा से न बहुधा श्रवण से ही प्राप्त होता है। जिस के ऊपर अथवा जिस को वह स्वयं कृपा से चुनता है उसी से यह आत्मा लभ्य होता है उसीको यह आत्मा अपनी तनु दिखलाता है। पुनः-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

दुश्चरितों से अविरत पुरुष उस को पा नहीं सकते। न अशांत और न असमाहित ही पुरुष उस को पा सकते हैं जिस का मन अशान्त है उस से वह आत्मा अत्यन्त दूर है उसको केवल ज्ञान से ही प्राप्त कर सकता है। पुनः—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारञ्चाधिगच्छति॥

जो अविज्ञानवान् है और जो अमनस्क सदा अशुचि है वह उस पद को पा नहीं सकता। वह पुनः २ जन्म मरणरूप ससारमें उगता और डूबता रहता है। किन्तुः—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥

जो विज्ञानवान् समनस्क और सदा शुचि है वह उस पद को पाता है जिस को पाकर पुनः कदापि जन्म मरण प्रवाहरूप सागर में वह जन्म नहीं लेता। हे पुत्री! पुनः आगे ध्यान से श्रवण कर।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

यद्यपि सब भूतों में गूढरूप से यह आत्मा प्रकाशमान हो रहा है तथापि इस को सब नहीं देखते किन्तु जिन की बुद्धि श्रेष्ठ और सूक्ष्म है वे ही सूक्ष्मदर्शी उस को देखते हैं। हे पुत्री! इस कारण संसारलोलुप विषयी लम्पट पुरुष को वृन्दावन की गोपीक्रीड़ा ही अच्छी लगेगी। वह निर्विषय मुक्ति उन्हें रुचिकर न होगी। यह तो देख जो आनन्दसागर है जिस आनन्द की एक मात्रा से यह त्रिभुवन आनन्दित हो रहा है उसको निर्विषय कहना बनता नहीं। उसे पाकर कुछ अवशिष्ट रहता ही नहीं जिस की पुनः कामना हो। इति संक्षेपतः।

प्राप्य वस्तु केवल आत्मा ही है उसी की प्राप्ति के लिये सर्व-साधन सर्ववेद सबउपनिषद् और सब पुराणादिकहैं। विवेक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो सब ही ग्रन्थ उसी ईश्वर की उपलब्धि के लिये प्रवृत्त हुए हैं भेद इतना ही है कि उस ब्रह्म को नाना प्रकारसे मानते हैं और अपनी २ बुद्धि के अनुसार उस में गुणों का आरोप करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषा, भगवती, दुर्गा, काली, बुद्ध, जिन, ऋषभदेव, राम, कृष्ण, मत्स्य वराह आदि इत्यादि २ नाम रख कर उसी को स्रष्टा, पाता संहर्त्ता मान अपनी २ मति के अनुसार नाना साधन पूजापाठ इतिहास, पुराण इत्यादि ५ बनाकर उसी की उपलब्धि के लिये अनुष्ठानकरते और उपदेश देते हैं। विचार दृष्टि से जब मैं देखती हूं तो कहना पड़ता है कि सर्वांश में उस आत्मासे कोई विमुख नहीं। सब उसी ओर दौड़ना चाहते हैं कोई साक्षात् और कोई परम्परा से उसको पकड़ना चाहते हैं। कोई उस के सृष्ट सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी, अप, तेज, नदी, समुद्र, पर्वत, वट, तुलसी इत्यादि २ वस्तुओं की भी पूजा उस की उपलब्धि का साधन समझते हैं। ये व्याकुल मनुष्यजीव उसी को ढूंढ़नेके लिये इतस्ततः मारे २फिरते हैं और आश्चर्य्य यह है कि जिसी किसी मनोरथमात्र कल्पित वस्तु को पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं जो कोई जगन्नाथ द्वारिका रामेश्वर और बदरिकाश्रम से हो आतेहैं वे कितने ही मूढ अज्ञानी हो आत्मा से उन्हें कुछ भी परिचय न हुआ हो तथापि वे अपने को परमपवित्र आत्मदर्शी इतर लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ साधु,सन्त मानने लगते हैं वे अपने को क्या नहीं मानते हैं यह कहना कठिन है। उस की माया ऐसी प्रबला है कि यदि शिष्यगणो से अथवा मोहित इतर जनोंसे वे ईश्वर नाम करके पुकारे जायं तो बड़े प्रसन्न होकर इस पद को अङ्गीकार करलेंगे। कहां तक मैं वर्णन करूं, एक निर्बुद्धि यदि सदा तिलक लगाया करता है वह उतने ही से कृतकृत्य समझता है। कोई बड़े ज़ोर से रामादि नाम उच्चारण

करता हुआ अपने को धन्य मानता है इत्यादि बहुतसी मानवबुद्धिकी विलक्षणताए तू देखती है किन्तु इतनीहीमे यदि कृतकृत्यता, आत्म धन्यता, परमपुरुषार्थ सिद्धि और मानवजन्म की सफलता होती तो अच्छे २ सत्पुरुष इतने परिश्रम ही क्यो करते। इस से सिद्ध है कि आत्मप्राप्ति के लिये ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। वह ज्ञान निःसन्देह प्रयत्न साध्य है। इस हेतु वेदान्तके प्रचार से अखिलविद्याओं से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्या के विस्तार की सम्भावना है न कि सब वस्तुयों के लोप की आशङ्का।

इति श्री रूपकुमारी-विरचिते
वेदान्तपुष्पाञ्जलौ प्राप्यविवेक
गुच्छः समाप्तः।

धर्म्मादित्रयव्यवस्था

प्रियंवदा—यदि वेदान्त ही सत्य हो तो वे पुराणादिक व्यर्थ हो जांय।

रूपकुमारी—इस विषय को कपिलमत निराकरण और कणाद मत निराकरण इत्यादि प्रकरणों में दिखला आई हूं। पुनः आगे इस का कुछ निरूपण करूंगी। संक्षेप से यहां तू यह जान कि जीव की गति अति विचित्र है रुचि भी नाना हैं और मैं कतिधा कह भी चुकी हूं कि अल्पज्ञ जीवों के बनाए हुए प्रायः सब ग्रन्थ हैं किन्तु श्रुतियां परमात्मा से आविर्भूत हुई हैं। यह सर्व आस्तिकों की सम्मति है इस हेतु श्रुतियां नित्य और सर्वदोष रहित मानी जाती हैं। अतएव श्रुत्यनुसार विवेक करना सर्वथा उचित है। वेदव्यास श्री शङ्कराचार्य्य प्रभृति इसी विषय को लक्ष्य में रखकर अपने सिद्धांत को स्थापित करते आए हैं और अन्यान्य मतों की समालोचना और समीक्षा करके निःसारता दिखलाई है। एवमस्तु। तुझे पुनः जो शङ्का हो सो कर। जहां तक होगा मैं उस को दूर करने के लिये प्रयत्न करूंगी।

प्रियंवदा—आपके वचनामृत से मैं आप्लावित हो रही हूं। किन्तु सन्देह भी बहुत हैं उनकी निवृत्ति भी यदि न करूं तो सन्दिग्धावस्था में रह कर अमृतभागिनी न होऊंगी। अतः मेरे वक्ष्यमाण सन्देहों को कृपया श्रीमती जी अवश्य दूर करेंगी, वे ये हैं:—

शङ्का—कार्य्यसहित अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति ही वेदान्त का प्रयोजन है क्योंकि यह व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत् अज्ञानकृत है अथवा सर्वथा मिथ्या है इस की निवृत्ति हो और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि हो अथवा कार्य्यसहित दुःखों के अत्यन्ताभाव से और अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति करने से ही वेदान्तशास्त्र की अर्थवत्ता होती है और यह भी कहा जाता है कि वेदान्त नाम उपनिषदों का है वे भगवद्वाक्य और

प्रपञ्चवत् अनादि भी और मिथ्या भी हैं अर्थात् मानवसृष्टि की आदि से ही इन ग्रन्थों की भी विद्यमानता और अध्ययन अध्यापन चले आते हैं। इन उपनिषदों के तत्वों को लेकर वेदान्त के शतशः सहस्रशः ग्रन्थ भी बन गए हैं। इन के पठन पाठन और तदनुसार उपदेश, विशाल २ मन्दिर और गद्दियां आदि भी सर्वत्र लगी हुई हैं परन्तु मैं पूछती हूं कि अब तक न अज्ञान वा दुःखों की निवृत्ति हुई और न परमानन्द की प्राप्ति ही हुई। किसी को परमानन्द की प्राप्ति तो सहस्रशः कोश दूर रहे किन्तु लौकिक सुख भी शारीरिक (देही, आत्मा) को न मिला। आदि काल से ही दुःखों और अज्ञानों की राशि की राशि चली आती हैं। मैं नम्रभाव से जिज्ञासा करती हूं कि अब तक कितने "शारीरिक" परमानन्दस्वरूप हुए। यदि दुःखादिकों की निवृत्ति की कथा केवल आडम्बर और अर्थवाद और प्ररोचन ही है तो इस का आरम्भ करना निष्प्रयोजन है।

पुनः-जब वैदिक, पौराणिक, स्मार्त, तान्त्रिक सम्प्रदाय और बौद्ध, जैन, पारसी, क्रिस्तानी और मुसलमानी धर्म्म आदिकों के अगण्य असंख्य ग्रन्थ रहने पर भी मानवसन्तानों की अतिशोचनीय दुर्दशा देखती हैं। तब श्रीमती के वेदान्त से यह जगत् पण्डितजन दुःखशून्य और ज्ञानानन्दमय हो जायगा यह केवल मनोरथमात्र अथवा बालोन्मत्त की क्रीडा है। मैं देख रही हूं कि यह पृथिवी मन्दिरों और धार्म्मिक क्षेत्रों से भरी हुई है। कहीं पौराणिक बड़े ठाट बाट से उपदेश और कथा बांचते हैं। कहीं मुहम्मदीय मुसलमान भाई सहस्रशः इकट्ठे होकर बड़ी गम्भीरता से नमाज़ पढ़ रहे हैं। कहीं क्रिस्तान महाशय अपने सुन्दर और आकाश में अभिमान प्रकट करते हुए विशाल मन्दिरों में बेञ्चों पर सुखपूर्वक बैठ ईश्वर की प्रार्थना कररहे हैं। इसी प्रकार बौद्धादि भी अपने २ धर्म्मानुसार पूजापाठ में आसक्त हैं। तथापि जगत् में दुःखों और अज्ञानो के समुद्र लहरें मार रहे हैं। परितः नानाक्लेशों से पीड़ित मनुष्यसतियां आर्तनाद से कर्णविदीर्ण कर रही हैं। दूसरी ओर इसी द्वार

की निवृत्ति और ज्ञान अथवा आनन्द की प्राप्ति के हेतु ही राज्य की ओर से कैसी सुव्यवस्था की गई है। समस्तदेशमें छोटी और बड़ी सहस्रशः पाठशालाएं स्थापित हुई हैं। पार्लियामेण्ट और हाईकोर्ट आदि विविध न्यायालय अपने २ कार्य्य में तत्पर हैं। बड़े लाट महोदय से लेकर ग्रामीण चौकीदार तक राजकीय पुरुष उत्तमोत्तम प्रबन्ध में तन्मय हो रहे हैं। तथापि क्लेशों की सीमा नहीं। भूखों आदमी मर रहे हैं। अज्ञानदलदल में डूबते चले जाते हैं। कहीं किन्हीं उपायों से भी मैं मानवसन्तानों का उद्धार नहीं देखती। कोई मक्का मदीने की ओर दौड़ रहे हैं। कितने जेरुसलम को ही ईश्वर का भवन समझ वहां शिर फोड़ते हैं। दूसरे सर्प से लेकर सूर्य्यतक कोई पदार्थ ही नहीं जिनकी पूजापाठ न करते हों। इस प्रकार सब सम्प्रदायी महामोह का ही परिचय दे रहे हैं। इस अवस्था में मर्त्यजीवों के कल्याण की कौन सी अनुत्तम पद्धति निकाल वेदान्ती यशोभागी होने की आकांक्षा रखते हैं। अगस्त्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ, मूसा, ईसा, मुहम्मद, जौरो आएर, बुद्ध, जिन, ऋषभ, महावीर, कबीर नानक, दादू, राममोहन, केशव, दयानन्द एवम् आचार्य्यशङ्कर, रामानुज, वल्लभ आदिकों के उपदेशों से क्या फल फला जो अब वेदान्ती कोई नवीन बीज बोना चाहते हैं?

पुनः वेदान्त समान महामिथ्या शास्त्र का बीज फैला प्रत्युत वेदान्ती अमङ्गल भागी होंगे क्योंकि "मैं ब्रह्म हूं। तू ब्रह्म है। ये जीव ब्रह्म हैं। यह सृष्टि मरीचिकावत् और रज्जुसर्पवत् सर्वथा मिथ्या है अर्थात् न सृष्टि है न हुई न होगी" इत्यादि महा २ गप्पों से यह शास्त्र परिपूर्ण है। प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थों का उपदेश करना केवल पागलों का कार्य्य है। वेदान्त भी यदि शास्त्र कहावें तो बालोन्मत्तों का प्रत्येक वाक्य ही महावाक्य होवे और सम्प्रति नव २ शास्त्रों के अद्भुत आविष्कार ने प्राचीन बातों का मिथ्यात्व दिखला अपना सिक्का जब जमालिया है। तब पुरानी लीक पीटते हुए वेदान्ती विद्वानों में हास्यास्पद होंगे?

रूपकुमारी–तेरे प्रश्नों में मुख्य पांच अंश हैं, वे ये हैं। १–अनेक सम्प्रदायों की विद्यमानता से जब अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति न हुई तो वेदान्तसे होगी, यहकथाहीक्या? २–प्रकाण्ड और नाना शाखावलम्बी राज्यके अत्युत्तम प्रबन्धों से भी दुःखकी निवृत्ति नहीं देखती तब वेदान्त से यह कार्य्य सिद्ध होगा–यह कैसे आशा हो सकती है? ३–पृथिवी पर के सहस्रशः शिक्षा–विभाग भी अपनी सारी शक्ति लगाकर जब दुःखध्वंस करने से हार मानते हैं। तब वेदान्त का यह उद्योग दुःसाहस है। ४–प्रत्यक्षविरुद्धवस्तुयों का शासन करने वाला वेदान्त है। अतः यह हेय होना चाहिये न कि उपादेय? ५–पञ्चम अंश यह है कि वेदान्त के भी शतशः ग्रन्थ जब वर्तमान ही हैं तब आप क्यों नूतन उद्योग कर रहे हैं? मैं इन पांचों अंशों पर अतिसंक्षेप विचार प्रकट करूंगी। इस को अपनी बुद्धि से अधिक बढ़ाले। प्रथम तू यह विचार कि यदि धर्म, राज्य और शिक्षा-विभाग के निरन्तर परिश्रम उद्योग और सुप्रबन्ध से मानवक्लेशों की निवृत्ति न हुई तो उनका निज उद्देश सिद्ध न हुआ। अतः वे व्यर्थ हैं अथवा इन में कोई महती त्रुटि है। जिस से कार्य्यसिद्धि में बाधा आपड़ती है यह अवश्य कहना पड़ेगा। इस के प्रथम जिस अन्तः-करण द्वारा हम धर्माधर्म सत्यासत्यादि का निर्णय करती हैं। वह कैसे बनता है और धर्म्म का वर्त्तमानकालिकस्वरूप क्या है? इत्यादि बातें जानकर तब निर्णय करने में प्रविष्ट होना चाहिये। वे दो चार बातें ये हैं।

१–अन्तःकरण का परिस्थितिके अनुसार बनना

जिस कुल, परिवार, ग्राम, देश और धर्म व सम्प्रदाय में मनुष्य का जन्म होता है जैसा जातीय साहित्य प्रथा आचार विचार आदि रहता है। तद्रूप ही उस का अन्तःकरण बनता चला जाता है। उसी को परम-सत्य मान उसी में निमग्न रहता है। किन्तु यह महा-पुरुष का लक्षण नहीं। आप देखें कि जिसका जन्म वैष्णव गृह में है वह बाल्य से ही माता, पिता आदिकों का अनुकरण करता हुआ

विष्णु के नामों को परम पवित्र समझ जपने पूजने गाने और बजाने मे लग जायगा। उसे मांसभक्षण से घृणा, हिंसा से क्लेश, तुलसी माला में आदर, चन्दन लगाने में श्रद्धा आदि क्रियाएं होने लगेंगी। शाक्त और शैव शिशुजन शैशवावस्था से ही मांसरुचि, पशुबलिदा-नासक्त मदिरास्नेही और दुर्गा शिवादिक का पूजन करने लगेगा। इसी प्रकार मुहम्मदीय अर्भक कुरान को ही परममान्य समझ गो-हिंसा से निवृत्त रहने का कदापि स्वप्न भी न देखेगा। शूकर नाम से भी तोबा करेगा और मुहम्मदी ही उस की शरण होंगे। ईसाम-सीह बालक ज्ञानारम्भ काल से ही ईसाका भक्त,बाइबिल का पाठक और हिन्दू के समान कदापि भी जातिपांति के बखेड़े को सत्य न समझेगा। स्पर्शदोष का ज्ञान भी उसे न होगा। मुसलमान और क्रिस्तान विष्णुप्रतिमादिकों को तोड़ने फोड़ने में किञ्चिन्मात्र भी आतङ्क न करेगा। हिन्दू मन्दिरों को गिराना उस का धर्म होगा। विस्तार से मैं क्या लिखूं। मनुष्यों का अन्तःकरण अपनी परिस्थिति के अनुकूल तैयार होजाताहै। तदनुसारही समस्त संस्कारों से वे ऐसे शृङ्खलित और पाशबद्ध होजाते हैं कि अपनी परिधि के आगे उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। रागद्वेष पक्षपात आदि समस्त दुर्गुण इस में आजाते हैं यह ज्ञान का प्रथम और महाशत्रु है।

(२) जिज्ञासा की निवृत्ति

हम प्रतिदिन देखती हैं कि शिशुयों में कितनी जिज्ञासा होती है। सूतिकाभवन में शय्या पर से परितःस्थित पदार्थों को आंख फाड़ फाड़कर वह देखता रहता है। ज्योंही वह बोलने लगता है त्योंही प्रत्येक नूतन वस्तु को देखकर पूछने लगता है कि यह क्या है, यह क्या है? कभी आप छोटे बालक को लेकर बाहर निकलें तो मालूम होगा कि वह प्रश्नों से कितना नाकों दम कर देता है। प्रत्येक पदार्थ को देख कर अवश्य पूछेगा कि यह क्या है? भाई! यह क्या है? इस से सिद्ध है कि मनुष्यजाति में जानने की उत्कट आकांक्षा अनुगत और स्वाभाविक है। किन्तु बड़े होने पर मनुष्य की वह

जिज्ञासा नाना शाखावलम्बिनी हो जाती है। वन्य मानवजाति में वह अतिपरिमित सी रहती है। शरीरयात्रार्थ जितने नामों की आवश्यकता होती है उतनेही के परिचय तक वह स्थित रहती है। वे वन्य नाममात्र के परिचायक होते हैं गुणों के नहीं। बहुत सी मानव जातियां इतनी मूर्खा हैं कि संकेतमात्र से ही व्यवहार करती हैं। पदार्थों के नाम भी उन में नहीं। सभ्यसमाज में उस जिज्ञासा की अत्यन्त दुर्दशा होती है। बालकों को शिक्षा मिलने लगती है। पाठशालाओं में वे पढ़ाए जाने लगते हैं। जिसका जैसा साहित्य रहता है वहां तक उसकी वह जिज्ञासा चलती है। आगे बढ़ने नहीं पाती, रोकी जाती है। यदि उसका धर्म पुस्तक कहता है कि पृथिवी अचला और असीम है। इसके धारण करने वाले दिग्गज, कूर्म, नाग, वराह आदिक हैं। पुनः चन्द्रसूर्य्य को राहु दुःख देता है। यह गङ्गा साक्षात् विष्णु के पद से निकल सगर सन्तानों को तारने के हेतु पृथिवी पर आई है। वह यह जिज्ञासा नहीं कर सकता है कि शरीर धारी कूर्म आदि किस पर खड़े हैं और वे कूर्मादिक कितने बड़े हैं। जो इस पृथिवी को पकड़े खड़े हैं। इस भू के समान ही चन्द्र और सूर्य्यादिक आकाशस्थ ग्रह हैं तो उनको धर रखने वाले भी कोई होंगे। एतादृश प्रश्न करने वाले रोकदिए जायगे। न मानेंगे तो वे नास्तिक समझे जायंगे। सर्वनदियों के समान ही गङ्गा को भी किसी पर्वत से निकली समझने वाले जाति से बहिष्कृत कर दिए जायंगे। इसी प्रकार कुरान के विरुद्ध एक अक्षर भी मुसलमान सन्तान बोलने पर काफिर माने जायंगे। बायबिल के निराकर्त्ता साक्षात् अग्निसात् किएजायगे। जीते गाड़े जायंगे। इस हेतु अर्ध सभ्यसमाज में बुद्धि, तर्क, युक्ति, विद्या आदि की उन्नति नहीं होने पाती। सभ्यजातियों मे इन बायबिल, कुरान, पुराण आदिकों के कारण बहुत से विद्वान् सताए और मारे गए। मूर्खजनों के निकट उनकी बुरीदशा की गई है।

विद्यादि विनाश

इसका परिणाम भयङ्कर होता है अन्ध परंपरा चल पड़ती है। अन्धगोलाङ्गुलन्याय का सर्वत्र प्रसार होता है। लोगों की बुद्धि कुण्ठित और वे तर्कादि हीन क्षीण होकर पशुवत् हो जाते हैं। जहां के लोग पुरानी प्रथा से अणुमात्र भी हट कर नहीं चल सकते वहां उन्नति सर्वथा रुक जाती है। भारतवर्ष इसका महानिदर्शन है। यहां किसी विद्या की उन्नति न हो सकी। इस का मुख्यकारण धर्मान्धता ही है। बौद्ध समय में लोग कुछ स्वतन्त्र हुए तो उस समय मे शास्त्र साहित्य आदि बने। सम्पूर्ण पुराण, संस्कृत शिशुपाल आदि काव्य नाटक षट् शास्त्र, वैद्यक, पाणिनिव्याकरण और भास्कराचार्य्य शङ्कराचार्य्य आदि बुद्धमहाराज के प्रभाविक ही हैं। यद्यपि धर्मपरतन्त्रता की अवस्था में मनुष्य केवल विश्वासी और सत्तर्क शून्य होजाते हैं। तथापि उसमें जिज्ञासा अवश्य होती है। किन्तु मिथ्या वार्तों, कल्पनाओं और विविधकथाओं से वह पूर्ण कर दी जाती है। सामयिक चतुर पुरुष उसको आगे बढ़ने नहीं देते इस के दो चार उदाहरण ये हैं।

प्रश्न-श्रीमन् पौराणिक सूतमहाराज! यह ग्रहण कैसे होता है? उत्तर-एकराहु नाम का दैत्य शत्रुता से सूर्य्य और चन्द्रको निगलना चाहता है पुनः देवगणों की प्रार्थना से वह हटजाता है। इस प्रकार वह सदा इन दोनों को महाक्लेश पहुंचाता है। इसी का नाम ग्रहण है। सत्यमहाराज।

प्रश्न-कहीं २ पृथिवीसे पानी गरम क्यों निकलता है?

उत्तर-कहीं तो पाताल में महादेव की धूनी लगी है उसी से जलगरम होजाता है। कहीं सीताके स्नान से पानी गरम होगया है और कहीं काली देवी बैठी है जहां से ज्वाला निकलती है। इसीसे जल गरम है। सत्यवचन महाराज।

प्रश्न-चन्द्र क्यों कर बढ़ता और घटता है?

उत्तर–यह शशी अमृतमय है। क्रम से एक पक्ष में देवगण और द्वितीय पक्ष में पितृगण उस सुधा का पान करते रहते हैं। इसी से यह घटता बढ़ता है। सत्यवचन महाराज।

प्रश्न–समुद्र का जल क्यों कर क्षार और लवणमय होता है?

उत्तर–समुद्रों को किसी कारण अगस्त्यजी ने शोष लिया था पीछे प्रार्थित होने पर मूत्रेन्द्रिय द्वारा उन का त्याग किया। अतः उसका नीर क्षार होगया। सत्यवचन महाराज। इस प्रकार इस जाति का विद्याविषय प्रथम सर्वथा विध्वस्त हो जाता है और लोग मूर्ख और तर्कहीन होने लगते हैं।

सदाचार विनाश

विद्याके नाश और अविद्या के विस्तारसे उस जाति का सदाचार भी भ्रष्ट होने लगता है और उदाहरण देनेके लिये स्वपूज्यदेव और पूर्वज आदि भी वैसे ही बनालिये जाते हैं। जब आर्य्यगण सदाचार से पतित होने लगे तब अपने २ आचारों को प्रामाणिक सिद्ध करने के हेतु क्या २ इन में लीलाएं रची गईं उन के कुछ उदाहरण ये हैं। प्रथम परमदेव दूषित किए गए। यथा–जलन्धर की पत्नी वृन्दा के ऊपर विष्णुभगवान् मोहित हुए। महादेव ऋषियों की सहस्रशः कन्याओं के दूषक कहे जाते हैं। सृष्टिविधाता ब्रह्मा निज दुहिता के पीछे दौड़े। इन्द्र अहल्या के जार बने। चन्द्र गुरुपत्नीगामी हुए। कृष्ण षोडश सहस्र स्त्रियों के विहारी थे। इस प्रकार प्रधान देवताओं के ऊपर लांछन लगाये गए। पश्चात् ऋषि, मुनि और राजा महाराज भी वैसे ही बना लिये गए। यथा–कोई बड़े ऋषि या राजा अपनी माता और पिता से उत्पन्न न हुए। ऋषि अगस्त्य और वसिष्ठ मित्रावरुण के द्वारा उर्वशी से और घट से, मृग के शृङ्ग से ऋष्यशृङ्ग, वल्मीक से वाल्मीकि, हाथ से पतञ्जलि, शुकी से शुकाचार्य्य, सूर्य्य से सूर्य्यवंशी राजा, चन्द्र से चन्द्रवंशी। इसी प्रकार सर्प, वृक्ष समुद्र, नदी आदि से भारतवर्षीय महात्मागण उत्पन्न हुए हैं।

वेदव्यासके पिता पराशर एक कैवर्त की कन्यासे जा फंसे। विश्वामित्र उर्वशी के प्रणयी हुए। दुर्वासा ऋषि महाक्रोधी नारद झगड़ा लगाने वाले। इत्यादि।

अन्धपरम्परा का प्रसार

इसका फल यह होता है कि उस जातिकी जैसी बुद्धि और सदाचार, आहार, विहार होते हैं। तदनुसार ही देवता और पूर्वज घड़ लिये जाते हैं। उस समय में समझदार कुछ होते भी हैं तो वे मूर्खों से डरकर मौनसाध बैठ रहते हैं। देवताओं और साहित्यों की परीक्षा से ही उस जाति के आचरणों का पता लग सकता है। यहां मैथिल और बंगवासी मत्स्याहारी हैं। अतः इनके देवता काली दुर्गा, महादेव, भैरव भैरवी प्रभृति भी वैसे ही हैं। महाराष्ट्री राजस्थानी वैश्य और ब्राह्मण निरामिष होते हैं। अतः इनके देव विष्णु भगवान् सदा मांस से निवृत्त रहते हैं। यहांकी कुछ जातियां शूकर खाती हैं उनका देव भी वराहरकपिपासु होता है। उन देवोंके गुण, पूजा, पाठ, गान आदिक भी उपासक के सदृश होते हैं। जिस हेतु स्त्री सभा, समाज, नृत्य, गान, नाटक, विवाद, उत्सव, वाहन, अस्त्र, शस्त्र, समर, न्याय, अन्याय आदि सामग्री के बिना मनुष्य का निर्वाह होना कठिन है। अतः अपनी प्रकृति के अनुसार ही मनुष्य ने अपने देवों को भी उन सम्पत्तियोंसे भूषित किया है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी, अस्त्र चक्र, वाहन गरुड़, निवासस्थान वैकुण्ठ अथवा क्षीरसागर, मधु, हिरण्यकशिपु आदि शत्रु एवम् बलिके साथ छल वृन्दा से कपट देवों के पक्षपाती असुरों के हन्ता आदि विष्णु माने गए हैं। इसी प्रकार स्वर्ग में अप्सराओं का नृत्य हाहा हूहू अर्थात् का नाटक खेलना, महादेव को पार्वती इत्यादि सब बातें मनुष्य के समान ही देवगणों की भी बनाली गई हैं। मनुष्य ने विचारा कि जब हम स्त्री आदिकों के बिना नहीं रह सकते तब हमारे देव कैसे रह सकतेहैं। इत्यादि। विविध कल्पनाओंको प्रथम विचार तब तुम्हें सत्यासत्य का पता लगेगा।

विश्वासी बनना

जब विद्या, विज्ञान, सभ्यता, सदाचार, तर्कवाद, स्वतन्त्रता, निर्भयता, पुरुषत्व, हितैषिता आदि शर्मविधायक भूषण गुण गुप्तहो जाते हैं तब नाना अनर्थ उस जाति में अन्तःस्थित होकर मानसिक शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। वास्तव में वह जाति जीवन से मृतप्राय होजाती है। सभ्यता से असभ्यता की ओर पथ सूझता है। ज्योति से अन्धकार ही प्रिय मालूम होता है। चलने से बैठना, बैठनेसे लेटना, लेटने से सोना, सोने से मरना ही रुचिकर होने लगता है। उन अव-गुणों में से एक विश्वास की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है। मनन या तर्क न रहने से उस जाति और पशु में स्वल्प भेद रह जाता है। यहां तक मानसिक दुर्बलता होजाती है कि मनुष्य होकर भी गर्दभ, सर्प, काक, मूषिक, पीपल, वट, सरित् पर्य्यन्त आदिको को भी पूजन और स्तुति कर निज अभीष्ट का प्रार्थी होता है। हैजा, प्लेग, महा-मारी, ज्वर आदि रोगों को भी देवप्रेरित और डाकिनी, शाकिनी, भूत प्रेत प्रभृतियों के कर्म मानने लगते हैं। देवों के कोप से ही अशेष व्याधियां होती हैं। महामहाकुसंस्कारोंका भवन बन जाते हैं अद्भुत शकुन मना लग्न साध यात्रा करेंगे। देवों को मनता मानेंगे। सदा सशङ्कित हृदय रहेंगे। गोबर को भी निज इष्ट मानने से दूर न होंगे।

इस विश्वास से किञ्चित् चतुर स्वार्थी धूर्तगण बहुत लाभ उठाने लगते हैं। उस समाज के बहुत पुरुष गुरु बन माया दिखला उन विश्वासी मूर्खोंको खूब ठगते, लूटते और हाथ मारतेहैं। ऐसी धूर्तता रचते हैं कि जिस से राज्य शक्ति भी बच नहीं सकती है। गुरुगण कहते हैं इस मन्त्र के बिना मनुष्य शुद्ध हो ही नहीं सकता अतः भाइयो! इन को ग्रहण करो। मुक्ति के भागी बनो। मेषबुद्धिक जन बिना विचारे उस धूर्तराट् के चरणोंमें गिर पड़ते हैं। उन के उच्छि-ष्ट तक भी खालेते हैं। उन के थूक को हथेली पर रख चाट जाते हैं अपनी स्त्री को समर्पित कर देते हैं। गुरुके सम्भोग बिना स्त्री शुद्ध

हो ही न सकती यह वल्लभ सम्प्रदाय का अटल सिद्धान्त है। ह्रों, क्रों क्रं गं गणेशायनमः, भम् भैरवायनमः इत्यादि ऊटपटांग मन्त्र दे द्रव्य लूट शिष्यों को पोठ् ठोक गुरुदेव कहते हैं कि देखो, ये मन्त्र किसीसे कहना नहीं। ऐसा न हो कि इसका प्रभाव और शक्ति चली जाय। इधर भैरवीचक्र की पूजा मद्यपान युवतिसेवन पञ्चमकार मद्य, मांस, मीन मुद्रा और मैथुन में आसक्त गुरुदेवों को देखकर भी शिष्यों में यही विश्वास होता है कि श्रीजी तो भगवदवतार हैं क्या ये खाते पीतेहैं? नहीं। केवल नरलीला दिखलाते हैं। ये गुरुदेव साक्षात् ईश्वर हैं। बड़े भाग्य से इन का दर्शन होता है इस प्रकार का विश्वास उन में अचल हो जाता है। अथवा "सामर्थ को नहीं दोष गोसाई। रवि पावक सुरसरि की नाई।" उन महामूढ़ विश्वासियों को यह जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है कि ये गुरुदेव हमसे किस बात में श्रेष्ठ है? हमारे समान ही विषयी, लम्पट, लोभी, भोगी, विलासी, रसिक, क्षुधार्त, पिपासु, इत्यादि युक्त हैं। पुनः वे कैसे देव। हम कैसे अधम मनुष्य। ऐसा विचार उन के हृदय में नहीं उठ सकता क्योंकि वे अन्ध प्रथम में बना दिए गए हैं॥

"विश्वासः फलदायकः। गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः। एषा च शाम्भवी मुद्रा रक्ष्या कुलवधूरिव।"

इत्यादि पाठ पढ़ाए हुए हैं। ऐसे विश्वासियों को ज्ञानी बनाना गुरुदेव भी नहीं चाहते। जितने ये मूर्ख विश्वासी, धर्मान्ध, भक्त, श्रद्धालु गुरुपूजक बने रहेंगे उतना ही गुरुदेव प्रसन्न रहेंगे। येही मूर्खजन गुरुओं के महापशु होते हैं। इनसे ही उनका जीवन चलता है। सर्व निर्वाह होता है॥

धर्म में त्रुटियां

पूर्व प्रसंग में मैंने संक्षेप से लिखा है कि लोगों का अन्तःकरण और धर्मपथ कैसे बनते जाते हैं। कैसी २ कल्पना होती

आती है। विश्वासियों को कैसे ठगते हैं? इत्यादि। अब यह विचारना है कि वर्तमानकालिक धर्मसम्प्रदायों से सुख की आशा है या नहीं सुख के साधन-विवेक, विराग, शम, दम, तप, सत्यता, समदर्शिता, अहिंसा, सदाचार, न्याय, धैर्य्य, ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता आदिकों का लाभ इनसे हो सकता या नहीं? इसकी संक्षिप्त आलोचना करती हूं।

१ सदाचार

क्या वर्तमान धर्म से सदाचार बिगड़ते या बनते हैं?-बिगड़ते हैं। कैसे? इस समय भारतवर्ष में सब से महापूज्य और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जी माने जातेहैं। कृष्ण की स्वधर्मपत्नी राधा नहीं हैं। किन्तु रुक्मिणी आदिक हैं! परन्तु लोग राधाकृष्ण कहतेहैं रुक्मिणीकृष्ण कोई नहीं कहता है। इससे सदाचार बनता या बिगड़ता है?-जब राधा का दूसरे गोप के साथ विवाह होगया था तब श्रीकृष्ण ने उससे क्यों प्रेम लगाया। इस उदाहरण से कौनसी धर्ममर्य्यादा स्थापित की गई। पुनः श्रीकृष्ण जी के ८ आठ विवाह थे १-रुक्मिणी २-जाम्बवती ३-सत्यभामा ४-कालिन्दी ५-मित्रविन्दा ६-सत्या ७-भद्रा ८-लक्ष्मणा ये आठ स्त्रियां थीं। इनके अतिरिक्त १६००० सोलह सहस्र और भी स्त्रियां थीं। अब प्रश्न ये होतेहैं कि कृष्णजीने इस पृथिवी पर आकर ऐसी लीला क्यों रची? क्या इस लिये कि मेरे अनुकरण कर के मेरे भक्त भी अपने सामर्थ्य के अनुसार बहुत विवाह करें? या इस विषय में भी मेरी अद्भुत शक्ति देख कर लोग मेरे उपासक बनें! अब तू विचार कर कि श्रीकृष्ण जी के अनुकरण करके बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में से एक एक मनुष्य दो दो सौ चार चार सौ विवाह कर लेता था। मिथिला देश के ब्राह्मण सौ पचास विवाह क्या नहीं करते थे? इस बहुविवाह से सदाचार बनता या बिगड़ता था? पुनः इसी प्रकार कपटरूप से वृन्दा का पातिव्रत भंग करना और बृजि को छलना आदि कथा से कौनसा शुद्ध आचरण बनेगा!

अहल्या पर इन्द्र का मोहित होना, गुरुपत्नी के साथ चन्द्र का व्यवहार प्रभृति आख्यानोंसे लोग कौनसी उत्तमशिक्षा ग्रहण करेंगे? पुराण कहता है कि शिव, राम, नारायण आदि नाम स्मरणमात्र से और गङ्गादि तीर्थों में जाने से पाप कट जाता है। अत्य त पापी जन भी शुद्ध हो मुक्ति का भागी होता है। इत्यादि सहस्रशः आख्यान होते हुए अतिपरिश्रमसाध्य विवेक प्रभृति साधनों के निकट क्यों कर कोई जायगा। अतः इन ग्रन्थों के पढ़ने से विवेकादि उत्पन्न नहीं हो सकते। इस लिये उत्तरोत्तर दुःखों की ही वृद्धि होती जायगी।

पक्षपात

ये धर्मग्रन्थ पक्षपातों से परिपूर्ण होने के कारण सुखके साधन नहीं! यद्यपि मनुष्य एक जाति है। इसमें पश्वादिवत् जातिभेद नहीं तथापि कहा जाता है कि ब्रह्माके मुख से उत्पन्न होने से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ और पैर से शूद्र हुआ हैं। अतः यह नीच, सेवक, दास और अस्पृश्य है। इन्हें मार पीट इनसे धन छीन जैसे बने वैसे इन को नीचातिनीच काम में लगाओ। यदि शूद्र तपस्वी बनना चाहे तो इसका शिरश्छेदन करना उचित। इनको धर्म में अधिकार नहीं एवं यदि स्त्री विधवा हो तो इसे जला देनाही उचितहै। ब्राह्मण से ईश्वर भी डरता है। वह भूदेव है। इसके पैर पूजने से मनुष्य का कल्याण है। मूर्खातिमूर्ख ब्राह्मण श्रेष्ठ। अतिबुद्धिमान् भी शूद्र नीच ही है! परमभक्त बलि को विष्णु ने इस लिये छला कि वह असुर दल का अधिपति था। इत्यादि २ शतशः पक्षपातों से ये ग्रन्थ युक्त होने के कारण हेय हैं।

ज्ञानविरोध

ये धर्मग्रन्थ ज्ञान विज्ञानों के विरोधी होने से कदापि सुखों के वर्धक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि यथार्थ ज्ञान से ही सुख प्राप्त हो सकताहै। पृथिवी प्रतिक्षण चल रही है। परन्तु ये सिखलाते हैं कि

यह भूमि अचला है और शेष कूर्म, वृषभ आदि इसको पकड़े हुए हैं। छाया से ग्रहण लगता है तथापि ये कथा घड़ते हैं कि एक असुर सूर्य चन्द्र को क्लेश पहुंचाता है अतः यह ग्रहण होता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वृक्ष आदि से कितने ही मनुष्य उत्पन्न हुए! पृथिवीपर के कोई भी प्रायः बड़े आदमी अपने माता पिता से नहीं हुए हैं इत्यादि अनेकशः बातें ज्ञान के विरोधी हैं इस कारण ये त्याज्य हैं।

परस्परविरोध

जितने प्रसिद्ध धर्मपथ प्रचलित हैं वे परस्पर विरोधी हैं। मुसलमानी और क्रिस्तानी आदि धर्म्मों से पौराणिक धर्म विरुद्ध है यह प्रत्यक्ष ही है। यदि कोई हिन्दू मुसलमान का पानी या पक्व अन्न ग्रहण करले तो वह अजाति और पतित समझा जायगा। परन्तु स्पर्शदोष का लेश भी कुरान या बायबिल नहीं सिखलाता। वैष्णव मांस भक्षण निषेध करते हैं। परन्तु शाक्त मांसभक्षी हैं। कलकत्ते में काली को, विन्ध्याचल में भगवती को और घर घर दुर्गा के ऊपर इस समय भी शतशः छागदान दे २ कर उन्हें काट खूब ही शाक्त ब्राह्मण महोदय खाते हैं। इत्यादि कारणोंसे ये ग्रन्थ सुखजनक नहीं हो सकते।

शौचतप आदिका लोप

इन ग्रन्थों के अध्ययन से शौच और तप आदि का बोध भी नहीं हो सकता। जब केवल नाम स्मरण से भी मुक्ति मिलती है तो सत्यादि तप की आवश्यकता ही क्या। जब काशी मरण से ही मोक्ष प्राप्त होता है तब ज्ञान के उपार्जन के लिये इतना परिश्रम क्यों कियाजाय। श्राद्धों और यज्ञों में मनुष्य को छोड किस पशु और पक्षी आदि की हिंसा की विधि नहीं। पशुयों को मार मार कर होम करना कितनी अपवित्रता दिखला रहा है। जैनधर्मावलम्बी साधुगण स्नान को भी पापजनक मानते हैं। जैनी भाई रात्रि में

भोजन को पातक समझते हैं। हरितवृक्षों की और छाग मेषादि जीवों की हिंसा को तुल्य समझते हैं। इनके माननीय साधुमहोदय उस्तरे से शिरका केश न कटवा कर नुचवा लेना ही धर्म स्वीकार करते हैं। पञ्जाब के सिक्ख महाशय मृत अशौच में भी केश कटवाने को महान् अधर्म कहते हैं। सिक्खोंमें जन्म से लेकर मरण तक शिर का केश कटवाना पाप माना गया है। इसके विरुद्ध पोराणिकों मे कोई यदि मृतक अशौच में केश न कटवावें तो वह महापतित माना जायगा। वेष्णव महाशय द्वारिका आदि स्थ नों में जाकर तप्त मुद्रा की छाप देह पर लगवाते हैं। और उस तप्त मुद्रा को देह पर लगाकर दूध में या पानी में बुझाते हैं। उस दूध पानी को पीजाते हैं यह कैसी घृणा का दृश्य है। वल्लभ सम्प्रदाय में अब तक यह नियम चला आता है कि जब गृह में नई नई बहू आवे तब प्रथम वह गुरु के निकट भेजी जाय। इसी विधि से वह शुद्ध समझी जाती है। जैन विद्वान् जगत्कर्ता का अङ्गीकार नहीं करते। तान्त्रिकगण तन्त्र शास्त्र को ही वेदों से भी अत्युच्च श्रेष्ठ और कलि में परमोपयोगी कहते हैं। यहां स्त्रीरूप में ही उपास्य देव मानेगए हैं। कामरु देश में घृणित पूजा होती है। जगन्नाथ का मन्दिर अश्लील मूर्तियों से खचित है। भगवती की पूजा का विधान तन्त्रों में पढिये। महादेव क्या वस्तु है। इनकी क्या पूजा होती है पुराणों से जानिये !—

मैं कहां तक लिखूं अद्यतन कालिक सम्प्रदायों से सुख की आशा नहीं। पृथिवी पर के सब ही धर्म ग्रन्थ ऐसे हो हैं। उन का अन्तः करण अपने २ धर्म के अनुसार बनकर तैयार हैं। इसकारण धर्मावलम्बी पुरुष कदापि ज्ञान, विज्ञान की ओर नहीं आ सकते। शोक की बात है कि जिस वस्तु को इतना आकाश में चढ़ाए हुएहैं जिन ग्रन्थों को साक्षात् ईश्वरवाक्य अथवा सिद्ध पुरुषों का वचन कहते हैं। उन की परीक्षा नहीं करते। क्या आश्चर्य्य है कि एक ओर सत्यताकी दोहाई देते हैं। सत्यकी प्रशंसा करते २ कभी थकते

नहीं किन्तु दूसरी ओर मिथ्या का भी असीम पक्ष ले बैठते हैं। ईसामसीह साक्षात् ईश्वरपुत्र थे वा नहीं इस पर विवाद नहीं किन्तु ईश्वर का ही यह नियम है कि दाम्पत्य प्रेम के पश्चात् ही सन्तान होता है। ईसामसीह के जन्म में इस का अभाव देखते हैं। तब कुमारी मरियम का कैसे पुत्र होगया। यदि कहा जाय कि ईश्वर की ओर से अथवा उस प्रभु के आशीर्वाद से कौमारावस्था में ही मरियम गर्भवती हुई तो मैं पूछता हूं कि सृष्टि में आदिकाल से अब तक केवल एक ही बार यह चमत्कार दिखलाया गया या बारबार और अब भी यह आश्चर्य्य लीला दिखलाई जायगी या नहीं। यदि कहा जाय कि एक कल्प में यह लीला एक ही बार दिखलाई जाती है तो इस को अन्य देश वाले नहीं मान सकते क्योंकि इन में भी कुमारी से बहुत बालक उत्पन्न माने जाते हैं। वा इस में आश्चर्य्य जनक लीला अन्यत्र विद्यमान हैं। व्यासदेव और कर्ण कानीन माने जाते हैं। प्रह्लाद आग में न जल सके। वाल्मीकि पिता माता के विना ही उत्पन्न होगए। कबीरदास भी स्वयं प्रकट हुए। इत्यादि महापुरुष तब ईश्वर क्यों नहीं? ग्रीस देश में भी प्लैटो, सिकन्दर आदि अनेक देवजात कहे जाते हैं। मैं एकबात यहां यह भी पूछता हूं कि जिस यहूदी जाति में ईश्वर स्वयं क्राइष्ट (ईसामसीह) नाम से अवतीर्ण हुआ उसने इसको ईश्वर क्यों नहीं स्वीकार किया? क्यों कर शूली पर चढ़ाकर मार दिया। यदि कहो कि ईश्वर की वैसी ही इच्छा थी। वह इस मर्त्यलोक में मरणलीला दिखलाने को ही आया था तो क्या इसके पूर्व जगत् में मरणलीला नहीं थी? और भी, जब ईश्वर इस पृथिवी पर आया तो वह अपने स्वरूपमें आता अथवा एक देखने योग्य मनोहर अद्भुत रूप बनाकर आता जिस को कोई भी पार्थिवशक्ति मार नहीं सकती। और वह पृथिवी के सर्व भागों में जाजा कर अपना उपदेश कहकर और सब से मनवा कर पुनः अपने धाम को पधार जाता। और जब २ दुर्घटना संसार में हो तब २ वह आजाया करे। एक ही बार आने से लोगों

में सन्देह उत्पन्न होता है। आश्चर्य की बात है कि जहां के कई एक कोटि मनुष्य क्राइष्ट के अनुगामी हैं और इस नाम के कारण क्रिश्चियन (क्रिस्तान) कहलाते हैं वहां के ही विद्वान् क्राइष्ट को ईश्वर वा ईश्वरपुत्र नहीं मानते। मैं कह सकती हूं कि प्रबल राज्य-शासन इस पक्ष का न होता तो इन दो तीन शताब्दियों की विद्वन्मण्डली इस मत को जड़से उखाड़कर समुद्र में फेंक देती। किन्तु पोपों के पक्षपाती अगणित मूर्खजन और राजन्यगण के कारण से ही अबतक इसका नाम यूरोप में विद्यमान है। तथापि मैं कह सकती हूं कि बायबिल के सर्वमाननीय सिद्धान्त यूरोप महाद्वीप से निकाल दिए गए। बायबिल कहता था कि यह सृष्टि ६। ७ हज़ार वर्ष की है इस के विरुद्ध विज्ञान कहता है कि यह अतिलघ्वी पृथिवी ही कई एक लाख वर्षों की है और यह सृष्टि तो कब से है इसकी संख्या करना मनुष्य की शक्तिसे बाहर है। यह अनादि और अनन्त है। बायबिल कहताहै कि छः दिनों में ही यह सम्पूर्ण सृष्टि होगई। इसके विरुद्ध विज्ञान कहता है कि इस पृथिवी ही के बनने के लिये कई कोटि वर्ष चाहियें। इस समस्त जगत् की रचना का हिसाब कौन लगा सकता है। इसी प्रकार धर्मपुस्तक कहती है कि १-यह पृथिवी-चौरस समधरातल रूप में है, गोल नहीं। २ सूर्य्य से भी बहुत बड़ी है। ३-सूर्य्य इसकी परिक्रमा करता है। ४-यह नील आकाश इसकी छत है। ५-इस आकाश में ये नक्षत्रगण जड़ित हैं जैसे राजमुकुट में नाना महार्घ हीरा मोती आदि जड़े जाते हैं। ६-इसके ऊपर स्वर्ग है। ७-इस पृथिवी के नीचे नरक है। इत्यादि २ धर्म बातों को आजकल यूरोप के छोटे २ बच्चे भी तिरस्कार दृष्टि से देखते हैं। अतः मैं कहती हूं कि धर्म सम्प्रदायों से सुख नहीं है।

सम्प्रदाय के दोष

(१) प्रसिद्ध २ जितने सम्प्रदाय हैं वे ईश्वर और मनुष्य के शत्रु हैं। १-इनपर कलङ्क लगाते हैं २-इनको नीच बताते हैं। ३-इन के महत्व को सर्वथा गिरादेते हैं। ४-मनुष्य की उन्नति को रोकते

हैं। ५-पाखण्ड को फैलाते हैं। ६-मूर्ख जनों के झुण्डों को बढ़ाते और ज्ञान को रोकते हैं। ७-विरोध और असत्यता के बीजों को सदा सींचते रहते हैं। ८-धोखा देते हैं। ९-अज्ञान को बढ़ाते और ज्ञान को रोकते हैं। मैं कहां तक लिखूं। मेरा कार्य्य वेदान्त का उच्च सिद्धान्त दिखलाना है। तथापि वेदान्त-विरोधी बातों को अतिसंक्षेप से भी यदि न दिखलाऊं तो सत्य और विज्ञान का नाश होजायगा और मानवजाति एक महापशु बन जायगी।

१-ईश्वर और मनुष्य के शत्रु

मैं अतिचिन्ता के साथ कहती हूं कि धर्मसम्प्रदाय कैसा अविवेकी और अन्ध है कि जो २ महापुरुष इस पृथिवी पर ईश्वर के महत्त्व और पवित्र गुण दिखलाने को आए वेही २ पश्चात् साक्षात् ईश्वर मान लिए गए और वह प्रभु गौण पड़गया। यथा क-एक अतिलघु राजा का पुत्र बुद्ध था। समस्त मानवप्रकृतियों से संयुक्त था। तथापि पश्चात् वही ईश्वर मान लिया गया और जिसका वह मान करताथा, वह परमदेव वहांसे लापता होगया। ख-मैं निश्चयसे कहती हूं कि क्राइष्ट (ईसामसीह) उस प्रभुके पवित्र गुणोंको दिखलाने के लिये आए थे। माता पिता से उत्पन्न हुए थे। प्राकृत गुणों से पूर्ण थे। महात्मा, ईश्वरभक्त, निष्कपट महापुरुष थे। परन्तु धीरे २ इनको ही लोगों ने ईश्वर मान लिया और पृथिवी तथा स्वर्गकेराजा महाराज प्रभु को क्रिस्तान महोदय भूल बैठे। ईश्वर के द्वारा नहीं किन्तु ईसा के द्वारा मुक्ति होती है। ईश्वर के नाम पर नहीं किन्तु क्राइष्ट नामपर लोगों ने अपना नाम क्रिस्तान रक्खा। ईश्वर के नाम पर उत्सव नहीं किन्तु क्राइष्ट की जीवन-घटनाओं पर। ग-राम मनुष्य थे। दशरथ और कौशल्या इन के पिता माता थे। मानवप्रकृति से समन्वित थे। वाल्मीकि रामायण पढ़कर देखिये। तथापि धीरे २ वे साक्षात् ईश्वर बना दिए गए। घ-इसी प्रकार मुहम्मद, जिन, ऋषभदेव, जरदुस्त, व्यास, कपिल आदि भी

कोई ईश्वर के दोस्त और कोई ईश्वर ही मानलिए गए। मैं समझती हूं कि इन बुद्धादि महात्माओं का कुछ दोष नहीं किन्तु इन के अनुयायियों का यह महादोष है। इस हेतु ये सर्वसम्प्रदायें ईश्वर के शत्रु बनगए।

जैसे ईश्वर के महत्व को प्रख्यात करने को ये सम्प्रदाय सर्वत्र स्थापित हुएइसी प्रकार मनुष्य को उच्च बनाने और समतामें रखने, अत्याचार रोकने और सदाचार फैलाने आदि के लिये धर्म्म स्थापित हुए। परन्तु धीरे २ अधिक संख्यक मनुष्यों के शत्रु बन गए और धर्म और सत्य जो दोनों एक पर्य्याय वाचक शब्द थे वह असत्य रूप में प्रकट होगये। श्रुति कहती है–

सनैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत
धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः।
तस्माद्धर्म्मात्परं नास्ति अथोअबलीयान्
बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्।
यो वै स धर्मः सत्यमेवैतत्। तस्मात्सत्यं
वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं
सत्यं वदतीति एतद्ध्येवैतदुभयं भवति। बृ०उ०

इसके पूर्व प्रसङ्गमें यह विषय है कि प्रथम मनुष्यजाति एक ही रूप में विद्यमान थी जिसको ब्रह्म (ब्राह्मण) कहते थे अर्थात् अतिशुद्ध निश्चल कपटरूपरहित राज्यादि व्यवस्थाहीन तुल्य और सत्यादिपरायण वह जाति थी। परन्तु इतने से कार्य्य न चला। पश्चात् इसमें से एक शाखा निकली जिसका नाम क्षत्र (क्षत्रिय) हुआ अर्थात् समस्त राज्यव्यवस्था स्थापित हुई और जाति-भेद, नीचता, उच्चता, न्याय, अन्याय, छल, कपट आदि गुण अवगुण दोनों का प्रवाह बढ़ने लगा। इस से भी कार्य्य सिद्ध न हुआ। तदनन्तर

वैश्य नाम की तीसरी शाखा निकली। सत्यासत्य के साथ सर्व प्रकार के व्यापार, सूद पर द्रव्य देना खरीदना, पशुयों को वश में करना, उन से काम लेना खेती करना इत्यादि २ चल पड़े। इस से भी मानवसृष्टि का निर्वाह न हो सका। तब शूद्र नाम से चौथी शाखा उसी में से निकली अर्थात् उसी मानवसमुदाय से बहुत से लोग दास, सेवक धोबी, चर्मकार, नापित, स्वर्णकार, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, तम्बोली, कसेरा, इत्यादि २ अनेक वर्ण आवश्यकता के अनुसार बने और बनाए गए।

अब इतने से भी कार्य्य में बाधा आपड़ी तब सर्वोत्तम कल्याण स्वरूप मङ्गलमय पञ्चमी शाखा निकली जिस का पवित्र नाम धर्म हुआ। वह धर्म उग्र क्षत्रियों का भी शासक हुआ। इस कारण धर्म से पर (उत्कृष्ट) कोई वस्तु नहीं। क्योंकि इस धर्म के द्वारा अत्यन्त दुर्बल पुरुष भी परम बलिष्ठ पुरुष का मुकाबिला कर सकता था। जैसे राजा के द्वारा निर्धनी दुर्बल पुरुष भी बलिष्ठ पुरुष के ऊपर मुकद्दमा चलाता है। वह धर्म क्या है ? सत्य है। इसी कारण सत्यभाषण करते पुरुष को लोग कहते हैं कि यह धर्म कर रहा है और धर्म कहते पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह सत्य कह रहा है। ये दोनों एक ही बात हैं।

यहां पर आप देखते हैं कि सत्य और धर्म दो पदार्थ नहीं। और भी—जब चारों वर्णों की बहुत वृद्धि होने लगी और इनमें न्याय, अन्याय, सत्य, असत्य, उच्चता और नीचता सर्व प्रकार के व्यवहार चल पड़े। तब महर्षियों ने एक धर्मव्यवस्था चलाई। उसकी नींव सत्य के ऊपर रक्खी और तदनुसार सब का न्याय ठीक रीति से होने लगा। जो क्षत्रियवर्ग परम उद्दण्ड, उच्छृंखल, आततायी और स्वार्थी होकर मनुष्यपीड़क बन गए थे। उनका शासक यही धर्म बनाया गया। अतः श्रुति के पाठ में " क्षत्रस्य क्षत्रम् " ये पद आए हैं। परन्तु यही कालान्तर मे मनुष्यघातक भी बन गया। कैसे ? उसी सत्य धर्म की दुहाई देते हुए यहां के पुरोहितों ने कहा

कि ये कायस्थ, गोप, कुम्भकार, कुरमी, लोहकार, तक्षा, नापित आदि शूद्र हैं, और ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न होने के कारण नीच हैं। ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ है इस लिये श्रेष्ठ है। जैसे गौ, महिष, गर्दभ आदि भिन्न २ पशु हैं वैसे ही चारों वर्ण चार जातियों के हैं। शूद्र यद्यपि एक ही जाति है तथापि वर्णसंकरता के कारण इन में बहुत सी उपजातियां होगई हैं। इनमें भी एक बहिष्कृत शूद्र हैं। चर्मकार, धोबी, तेली, कलवार, भंगी आदि। ये अन्त्यज, अस्पृश्य, अग्राह्य हैं। ये यदि वेद शास्त्र किसी से सुन भी लें तो इनके कान गरम शीशे से भर दिए जाय। धर्म में इनका कोई अधिकार नहीं। उपनयन संस्कार इनका नहीं हो सकता। इस लिये ये वेद के अधिकारी नहीं। मैं कहां तक लिखूं भारतवासी इनको जानते हैं कि इस धर्म ने कितने मनुष्यसमुदायों को मनुष्यता से गिराकर पशु बना छोड़ा।

इसी धर्म के छल से पृथिवी पर बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई। यदि सब सम्प्रदाय सत्य हैं तब मुसलमानों ने यहां हिन्दुओं के असंख्य मन्दिर क्यों तोड़ गिराए और हिन्दू तब मुसलमानों और क्रिस्तानों के साथ विवाहादि व्यवहार क्यों नहीं करते? एवमस्तु। इसी भारत वर्ष में अगण्य बौद्धमतावलम्बी यहां से निकाल दिए गए और इन का दर्शन भी पातक मानागया। इसी प्रकार प्रत्येक देश की यही दशा है। हमारे देश में इतिहास नहीं कि मैं बहुत से प्रमाण दे सकूं परन्तु तू पुराण पढ़ और संस्कृतसाहित्य को ध्यान से देख। तब तुझे ज्ञात होगा कि बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि कैसे भयङ्कर नास्तिक माने गए हैं और कैसी घृणादृष्टि से ये देखे जाने लगे।

परन्तु यूरोप में सिलसिलेवार इतिहास एक से एक उत्तमोत्तम विद्यमान है। उन इतिहासों से यदि आर्य्यभाषा में धर्म का अत्याचार लिखा जाय तो महाभारत के समान १० । २० ग्रन्थ बन जायं। जिन विद्वानों को यूरोपनिवासी अब प्रातःस्मरणीय समझते हैं। जिनके नाम तुलसीदास, सूरदास, राम, कृष्ण इत्यादि नामके समान

वहां प्रसिद्ध हैं। महामूर्ख से मूर्ख भी जिनके जीवनवृत्तान्त को रामवृत्तान्तवत् जानते हैं। वे महापुरुष कोई आग में जलाए गए। कोई विष पिला कर मारे गए। कोई महामहा कष्ट से जेलों में ही सड़ गए। हा! रे धर्म! तैने क्या क्या अत्याचार दिखलाए। तेरे शुभ नाम अति अशुभ होगए। तू विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही नीच माना गया। इस तेरे मिथ्यारूप को मिटाने के लिये विद्वान् प्रयत्न करने लगे और सत्यरूप का प्रकाश होने लगा। जो मिथ्या धर्म के नाम पर मारे गए। उन में से दो चार नाम ये हैं १-साक्रेटीज २-गैलेलियो ३-ब्रूनो .... ॥

२-ईश्वर और मनुष्य पर कलंक

धीरे २ धर्म महाभयङ्कर होगया। यह ईश्वर पर भी कलङ्क लगाने लगा। ईश्वर भी स्त्री (लक्ष्मी) के बिना नहीं रह सकता। यह इसके लिये कलङ्क ही है। वह एक मूर्ति में रह कर जगत् का शासन नहीं कर सकता। अतः ब्रह्मा, विष्णु और महादेव त्रिमूर्त्ति हुआ। यह भी लाञ्छन ही है। ब्रह्मा अपनी दुहिता के ऊपर मोहित हुआ यह कितना बड़ा लांछन है। तपस्वी महादेव भी मोहिनी रूप में फस कर धैर्य्यच्युत होगया। विष्णु का छल प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार ईश्वर कुमारी में पुत्र उत्पन्न करता है। छः दिनों में ही सृष्टि बना लेता है इत्यादि अनेक कलङ्क ईश्वर के ऊपर मढ़ दिए गए।

मनुष्यों पर भी-अगस्त्य और वसिष्ठ एक बड़े २ ऋषि हुए हैं। वे कहे जाते हैं कि मित्र और वरुणदेव की कृपा से स्वर्वेश्या उर्वशी द्वारा घट से उत्पन्न हुए। महर्षि विश्वामित्र मेनका से जा फसे। पराशर एक कैवर्त की कुमारी के प्रणयी बने। ऋषि गौतम की स्त्री अहल्या शापग्रस्ता हुई इत्यादि.........। यहां ही अब यह विषय समाप्त किया जाता है। ये प्रियवक्ता! तू स्वयम् इस को एकान्त में जाकर विचार। इति संक्षेपतः।

—:0:—

राज्यव्यवस्था

देवो दुर्बलघातकः

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।श्रुतिः।

राज्यव्यवस्था के सम्बन्धमें यदि मैं दो चार लाख पृष्ठ लिखती, समय भी इस बृहत् कार्य्य के लिये मुझे अनुरोध करता और जनता को भी इस को विचार पूर्वक पढ़ने को पूर्ण अवकाश मिलता तब कदाचित् एतद्विषयक लेख से मेरा मन सन्तुष्ट होता और कृतकृत्या अपने को समझती परन्तु इस सब के अभाव से और विशेषतः वेदान्त शास्त्र से इसका उतना सम्बन्ध न होने के कारण इस पर यहां अधिक लिख कर विवेकी पुरुषों का अमूल्य समय नष्ट करना नहीं चाहती। तथापि वेदान्त में इस का जितना प्रयोजन हो सकता है उसे भी अतिस्वल्प करके यहां प्रकाश करती हूं। जिज्ञासु हितैषी महोदय इस को ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा जान सकते हैं कि इस व्यवस्था से संसार कितना सुखी हुआ। श्रुति इस में यों दिखलाती है-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।........

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामा सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। इत्यादि।

कठोपनिषत्

नचिकेता से यम कहते हैं कि तू मुझ से शतायु पुत्र पौत्र मांग, तू पृथिवी परके बहुतसे पशु हाथी हिरण्य और घोड़ा आदि जितना

चाहता है, उतना मांग। पृथिवी का बहुत भाग तू ले। स्वयम् तू जितने दिनों जीना चाहता है उतने दिनों जी। मैं कहांतक कहूं। इस मर्त्यलोकमें जो २ दुर्लभ कामनाएं हैं। सहस्रशः मनोहारिणी युवतियां, रथ और विविध वाद्य आदि जो तू चाहता ,है वह तू लेले किन्तु मरण सम्बन्धी प्रश्न तू मुझसे मतकर। इसपर नचिकेता इस प्रकार कहताहै-

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। इत्यादि

हे यम! इस वित्त से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रियों के तेज को ये युवती प्रभृति सम्पत्तियां नष्ट कर देती हैं। ये पृथिवी पर के समस्त ऐश्वर्य्य क्षणविध्वंसी हैं इन से मुझे मत मोहित और लोभित कर किन्तु कृपा करके मुझ को अमृत दे।

पुनः याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के सवाद में श्रुति यों कहती है-

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णास्यात् कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोप करणवतां जीवितं तथैव ते जीवित स्यादमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति। बृहदा० उ०

मैत्रेयी निज पति से पूछती है। हे भगवन्! यदि मेरे लिये यह समस्त पृथिवी वित्त से पूर्ण हो तो क्या उस से मैं अमृत होऊंगी। इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं। वित्त से अमृतत्व की आशा कदापि नहीं। धनवानों का जैसा जीवन होता है तेरा भी धन से वैसा ही जीवन होगा। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में इस विषय को अच्छी तरह से दिखलाया है। उस की एक बात यह है।

युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः।

इस पृथिवी पर यदि कोई पुरुष युवा हो और उस समय की निखिल विद्याओं से पूर्ण अध्यापक हो समस्त रोगरहित भोगविलासी हो, किसी प्रकार की चिन्ता न हो सर्वथा स्वतन्त्र अतिशय बलवान् हो और वह इस समस्त पृथिवी का केवल सम्राट् ही न हो किन्तु इस के लिये यह पृथिवी वित्तों से पूर्ण हो । तब यह एक मानुष आनन्द कहावेगा। इससे शतगुण आनन्द गन्धर्वानन्द कहाता है गन्धर्वानन्द से बढ़ कर शतगुण आनन्द देवगन्धर्वानन्द कहाता है। इससे शतगुणानन्द पितृगणानन्द । इससे शतगुण आनन्द आजानदेवानन्द । इस से शतगुण आनन्द कर्मदेवानन्द । इस से शतगुण आनन्द देवानन्द । इस से शतगुण आनन्द इन्द्रानन्द । उस से शतगुण बृहस्पत्यानन्द । उस से शतगुण प्रजापत्यानन्द । उस से शतगुण ब्रह्मानन्द है ।

इतने लेख से तू समझ सकती है कि वेदान्त के निकट राज्य कितनी तुच्छ वस्तु है । भारतवर्षीय महापुरुषों की दृष्टि में राज्य एक नीचातिनीच सामग्री समझी गई है । इसी कारण यहां के ऋषि वा विद्वन्मण्डली कदापि भी इतर देशों पर निरपराध और निष्कारण विजययात्रा की उत्तेजना नहीं करती थी ।-

बहिर्मदराज्य

कुलं शीलं च वित्तञ्च रूपं यौवनमेव च ।
विद्या राज्यं तपश्चैषां कीर्त्तिता हि बहिर्मदाः॥

कुलाभिमान, शीलाभिमान, वित्तरूपयौवनाभिमान, विद्याभिमान, राज्याभिमान और तपोभिमान ये सब वेदान्त में बहिर्मद गिने गए हैं ।

औपनिषद् राज्यादर्श

वेदान्त के समीप किस प्रकार के राज्य संमत हैं उन के दो तीन उदाहरण लिखती हूं-

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस।

सह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति। छा० उ०

पौत्रायण जानश्रुति नामका राजा श्रद्धापूर्वक दाता, बहुदाता और बहुपाकी था। उस ने अपने सम्पूर्ण राज्य में बहुत आवसथ (धर्मशालाएं) बनवाए थे कि मेरे अधीन देशों के सब ही असमर्थ जन मेरे ही आवसथों में आकर भोजन करें। यहां भोजन न करना चाहें वे यहां से दान लेकर अपने ही गृह पर पका खांय। इस प्रकार का परमोदार राजा भी रैक्वमुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं माना गया। उस के राज्य में एक विज्ञानी महात्मा सयुग्वा, रैक्व रहते थे जिनता उन की अधिक कीर्ति गाती थी। पश्चात् जानश्रुति स्वयम् भी उन के निकट जा अध्यात्मज्ञान सीखा करता था।

राजा अश्वपति अपने राज्य का वृत्तान्त इस प्रकार कहता है-

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

छा० उ०

मेरे शासित देशमें कोई चोर नहीं है। कोई कृपण और अनुदार वैश्य नहीं है। कोई मद्यपायी नहीं है। कोई सत्यधर्मरहित नहीं है अविद्वान् भी कोई नहीं। कोई व्यभिचारी नहीं है। तब व्यभिचारिणी कोई कैसे हो सकती है।

वैदेह जनक का राज्य

इन के राज्य का इतिहास थोड़े शब्दों में क्या २ कहा जाय। १-धर्मकर्मनिर्णयार्थ बड़ी सभाएं होती थीं। २-ऐसे महान् यज्ञ होते थे जिन में देश भर के ज्ञानी विज्ञानी अनूचान (विद्वान्) सम्मिलित

होकर नाना प्रश्नों के ऊपर वाद प्रतिवाद करते थे। ३-अध्ययन अध्यापन के लिये बहुत से आचार्य्य नियुक्त थे जिन में मुख्य याज्ञवल्क्य थे। ४-प्रजाशासन की प्रणाली अत्युत्तम थी। इत्यादि। बृहदारण्योपनिषद् में तथा शतपथ ब्राह्मण में देख।

यदि ईदृश राज्य हों तो क्यों न सुख हो। जानश्रुति के राज्य में दिखलाया गया है कि प्रजाओं का भी धन राज्य मे सञ्चित रहता है। समय २ में जनता के ही हेतु उस का व्यय होना चाहिये। अश्वपति के दृष्टान्त से सुशासन दिखलाया गया। जनक के निदर्शन से सर्वसम्पन्न राज्यप्रणाली कही गई।

एवमस्तु। मैं इस को कहां तक बताऊं। इस में स्थान भी इतना नहीं तथापि अतिशय सक्षेप से कुछ लिखना ही पड़ेगा। यहां के जितने पूज्य प्रातःस्मरणीय महापुरुष हुए हैं, उनके निकट राज्य त्याज्य माना गया है। सांख्य शास्त्र कहता है-

न दृष्टात् तत्सिद्धिः।

किसी भी दृष्ट उपायों से उस परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग शास्त्र की भी यही सम्मति है-

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

समस्त दृष्ट और प्रचलित धार्मिक विषयों से वितृष्ण पुरुष को वशीकार संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है। तत्पश्चात् केवल ज्ञान से वह सर्वक्लेशरहित होकर उस सुख का अंशी होता है। इसी कारण

"ज्ञानान्मुक्तिः"

यही अन्तिम सिद्धान्त लोगों का रहा है॥

पौराणिक सम्मति

पुराण के अनुसार राज्य दो प्रकार का है। १-एक आसुर २-दूसरा दैव। जिस में धर्माधर्म, सत्यासत्य और ईश्वरका विचार

आदि इस के मन्तव्यों के अनुकूल न हों वह आसुर राज्य है और जो किसी वैदिक शाखाका अनुमोदन करने वालाहो वहदैव राज्यहै।आसुर साम्राज्य की सदा निन्दा तिरस्कार और अनौचित्य का विस्तार वर्णन पुराणों में उक्त है। यहां इतना स्मरण रखना योग्य है कि पुराण सर्वदा नवीन २ कथा बनाकर आदर्शमात्र दिखलाते हैं अर्थात् कोई ऐतिहासिक घटनाएं नहीं बतलाते किन्तु अपनेर समय के दृश्यों को रूपक में रूपित करके सविस्तर रोचक आख्यानों से जनता को उपदेश देते हैं। उदाहरणार्थ ये हैं। १-हिरण्यकशिपु यद्यपि ब्रह्मा की पूजा करता था और त्रिभुवन का सम्राट् था तथापि वैदिक यज्ञादिकों को न मानने के कारण अधम समझा गया और अन्ततः सिंहासन से च्युत हो नृसिंह के नखों से विदीर्ण हुआ और उसके स्थान में प्रह्लाद का राज्याभिषेक किया गया। २-असुर बलि का अधःपात इस लिये किया गया कि उसके राज्य कर्मचारी वैदिक धर्मावलम्बी नहीथे। ३-यद्यपि रावण ब्राह्मण था, यज्ञादिक शुभकर्म भी करता था। यहां तक किंवदन्ती अबतक चली आती है कि उसने वेदों पर भाष्य भी किया था। महादेव उसके इष्टदेव थे, ब्रह्मा से उसने वर पाया था। तथापि विषयी, व्यसनी, व्यभिचारी होने के हेतु सपरिवार उसका विध्वंस किया गया। ४-यद्यपि बाणासुर महादेव का परम भक्त था जिस के हेतु शिव और विष्णु में घोर संग्राम हुआ तथापि असुर कुलाभिमानी होने के कारण विहत हुआ। ५-कंस, शिशुपाल, जरासन्ध आदि क्षत्रिय ही थे किन्तु उनकी प्रकृति सदाचार और राज्यप्रणाली आर्य्यविरुद्ध थी अतः उनका भी विनाश किया गया।

विचारना चाहिये कि पुराण उन सब सम्राटों का राज्य क्यों नहीं पसन्द करता। निःसन्देह उनके सदाचार अच्छे न थे। अतः वे अभिशापित हुए। इस से विस्पष्ट सिद्ध होता है कि सब राज्य अच्छे ही नहीं किन्तु कोई २ राज्य बड़े ही दुःखदायी भी होतेहैं। इस लिये सब प्रकार के राज्य से सुख नहीं हो सकता।

दैवराज्य

सब प्रकार के दैवराज्य को भी महाभारत और पुराण प्रशस्त नहीं समझते। मैं यहां उन प्रसिद्ध दृष्टान्तों को बतलाती हूं। जिन को आजकल भी लोग घर घर जानते हैं। जो पवित्र गान और श्रव्य समझा जाता है। जिन वृत्तान्तों से संस्कृत का कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ शून्य नहीं है।

विश्वामित्र और वसिष्ठ

ये दोनों वेदों के ऋषि मान्य, स्तुत्य, पूज्य, महातपस्वी माने गए हैं। तथापि विश्वामित्र के उस आचरण को अक्षन्तव्य और अन्याय समझते हैं। जो वसिष्ठ की गौ छीनने का पूर्ण उद्योग उन्होंने किया था।

परशुराम

पुराण के अनुसार परशुराम ईश्वरावतार माने गए हैं। इन्हों ने २१ इक्कीस बार उद्दण्ड, प्रचण्ड, उग्र, आततायी और अन्यायी राजन्यवर्गों को दण्ड दिया। इनका कोप यहां तक बढ़ गया था कि इस समस्त पृथिवी को राजवर्गों से शून्य करदें।

राजा वेन

यह सिंहासन से उतार कर मार डाला गया। यहां येही तीन उदाहरण देकर श्रोताओं के विचार पर इसको समाप्त करती हूं।

मनुस्मृति की राज्यव्यवस्था

मैं जब अपनी विचारबुद्धि से देखती हूं तो कहना पड़ता है कि इस पृथिवी पर कभी २ यथोचित न्यायालय स्थापित न हुआ। हां यह अवश्य हुआ कि दो चार न्यायी पुरुष पृथिवी पर हुए हैं किन्तु सभासदों के कारण ऐसे न्यायी की विवेचना न चलने पाई। राजवर्गों की उग्रता सदा देखी जाती है। इस अवस्था में प्राप्त होकर कहना पड़ता है कि न्याय, अन्याय, सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म आदि

शब्दों को इन लोगों ने गरीब जनों की हत्या के लिये महास्त्र बना रक्खा है। जो लोग विवेकहीन और स्वार्थ की साक्षात् मूर्ति हैं। भारतवर्ष में आखों से देख रहीहैं कि १-शूद्रों को वेद पढ़ना अन्याय और द्विजों को न पढ़ना ही अन्याय कैसी भयङ्कर नीति है। शूद्र भी कौन? जो जन्म से ही कायस्थ, कुरमी, अहीर, कुम्भकार, तेली, तमोली आदि शूद्र मानलिए गएहैं। २-शूद्रोंका उपनयन करना अन्याय और द्विजोंका न करनाही अन्याय। ३-विधवाहोकर अग्निमें जलकर मर जाना स्त्रियोंके लिये न्याय और पुरुषोंके लिये विभार्य्य होनेपर विवाह करना न्याय। इसके अतिरिक्त पुरुष कितने ही विवाह करले। १०० २०० । १००० इस के अधिक यदि पुरुष स्त्रियों को रख सकता हो तो भी वह अपराधी नहो। राजा चाहे जिस गरीब देश को विध्वस्त करदे और वहां के नर नारियों को दास दासी बनाले। ऐसा अन्यायी राजा समाज में घृणित निन्दित न होकर प्रत्युत प्रशंसित होता है और वीर बहादुर, धर्म्मावतार, ईश्वरावतार और देव आदि पदों से भूषित होता है। इन उदाहरणों से अभिप्राय यह है कि मनुष्य नाना मानसिक दुर्बलताओं से युक्त है। इसका उद्धार होना अतिशय कठिन प्रतीत होता है। एवमस्तु, प्रस्तुत की ओर चलती हैं।

वर्त्तमान मनुस्मृति के देखने से यह विदित होता है कि प्राचीन काल के अस्थिर नियमों को दृढ़ करने का इस का पूर्ण उद्योग है। १-पूर्वकाल में मनुष्य एक जाति मानी जाती थी। क्रमशः इस में कार्य्यविभाग और व्यापार की वृद्धि होने लगी तब वंशानुगत व्यापार चल पड़ा। यही एक प्रकार से मनुष्य पश्वादिवत् जातिविभाग का कारण बन गया। तथापि इस की जड़ मजबूत नहीं हुई थी। मनुस्मृति इस को सब प्रकार से दृढ़ कर देती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियां विश्वासपूर्वक दृढ़ता से पृथक् मानी जाने लगीं। २-राजवंश को सुदृढ़ देववंश बनादिया। प्रजाओं पर अधिक प्रभाव स्थिर करने के हेतु मनुस्मृति कहती है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः॥
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।

अर्थ–इन्द्र, वायु, यम, सूर्य्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ लोकपालों के नित्य अंशों को लेकर प्रभु ने लोक की रक्षा के लिये राजा बनाया है। जिस हेतु देवोंके अंशोंसे राजा निर्मित होता है अतएव अपने तेज से सब प्राणियों को दबा लेता है। इतना ही नहीं मनुस्मृति कहती है–

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

मनुष्य जानकर बालक राजा को भी कोई तिरस्कार न करे क्यों कि इस पृथिवी पर वह मनुष्यरूप से महान् देव स्थित है।

इस प्रकार मनुस्मृति राजसत्ता की जड़ को खूब ही अचल बनाती है। परन्तु मैं यह पूछती हूं कि क्या सूर्य्यादिवत् अकेला राजा अपना तेज फैला सकता है। यवन, म्लेच्छ और मुसलमान के भारत पर आक्रमण के समय यह महती देवता कहां भाग गई। हां, यह बात अङ्गीकार योग्य है कि जब यहां के वैश्य और शूद्र बहुत निर्बल थे तब उन पर यह राजवर्ग महती देवता होकर शासन करते थे। किन्तु पश्चात् मुसलमान बादशाह के गुलाम बन कर उन शूद्रों से भी अतिनीच होगए क्योंकि जो राजदेवता स्वगृह, स्वपरिवार, स्वधर्म, स्वलज्जा, स्वसदाचार भी न बचा सकता उसे किस नाम से स्मरण करें?

शूद्रजाति पर अत्याचार

मुझे यहां इतना वक्तव्य है कि शूद्र को एक पृथक् जाति मान

कर ध में और राज्य में कोई अधिकार न देना क्या महान् अन्याय नहीं। मनुस्मृति कहती है-

जातिमात्रोपजीवी वा कामंस्याद्ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ १ ॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।३।
न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्४
शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥५॥

अर्थ—केवल जाति का ब्राह्मण अर्थात् विद्यादि गुण विहीन भी हो और ब्राह्मणों में नीच भी हो तो भी ब्राह्मण ही राजा का धर्म प्रवक्ता हो सकता है। शूद्र कदापि और किसी अवस्था में नहीं। १। जिस राजा का धर्मकार्य्य शूद्र करता है वह दुःख पाता है जैसे गौ कीचड़ में। २। ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का धर्म है। इस से अन्यान्य जो वह करता है। वह उसका निष्फल है। ३। शूद्र में पाप नहीं लगता इसका कोई संस्कार नहीं। धर्म में इस का अधिकार नहीं। ब्राह्मण सेवारूप धर्म से प्रतिषेध नहीं।

मैं इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहती। केवल यह दिखलाना है कि राजकीय व्यवस्था भी धर्मानुसार ही होती है। अतः न्याय की मात्रा वहां ही तक परिमित होती है। जहां तक धर्म आज्ञा देता है। इस हेतु अविवेकी राज्य प्रबन्ध से भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इति संक्षेपतः

धर्मादित्रयव्यवस्थाविवेक

शिक्षा व्यवस्थाविषय

प्रियम्वदा–श्रीमती जी के उपदेश से मेरे निखिल सन्देह मेरे मन से निकल कर भागते हैं। चित्त में कितना आनन्द तरंगायमाण होता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। जो २ बहुत से सन्देह मेरे मन में बहुत दिनों से समाए हुए थे वे अपने ही से निवृत्त होगये न मालूम कि श्रीमती के वचन रूप महास्त्र मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हो, मानो, मेरे सन्देहरूप मृगपक्षियों को मार २ कर बाहर निकाल रहे हैं। और मुझे यह दृढ़तर निश्चय होगया कि वर्त्तमान कालिक धर्मसम्प्रदाय और राज्य सुखप्रद नहीं है। अब मैं शिक्षा-सम्बन्ध में भी भगवती के वचनामृत पान करना चाहती हूं। यदि किसी प्रकार महाशया को क्लेश न हो।

श्रीरूपकुमारी–मुझे उपदेश करने में कोई कष्ट नहीं प्रत्युत आनन्द आता है। एक तेरे उपदेश से सहस्रों को कल्याण पहुंचरहा है। श्रोतावर्ग भी दिन २ बढ़ते जाते हैं। एवमस्तु। आगे देख। धर्म और राज्यव्यवस्था के अनुसार ही शिक्षा भी हुआ करती है। उदार शिक्षा का अभाव सर्वत्र विद्यमान है। पुनः मुझे वही बात स्मरण में आती है कि देश भेद से मनुष्यों ने अपने में इतना भेद मान लिया है कि सब में सामञ्जस्य और एकता होना कठिन प्रतीत होता है जैसे विज्ञान और गणित की सर्वत्र एकता है वैसे ही यदि सर्व धर्मों की एकता होती तो समस्त पृथिवी पर के मनुष्य बड़े सुखीहोते। किसी देशका वासी विद्वानहो, जल और पृथिवी आदिके विज्ञान में भिन्न नहीं है। कोई भी कहीं क्यों न हो गणित को एकरूप से ही मानेंगे। वैसा ही मन्तव्य सब वस्तु में होना चाहिये। देश काल भेद से विचार में भेद होता गया। किन्तु ईश्वर की इस समय बड़ी कृपा है कि मनुष्य स्थान २ में एकत्रित होरहे हैं। अपना २ भाव परस्पर बतला रहे हैं। एक भाषा के ग्रन्थों का अनुवाद

दूसरी भाषा में अच्छीतरह् से हो रहा है। यदि हठ और दुराग्रह को छोड़ सत्यता के लिये परस्पर विचार करें तो पारस्परिक विरोध सहजतया दूर हो सकता है। किन्तु मनुष्य इतने बुद्धिमान् होने पर भी अत्यन्त अभिमानी हठी और आलसी हैं अतः वे अपने कर्म्मों का फल भोग रहे हैं। लोगों ने जो अपना २ एक एक विशेष चिह्न मान लिया है उसे छोड़ एक ईश्वर की ओर आजांय तो सुख की आशा बहुत है। प्रथम एक एक आचार्य्य के नाम पर शिर मुड़ाना अथवा लड़ना सर्वथा अनुचित है।

देख, विचार और सोच। एक आचार्य्य के मन्तव्य का अनुसरण करने से बहुत दोष आजाते हैं। जैसे वल्लभाचार्य्य ने तन, मन, धन, अर्पण के लिये कहा था। इस पक्ष पर चलने वाले सबको नीचातिनीच तन समर्पण करने का कर्म्म करना पड़ता है यह गलती इस लिये हुआ करती है कि अपने आचार्य्य को भगवान् समान मान उस के पक्ष पर चलना अनुयायीवर्ग सर्वोत्तम मानते हैं। यदि एक पर ही वे भक्तवर्ग निर्भर न होते तो ऐसा अयोग्य कर्म उन में प्रचलित न होता एक आचार्य्य के मानने से ही भारत वर्ष में अतिघृणित शिवलिङ्ग पूजा और तन्त्र पद्धति चल पड़ी। यदि जैनी लोग एक ही अपने आचार्य्य के अतिशयविश्वासी न होते तो वे कदापि पौराणिकों से भिन्न न होते। इसी प्रकार सर्वमुसलमान मुहम्मद के और सब क्रिस्तान ईसा के परम विश्वासी हैं। जिस हेतु मुहम्मद धोती को लुंगी के तौर पर पहिन पश्चिम मुख हो नमाज पढ़ा करते थे इस लिये सब कोई वैसे ही करने लग गये। मुहम्मद जी ने किसी कारणवश स्त्रियों को पर्दा में रखने को कहा था अब समस्त मुहम्मदीय भाई इस आचार को परमकर्त्तव्य समझने लगगये। मूसा ने किसी समय खतना करने की रीति चलाई थी उनकी देखा देखी समस्त यहूदी, मुसलमानों तथा यूरप में भी खतना करने की प्रथा चल पड़ी। अब क्रिस्तानी धर्म में यह प्रथा बन्द करदी गई है। मैं कहां तक उदाहरण बतलाऊं एक ही आचार्य्य के मानने से बड़ी २ भ्रान्ति हुई है।

दूसरी बात यह है कि लोगों ने जो अपना २ चिह्न अलग २ बना लिया है उसे छोड़कर भी मनुष्य सुखी हो सकता है। वैष्णव कण्ठी तिलक लगाना स्वधर्म समझते हैं किन्तु वह चिह्न उनका अपना है। जैन इसको अपना चिह्न न समझ कर रात्रि में न खाना नग्नमूर्त्ति को पूजना इत्यादि अपना चिह्न मानते हैं। जैसे समस्त हिन्दू मथुरा आदि तीर्थों को निज समझते हैं वैसे ही मुसलमान मक्का और मदीने को क्रिस्तान जेरुसलम को निजतीर्थ समझते हैं। इस प्रकार माने हुए बहुत से अपने २ चिह्नों को छोड़ भाई २ समझ परस्पर सब आदमी मिलजांय तो मनुष्य जाति में बहुत से बखेड़े दूर होजांय।

देश, भाषा और निजत्व को लोक छोड़ें। केवल एक राष्ट्रीय भाषा बना लें। स्वार्थ त्यागें। मानवजाति में ही उच्चता नीचता का भेदज्ञान दूर फेंक एक मनुष्यता पालें। वास्तव में मनुष्यत्वेन मनुष्य में भेद भी कुछ नहीं। केवल देशाभिमान कुलाभिमान जात्यभिमान इत्यादि २ विविध अभिमान मनुष्य जाति को नीचे गिराए हुए है। एवमस्तु। मैं कहां तक मानव जाति की विचित्रता बतलाऊं। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य की नाना अवस्थाओं को देख कर अनायास कहनो पड़ता है कि इस सृष्टि का उपादान कारण ही अज्ञान है और इस जीव की उपाधि ही अविद्या है तब ही मनुष्यजाति में ऐसी घनी अविद्या और अज्ञानता है। जिसके विवश ये जीव मूढ़ बन रहे हैं। इन पर विद्वानों को दया करनी चाहिये। वैदिक शिक्षा का थोड़ा सा नमूना बतलाकर इस प्रकरण को समाप्त करना चाहती हूं।

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
सत्यं वद। धर्म्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः॥
आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य-
प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।धर्म्मान्न प्रमदितव्यम्॥ कुशलान्न प्रमदितव्यम्।भूत्यैन प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १ ॥

आचार्य्य वेद पढ़ा कर शिष्य से कहते हैं कि तू सत्य बोल। धर्म्म कर। स्वाध्याय से प्रमाद मत कर। प्रिय धन लाकर आचार्य्य को दे।प्रजातन्तु का विच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद करना उचित नहीं। धर्म से प्रमाद करना उचित नहीं। कुशल से प्रमाद करना उचित नहीं। स्वाध्याय (नित्यपाठ) और प्रवचन (पढ़ाना) से प्रमाद करना उचित नहीं।

देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवोभव। आचार्य्यदेवोभव। अतिथिदेवोभव। यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि।नोइतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।२।

देव और पितृकार्य्य से प्रमाद करना उचित नहीं। मातृदेव हो। पितृदेव हो। आचार्य्यदेव हो। अतिथिदेव बन। जो अनिन्दनीय कर्म हैं उन्हे सेवना उचित है। इतर नही। जो हमारे सुचरित हैं उन्हें तू ध्यान से कर।

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्॥ श्रद्धयादेयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रियादेयम्। ह्रियादेयम्। भिया देयम्। संविदादेयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३ ॥

इतर नहीं। जो कोई हम लोगों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उन को तू आसन आदि से सम्मान कर। श्रद्धा से देना उचित है। अश्रद्धा से भी देय है। सम्पत्ति से देय है। लज्जा से देय है। भय से देय है। ज्ञान से देय है। यदि तुझे कर्म में सन्देह हो अथवा व्यवहार में सन्देह हो ॥ ३ ॥ तो—

ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाःसम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वहां जो ब्राह्मण परमार्थतत्त्वदर्शी हों ब्रह्म में युक्त और संसार में अयुक्त अतएव अलोभी धर्मात्मा हों वहां वे जैसे रहें वैसा वहां तू भी रह। यह आदेश है। यह उपदेश है। यह उपनिषत् है। यह अनुशासन है। इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये। पुनः—

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने। च सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। समश्चस्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्चस्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रश्च स्वाध्याय प्रवचने च।

अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्चस्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टः । स्वाध्यायप्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्यः । तद्धितपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

ऋत (सत्यविज्ञान) और पढ़ना पढ़ाना । सत्य और पढ़ना पढ़ाना । तप और पढ़ना पढ़ाना । दमन और पढ़ना पढ़ाना । शम और पढ़ना पढ़ना । विविधयज्ञ और पढ़ना पढ़ाना । अग्निहोत्र और पढ़ना पढ़ाना । अतिथियों की सेवा और पढ़ना पढ़ाना । मनुष्यों की सेवा और पढ़ना पढ़ाना । विवाह और पढ़ना पढ़ाना । सन्तानोत्पत्ति और पढ़ना पढ़ाना । प्रख्याति और पढ़ना पढ़ाना । राथीतर सत्यवाचा नाम के ऋषि कहते हैं कि यदि किसी कारणवश स्वाध्याय (पढ़ना) प्रवचन (पढ़ाना) न हो सके तो भी सत्यग्रहण करना आवश्यक है । पौरुशिष्टि तपोनित्य नाम के ऋषि कहते हैं कि इन्द्रियदमन लोकोपकार सत्याश्रित सन्तोष अलोभ इत्यादि व्रत करना अत्यावश्यक है । मौद्गल्य, नाम के ऋषि कहते हैं कि स्वाध्याय और प्रवचन ये दो ही अत्यावश्यक हैं । यही दोनों सबके मूल कारण हैं । यही तप है यही तप है ।

इन पूर्वोक्त उदाहरणों में यद्यपि बहुत सी अत्यावश्यक शिक्षाएं दिखलाई गई हैं तथापि दो चार बातों परही यहां टिप्पणी करनी है ।

सत्यंवद

ऋषि शिक्षा देते हैं कि " सत्यबोल " यहां तक कि पठन पाठन के साथ सत्यग्रहण करना अत्यावश्यक बतलाते हैं । किन्तु आज

काल सामाजिक और धार्म्मिक दोनों व्यवस्थाएं ऐसी बिगड़ी हुई हैं कि सत्य का ग्रहण करना अति कठिन है। प्रथम सत्य ही क्या है, इस का ज्ञान अति दुष्कर है और विवादों से और मिथ्या कल्पनाओं से इस सत्य के रूप को लोग छिपाए हुए हैं। प्रथम इस सत्य के तीन भेद कोई २ बताते हैं १-सामान्य सत्यता २-विशेषसत्यता ३-धार्म्मिक सत्यता। सामान्य सत्यता वह है कि बाह्यरूप से जो एक वस्तु समस्त मनुष्य को एक रूपसे ही भासित हो। जैसे किसी पुष्पवाटिका में प्रत्येक प्रकार के आबाल वृद्ध-मनुष्य इकट्ठे हैं। उन सबों को एक रूपसे भासित होता है कि इस वाटिका में अमुक अमुक पुष्प हैं। अमुक २ वृक्षादिक हैं और अमुक २ अन्यान्यलताएं हैं। इस में न तो भेद ज्ञान और न विवाद ही है। रात्रि में स्वच्छ आकाश को देख सामान्यरूप से सब ही कहते हैं कि आज आकाश निर्मल है। नक्षत्रगण विस्पष्टरूप से द्योतित हो रहे हैं। उन के मध्य चन्द्रमा कैसा मनोहर विराजमान है। एक महती सभा को देखकर सब कोई कहते हैं कि आज यहां बहुत लोग इकट्ठे हुए हैं। विद्वान् व्याख्यान देते हैं श्रोता शान्ति से सुन रहे हैं। इत्यादि स्थलों में कुछ भी भेद ज्ञान नहीं होता। इस में असत्य की सम्भावना नहीं। इस प्रकार के ज्ञान का नाम सामान्य सत्य है।

विशेष सत्य वह है जो शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। जिस सत्यता को अपने अनुभव और परीक्षाओं और नाना प्रमाणों से विद्वद्गण सिद्ध कर गये और कर रहे हैं। जैसे यद्यपि पृथिवी, अचला प्रतीत होती है तो भी अनेक प्रमाणों से इस की गति सिद्ध की जाती है। यह विज्ञान शास्त्र के अध्ययन से मालूम होता है। इसी प्रकार पृथिवी से कितनी दूरी पर सूर्य्य, चन्द्र नक्षत्रादि स्थित हैं। इन्द्र धनुष कौन वस्तु है। ग्रहण कैसे होता है। भौतिक जलादिकों का वास्तविकस्वरूप क्या है। मनुष्य के शरीर में कितनी हड्डियां कितने प्रकार के धातु नेत्रादिकों की आकृति इत्यादि २ वस्तुओं का बोध बिना शास्त्राध्यन से नहीं होता। इस हेतु इस का नाम

विशेष सत्यता है। इस में भी समय २ पर यत्किञ्चित् परिवर्त्तन होता है। प्रथम अनुभवी विद्वान् की परीक्षा में जो त्रुटि रहजाती है उत्तरोत्तर विद्वान् उस त्रुटि को निकालते रहते हैं। इस लिये इस सत्यता में भी न्यूनाधिक्य होने की सम्भावना रहती है।

धार्म्मिक सत्यता वह है जिनको धर्म्म ग्रन्थ सत्य कहते हैं। यद्यपि वे अनेक अन्यान्यप्रमाणों से असत्य क्यों न ठहरा जांय तथापि धर्म्मग्रन्थ के अनुसार वे सत्य ही माने जाते हैं। और उस के कहने सुनने वाले कदापि असत्यवादी नहीं माने जाते। जैसे पुराण कहता है कि अगस्त्यऋषि सब समुद्रों का जल पीगये। यद्यपि यह सर्वथा असत्य है तथापि धर्म्मग्रन्थविहित होने से सत्य ही माना जाता है। और इसके कथक और श्रोता अथवा मानने वाले कदापि असत्यवादी नहीं कहे जाते। इसी प्रकार बाईबिल में लिखा है कि कुमारी कन्या से ईसा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि यह सर्वथा असत्य है तथापि इसके मानने वाले कई कोटि पुरुषों और स्त्रियों को कोई विद्वान् असत्य नहीं कहते। कहां तक उदाहरण बतलाएजांय। इस प्रकार परीक्षा करने से सत्यासत्य का निर्णय भी अतिकठिन होगया है। अतएव सब शास्त्रकारों में विरुद्धोक्ति देखते हैं।

धर्म्मं चर

ऋषि उपदेश देते हैं कि "धर्म्म कर। इस पर बहुत कुछ पूर्व में कह चुकी हूं। धर्म्म भी विवादग्रस्त होगयाहै। कौन धर्म्म? हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैनधर्म्म, क्रिस्तान धर्म, इसलामीधर्म्म इत्यादि २ अनेक धर्म्म परस्पर विरुद्ध हैं। इस हेतु यदि यहां वेदान्त पद्धति मानली जांय तो धर्म की भी एकता सुगम रीति से होजातीहै क्योंकि इसमें प्रधान तथा शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान, वैराग्य आदिक ही मुख्य धर्म कहे जाते हैं।

स्वाध्यायप्रवचने च

पठनपाठन के लिये ऋषि कितना जोर देते हैं। इसी के अभावके

कारण भारतवर्षीय दुःख भोग रहे हैं। पूर्वकाल में प्रत्येक मनुष्य अपने सन्तान को अध्ययनार्थ गुरुकुल में भेजता था इस का माहात्म्य और आवश्यकता यहां तक समझी गई कि इस कार्य्य की सिद्धि के लिये एक ब्रह्मचर्य्याश्रम पृथक् स्थापित किया गया। गुरु और आचार्य्य की प्रतिष्ठा सब से अधिक समझी गई। जो विद्याध्ययन आचार्य्यकुल में जाकर न करे वह जातिबहिष्कृत माना जाने लगा। इस में सन्देह नहीं कि अध्ययन बिना मनुष्य पशु ही है। इस के अतिरिक्त अतिथियों की सेवा इत्यादि २ अनेक शिक्षाएं भरी हुई हैं।

ये प्रियंवदे! इतने व्याख्यान से तेरी समझ में यह बात अवश्य आगई होगी कि वैदिक धर्म्म वैदिकराज्य और वैदिकशिक्षा यदि पृथिवी पर फैले तो निःसन्देह मनुष्य सुखी हो सकता है। यदि कहो आदिकाल से वैदिक धर्म का उपदेश होता चला आता है उस से संसार में सुख विस्तारित न हुआ तो अब मेरे उद्योग से सुखोपलब्धि होगी। इस में कौन आशा है। हां, यह कहना बहुत ठीक है तथापि यदि इतना भी उपदेश विद्वद्वर्ग न करते रहें तो और भी महान् अनर्थ जगत् में फैल जाय। इसलिये मेरा उद्योग भी निष्फल तो नहीं किन्तु सर्वजन के निकट पहुंच नहीं सकता। अब इस को मैं अधिक बढ़ाना नही चाहती तुझे यदि इस सम्बन्ध में शङ्का रह गई हो तो पूछ। मैं यथाशक्ति और यथाविवेक बतलाऊंगी।

प्रियवदा—मातः! अब मुझे कुछ भी सन्देह नही रहा। किन्तु वेदान्त की बहुतसी बातें सुनने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुईहै। अतः हम वनिताओं के लिये जो २ उपदेश श्रीमती उत्तम और हितकर समझें उन्हें कहकर समझाइये।

इति श्रीरूपकुमारी कृते वेदान्तपुष्पाञ्जली धर्म्मादित्रयव्यवस्थाविवेक गुच्छः समाप्तः।

CENTAUR
FEATHERWEIGHT

वेदान्तसारविवेक

रूपकुमारी–प्रिये प्रियम्वदे ! तुझे मैं संक्षेप से वेदान्त का सार बतलाती हूं। तू जैसी मेधावती और धारणावती है वैसी ही मुझे आशा है कि तू मेरे अभिप्राय समझ कर उस २ विषय को मन में सञ्चित भी कर लेगी। आत्मसाक्षात्कार के लिये मुख्य चार ही साधन हैं १–विवेक २–वैराग्य ३–षट्सम्पत्तियां और चतुर्थ मुमुक्षुत्व इन में षट्सम्पत्तियां ये हैं १-शम २ दम ३–उपराम ४-तितक्षा ५–समाधि और ६–श्रद्धा। इन चार साधनों से युक्त नर अथवा नारी गुरु के निकट जा ब्रह्म की जिज्ञासा करे। उस नम्र मुमुक्षु शिष्य को अध्यारोप और अपवादन्याय से वैसा उपदेश दे जिस से परमपुरुषार्थ की सिद्धि हो।

अपवाद

असर्पभूत रज्जु में सर्प का भ्रम से आरोप होता है तद्वत् वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलोता है। सच्चिदानन्द परब्रह्म ही एक वस्तु है अज्ञानादि सकल जड़ समूह अवस्तु है न सत् न असत् अनिर्वचनीव त्रिगुणात्म,ज्ञानविरोधी, भावरूप जो एक वस्तु उसको अज्ञान कहते हैं। अज्ञान, माया, अविद्यातम, उपादानकारण ईश्वर शरीर, ईश्वरोपाधि, इत्यादि शब्द एकार्थक हैं। वह अज्ञान समष्टि और व्यष्टिरूप से एक और अनेक दोनों हैं। जैसे वृक्षों की समष्टि (समुदाय) वन ऐसा एक नाम होता है। परन्तु भिन्न २ रूप से वन में अनेक वृक्ष होते हैं । इसी दृष्टान्त के अनुसार सर्व जीवगत जो अज्ञान समूह वह एक ही अज्ञान है किन्तु पृथक् जीवगत अज्ञान अनेक भी हैं। इस हेतु सब अज्ञान की निवृत्ति से आत्मा स्वयम् भासित होता है।

अज्ञान की शक्ति

उस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियां हैं।

आवरणशक्ति यह है जैसे अल्प भी मेघ अनेक योजन विस्तीर्ण सूर्य्यमण्डल को आच्छादित कर लेता सा प्रतीत होता है। जैसे पृथिवीस्थ मनुष्य सूर्य्य को नहीं देख सकते वैसे ही अत्यन्त अल्प भी अज्ञान अत्यन्त अथवा अपरिच्छिन्न अनन्त २ आत्मा को घेर लेता है। ऐसी महाशक्ति का नाम आवरणशक्ति है। किसी ने ठीक कहा है:-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथाबद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिःस्वरूपोहमात्मा॥

मेघ से आच्छादित नयन वाला अतिमूढपुरुष सूर्य्य को भी घनच्छन्न और निष्प्रकाश जैसे मानता है वैसे ही मूढदृष्टि में जो आत्मा बद्धवद्भासित होताहै, वही नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूं। इसी आवरणशक्ति से युक्त जब आत्मा होता है तब वह अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी दुःखी इत्यादि धर्म वाला कहता है। और इसी से इस को संसार की प्राप्ति होती है जैसे स्वकीय अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है।

विक्षेपशक्ति

जैसे रज्जुगत अज्ञान स्वावृत रज्जु में स्वशक्ति से सर्पादिक उत्पन्न करता है वैसे ही अज्ञान भी स्वावृत आत्मा में स्वशक्ति से आकाशादि प्रपञ्च को घड़ लेता है तादृक् सामर्थ्य का नाम विक्षेप शक्तिहै। यही विक्षेप शक्ति लिङ्गादि शरीर से लेकर ब्रह्माण्डान्त जगत् को बनाती है। वही अज्ञान निमित्त और उपादान दोनों कारण जगत् का है। जैसे मकड़ी स्वयम् जाल बनातीहै इसलिये वह निमित्तकारण है और अपने शरीर से ही जाल बनाती है इस लिये उपादानकारण है। तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त जो अज्ञान उस से युक्त जो चैतन्य उस से यह सम्पूर्ण जगत् बनता बिगड़ता रहता है।

इस प्रकार वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है इस को अति संक्षिप्त रूप से दिखलाया है। अब इस जीवात्मा में भी

जैसा जैसा लोक अध्यारोप करते हैं उसे संक्षेप से दिखलाती हूं। कोई इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं। क्योंकि "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्यादि प्रमाण से अपने शरीर के समान ही स्वपुत्र में भी प्रेम देखते हैं। पुत्र के पुष्ट और नष्ट होने से मैं ही पुष्ट और नष्ट भी हुआ हूं, इत्यादि अनुभव भी करते हैं। किन्तु अपने से विभिन्नशाखा रूप पुत्र में निज शरीर से न्यून भी प्रेम होता है। अग्नि से जाज्वल्यमान गृह को देख प्रथम प्रत्येक आदमी पुत्र को त्याग अपनी रक्षा करना चाहता है। मैं स्थूल और मैं कृश हूं, इत्यादि अनुभव से इस स्थूल शरीर ही को कोई चार्वाकादिक आत्मा मानते हैं। दूसरे नास्तिक कहते हैं कि यदि इन्द्रिय न हों तो शरीर नहीं चल सकता और मैं काण हूं और मैं बधिर हूं इत्यादि अनुभव भी होता है। इस हेतु इन्द्रिय ही आत्मा है। तीसरे कहते हैं कि यदि प्राण न हों तो इन्द्रियों की गति नहीं हो सकती और मैं बुभुक्षु और पिपासु हूं, इत्यादि अनुभव भी होता है अतः प्राण ही आत्मा है। चौथे कहते हैं कि यदि मन सुप्त हो जाय और इस की क्रियायें न हों तो प्राण भी कुछ नहीं कर सकते। और मैं संकल्प विकल्प करने वाला हूं संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं इस हेतु मन ही आत्मा है। पञ्चम बौद्ध कहते हैं कि कर्त्ता और भोक्ता कोई अन्य न हो तो करण मन की शक्ति कुछ नहीं कर सकती और मैं कर्त्ता हूं, और भोक्ता हूं, इत्यादि अनुभव भी होता है इस हेतु बुद्धि ही आत्मा है। प्रभाकर और तार्किक कहते हैं कि सुषुप्ति में बुद्ध्यादिकों का अज्ञान में लय हो जाता है और मैं अज्ञ हूं इत्यादि अनुभव भी होता है अतः अज्ञान ही आत्मा है। भट्ट कहते हैं सुषुप्ति में प्रकाश और अप्रकाश दोनों रहते हैं और मैं अपने को जानता हूं सुख से आज मैं सोया इत्यादि अनुभव भी होता है अतः अज्ञानोपहित, चैतन्य ही आत्मा है। दूसरे नास्तिक कहते हैं कि सुषुप्ति में सब वस्तुओं का अभाव होता है और सुषुप्ति से उठ कर पुरुष को ऐसा ज्ञान होता है कि सुषुप्ति में मेरा अभाव होगया था, इस हेतु शून्य ही आत्मा है।

ऐ प्रियम्वदे! इन पूर्वोक्तमतों का खण्डन वेदान्तके समस्त ग्रन्थों में विद्यमान है। शरीरादि आत्मा नहीं। किन्तु नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है यह वेदान्त का माननीय सिद्धान्त है। इस प्रकार आत्माऽध्यारोप का भी वर्णन किया है।

अपवाद

रज्जुविवर्त—रज्जु में सर्प का भ्रम होकर जिस समय वह भ्रम नष्ट हो जाय उस समय जैसे सर्पज्ञान भी नष्ट होजाता है तब केवल रज्जुमात्र का ज्ञान रह जाता है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्तुरूप अज्ञानादि जड़ पदार्थ का भ्रम होकर जिस समय उस भ्रमका नाश होजाय तब केवल ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार बोध का नाम अपवाद है। परिणाम और विवर्त्त का भी भेद यहां जान लेना चाहिये—जो स्वरूप को विकृत करके कार्य्य को उत्पन्न करे वह विकारी वा परिणामी उपादान कारण है। अर्थात्, वस्तु का विकृतरूप में होना परिणाम है। यथादूध स्वयं दधि बन जाता है। बीज क्रमशः अंकुर और शाखा पल्लव युक्त वृक्ष बन जाता है। ऐ पुत्री यह सम्पूर्ण जगत् ही माया अथवा अज्ञान का परिणाम है जिस हेतु वह माया त्रिगुणात्मक और अत्यन्त विलक्षण है अतः यह समस्त जगत् भी वैसा ही हुआ है। क्या मृत्तिका से बने हुए पदार्थ कदापि सुवर्णमय होंगे? नहीं मृत्तिकामयही होंगे। ऐसे ही इस संसार को समझ।

किन्तु यह जगत् ब्रह्म का विवर्त भी कहा जाता है। कारण को विकृत न बनाकर वस्तु के समान ही कार्य्य उत्पन्न करे उसको विवर्त कहते हैं। जैसे अन्धकारादि दोषवश जो सामर्थ्य रज्जु को विकृत न बनाकर रज्जु के समान ही सर्परूप कार्य्य को उत्पन्न कर देता है अतः इस सामर्थ्य का नाम विवर्त है।

शङ्का—कदाचित् तुम सबको परिणाम और विवर्त शब्द सुनने से अवश्य शङ्का उत्पन्न हुई होगी क्योंकि एक ही वस्तु माया का

परिणाम और ईश्वर का विवर्त कैसे हो सकता है। यह जगत् परिणाम भी हो और विवर्त भी हो यह कहना सर्वथा अयौक्तिक है। क्योंकि दूध से दधि होना परिणाम कहावेगा विवर्त नहीं और रज्जु में सर्पभ्रम होना परिणाम नहीं किन्तु विवर्त है। इस जगत् में दोनों के बहुशः उदाहरण हैं। किन्तु समष्टिरूप से यह जगत् परिणाम ही कहा जा सकता है विवर्त नहीं, विवर्त तो भ्रम का नाम है। परिणाम वस्तुस्थिति है। रज्जु में सर्पका, शुक्ति में रजतका, आकाश में श्यामताका और स्थाणु में पुरुष का जो ज्ञान वह वास्तव में भ्रम है। वस्तु नहीं। किन्तु दूधसे दही का होना, अंकुर से काण्ड, काण्ड से पल्लव आदि का होना एक वस्तु है। किन्तु जहां बीज से अङ्कुरादि होते हैं वहां परिणाम और विवर्त दोनों नहीं कह सकते। अतः इस शङ्का का निवारण अत्यावश्यक है।

समाधान-ऐ पुत्रियो! इस तत्व को तुम सब तबही समझ सकोगी जब वास्तव में अपने स्वरूप को पहचान लोगी। वास्तव में यह संसार है ही नहीं। जैसे स्वप्न में सारी सृष्टियां होती रहती हैं किन्तु वे सृष्टियां वास्तव में सत्य नहीं वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् भी महान् आत्मा में स्वप्नवत् भासित हो रहा है। न जगत् है न होगा, अतः यह ब्रह्म का विवर्त कहलाता है। अब द्वितीय पक्ष को समझो। व्यवहार में जगत् भासित हो रहा है इस में भी सन्देह नहीं अतः व्यवहारको लेकर इस सृष्टि का वर्णन होता है अतः इस में परिणाम बतलाया जाता है॥

यहां इतनी बात और भी जानले-माया, अविद्या, अज्ञान इत्यादि शब्दों से जिस वस्तु को कहते हैं वह वस्तु ही नहीं। वह कोई पदार्थ ही नहीं। वह अनिर्वचनीया कही जाती है। जैसा कि प्रमाण ग्रन्थों में उक्त है:-

नासद्रूपा नसद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

वह माया न सत् है, न असत् है, न उभयात्मिक है। किन्तु सत्

और असत् से विलक्षणा अनिर्वचनीया मिथ्याभूता सनातनी माया है। अब समझ सकती है कि जब माया कोई वास्तव में मृत्तिकादिवत् पदार्थ ही नहीं तो उस से जगत् ही क्या बनेगा । उपादान के समान ही कार्य्य होता है। उपादान माया मिथ्या है, अतः उसका कार्य्य यह जगत् भी मिथ्या ही है। किन्तु व्यवहार में यह भासित होता है। अतः,माया का परिणाम इसको कहते हैं। इसी कारण कोई२ आचार्य्य दो ही सत्ताओं को मानतेहैं १-पारमार्थिकी २ और प्रातिभासिकी। अब आगे चल।

इस प्रकार अध्यारोप और अपवादद्वारा सम्पूर्ण विषय का बोध करना चाहिये। इस के पश्चात् "अहंब्रह्मास्मि" का ध्यान करके अपने को शुद्ध पवित्र बनाकर आत्मसाक्षात्कार के लिये यत्न करे। उस परमात्मा का जब तक साक्षात्कार न हो तब तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। योगशास्त्र कहता है:-

सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

भाव यह है, प्रत्येक वस्तु की दृढ़ता के लिये दीर्घकाल और नैरन्तर्य्य और सत्कार्य्य इन तीन वस्तुओं की अत्यन्त अपेक्षा है,सो है। चतुर्थ तीव्र संवेग भी आकांक्ष्य है। मन में यह भाव रखना चाहिये कि वह परमप्रिय आनन्दघन परमात्मा मुझ को कैसे और कब मिलेगा? जब योगिगण उसको पा लेते हैं तब मैं क्यों नहीं पाऊंगी। इस के साधन में तत्पर होजाना चाहिये और काल निरन्तरता और श्रद्धा इन तीनों को अपना इष्ट समझ कर अथवा महास्त्र समझ कर ब्रह्मसाधन में प्रयोग करे। अब श्रवणादि का लक्षण समझ। वेदान्त में षड्विधलिङ्ग कहे गये हैं उन के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य्य है इस धारणा का नाम श्रवण है। वे षट् लिङ्ग ये हैं।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

वेदान्त के तात्पर्य्य के निर्णयके लिये उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता,फल,अर्थवाद और उपपत्ति इन छः पदार्थों को जाने। जिस प्रकरण में जो वस्तु प्रतिपादन करने के योग्य हो उस प्रकरण में आदि से लेकर अन्ततक उसी वस्तु का प्रतिपादन करे। इसी का नाम उपक्रमोपसंहार है। उपक्रम नाम आरम्भ का और उपसंहार नाम अन्त का है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक की आदि में " एकमेवाद्वितीयम् " एक ही अद्वितीय ब्रह्म है-ऐसा कह कर अन्त में "एतदात्म्यमिदम् सर्वम्" इसी ब्रह्ममय यह संपूर्ण जगत् है। इस प्रकार आदि अन्त की एकता होने से इस को उपक्रमोपसंहार कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का मध्य २ में पुनः २ वारवार प्रतिपादन करे। इसी का नाम अभ्यास है। जैसे उसी छान्दोग्योपनिषत् में वहां ही अद्वितीय वस्तु के प्रतिपादन करने में "तत्वमसि" इस वाक्य को नौ वार कहा है। लोक में भी देखते हैं कि जब किसी एक श्लोक अथवा सूत्र का वारम्वार अभ्यास कर लेता है तब वह जल्दी विस्मृत नहीं होता अतएव श्रुति भी दृढ़ता के लिये "तत्वमसि श्वेतकेतो" हे श्वेतकेतु ! तू वही ब्रह्म है इसको नौवार कहती है। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का केवल निज प्रमाण से ही सिद्ध करना अन्य प्रमाण की आकांक्षा न करना इस का नाम अपूर्वता है। जैसे उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु को दिखलाने के लिये अन्यप्रमाण की अपेक्षा नहीं की गई है। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु के ज्ञान से अथवा अनुष्ठान से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा इस कथन का नाम फल है। जैसे वहां ही कहा गया है कि:-

आचार्य्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये। अथ सम्पत्स्ये।

आचार्य्यवान् पुरुष आत्मा को जानता है। उस को तब तक ही काल बीतता है जब तक मुक्त नहीं हुआ है। मुक्त होने पर उस को वह पा लेता है। इत्यादि अद्वितीय वस्तु ज्ञान से आत्मसाक्षात्काररूप प्रयोजन कहा गया है। इसी का नाम फल है। प्रकरण

प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा करने का नाम अर्थवाद है। जैसे वहां ही कहा गया है:-

उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।

हे श्वेतकेतु! तू ने अपने गुरु से यह आदेश पूछा था जिस से अश्रुत श्रुत होताहै। अमत मत और अविज्ञात विज्ञात होता है। यह अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा है इस लिये इस को अर्थवाद कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ के साधन के लिये युक्तियों को कहने का नाम उपपत्ति है। जैसे वहां ही कहा गया है-

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

हे सौम्य! जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञानसे सम्पूर्ण मृण्मय घटादि वस्तु का ज्ञान होजाता है क्योंकि मृत्तिका से बने हुए सब ही पदार्थ मृत्तिकामय ही होते हैं। केवल उस२ घट हांडो इत्यादि विकारों का केवल एक २ नाम बढता जाता है किन्तु उस २ में मृत्तिका ही है यही सत्य है। इस प्रकार अद्वितीय वस्तु के साधन में युक्ति बतलाई गई है। मनन-श्रुत अद्वितीय वस्तु के साधन में वेदान्तपदों के अर्थ के अनुकूल नाना युक्ति द्वारा अनवरत अद्वितीय वस्तु के चिन्तन का नाम मनन है, निदिध्यासन-तत्त्व ज्ञानके विरोधी देहादि जडपदार्थके ज्ञानको त्यागकर अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के अनुकूल ज्ञानके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है। समाधि के दो भेद हैं एक सविकल्पक दूसरा निर्विकल्पक। ज्ञाता, ज्ञान और जानने योग्य वस्तु इन तीन पदार्थोंका पृथक् २ ज्ञान होने पर भी अद्वितीय ब्रह्म वस्तु में अखण्डाकार चित्त की वृत्ति होना सविकल्पक समाधि कहाता है। जैसे मृत्तिका के

हस्ती से हस्ती का ज्ञान होने पर भी मृत्तिका ही है-ऐसा ज्ञान होता है। तद्वत् द्वैतभान होने पर भी अद्वैतभान होता है। किसीने कहा है-

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं-
सकृद्विभातं त्वजमेकमव्ययम् ।
तदेव चाहं सततं विमुक्तं-
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मकः ॥
नमेऽस्तिबन्धो न च मे विमोक्षः ॥

सर्वसाक्षी सर्वव्यापी सर्वोत्कृष्ट स्वप्रकाशस्वरूप जन्ममृत्यु रहित निर्लिप्त और सर्वदा मुक्तस्वभाव जो अद्वितीय ब्रह्म है वह मैं हूं।

निर्विकल्पक समाधि-ज्ञाता, ज्ञान और जान ने योग्य वस्तु इन तीन पदार्थों का भेदज्ञान का अभाव होने पर अद्वितीय ब्रह्म वस्तुमें अखण्डाकार चित्त की वृत्ति होना निर्विकल्पकसमाधि कहलाता है। इस समाधि के समय जिस प्रकार जल में मिले हुए लवण के लवणत्व ज्ञान का अभाव होने पर केवल जल का ज्ञान होता है तद्वत् अद्वितीय ब्रह्माकार चित्तवृत्ति के ज्ञान की सत्ता का अभाव होने परभी ब्रह्म वस्तुमात्र का ज्ञान रहजाताहै। अर्थात् अखण्ड ब्रह्म में चित्तवृत्तिके लीन होने पर और भिन्न रूप कुछ ज्ञान नहीं रहता। अखण्ड ब्रह्ममय ज्ञान ही रहजाता है अर्थात् जिस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का पृथक् २ ज्ञान हो उसे सविकल्पक कहते हैं और जिसमें इन तीनों का भेदज्ञान नहीं रहता उसे निर्विकल्पक समाधि कहते हैं।

ब्रह्म का ध्यान अनेक प्रकार से होता है चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये अनेक उपाय योगादि शास्त्रों में विहित हैं। जिस प्रकार हो उस उपाय को अवलम्बन करके चित्तवृत्तियों को रोके। जब बाह्यवस्तुयों मे चित्तवृत्तियां बढ़ती जाती हैं और नाना जञ्जालों में फंस जाती हैं तब इन का रोकना अत्यन्त कठिन होजाता है।

हे पुत्रियो ! जो कुछ थोड़ा बहुत कल्याणमय कार्य्य हुआ है । चित्त-वृत्ति के रोकने ही से हुआ है । इस हेतु जहां तक हो चित्त-वृत्तियों को अन्यान्य बाह्य वस्तुओं से हटा कर अन्तःकरण में लीन करे और तब एकान्त में बैठ उस परमात्माका ध्यान लगावे । ध्यान कभी जनसमूह मे अथवा लोगो को दिखलाने के लिये अथवा आडम्बर सिद्धि के लिये अथवा स्वयं सिद्ध बनने के लिये न किया जाय किन्तु स्वाभीष्ट को लक्ष्य में रख कर ही ध्यान में तत्पर हो। उस ध्यानको बढ़ाते २ समाधि तक पहुंचे जिसमें,ध्याता और ध्येय का भेद न हो । वेदान्त मत के अतिरिक्त सेव्यसेवकभावरूप से ध्या-नादि किया जाता है। उपासक अपनेको सेवक और उपास्य कृष्णा-दिक को सेव्य समझता है । सेवक अपने को पापी नीच सर्वथा अपराधी कृतपापों का विनाशाभिलाषी और अत्यन्त नीच निकृष्ट समझता है । सेव्य कृष्णादिक को शुद्ध पवित्र सर्वशक्तिसम्पन्न वरद और अत्यन्त उच्च उत्कृष्ट मानता है। इस प्रकार भेदज्ञान सहित ही ध्यानादिक होते हैं । किन्तु वेदान्त पक्ष में सेव्यसेवकगत भेद नहीं माना जाताहै । जैसे शुद्ध पवित्र आनन्दमय निर्विकल्प निरञ्जन सर्वव्यापी सर्वद्रष्टा सर्वकर्त्ता सर्वकल्याणगुणयुक्त परमात्मा है वैसा ही सेवक जीव भी है । क्योंकि जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं इसहेतु श्रवण,मनन,निदिध्यासन करते हुए सेवक अपनी चित्तवृत्ति को इतना वश मे करले कि समाध्यवस्था में उपास्य उपासक का किञ्चित् भी भेदज्ञान न रहने पावे । किन्तु "सोऽहं" अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि धारावाहिक ज्ञान हो और सब काल में तदाकारवृत्ति ही बनी रहे ।

इस के लिये यम, नियम,आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का सदा चिन्तन करे । अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह इन पांचो का नाम यम है । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान इन पांचों का नाम नियम है । हाथ, पैरों को विशेष २ स्थान मे रखने का नाम आसन है । जैसे

पद्मासन, स्वस्तिकासन, गरुड़ासन इत्यादि बहुविध आसन हैं प्राण के रोकने का नाम प्राणायाम है। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि भेद से श्वासप्रश्वास के रोकने से शारीरिक मल का नाश और चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। स्वस्व विषयों से हटाकर केवल आत्मचिन्तन में इन्द्रियों को लगाने का नाम प्रत्याहार है। अद्वितीय ब्रह्म वस्तु में अन्तःकरण के अभिनिवेश का नाम धारणा है। अद्वितीय ब्रह्मवस्तु में चित्तवृत्ति के प्रवाह का नाम ध्यान है।

समाधि पूर्व में कहा गया है उस निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार विघ्न उपस्थित होते हैं। लय उसको कहते हैं कि अखण्ड ब्रह्म वस्तु के अवलम्बन करने में असमर्थ जो चित्तवृत्तिकी निद्रावस्था है। अखण्ड ब्रह्मवस्तु के अवलम्बन करने में असमर्थ हो अन्यवस्तु के अवलम्बन करने की चित्तवृत्ति का नाम विक्षेप है। लय और विक्षेप के न होने पर भी रागादिवासना से स्तब्ध होकर अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने का नाम कषाय है। अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने से भी चित्तवृत्ति का जो सविकल्प आनन्दास्वादन है उसे रसास्वाद कहते हैं। समाधि के आरम्भ में जो सविकल्पक आनन्दास्वाद उसे भी रसास्वाद कहते हैं।

इस विघ्न चतुष्टय से रहित जब चित्त निर्वात दीपवत् अचल अखण्ड चैतन्यमात्र अवशिष्ट रह जाता है तब वास्तव में निर्विकल्प समाधि होता है। कहा गया है:—

लयेसम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञयाभवेत्।
यथादीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता॥

जब पूर्वोक्त लय प्राप्त हो तो उस की निवृत्ति के लिये चित्त को

सम्बोधित करे अर्थात् चित्तगत जाड्यादिकों को छोड़ चित्त का पुनः उद्बोधन करे और जब विक्षेपयुक्त चित्त हो तो भोग में वैराग्यादि दिखलाकर चित्त को शान्त करे। और जब कषायसहित चित्त हो तो उसे जान शान्ति करे। जिस समय अखण्ड ब्रह्म वस्तु में प्रणिधान होय उस समय अन्तःकरण को चलायमान न करे और कोई सविकल्पक आनन्द आस्वादन न करे किन्तु प्रज्ञा द्वारा निःसङ्ग होजाय। गीता का भी यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार दीपक वायुरहित स्थान में स्थित होकर निश्चल रहता है। तद्वत् प्रणिधान होने पर अन्तःकरण निश्चल होजाताहै। इस प्रकार इस विघ्न चतुष्टय से सदा ही चित्त को बचाकर रक्षा करे। तब ही समाधि होगी। इस के आगे सृष्टि की उत्पत्ति बतलाती हूं।

उत्पत्तिविवेक

मायासहित ईश्वर से अपञ्चीकृत(१)आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की, जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। जिस हेतु माया त्रिगुणात्मक है इस हेतु यह पञ्चभूत भी सत्व रज तम तीनों गुणोंसे युक्त होते हैं। आकाशादिपञ्चसूक्ष्मभूत, महाभूत, तन्मात्र (२) और अपञ्चीकृत कहलाते हैं। इन अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्मशरीर और स्थूल उत्पन्न होते हैं।

१-२-टि०-आकाश, वायु, तेज,जल और पृथिवी ये पञ्चभूत अलग पृथक् असङ्कीर्णरूप से स्थित रहते हैं। तब ये अपञ्चीकृत कहाते हैं। और जब परस्पर मिलते हैं तब पञ्चीकृत कहाते हैं। इन के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। इन का नाम तन्मात्रा है प्रथम अपञ्चीकृत और तन्मात्रारूप से ही पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। इस का आशय यह है कि मन्दाऽऽलोक संयुक्त प्रभातकाल में प्रथम सामान्यरूप से पदार्थ भासित होते हैं। पश्चात् सूर्य्योदय होने पर यह घट है, यह वृक्ष है यह यज्ञदत्त है इत्यादि विशेषरूप से पदार्थ

(देखो पेज नम्बर ४७३)

सूक्ष्म शरीर

सप्तदश १७ अवयव युक्त लिङ्ग शरीरों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चवायु, मन और बुद्धि ये सप्तदश अवयव कहलाते हैं। कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिव्हा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय कहाते हैं। ये ज्ञानेन्द्रिय आकाशादिकों के सात्विक अंश

भासित होते हैं। और भी—जैसे प्रथम चित्रपट पर सामान्यरूप से हस्तपादादि द्योतक रेखामात्र खैंची जाती है। पश्चात् वर्णोंसे पूरित कर सर्वावयवसम्पन्न चित्र बनाते हैं। तद्वत् आकाशादि पञ्चक प्रथम शब्दादि तन्मात्रारूप ही उत्पन्न होते हैं इस का भी यह आशय है कि अन्यान्य भूतों के गुणों से सङ्कीर्ण न रह कर केवल अपने २ गुणों से सयुक्त रहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में गुण गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है, इस हेतु अपञ्चीकृत दशा में स्पर्शादि गुणों से असङ्कीर्ण शब्दस्वरूप मात्र आकाश प्रकट होता है। इसी प्रकार अन्य गुणों से असङ्कीर्ण स्पर्शस्वरूप मात्र वायु, रूपस्वरूपमात्र तेज, रसस्वरूपमात्र आप, (जल) गन्धस्वरूपमात्र पृथिवी आविर्भूत होती है।

पञ्चीकृत दशा में अन्यान्य गुणों से सङ्कीर्ण शब्दादि स्वरूप पञ्चभूत होते हैं यहां इस प्रकार जानना चाहिये कि जैसे आकाश से, वायु, वायु से तेज, तेज से आप, आपसे पृथिवी होतीहै। यहां कार्य्य-कारण भाव कहा जाताहै। इसी प्रकार पञ्चीकृत भूतों में भी कार्य्य कारण भावजानना उचितहै। पञ्चीकृत आकाशकेप्रति शब्द तन्मात्रा और माया कारणहै। पञ्चीकृत वायुके प्रति शब्दतन्मात्राओरपञ्चीकृत आकाश कारण है। पञ्चीकृत तेजके प्रति रूपतन्मात्रा औरपञ्चीकृत आप (जल) के प्रतिरसतन्मात्रा और पञ्चीकृत तेज कारण है। पञ्चीकृत आप (जल) के प्रतिरसतन्मात्र और पञ्चीकृत तेज कारण है। पञ्चीकृत पृथिवी के प्रति गन्धतन्मात्रा और आप कारण है।

से उत्पन्न होने हैं। आकाश के सात्विक अंश से कर्ण, पृथिवी के सात्विक अश से घ्राण, जल के सात्विक अंश से जिव्हा, वायु के सात्विक अश से त्वचा, उत्पन्न होती है।

अन्त:करण और विज्ञानमय कोश

निश्चयात्मक अन्तः करण की वृत्ति का नाम बुद्धि है। सकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम मन है। अनुसन्धानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम अहकार है। इन चारों का नाम मिलकर एक अन्तः करण होता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन ये स्वय प्रकाशक हैं। इसी कारण इन को पञ्चभूतों के सात्विक अशों से उत्पन्न होना अनुमान किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। यही कोश "मैं कर्ता' भोक्ता, सुखी और दुःखी हूं" इत्यादि अभिमान युक्त इहपरलोक गामी (इसलोक और परलोक में जाने वाला) व्यावहारिक जीव कहाता है।

मनोमय कोश

पञ्चकर्मेन्द्रियों से सहित मन मनोमय कोश होता है। वाक्, पाणि, चरण, पायु और उपस्थ ये पञ्चकर्मेन्द्रिय हैं। आकाशादि महाभूतों के राजस अशों से वे उत्पन्न होते हैं। आकाश के रजोभाग से वाक् (वाणी) वायु के रजोभाग से हस्त, जल के रजोभाग से चरण, तेज के रजोभाग से पायु (मलेन्द्रिय) पृथिवी के रजोभाग से उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) उत्पन्न होते हैं।

प्राणमयकोश

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पञ्च प्राण हैं। ऊपर को चलने वाला नासाग्रवर्त्ती वायु का नाम प्राण, नीचे को चलने वाला गुदास्थान निवासी वायु का नाम अपान। सबनाड़ियों में चलने वाला सम्पूर्ण शरीर में व्यापक वायु का नाम व्यान. ऊपर को चलने वाला कण्ठस्थानीय वायु का नाम उदान और भोजनादि

किए हुए अन्नको और पान किए हुए जलादिकको समीकरण करने वाला वायु का नाम समान है। परिपाक क्रिया द्वारा भोजन की हुई वस्तु का रुधिर, वीर्य्य, पुरीषादि करने का नाम समीकरण है। सांख्यमतावलम्बी विद्वान् कहते हैं कि नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये और भी पांच वायु हैं। १–टंकार करने वाले वायु का नाम नाग। २–जिस से नेत्र के निमीलन आदि क्रिया हो उस का नाम कूर्म। ३–क्षुधाकर वायु का नाम कृकल। ४–जृम्भा कराने वाले वायु का नाम देवदत्त। ५–पोषण कारक वायु का नाम धनञ्जय। पूर्वोक्त पांच वायु में ही ये पांचों अन्तर्गत हैं ऐसा कोई आचार्य्य कहते हैं वे प्राणादि पञ्चप्राण सम्मिलित आकाशादिकों के राजस भाग से उत्पन्न होते हैं। यह प्राणादि पञ्चक कर्मेन्द्रिय सहित प्राणमय कोश होता है। गमन आगमन इत्यादि क्रिया प्राणादि पञ्चवायुयों का स्वभाव है इसी कारण राजस अंशों के कार्य्य ये पञ्चवायु मालूम होते हैं। उक्त कोशों में से विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्तियों से युक्त है और कर्ता रूप है। मनोमय कोश इच्छा शक्तिमान् करणरूप है और प्राणमयकोश क्रिया शक्तिमान् कार्य्यरूप है। योग्यता से ऐसा विभाग किया गया है। ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाता है।

यहां भी जैसे वृक्षों का समष्टि वन और जलों का समष्टि जलाशय। तद्वत् एक बुद्धि करने से समस्त सूक्ष्म शरीर एक समष्टि है और अनेक बुद्धि करने से वृक्षवत् और जलवत् व्यष्टि है। इसी सूक्ष्म शरीर का समष्टिरूप उपाधि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहते हैं। इसी कारण यही चैतन्य वस्त्रमें स्थित सूत्र की नाईं सब में परिव्याप्त और ज्ञान इच्छा और क्रिया इन तीनों से युक्त अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का अभिमानी होता है–इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का यह समष्टि सूक्ष्म शरीर और विज्ञानमयादिकोशत्रय जाग्रद्वासनामय होने से स्वप्नस्थान है। इसी कारण स्थूलप्रपञ्चलयस्थान कहाता है।

तैजसचैतन्य

इस स्थूल शरीर के व्यष्टिरूप उपाधि से उपहित चैतन्य को तैजस कहते हैं। इसी कारण तेजोमय अन्तःकरण इस का उपाधि है। इसी तैजस का यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा से सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर है और विज्ञानमयादि कोशत्रय जाग्रद्वासनामय होने से स्वप्नस्थान है। अतएव इसको स्थूल शरीर लयस्थान कहते हैं। ये सूत्रात्मा और तैजस चैतन्य तब सूक्ष्म मनोवृत्तियों से सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं।

जैसे वन और वृक्ष यह परस्पर भिन्न नहीं। जैसे वनावच्छिन्न आकाश से वृक्षावच्छिन्न आकाश कोई भिन्न नहीं। जैसे जलाशय का और जल का कोई भेद नहीं। जैसे जलगत प्रतिबिम्बित आकाश की और जलाशय के प्रतिबिम्बित आकाश की कोई विभिन्नता नहीं इसी प्रकार सूक्ष्मशरीर की समष्टि और व्यष्टि की तथा तदुपहित हिरण्य-गर्भ और तैजस की परस्पर विभिन्नता नहीं है।

इति सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः॥

स्थूलभूत

स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चीकरण की रीति इस प्रकार है। आकाश को प्रथम सम दो भाग करो उन में से एक भाग को पुनः सम चार भाग करो। इसी प्रकार वायु, तेज, जल और पृथिवी को प्रथम सम दो २ भाग करो। पुनः एक २ भाग को चार २ भाग करो। इस प्रकार पांचों महाभूतों के अर्ध २ पांच भाग और आधेरे के चार २ भाग होने से बीस भाग हुए। प्रत्येक महाभूत के समार्ध भाग में इतर चारों के एक २ भाग मिलाने से पञ्चीकरण होता है जैसे आकाशके अपने अर्ध भागमें वायु का एक भाग। तेज का एक भाग। जल का एक भाग। पृथिवी का एक भाग मिलाने से पञ्ची-कृत आकाश कहलावेगा। इसी प्रकार वायु के अपने समार्ध भागमें इतर चारों भूतों के एक २ भाग मिलाने से पञ्चीकृत वायु कहावेगा इसी प्रकार अन्यान्य भूतों का पञ्ची करण जानिये।

पञ्चीकरण चित्र

अल्पज्ञ पुरुषों के लिये चित्र द्वारा पञ्चीकरण दिखलाते हैं। आ० से आकाश, वा० से वायु, अ० से अग्नि, ज० से जल, पृ० से पृथिवी शब्द जानना।
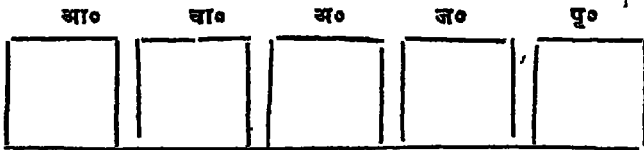
प्रथम एक २ के दो २ बराबर भाग करते हैं।

पुनः एक २ के अर्धभाग को चार २ भाग में करते हैं।

अपने २ अर्धांश को छोड़ कर इतर अर्धांशों में एक २ अंश की योजना।
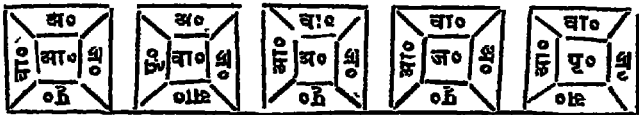
टि० श्लो० द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥

गुणों की उत्पत्ति

पञ्चभूत पञ्चीकरण के समय आकाश में शब्द गुण। वायु में शब्द और स्पर्श। अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। गुण विकसित होते हैं।

चतुर्दशलोक—

इन पञ्चीकृत महाभूतों से ऊपर के भूर्लोक, भुवर्लोक स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक और नीचे के अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये चौदह लोक होते हैं और इस ब्रह्माण्डगत चतुर्विध और अन्नपानादिक की उत्पत्ति होती है।

चतुर्विधस्थूल शरीर

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, और उद्भिज्ज ये स्थूल शरीर के चार भेद हैं। जरायु (उदरस्थगर्भाशय) से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदिक को जरायुज कहते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी सर्पादिक को अण्डज कहते हैं। स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले यूका मशक आदि को स्वेदज कहते हैं। पृथिवी को भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्ष आदि को उद्भिज्ज कहते हैं।

यहाँ भी यह चतुर्विधस्थूल शरीर एक और अनेक के विचार से वनवत् और जलाशयवत् समष्टि है और वृक्षवत् और जलवत् व्यष्टि है। एतत्समष्टिउपहित चैतन्य वैश्वानर और विराट् कहलाता है। इस का यह समष्टिस्थूलशरीर अन्नविकार के कारण अन्नमयकोश कहलाता है और स्थूल भोग के आश्रय से जाग्रत् है। और एतद् व्यष्टिउपहित चैतन्य विश्वकहाता है। क्योंकि सूक्ष्म शरीराभिमान को त्याग स्थूल शरीर में यह रहता है। इसका भी यह व्यष्टिरूप स्थूलशरीर अन्नमयकोश है और स्थूल भोगके आश्रय से जाग्रत् कहलाता है। तब ये दोनों विश्व और वैश्वानर, दिक् वात, सूर्य,

अश्विना और अश्वी क्रमशः देवता वाले श्रोत्र, त्वचा, चक्षु जिह्वा और घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमपूर्वक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच विषयों का अनुभव करते हैं, और अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति इन पांच देवताओं से क्रमपूर्वक नियन्त्रित वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियों से वाक्य, ग्रहण, गमन विसर्ग और आनन्द को भोगते हैं। इसी प्रकार चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर और अच्युत इन से नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त रूप अन्तःकरण से क्रमपूर्वक संशय, निश्चय, अहंकार्य्य और चैत्त भोग को भोगतेहैं इस प्रकार ये दोनों स्थूल विषय के अनुभव करने वाले हैं। यहां भी इन स्थूल व्यष्टि और समष्टि के और तदुपहित विश्व और वैश्वानर के परस्पर वन-वृक्षवत् और तदवच्छिन्नाकाशवत् और जलाशय जलवत् और तद्गत प्रतिबिम्बाकाशवत् अभेद हैं। इस प्रकारपञ्चीकृत पञ्चभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

मनुष्यादिशरीर की उत्पत्ति

ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी से ओषधियां औषधियों से जौ, गेहू आदि अन्न होते हैं अन्न से वीर्य्य, शोणित इत्यादि उस से स्थूलदेह होते हैं इस प्रकार प्रपञ्चरूप वृक्ष की शाखा के ऊपर दो पक्षियों के समान जीव और ईश्वर बैठे हुए हैं इन में से जीव संसाररूप वृक्ष के सुख दुःख रूप दो फल भोगते हैं और ईश्वर फल को न भोगता हुआ साक्षिरूप से स्थित रहताहैं। १-पांच सेर सोने के एक गोलेसे दो छटांग काट कर उस से यदि एक भूषण बनाते हैं तो उस गोले में दो छटांक कम होजातेहैं और वह भूषण ठीक दो छटांकका तैयार होताहै और सोने का जो रङ्ग है वही उस भूषणकाभी होताहै। किन्तु केवल स्वर्णकार की कारीगरी के कारण उसका आकार बदल जाता है।पीटना, आगपर तपाना और पानी में बुझाना आदि क्रिया से सुवर्ण के तौल में कोई परिवर्तन नहीं हुए होता। यहां सोना

कारण और भूषण कार्य्य है। २-अब कुछ मिट्टी लेकर उस में पानी मिला गोला बना चाक पर चढा एक कच्चा घट तैयार करते हैं। उसको आग पर रख ताप दे अच्छा मजबूत करलेते हैं। यहां प्रथम देखते हैं कि न पानी के बिना मिट्टी का गोला बनता और न आग के बिना उतना मजबूत ही होताहै। और भी-आगपर तपानेसे घटके रूपमें भी बहुत परिवर्तन होताहै।प्रथम कच्चा घट कुछ श्याम रहता। अबपककर लालहोजाताहै। यद्यपि अब उसपरिपक्क घटमें जलांशऔर तापांश कुछ भी नहो है तथापि ये दोनों घट के बनने में बड़ी सहायता करते हैं। यहां भी मिट्टी जहां से ली जातीहै वहां उतना तौल कम होजाताहै। और पानी और ताप देने परभी उस घटके तौल में न्यूनाधिक्य नहीं होता। क्योंकि पानी जल जाता और ताप उस से निकल जाताहै। ताप से बोझ बढ़ता भी नहीं। ३-अब तृतीय उदाहरण मकड़ी का जाल है। जैसे अलङ्कार और घट बनाने के लिये स्वर्णकार और कुम्भकार को किसी दूसरी जगह से सोना और मिट्टी लानी पड़ती है वैसे मकड़ी सूत किसी दूसरी जगह से नहीं लाती। प्रत्युत अपने पेट से ही निकाल २ कर जाल बनाती जातीहै। एक दो दिन नहीं किन्तु अपने जीवन भर जाल बनाती रहतीहै। उसके पेटका खजाना खाली नहीं होता। इन तीनों उदाहरणों में एक यह स्मरणीय है कि इन भूषण, घट और जालों की वृद्धि नहीं होती। यदि सुरक्षितस्थान में वे रख दिये जायं तो चिरकाल तक उसी एक अवस्था में वे स्थिर रहेंगे। ४-अब चतुर्थ उदाहरण की ओर ध्यान दीजिये यह वट का वृक्ष है। प्रथम इसका बीज बहुत छोटा होताहै। उस छोटे बीज से इतना बड़ा प्रकाण्ड वृक्ष तैयार होजाने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। बीज के तोल से अब लक्षों गुण अधिक तौल इस वृक्ष का है। यहां यह विचारना है कि कैसे यह इतना बढ़ता जाता है। जैसे कोई सोने के पत्र को पीट कर बहुत बढ़ा सकता है वैसे यहां नहीं है। बीज के अंकुर के समय में ही आप देखेंगे कि वह करीब२ ज्यों का त्यों बना रहता है उस में से किन परमाणुओं को लेकर

अंकुर होताहै यह कहनेकी बातनहीं। क्योंकि अनिर्वचनीयहै। ईश्वरीय शक्ति यहां ही देखी जातीहै। यहां मायाका कौशलहै। गेहूं,चना आदि के बीज को जिस प्रकार फोड़ अंकुर निकलता और उस से वृक्ष बनताहै यह आप लोग प्रतिदिन देखते हैं। आगे चलिये इस में सन्देह नहीं कि यह वट का अंकुर पृथिवी, जल, वायु और सूर्य्यसे से ताप आदि सामग्री लेकर स्वकीय धर्मके अनुकूल अपने को बढ़ाता चला जाताहै। इसमें पृथिवी आदिका अंश प्रत्यक्ष ही है तोभीयहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि "इस वृक्षका केवल कारण बीजमात्र" हैं।। नहीं। "पृथिवी जल आदिक" भी इस के कारणहैं। ५-अब इस से विलक्षण पञ्चम उदाहरण लीजिये। वह यह ऋतु परिवर्तन है। आप देखते हैं कि इस समय ग्रीष्म ऋतु है। आकाश धूलियों से आवृत है प्रचण्ड वायु चल रहा है। सूर्य्य के प्रखर किरणों से सकल प्राणी सन्तप्त और व्याकुल हैं। वनस्पति सब सूख गए। इतने में ही वर्षा आती मेघ की घटा पूर्व से पश्चिम दौड़ने लगती। घोर गर्जन से कान फटने लगतेहैं। विद्युत् का प्रकाश भी भयानक होता है। कहीं विद्युत् गिर कर बड़े २ वृक्षों को भी झुलसादेती है। कई प्राणी उस से मर भी जाते हैं वर्षा से भवन में रहना भी कठिन हो जाताहै। नदियां बढ़ कर गृहके समीपतक पहुंच जातीहैं। बिना नौका के चलना फिरना दुष्कर होजाता है। कितने ही ग्राम जल धारा में बह जातेहैं। नव शरद ऋतु पहुंचती है तब शीत ऋतु का आगमन होताहै विविध रङ्गोंके वस्त्रों से सुभूषित जहां तहां बालक वृन्द खेलते कूदते देख पडते हैं। पुनः वसन्त का बहार आताहै। पृथिवी पर इस महान् परिवर्तन का कारण क्या? इसका कारण सर्वसाधारण को कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसका विज्ञान घट पटादिवत् प्रत्यक्ष नही। इस लिये ज्योतिष का भूगोल खगोल और अन्यान्य विज्ञानशास्त्र का अध्ययन करना पड़ताहै। यह ऋतु परिवर्तन प्रत्येक वर्ष होता रहताहै। इस महान् कार्य्य का कारण कौन यह जानना चाहिये। ६-इस से भी षष्ठ उदाहरण की आलोचना

कीजिये। आज पूर्णिमा की रात्रि कैसी सोहावनी मनोहारिणी और प्रकाशमयी है। इसके विपरीत अमावास्या की रात्रि आती है। इसका क्या कारण? सूर्य्य के समान प्रतिदिन चन्द्र भी एक ही रूप में क्यों नहीं आता जाता यह क्यों घटता और बढ़ता रहता है। इसके कारण का ज्ञान भी दुर्बोध ही है। ७–इस प्रकार अनेक सांसारिक वस्तुयों को देख २ मन में विवेकी पुरुषों को शङ्का होती है कि इस अद्भुत लीला का कारण क्या ये भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश पञ्चभूत सदा से इसी प्रकार के हैं या वृक्षादिवत् ये भी बनते बिगड़ते रहते हैं। ये कहां से आगए।

८–थोडी देर मनुष्य की ओर आइये। आप कदाचित् समझते होंगे कि माता पिता से उत्पत्ति होने से ही मनुष्य बन जाता है। नहीं। प्रथम माता का दूध बच्चे के लिये चाहिये। दूधके लिये अच्छे भोजन की आवश्यकता है भोजन के लिये अन्न। उस के लिये खेत। उसके लिये जल। इत्यादि कारण विचारते चले जायें। अब मानिये अन्न का भी भण्डार पूरा है तथापि वायु, जल और अग्नि का ताप न हो तो मनुष्य क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। सूर्य्य न हो तो वह अन्धसा पड़ा रहेगा। वायु बिना वह न जी सकता और न शब्द ही सुन सकता है। इत्यादि समस्त कारण कलापको लेकर यदि आप निश्चय करने को बैठें तो मनुष्य शरीर के कारण का पता लगाना कितना काठिन्य आपड़ता है। जिस जलबिन्दु से यह शरीर बनता वह कितना थोड़ा था। अब यह कितना मोटा और लम्बा हो गया है। यह प्रत्यक्ष ही आप देखते हैं कि अन्न, जल, वायु और ताप आदि जड़वस्तुयों को यह शरीर अपने में लेता है। उस से इसमें अनेक विभाग बनते जाते हैं। प्रथम एक चेतन भाग दूसरा अचेतन। त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, अस्थि आदि चेतन हैं क्योंकि इन में आघात पहुचने पर क्लेश होता और केश और मूननख सचेतन हैं। क्योंकि शिरस्थकेश को शतशः टुकड़े करते जाय कुछ भी क्लेश का बोध न होगा। किन्तु एक पतली सूई भी शरीरमें चुभानेपर

वर्द होताहै। तीसरा विभाग इसमें जोवात्मा का है। जैसे दीपक में तेल न दिया जाय तो वह बुत जाना है। जब तक तेल रहेगा तब तक वह बलता रहेगा। शरीर में भी यही लीला देखते हैं। यदि इस में भोजन न दिया जाय तो मर जाता है। यदि यह निर्वात स्थानमें ही रख दिया जाय तौ भी मर जायगा। यदि जलीय पदार्थ इसमें न ड ले जायं तौ भी यह न रहेगा। इस शरीर के ऊपर का छाल या रक या अस्थि या प्राण निकाल लिये जायं तौ भी यह नहीं रहेगा। इत्यादि विचारने से पता चलेगा कि यह शरीर कितने पदार्थों से बना हुआ है। इसका कोई एक कारण नहीं कहा जा सकता है।

अब यह प्रश्न होगा कि जिन पञ्चभूतों से यह शरीर बनता है वे कहां से आतेहैं वे संख्यामें कितने हैं। जहांसे वे आतेहैं वह कहांसे आया। अन्ततोगत्वा सब का कारण एक ही है वा अनेक। इसी अन्तिम प्रश्न के विचार के लिये निखिल शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है पुनः क रण के प्रश्न में एक बात यह भी उपस्थित होती है कि जैसे घट के बनने में दो प्रकार के कारण देख पड़ते हैं। एक तो साक्षात् मिट्टी जिस से घट होता है। दूसरा बनाने वाला कुम्भकार। कुम्भकार को भी घट बनाने के लिये अनेक सामग्रियों की आवश्यकता होती है। इत्यादि विचार यहां किया जायगा।

न्याय, वैशेषिक और कारण

जैसे संस्कृत के ६ स्वरों और ३३ व्यञ्जन अक्षरों के योग से लाखों पद और ग्रन्थ बने हुए हैं। वैसे ही कणाद और गौतम के सिद्धान्त के अनुसार केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, (जीवात्मा और परमात्मा) और मन इन नव द्रव्यों के मेल से इस आश्चर्य्य जगत् के अनन्त पदार्थ बनते और बिगड़ते हैं। इन नवों द्रव्यों में भी केवल प्रथम चार ही आरम्भकद्रव्य कहलाते हैं। अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारोंसे ही असंख्य वस्तु बनती और बिगड़ती हैं। अन्य आकाश आदि द्रव्यों से कोई वस्तु नहीं बनती। वे निमित्त कारणमात्र होते हैं। पृथिव्यादि चारों

समवायिकारण और आकाशादि पांचों निमित्तकारण कहाते हैं। इन उक्त नवद्रव्यों के आश्रित २४ गुण और ५ कर्म सामान्य, विशेष समवाय और अभाव हैं। गुण ये हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्म ये हैं–उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। पृथिव्यादि चार नित्य और अनित्य भेद से दो दो प्रकार के हैं। परमाणुरूप नित्य और कार्य्यरूप अनित्य हैं और आकाशादि पांच नित्य ही हैं॥

यहां इतना और जान लेना चाहिये कि न्याय और वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ कहाते हैं। इन में ६ द्रव्य, २४ गुण और ५ कर्म को प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन देखते और अनुभव करते हैं। किन्तु सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये चार प्रत्यक्ष और एक प्रकार से कल्पितवत् प्रतीत होते हैं। सामान्य नाम जाति का है यह प्रत्यक्ष सी ही है क्योंकि मनुष्यत्व जाति पशुत्वजाति इत्यादि जातियां प्रत्यक्ष ही दीखती हैं। मनुष्य से पशु भिन्न हैं यह बोध जिस धर्म के कारण होता है वह विशेष कहाता है। यह भी एक प्रकार प्रत्यक्ष ही है। द्रव्य से अलग रूप, रस आदि गुण और उत्क्षेपण आदि कर्म नही देख पड़ते। अतः द्रव्य और गुण में जो सम्बन्ध है उसी का नाम समवाय है। अर्थात् मान लेवें कि नाना अवयवों से युक्त यह वृक्ष है। अतः वृक्ष को संज्ञा अवयवी होगी। तो अवयव और अवयवी में सम्बन्ध का जो अनुभव सब लोग कर रहे हैं उसी का नाम समवाय है। अवयव और अवयवी। जाति और व्यक्ति। गुण और गुणी। क्रिया और क्रियावान्। और नित्यद्रव्य और विशेष इन दो दो में समवाय सम्बन्ध होता है, और यहां घट नहीं है। यहां जल नहीं है। वह आदमी मर गया, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यों से जो एक प्रकार का बोध होता है वही अभाव है। इस रीति पर यदि आप

समालोचना करेंगे तो मालूम होगा कि कणाद और गौतम आदि मुनियों का विचार प्रत्यक्ष से ही अधिक सम्बन्ध रखता है।

हां, इतना अवश्य है कि जितना अन्वेषण इस वर्तमान काल में हुआ है उतना उस समय नहीं था। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओंको नित्य मानना ठीक नहीं। क्योंकि इनके परमाणु भी मिश्रित देखे जाते हैं। तेज नाम अग्नि का है, यह अग्नि पृथक् द्रव्य नहीं है यह पदार्थों की एक शक्ति मात्र है। ताप का नाम अग्नि है। ताप में गुरुत्व नहीं है यह अनेक परीक्षाओं से सिद्ध हुआ है। द्रव्य में गुरुत्व होना आवश्यक है। वायु के परमाणु, में भी गुरुत्व है। आकाश, काल, और दिशा वास्तव में द्रव्य नहीं हैं। प्रतीत विपक मात्र हैं। मन भी कोई पृथक् द्रव्य नहीं। यह पृथिव्यादि भूतों का एक कार्य्य है। आत्मा एक नित्य वस्तु है। वर्तमानकालिक भौतिक शास्त्र के अध्ययन से इन पृथिव्यादि द्रव्यों को जानना उचित है।

सांख्य और कारण

कपिल जी के मत में दो ही १-प्रकृति २-आत्मा द्रव्य हैं। इन में भी आत्मा से कोई वस्तु नहीं बनती क्योंकि यह अपरिणामी और निर्विकार वस्तु है। सत्व, रज और तम इन तीन द्रव्यों से मिश्रित एक द्रव्य का नाम प्रकृति है। यह परिणामिणी है। इन ही प्रकृति और आत्मा के संयोग और विभाग से यह समस्त जगत् बनता और बिगड़ता है जैसे दूध से दही और उससे घृत बनता है इसी प्रकार प्रकृति से महत्तत्व बनता है। महत्तत्व से अहङ्कार। अहङ्कार से चक्षु, श्रोत्र, श्रवण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय। वाक्, हस्त, चरण, पायु (मलेन्द्रिय) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये एकादश इन्द्रिय और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्चतन्मात्र ये सब मिलकर १६ वस्तु बनती हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्चमहाभूत बनते हैं। आत्मा से कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

इस से यह सिद्ध होताहै कि सूर्य्य से लेकर पृथिवी तक, हाथी से लेकर चींटी तक जो कुछ बने हुए हैं वे सब प्रकृति से बनते हैं। इन में आत्मा का सर्वत्र संयोग है। वेदान्त के सिद्धान्त से सांख्य का सिद्धान्त बहुत कुछ मिलता है। यहां भी देखते हैं जड़ प्रकृति से ये नाना चेतन शरीर बनते हैं एक ही प्रकृति के अनन्तर रूप हैं। कहीं सूर्य्यरूप में अग्नि का महासमुद्र। कहीं जलरूप में महासागर। कहीं पृथिवी, वायु, आदि जड़ महाभूत। कहीं मनुष्य, पशु आदि चेतन युक्त शरीर। इत्यादि मनुष्यादि शरीर में बुद्धि, मन, चित्त और अहङ्कार आदि भी जड़ ही हैं। आत्मा के संयोग से चेतन प्रतीत होते हैं। सांख्य मत में आत्मा विभु है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के साथ उसका संयोग है। तथापि कोई पदार्थ मनुष्य, वृक्षादिक शरीर चेतनवत् और पृथिवी, पर्वत मृत शरीर आदि अचेतनवत् क्यों है। इस के ज्ञान के लिये सांख्य शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है।

वेदान्त और कारण

वेदान्त शास्त्र इन सांख्याभिमत दो द्रव्यों को भी घटाकर केवल एक ही द्रव्य रखता है। जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, निरवयव, निर्विकार, सदा एक रस रहता है। परमार्थदृष्टि से इस मत के अनुसार बाह्य जगत् की स्थिति नहीं है। न यह सृष्टि बनती, न बिगड़ती, न है, न होगी। जैसे यह जीव स्वप्नमे नाना सृष्टियां बना लेता है परन्तु स्वप्न की सृष्टि वास्तव में विद्यमान नहीं है, तद्वत् उस परम देव में सृष्टि भासित होतीहै। वास्तव में सृष्टि नहीं है। तथापि व्यवहारिकी सत्ता को वेदान्त मानता है। व्यवहार में जो यह त्रिभुवन दीखता है। इस का कारण अज्ञान सहित ईश्वर है। अज्ञान तम, अव्यक्त, उपाधि, अविद्या, प्रकृति और माया शब्द एकार्थक हैं। इन सब का एक अर्थ है। अज्ञान को न वस्तु न अवस्तु कह सकते हैं किन्तु अनिर्वचनीय वस्तु है वास्तव में यही अज्ञान इस जगत् का उपादान कारण है। इसी का परिणाम यह समष्टि और व्यष्टि

जगत् है । और मायाविशिष्ट ईश्वर का यह जगत् विवर्तशब्द से भी पुकारा जाता है ।

इति उत्पत्तिविवेकः समाप्तः ।

अथ प्रलयविवेक

त्रैलोक्य का नाश प्रलय कहलाता है उस के चार भेद हैं १-नित्यप्रलय २-प्राकृतप्रलय ३-नैमित्तिक प्रलय और आत्यन्तिकप्रलय । सुषुप्ति का नाम नित्यप्रलयहै क्योंकि यह सब दिन हुआ करताहै इसलिये यह नित्य है और जागरण और स्वप्न की समस्त लीलाओं का इस में प्रलय हो जाता है । यद्यपि अन्तःकरण का नाश नही होता तथापि कुछ भी बोधका अंश उस में न रहने से प्रलय कहलाता है। इस लिये मृत और सुप्त में भेद है सुप्त पुरुष के शरीर में लिङ्ग शरीर संस्काररूप से अस्थित रहता है किन्तु मृत पुरुष का लिङ्ग शरीर लोकान्तर में चला जाता है । यद्वा अन्तःकरण को दो शक्तियां हैं १-ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति । ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में विनाश होता है किन्तु क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणका विनाश नहीं । इसहेतु प्राणादिकों की स्थिति रहती है श्रुति कहती है।

यदा सुप्तःस्वप्नं न कञ्चनपश्यति । अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति । अथैनंवाक् सर्वैर्नामभिःसहाप्येति सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतोभवति ।

जब सुप्त पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता तब इस में प्राण एक होजाता है । तब सब नामों के साथ वाणी उस में लीन होती है । हे सौम्य ! तब जीव सद्वाच्य ब्रह्म से सम्पन्न होता है । अर्थात् अपनी अवस्था में प्राप्त होता है ।

प्राकृत प्रलय उसे कहते हैं जब कार्य्य ब्रह्म विनाश निमित्तक सकल कार्य्य का नाश होता है । हिरण्यगर्भ आदिक सृष्टिकर्त्ता का

नाम कार्य्य ब्रह्म है क्योंकि वे उत्पन्न होकर निज २ सृष्टि रचते हैं जिस लिये हिरण्यगर्भादि उत्पन्न होते और सृष्टि भी करते हैं इस हेतु वे कार्य्य ब्रह्म कहलाते हैं। जब इन की बनाई हुई सृष्टियों का अविद्यारूप प्रकृति में प्रलय होता है तब वह प्राकृत प्रलय कहलाता है। जब ब्रह्माण्डाधिकाररूप प्रारब्ध कर्म्म की समाप्ति हो जाती है और उन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तब उन हिरण्यगर्भादिकों की विदेह कैवल्यात्मिका परा मुक्ति होती है। और उस काल में उस २ लोक वासियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार होता और अपने कार्य्य ब्रह्म के साथ ही विदेहकैवल्य मुक्ति को पाते हैं। इस प्रकार स्वलोक वासियों के साथ कार्य्य ब्रह्म को मुक्त होने पर तदधिष्ठितब्रह्माण्ड, तदन्तरवर्त्ति निखिल लोक, तदन्तरवर्ती स्थावरादिक भौतिक और भूत इन सब का मायारूप प्रकृति में लय होता है इस लिये इस को प्राकृतलय कहते हैं।

नैमित्तिक प्रलय उस समय होता है-जब कार्य्य ब्रह्म ब्रह्मा आदिक अपने दैनिक कार्य्य को समाप्त कर शयनार्थ रात्रि में प्राप्त होते हैं तब त्रैलोक्य मात्र का प्रलय होता है शयन निमित्तक यह प्रलय होता है इस लिये इसको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्मा का दिन चारों युगों का सहस्रपरिमित काल है " चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते " यह वचन इस में प्रमाण है। प्रलयकाल दिवसकाल परिमित होता है क्योंकि रात्रिकाल दिवसकाल का तुल्य ही माना गया है। प्राकृतप्रलय में यह श्लोक प्रमाण है।

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयायते।
एष प्राकृत को राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

ब्रह्मा के दिन व्यतीत होने पर सातों प्रकार की प्रकृतियां लीन होने लगती हैं। इस हेतु हे राजन् उसको प्राकृतलय कहते हैं। नैमित्तिक प्रलय में यह प्रमाण है:—

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्।

यह नैमित्तिक प्रलय कहलाताहै जिस में सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा जगत् को अपने में लीन कर के सो जाता है।

आत्यन्तिक प्रलय वह है जो ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् सब जीवों का मोक्ष होता है। वह एक जीव पक्ष में सकल प्राणियों का एक साथ ही मोक्ष होता है और नाना जीव पक्ष में क्रमशः मुक्ति होती है। उन चारों प्रलयों में से तीन प्रलय कर्म के क्षय निमित्तक है। चतुर्थ प्रलय ज्ञानोदय निमित्तक होता है। इस प्रकार चतुर्विध प्रलय का निरूपण हुआ। आगे प्रलयक्रम निरूपण करूंगी॥

अथप्रलयक्रमः

क्रम यहहै पृथिवी का जल मे, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, उसका हिरण्य-गर्भाहंकार में और उसका अविद्या में प्रलय होता है। विष्णुपुराण में कहा गया है:-

जगत्प्रतिष्ठादेवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्ते पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले संप्रलीयते॥

हे देवर्षिनारद! पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वाेयु आकाश में, आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्फल पुरुष में लीन होता है।

इति प्रलयविवेकः समाप्तः

अथ प्रयोजन विवेकः

जिस अर्थ के उद्देश से मनुष्य की प्रवृत्ति होती है अथवा जिस

को जान लेने से लोग चाहताहो, उसे प्रयोजन कहतेहैं। वह द्विविध है एक मुख्य दूसरा गौड़। सुख को प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति मुख्य प्रयोजन है। इस से भिन्न गौड़ प्रयोजनहै। सुख भी दोप्रकार का है एक सातिशय दूसरा निरतिशय। सातिशय सुख वह है जो विषयों के संग से अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा जो आनन्दलेश का आविर्भाव होता है। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुप-जीवन्ति" उसी आनन्द की एक मात्रा को लेकर अन्यान्य समस्त प्राणी जीते हैं।

निरतिशय सुख ब्रह्म ही है। आनन्दात्मक ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष है किसी अन्यलोक की प्राप्ति मोक्ष नहीं अथवा उस २ लोक के विषयों के भोग का भी नाम मोक्ष नही क्योंकि वह कर्मजन्य होने से अनित्य है। इस हेतु मुक्तपुरुष की पुनरावृत्ति होगी। यदि कहो कि वेदान्तपक्ष मेंभी आनन्द की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति कर्मजन्य ही हैं क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासनादियों से वे होती हैं। यदि कहो कि मोक्ष अनादिवस्तु है तो उसके साधन श्रवणादियों में प्रवृत्ति ही क्यों होनी चाहिये। वेदान्त पक्ष में यह दोष नहीं। क्योंकि मोक्ष ब्रह्मरूप ही है वह अनादि अनन्त और सिद्ध स्वरूप है। उस की सिद्धि हो क्या, तथापि भ्रमवश उसको सिद्धि के लिये श्रवणादिक में जीव प्रवृत्त होता है। और अनर्थ निवृति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूप ही है। अतः यह भी सिद्ध ही है। तब यदि कहो कि आनन्द प्राप्ति और अनर्थ निवृत्ति दोनों स्वयं अनादि और सिद्ध हैं और प्राप्त हैं तो उनके लिये चेष्टा क्यों? इस का उत्तर यह है कि लोक में भी प्राप्तप्राप्ति और परिहृतपरिहार का प्रयोजन देखते हैं। जैसे हस्तगत सुवर्णअंगूठी को भी भ्रान्त पुरुष खोजे तब कोई आप्तपुरुष उसकी भ्रान्ति देख कर कहे कि अरेमूर्ख तेरी अङ्गुली में ही यह अंगूठी है। तू क्यों पागल होरहा है तब वह भ्रान्त पुरुष प्राप्त अंगुठी को ही मानो फिर पा रहा हो। यहां प्राप्त प्राप्ति है। वैसे ही अन्धकार में किसी के चरण में रज्ज

लपट जाय उसको वह सर्प समझ कर चिल्लाने लगे। तब लोग आकर दीपक दिखला कर कहें कि तेरी यह भ्रान्ति है यह रज्जु है सर्प नहीं। यहां परिहृत ही सांप का परिहार है अतः इसको परिहृत परिहार कहते हैं। इसी प्रकार प्राप्त ही आनन्द की प्राप्ति और परिहृत ही अनर्थ की निवृत्तिरूप मोक्ष प्रयोजन है।

वह मोक्ष ज्ञानैक साध्य हैं क्योंकि श्रुति कहती है–

तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होता है यह लोक में प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान जीव और ब्रह्म की एकता सम्बन्धी है क्योंकि श्रुति कहती है–

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि तदात्मानमेवा वेदाऽहं ब्रह्मास्मि।

हे जनक तू अभय को प्राप्त है तब जनक ने अपने को ही जाना कि " मैं ब्रह्म हूं "। और भी–

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ ज्ञानं मोक्षस्यसाधनम्।

नारद कहते हैं कि तत्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

वह ज्ञान प्रत्यक्षरूप होना चाहिये। क्योंकि परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष भ्रम का निवारण नही होता। यह लोक सिद्ध है। इस हेतु " अहम्ब्रह्मास्मि " इस वाक्य से साक्षात् ब्रह्म की प्रत्यक्षतः हो और भिन्नता का सर्वथा विनाश हो तबही यह ज्ञान अपरोक्ष कहलावेगा। वह अपरोक्ष ज्ञान "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से होता है ऐसा कोई आचार्य्य कहते हैं। मनन, निदिध्यासन से सुसंस्कृत अन्तःकरण द्वारा वह अपरोक्षज्ञान होता है ऐसा दूसरे आचार्य्य कहते हैं। पूर्वा

चार्य्यों का यह आशय है कि ज्ञान का जो अपरोक्ष्य है वह किसी कारण विशेष से उत्पन्न नहीं होता। किन्तु प्रमेय के विशेष ज्ञान से होता है। इस हेतु प्रमाता (ज्ञाता) जो जीव उस से ब्रह्म भिन्न नहीं किन्तु जीवरूप ब्रह्म है इस लिये जीवगत शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष है। यहां एक आख्यायिका बतलाते हैं।

दिवोदास का पुत्र राजा प्रतर्दन युद्ध से और पुरुषार्थ से इन्द्र के प्रियधाम पहुंचा और वहां कुछ दिन रहा। अन्त में इन्द्र ने कहा हे प्रतर्दन तुझे मैं वर देना चाहता हूं तू मुझ से वर मांग। इस पर प्रतर्दन ने कहा कि आप स्वयम् मनुष्य के लिये जो हिततमवर समझते हैं उसे मुझे दीजिये। तब इन्द्र उस से कहने लगे—

सहोवाच प्राणोऽस्मिन् प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व।

हे प्रतर्दन! मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं। उस मेरी आयु और अमृत समझ कर उपासना कर। पुनः—

अथ खलु प्राण एव प्रज्ञातमेवेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति।

प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को पकड़ कर उठाता है। पुनः—

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्।

वाणी की जिज्ञासा न करे किन्तु वक्ता को जाने। पुनः अन्त में यह कहा गया है—

स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः।

वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर और अमृत है। इत्यादि कथा कौषीतकी ब्राह्मण में आई है। यहा पर यह विचार उपस्थित होता है कि यहां प्राण शब्द से वायुमात्र का, अथवा देवात्मावायु का, अथवा जीव का अथवा ब्रह्म का ग्रहण है। यद्यपि "अत एव प्राणः" इत्यादि स्थल में प्राण शब्द ब्रह्मवाची है यह सिद्ध किया गया है।

और यहां भी "यह प्राण आनन्द, अजर और अमृत है" इस कथन से ब्रह्मवाचक प्राणशब्द सिद्ध होता है तब संशय क्यों। तथापि इस पर कहते हैं कि अनेक चिह्न देखनेसे यहां संशय होता है यहां केवल ब्रह्म चिह्न ही नहीं किन्तु अन्यान्य चिह्न भी हैं। " मुझ को ही जान " इस इन्द्रवाक्य से प्राण शब्द में देवता का चिह्न पाते हैं। पुनः " इस शरीर को पकड़ कर प्राण उठाता है" इस वाक्य से प्राण शब्द शरीराभ्यन्तर्चारी वायुवाचक प्रतीत होता है। पुनः "वचन की जिज्ञासा मत कर किन्तु वक्ता को जान " यहां जीव चिह्न पाया जाता है। इत्यादि कारणवश संशय होता है। प्रसिद्धि का आश्रय लेकर वायु ही प्राण है यह प्राप्त होता है। इस पर कहा जाता है कि यहां प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है दूसरों का नहीं। क्योंकि पूर्वाचार्य्य की पर्य्यालोचना से ब्रह्म परक वर्णन पाया जाता है। क्योंकि उपक्रम (आरम्भ) में इन्द्र ने कहा कि हे प्रतर्दन ! तू वर मांग इस पर प्रतर्दन ने कहा कि आप ही मनुष्य के लिये जो हिततम वर समझते हैं उसे मुझे दीजिये, इत्यादि। यहां हिततम का उपदेश करते हुए मैं प्राण हूं मेरी उपासना कर यह कहते हैं। परमात्मज्ञान से बढ़ कर कोई हिततम उपदेश नहीं अतः यहां ब्रह्मवाचक ही प्राण शब्द है यह सिद्ध होता है। ब्रह्मज्ञान ही हिततम उपदेश है इस में यह श्रुति प्रमाण है–

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

उसी आत्मा को जान कर मृत्यु का लंघन करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं इत्यादि और भी बहुत सी श्रुतियां हैं। पुनः–

स यो मां वेद नह वै तस्य केचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया ॥

सो जो कोई मुझ को ही ब्रह्म रूप जानता है उस ब्रह्मज्ञानी का मोक्षरूप लोक किसी पातक से हिंसित नहीं होता न चोरी से, न बालहत्या से।

यह फल तब ही हो सकता है जब ब्रह्मज्ञान हो। अतः प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है उस की उपासना से उपासकको कोई दोषनहीं होता। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सब कर्म्मों का क्षय होता है। यह श्रुतियों में प्रसिद्ध है। यथा—

क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे।

उस परमात्मा के दर्शन होने पर ब्रह्मज्ञानी के सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।

पुनः—प्राण को प्रज्ञात्मा (ज्ञानस्वरूप) कहा है वह ब्रह्म पक्ष ही में घट सकता है। क्योंकि अचेतन वायु प्रज्ञात्मा नहीं हो सकता। उपसंहार (अन्त) में भी "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्यादि कथन से आनन्दत्व, अजरत्व और अमृतत्व ईश्वर हो में घट सकते हैं अन्यत्र नहीं। पुनः वहां ही कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है—

स न साधुना कर्म्मणा भूयान् भवति नो एवाऽसाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते। एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः। इत्यादि—

वह साधु कर्म से महान् नहीं होता और न असाधु कर्म से छोटा ही होता। यही उससे साधु कर्म करवाता है। जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है। यही उस से असाधुकर्म्म करवाता है। जिसको इन लोकों से नीचे लेजाना चाहता। यह लोकाधिपति है यह लोकेश है।

इत्यादि वर्णन ब्रह्म में ही घट सकता है अन्यमुख्य प्राणादिक में नहीं। पुनः यहां शङ्का होती है कि जब प्राणशब्द ब्रह्मवाचक सिद्ध हो

तब " मेरी उपासना कर " ऐसा इन्द्र क्यों कहता है । इस के उत्तर में वेदान्त सूत्र रचते हैं । यथा—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।

यहां पर भी यह कथा है कि वामदेव ऋषि ने भी कहा था कि मैं ही मनु और सूर्य्य इत्यादि हूं । इत्यादिस्थलों में शास्त्रदृष्टि से उपदेश होना है । इस का भी भाव यह है कि तत्वमस्यादिवाक्यों से " मैं ब्रह्म हूं " ऐसाज्ञान जिसको होता है वह ब्रह्म और अपने में भेद न जानता हुआ मेरी उपासना कर ऐसा उपदेश किया करता है।

इत्यादि वर्णन से सिद्ध है कि तत्वमस्यादि वाक्यों के द्वारा अपरोक्षज्ञान होता है ।

और अन्य आचार्य्यों का यह आशय है कि करण विशेष से ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है विषय विशेष से नहो । क्योंकि एक ही सूक्ष्म वस्तु को कोई पटुकरण (निपुणअन्तःकरण) से प्रत्यक्ष कर लेता है किन्तु जिस की बुद्धि और इन्द्रियादिक दुर्बल हैं वह उसको नहीं देखता । इस लिये ज्ञान की प्रत्यक्षता में इन्द्रियों को ही प्रयोजकता है किन्तु शब्दजन्य ज्ञान का अपरोक्षत्व नहीं । ब्रह्म साक्षात्कार में मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत मन ही करण है क्योकि "मनसैवानुद्रष्टव्यः" मन से ही वह देखने योग्य है । ऐसा श्रुति कहती है । परन्तु—

यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्यमनसा सह ।

इत्यादि श्रुति से जहां मन से भी अगम्य परमात्मा को कहा है वहां असंस्कृत मन का ग्रहण है । यदि कहैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार में मन ही कारण है तब उपनिषदादि श्रुतियों के अध्ययन से प्रयोजन ही क्या ? इस पर उत्तर यह है कि उपनिषदादि अध्ययन से ही मन सुसंस्कृत होता है और तब हो उस सुसंस्कृत मन से ब्रह्मज्ञान होता है अन्यथा नहां ।

वह ज्ञान पापक्षय से होता है और पाप क्षय कर्मों के अनुष्ठान से

होता है इस प्रकार परम्परासे कर्मों का ज्ञानमें विनियोग है। अत-एव कहा गया है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।

उस इस आत्मा को ब्राह्मणगण वेद के अध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से और अनशन अर्थात् हितमितमेध्य भोजन से जानना चाहते हैं। इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी ज्ञान साधन हैं। मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" यहां आत्मा का दर्शन कह कर उस के साधन की अपेक्षा में "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि कहते हैं। यहां श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान है। यहां सम्पूर्ण वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य्य है। इस प्रकार धारणा को अनुकूलमानसि क्रिया का नाम श्रवण है और मनन उस को कहते हैं जहां श्रुति से अवधारित अर्थ में अन्यान्य प्रमाणों से शङ्का उत्पन्न हो यहां उस को निराकरण के लिये अनुकूल तर्क द्वारा आत्मज्ञानजनक जो मानस व्यापार है वह मनन है और अनादि दुर्वासना से विषयों में आकृष्यमाण जो चित्त उस को विषयों से हटा कर आत्म विषय में स्थिर करने के लिये जो अनुकूल मानस व्यापार उसे निदिध्यासन कहते हैं। यह निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण है और निदिध्यासन में मनन हेतु है क्योंकि अकृतमनन पुरुष का अर्थ दृढ़ता नहीं हो सकता। मनन में श्रवण हेतु है क्योंकि यदि श्रवण न हो तो तात्पर्य्य का निश्चय न हो सकता और शब्द ज्ञानके अभाव से मनन ही क्या हो सकता है। इस प्रकार इन तीनों को ज्ञानोत्पत्ति में कारण कोई २ आचार्य्य कहतेहैं। अन्य श्रवणको ही प्रधान मानते हैं। और श्रवणादिकों में मुमुक्षुओं का अधिकार है मुमुक्षुत्वके लिये नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफल भोगविराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा इन सब का विनियोग है।

सगुणोपासन भी चित्तैकाग्रता द्वारा निर्विशेष ब्रह्मसाक्षात्कार में हेतु होता है, जैसा कहा है:-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधि कल्पनम्॥

जो मन्द पुरुष निर्विशेषपरब्रह्म को साक्षात् करने मे असमर्थ हैं उन्हें सगुणोपासन बतला कर दया दिखलानी चाहिये। जब सगुण ब्रह्म की उपासना से इन का मन वशीभूत होता है तो उस में सर्वोपाधि रहित वही ब्रह्म साक्षात् आविर्भूत होता है। सगुणोपासक जन अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं वहां ही श्रवणादि द्वारा तत्वसाक्षात् करके अधिकारी कार्य्य ब्रह्म के साथ मोक्ष पाते हैं। किन्तु कर्म्म करने वाले धूमादि मार्ग से पितृलोक में जाकर कर्मफल भोगते हैं, कर्म क्षीण होने पर पूर्वकृत, सुकृत, दुष्कृत के अनुसार ब्रह्मादि स्थावरान्त जातियों में उन की पुनरुत्पत्ति होती है श्रुति भी कहती है:-

रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते।
कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते।

रमणीय सदाचारी रमणीय योनि को पाते हैं कुत्सिताचारी कुत्सित योनि को पाते हैं। ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि, वैश्ययोनि इत्यादि रमणीय योनि है। कुक्कुरयोनि, चाण्डालयोनि, शूद्रयोनि इत्यादि कुत्सितयोनि है। निषिद्ध कर्म करने वाले रौरवादि नरकों में पापो का फल तीव्र दुःख को अनुभव कर शूकर से लेकर पक्षि पर्य्यन्त योनियों में और स्थावरों में उत्पन्न होते हैं।

जो निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्करने वाला है उसका लोकान्तर में गमन नहीं होता। क्योंकि "नतस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" उस के प्राण

ऊपर नहीं जाते वहाँ ही लीन होते हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्म का जब तक क्षय नहीं होता तब तक सुख दुःखका अनुभव कर पश्चात् मुक्त होता है। शङ्का होती है कि-

क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

उस परमात्मा के दर्शन होने पर इस ज्ञानी के सब कर्म क्षीण होजाते हैं। इस श्रुति से और-

ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुतेतथा।

ज्ञानाग्नि सब कर्म्मों को भस्मकर देता है इस स्मृति से सकल कर्म्मों का क्षय करने वाला ज्ञान कहा गया है तब ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म रहजाता है यह कथन अनुपपन्न है। किन्तु श्रुति कहती है जब तक प्रारब्ध कर्मका क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति नही होती श्रुति यह है-

तस्य तावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्येअथसंपत्स्ये।

जब तक प्रारब्ध कर्म से नहीं छुटता तब तक ही देर है प्रारब्ध कर्म से विमुक्त होने पर मोक्ष पाता है स्मृति भी कहती है-

अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

सञ्चितकर्म दो प्रकार के हैं। सुकृत और दुष्कृत। इसी सञ्चित कर्म का ज्ञान से नाश होता है प्रारब्ध का नहीं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है यह सिद्ध हुआ। यहा शङ्का होतीहै कि अविद्या एक है तब किसी एक जीव को ज्ञानोत्पत्ति होने पर अविद्या का सर्वत्र नाश होना चाहिये इस प्रकार एक की मुक्ति से सब को मोक्ष भी प्राप्त होना चाहिये। कोई वेदान्ती इसको इष्ट ही मानते हैं। दूसरे इस दोष के निवारणार्थ अविद्या की अनेकता मानते हैं। और इस में श्रुति का प्रमाण देते हैं।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

इत्यादि तीसरे आचार्य्य कहते हैं कि अविद्या एक ही है किन्तु उस में ब्रह्म स्वरूप के आवरण करने की नाना शक्तियां हैं तब जिस को ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है उसका ब्रह्मस्वरूपावरण शक्ति विशिष्ट अविद्या का नाश होता है अन्यान्य की वह अविद्या नष्ट नहीं होती इस हेतु एक की मुक्ति से सब की मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से मोक्ष कहा गया है। वह मोक्ष अनर्थ निवृत्तिरूप और निरतिशय ब्रह्मानन्द प्राप्तिरूप है। इस प्रकार प्रयोजन दिखलाया गया है।

प्रियवदा—यद्यपि सकल पाकसामग्रियों के रहने पर ओदन होगा या न होगा ऐसी चिन्ता नहीं हो सकती। इसी प्रकार अच्छे अच्छे पदार्थोंको खाताहुआ पुरुष तृप्त होगा या न होगा। ऐसी विचारणा केवल मूर्खों की हो सकती है। तद्वत् साधनभूत विद्या की प्राप्ति से नित्यमुक्ति होगी अथवा अनित्य मुक्ति। यह परामर्ष भी तुच्छ है। अर्थात् श्रीमती के निकट मुझे यह शङ्का करनी है कि मुक्त पुरुष की पुनरुत्पत्ति होती है या नहीं। यद्यपि श्रीमतीजी से बहुशः सुन चुकी हूं कि मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। तथापि श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म उक्त है इस लिये यह शङ्का हुई है।

१—अपान्तरतमा नाम के ऋषि, वेद में अत्यन्त निपुण और तत्ववित् थे। वही पुराण ऋषि विष्णु के आदेश से कलि और द्वापर की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुए। यद्यपि वह वेदाचार्य्य ब्रह्मज्ञानी थे तथापि इनकी उत्पत्ति सुनती हूं। २—वसिष्ठ ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र कहे जाते हैं। निमि राजा के शाप से उन के पूर्व देह का पतन होगया। पश्चात् ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण द्वारा वसिष्ठ की पुनः उत्पत्ति हुई। ३—भृग्वादि ऋषि भी ब्रह्मा के मानस पुत्र थे उन की भी वरुण यज्ञ में पुनरुत्पत्ति सुनी जाती है। ४—ब्रह्मा के मानस पुत्र सनत्कुमार भी वर प्रदान से महादेव के पुत्रहुए जिनका नाम स्कन्द कियागया। इसी प्रकार ५—दक्ष और

शारद प्रभृति मुक्त ऋषियों की बहुतसी पुनः उत्पत्तियां उस उस निमित्त से गाई गई हैं। अतः निर्गुण-ब्रह्म की उपासना से अथवा ब्रह्म साक्षात्कार से भी मुक्त पुरुषों की उत्पत्ति देख कर समझती हूं कि मुक्ति भी पाक्षिकी है। श्रुति के मन्त्र और अर्थवाद में ऐसी ऐसी बातें पाई जाती हैं। कोई पूर्व देह के पतन के पश्चात् अन्य देह धारण कर लेते हैं। कोई योगैश्वर्य्य के कारण अनेक देह भी धारण कर लेते हैं और वे सब सकल वेदज्ञ कहे जाते हैं।

श्री रूपकुमारी–तेरे प्रश्न गम्भीर भाव से विचारने के योग्य हैं इस में सन्देह नहीं। बात यह है कि अपान्तरतमा प्रभृतियों की कथा वैसी ही है किन्तु वे सब एक एक अधिकार में नियुक्त किये जाते हैं अधिकार समाप्त होने पर वे मुक्त हो जाते हैं। यदि कहो कि क्या पुनः उन्हें अधिकार नहीं दिया जायगा? इस का उत्तर यह है कि पुनः इन को अधिकार नहीं दिया जाता है। इस विषय का विचार—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्।

वेदान्त ३। ३। ३२

इस सूत्र द्वारा कृष्णद्वैपायन ने किया है। इस के भाष्य में शङ्कराचार्य्य महाराज कहते हैं कि वे अपान्तरतमा प्रभृति लोक स्थिति के लिये वेद प्रचारादि अधिकारों में नियुक्त होते हैं। जबतक उनका कार्य्य समाप्त नहीं होता तब तक उसी कार्य्य पर रहते हैं। कार्य्य की समाप्ति के पश्चात् कैवल्य प्राप्त करते हैं। जैसे भगवान् सूर्य्य सहस्रयुग पर्य्यन्त जगत् का अधिकार करके अन्त में उदयास्त रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं। इस में यह श्रुति प्रमाण है–

अथ तत ऊर्ध्वउदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एवमध्ये स्थाता। छा० उ० ३। ११। १

प्रारब्ध कर्म के क्षय के अनन्तर (ततः) पश्चात् (ऊर्ध्वः) विलक्षण=केवल ब्रह्मस्वरूप होकर (उदेत्य न एव उदेता) उदित

होकर पुनः उदित नहीं होता। (न अस्तं एता) अस्त को भी नहीं प्राप्त होता। किन्तु (एकलः एव) अद्वितीय वह आदित्य (मध्ये स्थाता) उदासीन आत्मस्वरूप में सदा रहा करता है। इसी प्रकार वर्तमान ब्रह्मवित् पुरुष आरब्ध कर्म्मों के भोग द्वारा क्षय होने पर कैवल्य का अनुभव करते हैं। अपान्तर तमा प्रभृति भी ईश्वर ही हैं। परमेश्वर से उन उन अधिकारों में नियुक्त होते हैं, मोक्ष- हेतुक सम्यग्दर्शन रहने पर भी प्रारब्ध कर्म के क्षय न होने से अधिकार पर्य्यन्त रहते हैं अन्त में मुक्त हो जाते हैं। फल देने के लिये प्रवृत्त कर्माशयोंको भोगते हुए अपनी इच्छा के अनुसार एक गृह से दूसरे गृहमें जैसे कोई जाय वैसे अन्य २ देहों में विचरण करते हुए अपने २ अधिकार की समाप्ति के लिये बहुत से शरीरों को एक ही बार निर्माण कर अथवा क्रम से उन में रहते हैं। उन सब को पूर्व जन्मकी विस्मृति नहीं होती इतना भेद है। कहा गया है कि ब्रह्मवादिनी सुलभा नाम की कोई स्त्री जनक के साथ विवाद करने को आई। उन से विवाद कर अपने देह को छोड़ जनक के देह में पैठ उन के साथ पुनः विवाद कर पश्चात् पुनः अपने देह में प्रविष्ट हुई। इस से सिद्ध है कि योगियों को जातिस्मरण सदा बना रहता है इस हेतु पुराण इतिहास आदि में नारदादिकों की जो उत्पत्ति कथा सुनी जाती है वह अधिकार मात्र के लिये है। इस प्रकार मुक्ति अनित्य नहीं किन्तु नित्य है।

प्रियंवदा—मुक्ति के सम्बन्ध में पुनः मुझे शङ्का बनी हुई है क्या जो पुरुष मुक्त होजाते हैं और जिन के देह का भी पतन होजाता है वे उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म से पृथक् होकर रहते हैं या उसी में लीन होकर सब भूल जाते हैं। अब ही श्रीमती जी ने कहा है कि उन वसिष्ठादि ज्ञानी पुरुषों की स्मरण शक्ति कभी अन्यान्य देहों में भी लुप्त नहीं होती। वैसे ही ब्रह्म में लीन होकर वे समझते होंगे कि मैं वसिष्ठ हूं मैं नारद हूं। मैं सनत्कुमार हूं इत्यादि इस शङ्काकी निवृत्ति जैसे हो वैसा मुझे समझावे।

रूपकुमारी-इस का उत्तर सहज है तू ने वेदान्त का मनन नहीं किया इस लिये ऐसी शङ्का हुई है। तू इस प्रकार समझ जैसे बहुत जल पूरित घटों में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। अब कारणवश, माना, एक घट फूटता है। अब कह वह प्रतिबिम्ब कहां गया। निःसन्देह, वह सूर्य्य का प्रतिबिम्ब न कहीं गया और न उसका नाश ही हुआ। किन्तु उपाधि सहित में प्रतिबिम्ब पडता था उपाधि के नष्ट होने पर ज्यों का त्यों वह प्रतिबिम्ब बना रह गया। हां उपाधि-रूप घट के न रहने से वह प्रतिबिम्ब प्रतीत नहीं होता। तद्वत् अन्तःकरण में अथवा अविद्या में ब्रह्मका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव कहलाताहै। उस उपाधिभूत अन्तःकरण का अथवा अविद्याका नाश होने से वह प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मा बिम्बस्वरूप ब्रह्म में स्थित हो गया। पूर्व भी वह ब्रह्मस्वरूप ही था अब भी ब्रह्मस्वरूप ही रहा। हे पुत्री! यह सब माया का विनाशमात्र है न कोई वसिष्ठ पृथक् है न उस से ब्रह्म भिन्न है। ये सब लीलाएं व्यवहारमात्र के लिये हैं। परमार्थ के लिये नहीं। तू वारम्वार विचार कि मैं क्या हूं। कहां से आई और पुनः कहां चली जाऊंगी।

ऐ प्रियवादिनी प्रियंवदा! तू विचार दृष्टि से इस का वारम्वार मनन कर कि सांसारिक थोड़े से प्रयोजन के लिये कितना उद्योग करना पड़ता है। गृहस्थ उदर पूरणार्थ अहोरात्र अन्नों को उत्पन्न करने में लगे रहतेहैं। प्रथम गौ, बैल, भैंसी, भैंसा, बकरा, बकरी, मेष, मेषी, घोड़ा, घोड़ी, हाथी, हथिनी, ऊंट, ऊंटिनी, कहां तक गिनाऊं शूकर कुक्कुर इत्यादि २ यथाशक्ति यथाप्रयोजन पशुओं को पालते हैं। खेतों को जोतते समीकरण करते क्षेत्रयोग्य खाद्य पदार्थों से खेतोंको भरते बीज बोतेहैं। और बढ़े हुए सस्योंकी रक्षाके लिये अनेक उपाय करते रहते हैं। कभी जल सींचना पडता है कभी रातर भर जाग कर खेत को दुष्ट जन्तुओं से बचाते हैं। यदि दुर्भाग्यवश अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि अथवा हिमपतन और शलभ मूषिका आदि उपद्रव आपहुंचे तो कितना कोलाहल होने लगताहै महाभयङ्कर

दुर्भिक्ष से हजारों मनुष्य मरने लगते हैं ॥ इस प्रकार बहुत प्रयास करने से साधारणजन अपना पेट भर सकते हैं।

ऐ पुत्री ! इस पेटके लिये कैसे २ घोरतर दुष्कर्म में लोक प्रवृत्त होजातेहैं। बाल हत्या, स्त्रीहत्या, मनुष्य हत्या, डाका, चोरी, लूट और नाना प्रकार के छल कपट धूर्त्तता आडम्बर इत्यादि २ दुष्कर्म करते करवाते हैं। बहुत से धूर्त्त जटा बढ़ा भस्म लगा हाथ में माला ले ग्राम २ लोगों को धोखा देते फिरते हैं। कोई किसी प्रचलित पथ में अथवा प्रचलित आचार में प्रवेश कर भागवतादि ग्रन्थों को अथवा वेदादि शास्त्रों को लेकर जनताके समीप पहुंचते हैं। यद्यपि जनता न उनकी कथा सुनना चाहती न वेदोंसे यज्ञ करवानेमें रुचि रखतीहै न श्रद्धा न भक्ति न विश्वास तथापि। इस उदर की पूर्त्ति के लिये ऐसे श्रोताओं को भी अपनी कथा सुनाना चाहते हैं। यहां केवल उदर पूरण ही प्रयोजन है। इतना ही नहीं किन्तु और भी आगे देख जितने व्यावहारिक शुभ कर्म विहित हैं वे भी प्रायः क्षुधा निवृत्यर्थ ही हैं। अच्छे अध्यापक बनने के लिये ही कितना प्रयास अपेक्षितहै चार पांच वर्ष वयःक्रम के पश्चात् हो बालक अक्षरादि परिचय में लगाए जाते हैं। तब से निरन्तर बीस पचीस वर्ष यदि अध्ययन करे तो मध्यम कक्षा का वह अध्यापक हो सकता है। छत्तीस अथवा उस से भी अधिक चालिस पचास वर्ष अध्ययन करे तो व्यवहार में उत्तम अध्यापक की पदवी का अधिकारी होता है।

जब एक ऐसे क्षुद्र अधिकार के लिये इतना प्रयास आकांक्षित है तब निःशेष दुःख रहित अनन्त मोक्ष के लिये कितनी सामग्री कितना साधन कितनी चित्तैकाग्रता कितनी सावधनता इत्यादि २ साधन अपेक्षित हैं। उसे तू अनुमान कर सकती है।

प्रियंवदा-मातः ! मेरा यह नम्र निवेदन है कि जैसे इस व्यवहारिक जगत् में लोक प्रवृत्त होते हैं। वैसे ही परमार्थ वस्तुमें लोक क्यों नहीं प्रवृत्त होतेहैं। जब इस क्षणिक सुखके लिये इतना प्रयास करते हैं तब शाश्वतिक अनन्त२ परमानन्द की प्राप्ति के लिये लोगों की प्रवृत्ति क्यों नही होती।

रूपकुमारी-इस में सन्देह नहीं कि परमार्थ में लोगों की प्रवृत्ति नहीं है। इस के लिये दश पदार्थों का बोध होना चाहिये। १-प्रथम स्मरणाभाव इसका कारण है जो दण्ड्यपुरुष कारागार (जेल) में कठोर दण्ड का अनुभव कर चुका है कोल्हू में बैल के समान जोता गया है। दौड़ कर न चलने पर बैंतों से खूब पीटा गया है रात्रि में भूखा ही उस अन्धकार कोठड़ी में फेंक दिया गयाहै मूत्र और पुरीष के ऊपर बलात्कार सोना पड़ा है। इसी अपवित्रता में किञ्चित् अन्न पान देकर पुनः कोल्हू में जोता गया है अन्न पान भी इस लिये दिया गया है कि वह अपने दण्ड भोगने के लिये नाना दुःखों का अनुभव करे। जोर से चिल्लाय छटपटा छटपटा मरणप्राय हो पुनः २ बैंतों, लातों और मुक्का आदिकों की मार सहसके इस प्रकार दुःख अनुभवकर कारागारसे छूट पुनः अपने पूर्व काम पर आ उसी अपराधको न करे। इसी प्रकार कारागारमें नाना विधचित्र विचित्र यातनायें कैदियों को भोगाई जाती हैं। अब तू समझ सकती है कि इस प्रकार यातना भोग चुकने वाला जेल से निकल पुनः दण्डनीय अपराधों में प्रवृत्त न होगा। यदि इसी प्रकार नाना योनियों में भोगे हुए सुखदुःखों का किञ्चित् भी स्मरण होता तो निःसन्देह नानायोनिरूप कारागार से निकल कर स्वच्छन्दचारी मानव देह को पाकर कदापि दुःकर्म में प्रवृत्त न होता। इस हेतु परमार्थ में प्रवृत्ति न होने का प्रथम कारण स्मरणाभाव है।

२-दूसरा कारण उपस्थित वस्तुओं का प्रतिपालन है। उपस्थित को छोड़ कर अनुपस्थित की चिन्ता कोई नहीं करता। गृहस्थ प्रथम अपनी और अपनी पत्नी की रक्षा की चिन्ता करता है। होने वाले पुत्र पौत्रादि की प्रथम ही चिन्ता नहीं करने लगता। जब दो व्यक्तियों के भरणपोषण के लिये पर्याप्त साधन एकत्रित कर लेता है अथवा अधिक करने में समर्थ होता है तब भावी सन्तानों के लिये भी धन संग्रह करने लगता है। असमर्थावस्था में प्रथम अपना ही भरणपोषण उपस्थित रहता और उसीके उपायमें लगा रहताहै। जब गृह में आग लग जातीहै तब प्रथम उपस्थित अग्निबुताने ही हो

सब चेष्टाएं होती हैं। अब पुनः घर कैसे बनेगा सामग्री कहां से आवेगी इत्यादि चिन्ता उसी समय नहीं करने लगता है। वैसे ही मनुष्यमात्र को सांसारिक आवश्यकताएं जितनी सूझ पड़ती हैं उनही के उपार्जनमें प्रथम आसक्त हो जातेहैं। सांसारिक कामनाए इतनी बढ़ी हुई हैं कि उनकी ही पूर्त्तियां नहीं होतीं। सृष्टि की प्रथमावस्था से मनुष्य के मनोरथ और अभीष्ट दिनर बढते ही गए। सुना जाता है कि सत्ययुग में लोग इतने कामुक और मनोरथासक्त नही थे त्रेता द्वापर और कलि में आवश्यकताए बढ़ती गईं। यह सत्य हो वा असत्य हो किन्तु मनुष्य जाति नाना कामनाओं से युक्त है। इतर पशु पक्ष्यादि जातियां केवल शरीर निर्वाहार्थ ही प्रयास करती हुई देखी जाती हैं। क्षुधा पिपासा की निवृत्ति होने पर वे उक्तजातियां आनन्द से क्रीड़ा में लग जाते हैं। किन्तु इस से विरुद्ध मानव जाती में नाना अपरिमित मनोरथ उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। निर्धन केवल पेट भरना चाहतेहैं।पेट भरे हुए पुरुष धन संग्रह चाहते हैं।धन संग्रहियोंमेंएकरूपयेसे लेकर अर्ब खर्ब पा लेने पर भी सन्तुष्ट नही कोई होते। एक देशाधिपति देशद्वयाधिपति बनना चाहता। देशद्वयाधिपति देशत्रयाधिपति इसप्रकार उत्तरोत्तर निखिलपृथिवीश्वर होना चाहता है। इस प्रकार सांसारिक जञ्जाल से ही वह छुटकारा नही पाता। तब परमार्थ चिन्तन कैसे करे।

३-तीसरा कारण इस में शास्त्रों की विरुद्धोक्ति है। एक कोई कहते हैं कि-

> जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
> जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
> केनापि देवेन हृदि स्थितेन
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

मैं धर्म जानता हूं किन्तु उस में मेरी प्रवृत्ति नही। अधर्म भी जानता हूं किन्तु उस से निवृत्ति नही कोई; अदृश्यदेव मेरे हृदय में

स्थित है वह मुझ को जिस २ काम में, लगाता है उस २ को मैं किया करता हूं, गीता में भी कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

सब भूतों के हृदय देश में ईश्वर स्थितहै वही यन्त्रारूढ घटवत् सकल प्राणियों को निज माया द्वारा घुमाता हुआ वर्त्तमान है जब ऐसी स्थिति है तो मैं स्वयं क्या कर सकता हूं । इतर आचार्य कहते हैं भगवन्नाम के कीर्त्तन मात्र से मोक्ष होता है । इस के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं । किन्तु दो एक मुहूर्त्त अथवा एकाध दण्ड कहीं बैठ कर एकाग्र चित्त हो भगन्नाम स्मरण कर लेना ही मोक्ष के लिये पर्य्याप्त है । इतर ब्रह्मचर्य्य द्वारा आचार्य्यकुल में अधिक काल वास, विविध यज्ञानुष्ठान, नित्य सन्ध्योपासनादि, अग्निहोत्र, अतिथ्यादिसेवा, नित्यानित्य वस्तुविवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्तियां इत्यादि २ साधनों की अपेक्षा नहीं, किन्तु केवल अनन्य मन से रामादिनामों का उच्चारण करना ही परम साधन है । दूसरे कहते हैं कि सगुणब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु महेश, राम, कृष्ण इत्यादि अवतार, जिस २ स्थान में जो २ लीला कर गए हैं उस २ स्थान में जाना और उन उन लीलाओं को परस्पर सुनना सुनवाना मुक्ति के लिये उत्तम साधन है । जब सहज उपायों से संसार दुःखकी निवृत्तिहो सकती है जन्ममरणप्रवाह रुक सकता है तो अतिशय अगम्य और कठिन साधन क्यों किये जांय ।

अपर आचार्य्य कहते हैं कि सामीप्य मुक्ति ही अपेक्षित है क्यों कि हम जीव भक्त और परमेश्वर सेव्य हैं । जैसे अन्तःकरण से भक्तजन गुरु, आचार्य्य, माता, पिता सेव्यों को सेवा कर उनके रूप में होना नहीं चाहता वैसे ही भक्तजन भी मरण के पश्चात् अपने सेव्य प्रभुके निकट जाकर निवास करने को ही प्रार्थना करें । न कि अपने सेव्य के समान बनने को इच्छा रक्खें । इतर आचार्य्य कहतेहैं

कि ईश्वर और जीव भिन्न दो पदार्थ हैं वे कभी मिलकर एक नहीं हो सकते। अन्य आचार्य्य कहतेहैं कि "तत्वमसि" " अहं ब्रह्मास्मि" " अयमात्मा ब्रह्म " इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य्य जैसा वेदान्ती समझते हैं वैसा नहीं है। इत्यादि आचार्य्यों की मतभिन्नता भी ब्रह्मज्ञान की बाधिका है।

४–चतुर्थकारण प्रत्यक्षाभाव है। जैसे घटपटादिकों को देखते और उनको अपने अनुकूल काम में लगाकर सुख भोगतेहैं। तद्वत् न ब्रह्म की और न इस जीव की ही प्रत्यक्षता होती है यह आत्मविषय केवल शब्दगम्य इतर प्रमाणोंसे अगम्य केवल विश्वास और श्रद्धा के योग्य है। प्रत्यक्षवस्तु में लोगोंकी प्रवृत्ति होतीहै केवल शब्दगम्य परोक्ष में नहीं।

५–प्रारब्धकर्म भी प्रवृत्ति का बाधक है अपने २ प्रारब्ध कर्म के अनुसार यह जीव फल भोग रहे हैं यह शास्त्र का अचल सिद्धान्त है तब जिसको प्रारब्ध कर्म्मानुसार हजारों जन्ममरण दुःख भोगने हैं उनकी प्रवृत्ति इस मोक्ष मार्गमें कैसे हो सकती है। ६–विषयवासनाओं का प्रबल आकर्षण इस वेदगम्य मार्ग का परम बाधक है। पुरुष के लिये स्त्री और स्त्री के लिये पुरुष अतिशय आकर्षण स्थान है प्रायःनाटकों में इस के सहस्रशः उदाहरण लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त यह संसार भी अनुकूलावस्था में परस्पर बहुत सुखप्रद होता है। कर्ण के लिये रागके साधन कितने भजन कितने वीणा, सितार, मृदंग, ढोलक हर्मुनिया आदि वाद्य बने हुए हैं। नेत्र के लिये नाना प्रकार के नृत्य, नाटक, खेल कूद पुत्र पौत्रादिक और प्राकृतघटना, शीतलसुगन्ध, मन्द मन्द वायु का चलना, श्याम घटाका आना, पर्वत, नदी, वन, समुद्र, प्रपात, बाग, ऋतुपरिवर्त्तन, इत्यादि २ कोटिशः पदार्थ मनुष्यों के चित्त को अपनी ओर खैंच कर विषयानन्दों में डबो देते हैं।

६–ईश्वरी माया की परम प्रबलता भी प्रवृत्तिबाधिका है। यह माया तुच्छा, अनिर्वचनीया और वास्तविकी रूप से तीन प्रकार की है। शास्त्रदृष्टि से अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या और सनातनी है। युक्तिसे

इसकी अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। लोक इस को यथार्थ वस्तु समझते हैं। यह माया नाना प्रकार से इस जीव को अपने वश में रखती है। इस हेतु कृष्ण कहते हैं-

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

जो मेरी शरण में आते हैं वे ही इस माया से पार पा सकते हैं। यद्यपि यह माया वेदान्तमतमें सर्वथा मिथ्या है। सांख्यादि मत में नित्य एक जड़ वस्तु है। तथापि इसको लोगों ने अनेक तरह से चित्रित किया है। जहां भगवान् वहां उनकी एक माया बनाई गई है। तान्त्रिकगण इसी को आद्याशक्ति कहकर पुकारते हैं। और इसी से समस्त जगत् का होना, इसी की अधिनता में ब्रह्माविष्णु प्रभृतियों को दासवत् काम करना, नाना रूपों में ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्य्यन्त होना, और इसी की उपासना पूजापाठ इत्यादि साधनों से मुक्ति का होना बतलाते हैं। जैसे वाणीसे अर्थ भिन्न नहीं, पृथिवी से सुगन्ध पृथक् नहीं। तद्वत् इस माया से ईश्वर पृथक् नहीं। वेदान्त भी कहता है कि इसी माया में शुद्ध ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही ईश्वर है और वही मायाविशिष्ट ईश्वर सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है। माया रहित ईश्वर अर्थात् शुद्ध चेतन सर्वथा निष्क्रिय, निःसङ्ग एक अद्वितीय सजातीयविजातीयस्वगत भेद शून्य आनन्द स्वरूपहै। इस माया के तत्व जानने ही से तत्वज्ञान में प्रवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। सांख्यशास्त्र में रूपकालङ्कार द्वारा बहुत अच्छा वर्णन किया गया है उनमें से दो चार बातें ये हैं। यथा-

वत्सविवृद्धिनिमित्तं यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

वत्स की पुष्टि निमित्त जिस प्रकार अचेतन दुग्ध का व्यापार होता है तद्रूप पुरुष की मुक्ति के निमित्त प्रकृति का व्यापार होता है।

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासुप्रवर्त्ततेलोकः
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ।

साधारण लोक इच्छापूरण निमित्त कार्य्यों में प्रवृत्त होते और अभीष्ट विषय प्राप्त होने पर पुनः उन क्रियाओंको नहीं करते तद्रूप पुरुष को मुक्त करने के लिये प्रकृति प्रवृत्त होती है किन्तु मुक्तपुरुष के निमित्त पुनः अपना व्यापार नहीं करती। अर्थात् फलेच्छा वश से उपाय करने में इच्छा होती है। इच्छा होने पर यत्न, यत्न होने पर क्रिया, क्रियाद्वारा अभीष्टसिद्ध होने पर पुनः इच्छा नहीं होती और क्रिया भी कोई नहीं करता। उद्देश की सिद्धि होजाने पर पुनः क्रिया का प्रयोजन ही क्या? पुरुष को मुक्त करना प्रकृत्ति का उद्देश है। अतः पुरुष को मुक्त होने पर पुनः प्रकृति का व्यापार नहीं होता है।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकीयथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते प्रकृतिः॥

जैसे नर्त्तकी रङ्गालय में लोगों के अध्यक्ष नृत्य दिखलाकर निवृत्त होती है तद्रूप प्रकृति भी पुरुषके उद्देशसे स्वकीय कार्य्य दिखलाकर निवृत्त हो जाती है।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्युपकारिणःपुंसः
गुणवत्यगुणस्य सत स्तस्यार्थमपार्थकं चरति।

गुणशालिनी प्रकृति नाना विध उपायों से उपकारी पुरुष का उपकार करती है किन्तु निर्गुणपुरुष के प्रति कुछ चेष्टा नहींकरती। अतएव पुरुष के लिये निःस्वार्थ भाव से प्रकृति स्थित रहती है।

प्रकृतेःसुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीतिमे मतिर्भवति।
यादृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।

प्रकृति से अधिक सुकुमारतर अन्यपदार्थ नहीं ऐसा मुझे बोध

होता है क्योंकि जो प्रवृत्ति 'मैं अन्य पुरुषद्वारा देखी गई हूं' इसहेतु परम लज्जित हो उस पुरुष के दृष्टिगोचर वह पुनः नहीं होती। इस प्रकार माया के भिन्न २ नाम दे दे कर नाना कथा बनाई गई हैं।

८—गतानुगतिकता अर्थात् भेड़ चाल मोक्षप्रवृत्ति की बाधिका है। मनुष्य समाज में कोटि २ पुरुषों के मध्य एक आध ही अपनी बुद्धि से परमार्थ की ओर जाता है। इतर जन अथवा सम्पूर्ण मनुष्य समाज देखा देखी कार्य्य मे प्रवृत्तहोजाता है सत्यासत्य को परीक्षा नहीं करता, जिस ओर सब जा रहे हैं उसी ओर मुझे भी जाना चाहिये ऐसी ही मनुष्य समाज की धारणा है और किसी अंश मे ऐसी धारणा वा प्रवृत्ति सुखदायी होती है। प्रथम भेड़ चाल की ओर देख। बहुत कुछ पूर्व इस देश में वैदिक धर्म ही था। उसके पश्चात् बहुत दिनों के अनन्तर यहां बौद्धधर्म की उत्पत्ति हुई प्रायः समस्त भारतवर्षीय इसी मार्गपर चलने लगे। तत्पश्चात् पौराणिक धर्म का जन्म हुआ। तब बौद्ध धर्म को छोड़ सब कोई पौराणिक होने लगे। इसी प्रकार यूरप में भी प्रथम अनेक धर्म थे पश्चात् क्रिस्तानी धर्म की प्रबलता देख सब कोई क्रिस्तान होगये। अरब, ईरान, तुर्किस्तान, मिश्र इत्यादि देशों में थोड़े ही दिनों के मध्य सब कोई मुसलमान बन गये। जापान, चीन, लङ्का तिब्बत आदि देशों के लोग बौद्ध धर्मावलम्बीवन गए। यह सब मानव लीला सत्यासत्य के ऊपर निर्भर नहीं है किन्तु भेड चाल ही इस का मुख्य कारण है। जब कोई कुछ हितैषी, कुछ ईश्वर विश्वासी और कुछ विवेकी पुरुष निजमत बड़ी दृढ़ता से फैलते हैं तब उन में बहुत से लोकोपकारी सद्गुण देख किन्तु उस आचार्य्य के वचन के सत्यासत्य न विचार उनके पीछे चल पड़ते हैं इस प्रकार दृढ़तर सम्प्रदाय बनकर खड़ा हो जाता है। मुहम्मदसाहेब में बहुत से सद्गुण हैं और ईश्वर विश्वासी भी थे इस में सन्देह नहीं। तद्रूप ईसा, बुद्ध, जिन, मूसा, कबीर, नानक, चैतन्य आदि थे किन्तु ये सब न वैज्ञानिक और न विद्वान् ही थे। इस लिये यद्यपि इनके उपदेश

बहुविध असत्योंसे परिपूर्ण रहने परभी सम्प्रति पृथिवीपरकेसब मनुष्य प्रायःइन्ही मतोंमें प्रविष्टहैं।जब इस प्रकार सम्प्रदाय प्रबलरूपमें बनकर तैयार होजाता है, तब इन के विरोधी बहुत से सामाजिक, राजकीय और अन्यान्य दुःख भोगते हैं। प्रचलित सम्प्रदाय से विरुद्ध चलने वाले हजारों विद्वान् भी दण्ड पाने लगते हैं। इस लिये प्रचलित पथानुसार चलना ही लोगों के लिये सुखद और सुलभ होता है। इसी हेतु मनुष्य समाज में भी भेडचाल चल पड़ती है। यद्यपि अन्ततो गत्वा "सत्यमेव जयते नानृतम्" यही सिद्ध होता है।

८–नास्तिकता भी महती बाधिका है। बहुत से विद्वान् भी ईश्वर के अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते। पदार्थोंसे भिन्न कोई जीवात्मा वस्तु है ऐसा नहीं मानते। ईश्वर और जीव ही कोई वस्तु नहीं तो उसकी प्राप्ति ही क्या। नास्तिक मतका खण्डन पूर्व में बहुत हो चुका है।

९–उपदेष्टाओं का अभाव भी बाधक है। यद्यपि नानारूप में अनेकाने उपदेशक पाये जाते हैं तथापि ब्रह्मात्मैकता का उपदेष्टा जगत् में नही हैं। एक ही आध कही इधर उधर मिल जातेहैं। जो वास्तव में ब्रह्मरूप जीवन्मुक्त होगये हैं उन्हे उपदेश करने आदि में आग्रह नही होता। वे जगत् में उदासीन भाव से विचरते रहते हैं इस लिये भी ब्रह्मोपदेशक जगत् में बहुत कम है।

ये उपर्युक्त ९ बाधाएं मुख्य हैं किन्तु इनके अतिरिक्त शतशः विघ्न और कारण बतलाए जा सकतेहैं जिनसे ब्रह्मोपदेश में अथवा ब्रह्मज्ञान साधन में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु यदि यह मत सर्वत्र प्रचलित हो जाता तो जगत् में सर्वथा दुःखाभाव होजाता। विशेष में तुम सब से क्या कहूं यदि जैसे उस परमानन्द की एक मात्रा इस व्यावहारिक जगत् में है उसी से यह भी आनन्द भोग रहा है, वैसे ही इस वेदान्त शास्त्र का किञ्चित् अंश भी लोग ग्रहण कर लेते तो भी लोग बड़े सुखी होते। कम से कम भारतवासीतो बहुत कुछ लाभ उठाते। क्योंकि इनमें नानामत नानाकुसंस्कार, नानादेवतोपासना और ईश्वर की ओरसे सर्वथा विमुखता

बहुत बढ़गई है और नित्य बढ़ती ही जाती है। जिस भारतभूमिपर ऋषि वामदेव, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अंगिरा, कण्व, भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र कक्षीवान् कक्षीवनी, अपाला, गार्गी, मैत्रेयी याज्ञवल्क्य जनक आदिशतशः हुए हैं। आज उसी भूमि पर नाना कारणों के अतिशय मूर्ख अज्ञानी, कामी, क्रोधी, लोभी, प्रमादी, आलसी लम्पट दुराचारी, अकिञ्चन दीन होते जाते हैं। अतः इस वेदान्त की ओर लोग आवें।

इति प्रयोजन विवेकः समाप्तः।

इति श्री रूपकुमारिकृते
वेदान्तपुष्पाञ्जलौ वेदान्तसार-
विवेकोऽपि समाप्तः।
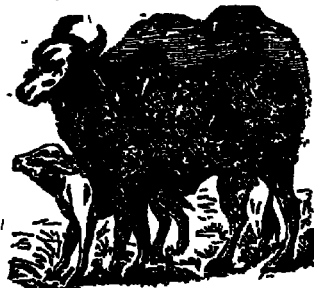
प्रकीर्णविवेक

अथ उत्क्रान्तिविवेक

श्रीरूपकुमारी-ऐ राजपुत्रियो! अब मैं अनेक विषय अतिसंक्षेप रूप से तुम सब को सुनाती हूं। समाहिता होकर इस वेदैकगम्य, आत्महितकर, और आत्मोद्धारक परम आवश्यक बातों को सुनो। क्या ब्रह्मज्ञानी, कर्मकाण्डी अज्ञानी और इतर प्राणि मर कर एक ही मार्ग से परलोक गमन करते हैं या इन के ऊर्द्ध गमन के भिन्न भिन्न पथ हैं। पुनः यह लोक में भी प्रवाद है कि किन्हीं मनुष्यों का शिर मरणकाल में फूट जाता उसीसे प्राण निकलता है। किसी का प्राण नेत्र से, किसी का मुख से और किसीका अधोभाग से प्राण निःसृत होता है। कोई यह भी कहते हैं कि उत्तरायण में मरण से सद्गति और दक्षिणायन में मृत्यु से असद्गति होती है। इत्यादि अनेक प्रवाद विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त यम के दूत पापियों को लेजाते हैं और विष्णु प्रभृतियों के दूत धर्मात्मा भक्तोंको लेजाते हैं। काशी, प्रयाग, गङ्गा आदि में मरण से पापियों की भी सद्गति होती है इत्यादि पौराणिक गाथा हैं। अतःइन प्रकीर्ण विषयों को श्रुतियों से शङ्कराचार्य्यादिकों के सिद्धान्त पथ द्वारा दिखलाती हूं।

१-देवयानमार्ग

" जो कोई ब्रह्मज्ञानी हैं और जो अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं। वे मरने के पश्चात् प्रथम अर्ची (अग्नि ज्वाला) में प्राप्त होते हैं। अर्ची से दिन में, आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में आपूर्यमाण पक्ष से उत्तरायण मासों में, उत्तरायणमासों से सम्वत्सर में, सम्वत्सर (वर्ष) से आदित्य (सूर्य्य) में, सूर्य्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से विद्युत् में प्राप्त होते हैं। इस विद्युत् लोक में

अमानव पुरुष रहता है वह उन ज्ञानियों को ब्रह्म में मिलाता है। इसी का नाम देवयान पथ है" यह छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार वर्णन किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इस प्रकार है

"जो इस को इस प्रकार जानते हैं और जो ये अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं। वे अर्चि में प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन में, दिन से आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में, आपूर्यमाणपक्ष से उन छः मासो में जिन में आदित्य (सूर्य्य) उत्तर दिशा में आता है अर्थात् उत्तरायण में, उन मासों से देवलोक में, देवलोक से आदित्य में, आदित्य से वैद्युत लोक में वे प्राप्त होते हैं तब वैद्युत लोक से उनको मानस पुरुष आकर ब्रह्मलोकोंमें लेजाते हैं। वे वहां सर्वदा रहते हैं। उन की पुनरावृत्ति नहीं होती"।

२—पितृयाण

"अब जो ये ग्रामनिवासी ग्राम में इष्ट आपूर्त दानकी उपासना करते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं धूम से रात्रि में रात्रि से अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) में अपरपक्ष से उन छः मासों में जिन में सूर्य्य दक्षिण की ओर आता है। उन मासों से सम्वत्सर में वे प्राप्त नहीं होते मासों से पितृलोक में पितृलोक से आकाश में, आकाश से चन्द्रमा में। यह सोम राजा है वह देवों का अन्न है उस को देव खाजाते हैं। वहां कर्म्मों का जब तक क्षय नहीं होता तब तक वहां निवास कर अनन्तर जिस मार्ग से आगमन होता है और जिस से गयेथे उसी मार्ग से पुनःलौटते हैं। जैसे वह आकाश में आते हैं आकाश से वायु में आते हैं वायु होकर धूम होता है धूम होकर अभ्र (एक प्रकार का मेघ) होता है अभ्र होकर मेघ होता है मेघ होकर बरसता है। तब वे अन्न, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष इत्यादि २ होते हैं इस हेतु निश्चय उन से निकलना दुष्कर है। क्योंकि जो २ अन्न खाता और जो रेत सिञ्चित करता है वे बहुत हैं"। यह छान्दोग्य का मत है। बृहदारण्यक का मत इस प्रकार है—

"जो यज्ञ से, दान से, तप से, लोकों को जीतते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि में, रात्रि से अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्ष) में, अपक्षीयमाणपक्ष से उन छः मासों में, जिन में आदित्य दक्षिण दिशा की ओर आता है, उन मासोंसे पितृलोक में, पितृलोक से चन्द्र में वे चन्द्रको पाकर अन्न होत हैं वहां देवगण 'जैसे हे सोमराजन्! तू बढ़ और घट' ऐसा कहकर सोम राजा को खाते हैं वैसे उन को खाजाते हैं। उनके जब वहां कर्म्मों का क्षय हो जाता है तब वे आकाश में आते हैं-आकाश से वायुमें, वायुसे वृष्टिमें, वृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं। वे पृथिवी में प्राप्त होकर अन्न होते हैं वे पुनः पुरुष रूप अग्नि में होमे जाते हैं तब स्त्रीरूप अग्नि में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे कर्म करने वाले घटीयन्त्रवत् सदा घूमते रहते हैं। और जो इन देवयान और पितृयान दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं वे कीट, पतङ्ग, दंश मशक आदि होते हैं।"

३—जायस्वम्रियस्व पथ

"और जो इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से भी नहीं जाते हैं वे बारम्बार आवृत्ति वाले (आवागमन वाले) क्षुद्र जन्तु होते हैं यह 'जायस्व और म्रियस्व' नामक तृतीय स्थान अर्थात् तृतीय मार्ग है इस कारण यह लोग पूर्ण नहीं होता अतः इस से लोग घृणा करें।"

अन्यान्यमत

बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है-

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते। यदिदमद्यते। तस्यैषघोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति।

बृ० उ० ५।९।१

जो यह वैश्वानर नाम का अग्नि है वह पुरुष के शरीर के अभ्यन्तर में विराजमान है जिस से यह अन्न पचता है जो अन्न खाया जाता है उस का यह घोष (शब्द) होता है जिस को कान बन्द करके सुनता है किन्तु जो मरने लगता है वह उस घोष को नहीं सुनता।

तद्यथाऽनः सुसमाहित मुत्सर्जद्यायात् । एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति । यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥

बृ० उ० ४ । ३ । ३५

जिस में वह मुमूर्षुजन ऊर्ध्वश्वासी होता है उस समय यह जानना चाहिये कि जैसे विविध और भाण्ड उलूखल मूसल शूर्प पिठरादि सामग्री सम्पन्न शकट सुयोग्य चालकाधिष्ठित हो कर्णक्लेश कर शब्द करता हुआ है इसी दृष्टान्त के सदृश यह लिङ्ग शरीर सहित जीवात्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित होकर दुःखार्त्त शब्द करता हुआ शरीरान्त में जाता है।

तद्यथा—राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवं विदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्ते इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति । बृ० उ०

जैसे निज देश दर्शनार्थ आते हुए राजा को देख राजा के लिये सेना नायक, विचारक यानाध्यक्ष और नगरपालकगण अन्न, पान और स्थानादिकों का प्रबन्ध करते हैं और यह आता है, यह आता है इस की प्रतीक्षा करते हैं इसी प्रकार ब्रह्मवित् पुरुष के लिये सब प्राणी आदर सम्मान द्वारा उस की प्रतिष्ठा करते हैं यह ब्रह्म आता है, यह ब्रह्म आता है इस प्रकार अपनी उत्सुकता दिखलाते हैं।

तद्यथा-तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति ॥

बृ० ४।४।३

जैसे तृणजलायुका जब एक तृण के अन्त में आता है तब जब तक अन्य तृण का आश्रय नहीं ले लेता तब तक पूर्व तृण को नहीं त्याग करता। इसी दृष्टान्त के अनुसार यह आत्मा इस शरीर को त्याग, अविद्या को छोड़ अन्य शरीर को स्थिर कर यहां से गमन करता है।

तद्यथा-पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्। बृ० उ० ४।४।४

जैसे सुवर्णकार सुवर्ण की मात्रा को लेकर नवीन २ सुन्दर २ वस्तु बनाया करता है वैसे यह आत्मा इस शरीरको त्याग अविद्या को छोड़ अन्य कल्याणतर रूप को धारण करता है। पित्र्य, वा गन्धर्व, वा देव वा प्राजापत्य वा ब्राह्म वा अन्य किनही प्राणीसम्बन्धी रूप को पाता है।

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा

मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ बृ० उ० ४ । ४ । २

मरने के समय उस के हृदय का अग्रभाग कपने लगता है उसी कम्प के साथ यह जीवात्मा नेत्र मार्ग से वा मूर्द्धा (शिर) मार्गसे वा शरीर के अन्यान्य देशों से निकल जाता है । निकलते हुए इस जीव के साथ मुख्य प्राण पीछे २ चलता है प्राण के पीछे अन्यान्य इन्द्रियगण चलते हैं वह भावी देह विषयक विज्ञान वाला होता है । विज्ञानवान उस आत्मा के साथ अन्यान्य कर्म अर्थात् विद्या और कर्म ये दोनों साथ २ जाते हैं और पूर्व प्रज्ञा भी साथ साथ ही जाती है ।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥१॥

इस हृदय से सम्बद्ध अनेक नाड़ियें इस शरीर में व्याप्त हैं उन में से कोई नाड़ी पिङ्गल रस से, कोई शुक्ल रस से, कोई नील रस से, कोई पीत रस से पूर्ण है किन्तु इन विशेष रङ्गों का कारण सूर्य ही है क्योंकि सूर्य्य ही पिङ्गल शुक्ल नील पीत और लोहित है ।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति । छा० । ८।६॥

हृदय की एकाधिक एकशत नाड़ियें हैं। उन में से एक नाड़ी मस्तक के अन्त तक व्याप्त है। इस नाड़ी मार्ग से जीव के उत्क्रमण होने से अमृत प्राप्त होता है और अन्य२ नाड़ी से आत्मा के निकलने पर सदा आवागमन बना रहता है।

कठोपनिषद् में भी यही पूर्वोक्त श्लोक है। प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन आता है:—

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।
प्रश्न० ३। ६।

हृदय में यह आत्मा है। उस हृदय से सम्बन्ध रखने वाली १०१ नाडिएं हैं और एक एक में सौ सौ नाड़िएं हैं और इस प्रत्येक की ७२००० नाडीभेद है इन में व्यान विचरण करता है। इसका हिसाब इस प्रकार है (१०१ + १०० + ७२०००) + (१०१ + १०१) = ७२७२१०२०१॥ अर्थात् बहत्तर कोटि बहत्तर लाख दश हजार दो सौ एक।

पुनः प्रश्नोपनिषद् में वहां ही लिखा है कि:—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकंनयति पापेन पाप मुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

उन प्रधान १०१ नाड़ियों से मध्यस्थ ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाम की एक नाडी है। उसमें ऊर्ध्वगामी उदान विचरण करता है। वह पुण्य के द्वारा पुण्य लोक को, और पाप के द्वारा पाप लोक को और पुण्य पाप दोनों के द्वारा मनुष्य लोक को ले जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में पुनः इस प्रकार वर्णन आता है।

अथ यदा सुषुप्तो भवति तदा न कस्यचनवेद। हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदया-

रपुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते। बृ० । २ । १ । १६ ॥

जब यह जीवात्मा सुषुप्त्यवस्था में प्राप्त होता है तब वह कुछ भी नहीं जानता। हिता नाम की ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियां हृदय से लेकर सम्पूर्णशरीर मे फैली हुई हैं। वे सब नाडियां पुरीतत स्थान तक गई हैं। वहां ही जाकर यह जीव सोता है यहां केवल ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियों की चर्चा देखती हैं।

इस प्रकार उपनिषदों में ऋषियों ने नाडी के सम्बन्ध में विलक्षणता दिखलाई है। यद्यपि सुषुम्ना नाडी का वर्णन प्रधान उपनिषदों में नहीं आया है। तथापि इसका महत्व अन्यत्र बहुत गाया गया है।

ऊर्ध्वगति समीक्षा

यह जीव इस शरीर को छोड़ कहां जाता है इस पर थोड़ा विचार प्रमाणद्वारा किया गया है अब इस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है। किस मार्ग से ज्ञानी जाते हैं इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्नता प्रतीत होती है। क्योंकि—

अथैतैरेव रश्मिभि रूर्ध्व आक्रमते।

इन रश्मियों के द्वारा ही वह ऊर्ध्वगामी होता है एक स्थल में रश्मि के सम्बन्ध से ऊर्ध्वगमन कहा जाता है।

२—द्वितीय स्थल में कहा जाता है कि वह अर्ची में प्राप्त होता है उससे दिनमें इत्यादि। यहां पूर्व वर्णित प्रमाणों को स्मरण में रखना चाहिये।

३—तृतीयस्थान में इतना भेद करके वर्णन है कि "वह ज्ञानी देवयान पथ को प्राप्त कर अग्निलोक में जाता है। यथा—

स एतं देवयानं पन्थान मापद्याग्निलोकमागच्छति।

४-चतुर्थस्थान में कहते हैं कि:-

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति ॥

जब यह जीवात्मा इस लोक से प्रस्थान करता है तब वायुलोक में वह आता है।

५-पञ्चम स्थान में कहते हैं कि

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति ।

निष्पाप पुरुष सूर्य्यद्वार से जाते हैं।

यहां पर संशय होता है कि ये सृतियां (गतियां) भिन्न २ हैं अथवा अनेकविशेषणों से एक ही सृति का वर्णन है। प्रथम भासित तो यही होता है कि जिन २ ऋषियों को जैसी२ प्रतीत हुई वैसी ही सृति दिखलाई। इससे यह भी मालूम होता है कि परोक्षवस्तु में सर्व ऋषियों की एक सम्मति नहीं है और हो भी नहीं सकती। यदि एक मार्ग की ही स्थिरता कहें तो " एतैरेव रश्मिभिः " इन ही रश्मियों के द्वारा वह ऊर्ध्वगामी होता है यहां अवधारणार्थक एव शब्द है वह निरर्थक हो जायगा और भी अनेक कारण बतलाए जा सकते हैं जिनसे भिन्न २ मार्ग प्रतीत होते हैं। एक त्वरावचन है। वह यह है-

स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ।

जब तक मन क्षिप्त करता है तब तक आदित्य लोक में आता है। इत्यादि-

इस का उत्तर यह है कि वास्तव में एक ही सृति (गति मार्ग) का वर्णन है वह अर्चिरादि मार्ग है जिसका वर्णन पूर्व में कर आई हूं क्योंकि पञ्चाग्निविद्याप्रकरण में कहा गया है " ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते " जो ये अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं यहां अन्यान्य विद्या के अनुशीलन करने वाले भी अर्चिरादि

मार्ग से जाते हैं। इस लिये वास्तव में एक ही मार्ग है और जो भिन्न २ वर्णन प्रतीत होता है वह वास्तव में एक ही है क्योंकि गन्तव्य परमात्मा एक ही है इस लिये इस पृथिवी लोकरूप एक स्थान से गमन का मार्ग भी एक ही होना चाहिये। लोक में भी देखते हैं कि दूरस्थायी किसी तीर्थ में जाना होता है तो जो सब से उत्तम मार्ग रहता है उसी मार्ग से एकस्थान वासी चल पड़ते हैं और वहां सुखसे पहुंच भी जाते हैं। गन्तव्य परमात्मा में भेद नहीं यह सब शास्त्र कहते हैं जहां भेद प्रतीत होता है वहां अर्थ समन्वय करना चाहिये। श्रुति कहती है।

ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतोवसन्ति।

बृ० उ० ६-२-२५

तस्मिन् वसन्ति शाश्वती समा। बृ०५।१०।१।
साया ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयतितां व्युष्टिं व्यश्नुते। कौषी० १।४
तद्यएवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दति।

छा० ८।४।३

वे उन लोकों में दीर्घायुष हिरण्यगर्भ की तुल्य काल तक बसते हैं। उस में वे बहुत वर्ष बसते हैं। कार्य्य ब्रह्मका जो वहां जय और व्याप्ति है उसको वे पाते हैं इस ब्रह्म लोक को ब्रह्म चर्य्यसे पाते हैं।

इस प्रकार अनेकस्थानों में एक ही ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप फल दिखलाया गया है इस हेतु एक गन्तव्य प्रदेश का एक स्थान से एक ही उत्तममार्ग होना चाहिये और जहां एव शब्दद्वारा जोर देकर कहा गयाहै कि रश्मिद्वारा ही वह गमन करता है वहां रात्रिमें मृत विद्वान् को अर्चिरादि मार्ग मिलता है या नहीं इस सन्देह की निवृत्ति के लिये रश्मि शब्द आया है वह अर्चिरादि का वाचक है। रश्मि नाम किरण का है अर्चि नाम ज्वाला का है ज्वाला और दिन

इत्यादि में किरण होते हैं। जहां स्वरावर्त्तन है वहां भी शीघ्रता दिखलाकर अर्चिरादि मार्ग ही का वर्णन है-शीघ्र ही आदित्यलोक में प्राप्त हो जाता है यह दिखलाया है। और "अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन" जो इन दोनों मार्गों में से भ्रष्ट होते हैं वे महाकष्टपर्द तृतीय मार्ग में प्राप्त होते हैं इस वर्णन से पितृयाणव्यतिरिक्त अर्चिरादि देवयान मार्ग बतलाते हैं। जब प्राप्तव्य ब्रह्मलोक की एक उत्तम मार्ग से प्राप्ति की सम्भावना हो तो बहुमार्ग का उपदेश व्यर्थ होगा इस लिये जिस का वर्णन बहुत स्थानों में हो उसी के अनुसार अल्पस्थान में वर्णित मार्ग का समन्वय करना समुचित है इत्यादि वर्णन "अर्चिरादिना तत्प्रथितेः" वेदान्त० ४। ३। १ इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने वर्णन किया है।

प्रियम्वदा-मातः! इस वर्णन से मेरी शङ्का निवृत्त तो न हुई किन्तु कुछ बढ़ही गई। क्योंकि उन मार्गों का अभिप्राय मुझे प्रतीत नहीं होता। कहा गया है कि अर्ची, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य और चन्द्रमा इत्यादिकों में क्रमशः वह ज्ञानी प्राप्त होता है तब विद्युत् में जाता है तब वहां अमानव पुरुष उसको ब्रह्म के निकट ले जाता है। यह बात क्या है अर्ची नाम ज्वाला का है तो क्या मर कर जो वह जलाया जाता है उस अर्ची से अभिप्राय है। यदि ज्ञानी न जलाया जाय तो क्या वह अर्ची को न प्राप्त करेगा इस सन्देह को प्रथम दूर कीजिये।

रूपकुमारी-यहां अर्ची से केवल ज्वाला का अभिप्राय नहीं किन्तु यह सब एक २ लोक हैं अथवा श्रुति का वास्तव में यह भी आशय नहीं है-श्रुति तीन मार्ग बतलाती है। १-देवयान २-पितृयाण ३-जायस्व म्रियस्व। इस का संक्षेप वर्णन ध्यान से सुन।

देवयान-इस मार्ग में तू देखती है कि अर्ची, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् इतने शब्दों का पाठ है-इन सब में प्रकाश ही प्रकाश है अन्धकार कहीं नहीं। इस से दिखलाते हैं कि ज्ञानी जन मृत्यु के पश्चात् प्रकाश को ही

प्राप्त करते जाते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर परमप्रकाशस्वरूप ज्ञान को पाते जाते हैं उन के रास्ते में अन्धकार कहीं नहीं। यह ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है यह भी आशय इस से दिखलाया गया है जैसे एक अग्नि की ज्वाला छोटी होती है और उस से दिन बहुत बृहत्तर होता है। एक दिन की अपेक्षा शुक्लपक्ष बड़ा होता है क्योंकि इस में पन्द्रह दिन होते हैं शुक्लपक्ष की अपेक्षा उत्तरायण बड़ा होता है क्योंकि इस में छः मास होते हैं। उत्तरायण की अपेक्षा सम्वत्सर बड़ा होता है क्योंकि इस में बारह मास होते हैं। सम्वत्सर की अपेक्षा सूर्य्य महत्तर है क्योंकि उस से ही संवत्सर बनता है। सूर्य्य की अपेक्षा चन्द्रमा गुण में बड़ा है क्योंकि यह चन्द्र दिन और रात्रि दोनों समयों में दृश्य होता है और इसके अमृत को देवगण पीते हैं अमृत का स्थान केवल चन्द्रलोक है यह प्रसिद्ध है और यह अत्यन्त आह्लादजनक है। मासों का नाम भी चन्द्रमा के कारण से ही रक्खा गया है क्योंकि अश्विनी, भरणी, कृत्तिका इत्यादि नाम भी चन्द्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। तदनुसार ही आश्विन, कार्त्तिक, मार्ग, पौष इत्यादि नाम हैं। तिथि भी चन्द्रमा के दृश्यादृश्य रूपानुसार रक्खी गई है शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष भी चन्द्र के कारण ही माने गये हैं। अमावास्या और पूर्णिमा भी चन्द्र के कारण ही मानी गई हैं। इन ही मासों, पक्षों और तिथियों में सर्व वैदिक कर्म उक्त हैं। अमावास्या में पितृयज्ञ और पूर्णिमा में देवयज्ञ विहित है सम्वत्सर के दिनों की गणना भी चन्द्र के अनुसार ही की गई है क्योंकि वैदिक वर्ष ३६० दिनों का होता है। यह चन्द्रमान से ही हो सकता है और वर्ष की त्रुटि को पूर्ण करने के लिये इसी कारण तीन वर्ष के अभ्यन्तर एक अधिक मास माना जाता है। मैं कहां तक चन्द्र के गुणों की श्रेष्ठता दिखलाऊं जब समस्त वैदिक क्रियाएं चान्द्र तिथियों, पक्षों, मासों और वर्ष में की जाती हैं तो इस से बढ़ कर इसकी प्रशंसा क्या हो सकती है। यद्यपि पिन्ड में और अन्यान्य गुण में सूर्य्य श्रेष्ठ है तथापि क्रियादि दृष्टि से चन्द्र की श्रेष्ठता है।

चन्द्र की अपेक्षा विद्युत् श्रेष्ठ है क्योंकि विद्युत् की गति के समान सूर्य्य चन्द्रादि की गति नहीं और विद्युत् सर्ववस्तु में व्याप्त है और वास्तव में सब वस्तुओं की विद्युत् ही प्रधान शक्ति है परमाणु में भी पूर्णतया विद्युत् शक्ति देखी गई है अतः सब से विद्युत् की श्रेष्ठता है। जैसे अर्चिरादि भौतिक पदार्थों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता और व्यापकता प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है वैसे ही ब्रह्मवित् पुरुषों की उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होती जाती है। यदि कोई यहां शङ्का करे कि ज्ञान प्राप्त होने से ही तो अर्चिरादि मार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक में ज्ञानी जाता है तब उस की पुनः ज्ञानवृद्धि क्या? इस का उत्तर यह है कि यहां कार्य्यब्रह्म हिरण्यगर्भ का ग्रहण है शुद्ध ब्रह्म का नहीं इस को वेदान्त में दिखलाया है जिस का आगे वर्णन किया जायगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष यहां ही लीन होता है ऐसी श्रुति कहती है क्योंकि जब ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी है तो उसका एक नियत लोक नहीं हो सकता है। इस लिये ब्रह्मज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता किन्तु सत्य ब्रह्म की उपासना करने वाले कार्य्य ब्रह्मलोक को जाते हैं उनकी उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होती जाती है इस में सन्देह क्या। अथवा कार्य्य ब्रह्म न मान कर शुद्ध ब्रह्म ही माना जाय तौभी कोई क्षति नहीं। क्योंकि प्रारब्ध कर्मानुसार जीवन्मुक्त पुरुष को भी जब तक इस शरीर से व्यवहार करना पड़ता है तब तक कर्मानुसार क्षुधा पिपासादि सुखदुःख रहता ही है तज्जन्य ज्ञान की भी तारतम्यता प्रत्यक्ष ही है प्रारब्ध कर्म भी सकल जीवन्मुक्तों के समान नहीं। इस हेतु प्रत्येक जीवन्मुक्त समान कर्म करते ही नहीं देखे जाते। अतः उनका भी शरीरत्याग के पश्चात् उत्तरोत्तर अतिशीघ्र ज्ञानोदय होता जाता है। और अन्त में शीघ्र ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अब पितृयाण की ओर ध्यान दें।

पितृयाण—इसका क्रम इस प्रकार है—धूम, रात्रि कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोक चन्द्रलोक में वह अन्न होता है देवता उस को खा जाते हैं अर्थात् सेवक के समान उस को अपने

काम में लाते हैं। इत्यादि। इस मार्ग में अन्धकार ही अन्धकार है। अभिप्राय यह है कि पितृयाण मार्ग से वही जाते हैं जो ज्ञान से कर्म नहीं करते या जो ज्ञानकी ओर न आकर केवल आडम्बरयुक्त कर्ममें आसक्त रहते हैं। क्योंकि १-इष्ट-विविध यज्ञ। आपूर्त=कूप, वापी तड़ाग, बान्ध और वृक्षादिरोपण। दान शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। इन तीनों कर्मों में ज्ञानकी उतनी आवश्यकता नहीं प्रत्युत अतिमूर्ख धनी भी इन को कर सकता है किन्तु वेद में तथा लोक में भी ज्ञान की ही श्रेष्ठता देखते हैं अतः कर्मी पुरुष यद्यपि सुकृत लोक में पहुंचते हैं तथापि वे मुक्तिभागी नहीं होते।

प्रकाश। प्रकाश

वेद का तात्पर्य केवल प्रकाश और अप्रकाश, ज्योति और अन्धकार, शाश्वतिकसुख और क्षणिकसुख इत्यादि दिखलाना है। वास्तव में पार्थिव मार्ग के समान मार्ग का वर्णन करना नहीं है।

इति संक्षेपतः।

आतिवाहिक

छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि जब ज्ञानी विद्युत् लोक में प्राप्त होता है तब उस को एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। इसीको बृहदारण्यकोपनिषद् में मानस पुरुष कहा है। पहुंचाने वाले का नाम आतिवाहक है। यद्यपि.—

आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात्।

इस वेदान्तसूत्र की टीका और भाष्य करने वाले इस को शरीर धारी एक पुरुष विशेष मानते हैं तथापि मेरी यह सम्मति नहीं। बहुत आचार्य्य कहते हैं कि मृत्युके पश्चात् इस जीव के सर्व इन्द्रिय संकुचित होजाते हैं अतः उसको मार्गमें पहुंचाने वाला कोई चेतन होना चाहिये। इस हेतु वे अर्चिरादिकों में भी अधिष्ठातृ देवता की कल्पना करते हैं अर्थात् मृत्यु के पश्चात् उस जीव को एक अधिष्ठातृदेव अर्ची में लेजाता है अर्ची का अधिष्ठातृदेव उस को दिन में

लेजाता है इसी प्रकार आदित्य का अधिष्ठातृदेव आगे, उस को पहुंचा देता है। विद्युत् लोक में अमानव या मानसिक पुरुष रहता है वह उस को ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। इत्यादि।

किन्तु इस का भी यह आशय नहीं है। क्योंकि यदि श्रुति का यह आशय हो तब ब्रह्मलोक में पहुंचने पर भी वह सकुचितावयव ही रहता है। तब इस को संभालने वाला कोई वहां दूसरा होना चाहिये अथवा किसी प्रकार का अन्य शरीर उस को धर लेना चाहिये परन्तु ऐसा वर्णन है नहीं अतः उस का भी कोई अन्य आशय है। वह यह है जब ज्ञानी पुरुष को विद्युत्समान सर्वव्यापक बोध उत्पन्न होजाता है अर्थात् जब वह सर्वमय होजाता है तब उस को मानसिक शक्ति कूट उपास्यदेव से उसमें अभेदज्ञान उत्पन्न कर देती है। यही ब्रह्म के साथ मेल है। अथवा सर्वपार्थिव गुण नष्ट हो जाते हैं केवल चैतन्यमात्र रहजाता है अतः इस को अमानव पुरुष कहा है। मानव शरीर में सब पार्थिव गुण होते हैं।

कार्य्यब्रह्म—जो विद्वान् अर्चिरादिमार्ग से जाते हैं वे कार्य्यरूप अपरब्रह्म को प्राप्त होते हैं ऐसी शङ्का यहां होती है इस के उत्तर में बादरिआचार्य्य कहते हैं कि कार्य्यरूप अपरब्रह्म को वे प्राप्त होते हैं क्योंकि कार्य्यब्रह्म ही एकदेश में रहते और गति की भी सम्भावना वहां ही हो सकती है पुनः बादरि कहते हैं—

"तेतेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति"

वे उन ब्रह्मलोकों में दीर्घ आयु वाले हिरण्यगर्भ के दीर्घ सम्वत्सर पर्य्यन्त बसते हैं। इस श्रुति में बहुवचन लोक शब्द आधार में सम्पन्न हैं अवस्था भेद से कार्य्य ब्रह्म के सम्बन्ध में ही बहुवचन की सम्भावना हो सकती है।

शङ्का—यदि कहा जाय कि यहां अनावृत्ति को श्रुति बतलाती है वह अनावृत्ति परब्रह्म की प्राप्ति से ही हो सकती है कार्य्य ब्रह्म की प्राप्ति से नहीं। इस शङ्का का समाधान वक्ष्यमाण सूत्र द्वारा किया गया है।

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरमभिधानात्।

वेदान्त ४।३।१०

जब कार्य्यब्रह्म लोक की प्रलय होजाती है तब कार्य्य ब्रह्म लोक में सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उस के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ परम पवित्र ब्रह्म का परमपद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्रम मुक्ति में अनावृत्ति का तात्पर्य्य है। स्मृति भी उसी अर्थ को दिखलाती है। यथा—

ब्रह्मणा सहते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम्पदम्।

महाप्रलय सम्प्राप्त होने पर तब हिरण्यगर्भ के अन्त होजाने पर उस लोक के निवासी सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उस के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ ही परम पद को प्राप्त होते हैं।

अप्रतीकोपासना

सूर्य्य, चन्द्र, नाम, वाणी इत्यादि २ में जो ब्रह्म की उपासना उस को प्रतीकोपासना कहते हैं। और ब्रह्म की साक्षात् उपासना का नाम अप्रतीकोपासना है। यहां शङ्का होती है कि प्रतीकोपासना करने वाले ब्रह्म को प्राप्त नहीं होते। क्योंकि जो ब्रह्म की उपासना करते हैं वे ही ब्राह्मऐश्वर्य्य को पाते हैं क्योंकि—

"स यथायथोपासते तदेव भवति"

जैसी उपासना करता है वैसा ही वह होता है। अतः सर्व उपासना छोड़ केवल ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये।

दक्षिणायन और उत्तरायण

बहुत स्थल में यह कहा गया है कि जो दक्षिणायन में मरते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि यह बात अतिप्रसिद्ध है कि भीष्मपितामह काल की प्रतीक्षा करते हुए उत्तरायण प्राप्त होने पर

अपनी इच्छा से प्राण त्याग ब्रह्म लोक को जाए इत्यादि। ये सब विषय स्मार्त्त हैं श्रौत नहीं। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के लिये किसी काल का नियम। नहीं ज्ञान की प्राप्ति होने पर वह दिन में मरे वा रात्रि में, काशी में मरे या मगध में कहीं भी उस की मृत्यु हो, वह ब्रह्मरूप ही होता है।

नाड़ी विचार

बहुत स्थल में यह कहा गयो है कि जिस की प्राण सुषुम्ना नाड़ी से या मूर्धा स्थान से निकलते हैं वही ब्रह्म को प्राप्त होता है। ऐ पुत्रियों ! ये सब केवल रोचक बातें हैं अथवा यों समझो कि ब्रह्मज्ञानी का प्राण सुषुम्ना नाड़ी से ही निकलता है। यदि कहा जाय कि जब तक मूर्धा न फूट जाय तब तक यह कैसे सिद्ध होगा कि सुषुम्ना नाड़ीद्वारा योगी का प्राण गया। शिर का फूटना यह कल्पित बात है किसी प्रसिद्ध उपनिषद् में इसकी चर्चा नहीं आई है किन्तु मूर्धा से प्राण निकलने का वर्णन श्रुतियों में है। वह मूर्धा बिना फटने से भी सिद्ध हो सकता है क्योंकि प्राण अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है यह तो विचारो कि अत्यन्त सूक्ष्म ऐसे प्राणी इस पृथिवी पर विद्यमान हैं जिनको इस नयन से कदापि नहीं देख सकते। किन्तु अतिसूक्ष्मवस्तुप्रदर्शक यन्त्रद्वारा ही वे देखे जाते हैं। परन्तु उसमें भी जीवात्मा और प्राण विद्यमान है। इस शिर में तो जितने केश हैं उतने छिद्र हैं और खोपड़ी में भी शतशः छिद्र हैं तब उस से प्राण को निकलने में बाधा ही क्या होगी। ऐ पुत्रियो ! ये सब वैदिक रहस्य हैं निःसन्देह यदि हम लोग मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकेंगी तो निःसन्देह, नाना योनियों में अवश्य भ्रमण करना होगा। जब विवेकप्रद मानवदेह में स्थित जीव को इतने दुःख भोगने पड़ते हैं तब अविवेकी पशुप्रभृतियों के शरीरों में इसको कितनी अगण्य असंख्य वेदनाएं भोगनी होती होंगी इसका अनुमान सहज में तू कर सकती है। इति॥

काश्यादि मरण

ऐ पुत्रियो! तथा श्रोताओं! प्रत्येक बोध विवादका क्षेत्र इस लिये बन गया है कि मनुष्य में बोध की समता नहीं है। और समाज, कुलाचार देशाचार और परम्पराप्राप्त आचारव्यवहार इत्यादि अनेक कारणवश बोध में तारतम्य होता गया है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु का अधिक प्रचार हो गया है उसी दिशा में मनुष्य चल पड़ते हैं। भेड़चाल की प्रधानता होगई है। और भी-इस परमार्थ वस्तु को लोग ध्यान देकर विचारते भी नहीं अतः बुद्धि की स्थिरता नहीं होती। विचारना चाहिये कि काशी, प्रयाग, गङ्गा, सागर, हिमालय और कुरुक्षेत्र आदि स्थानों में केवल मरणमात्र से मुक्ति हो तो समस्त वैदिक लौकिक क्रियाकलाप व्यर्थ हो जांय क्योंकि अन्त में सब कोई काशी चले जांय और वहां मरकर मुक्ति ले लें। पुनः बहुप्रयास साध्य जप तप और अग्निहोत्रादि कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या। और भी-धनिक पुरुषों की मुक्ति बहुत सहज हो जायगी क्योंकि धन बलसे अतिदूरस्थ अत्यन्तपापी, कुकर्मी, लम्पट आदि पुरुष सुगमता से काशी पहुंच सकता है और बिना परिश्रम से मोक्षभागी हो सकता है। इस अवस्था में ज्ञान विवेक, सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य्य, वैराग्य, शमदम इत्यादि २ सद्गुणों का उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे। केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु पातक, हत्या, असत्यता और लम्पटता आदि दुराचारों की वृद्धि होकर महोत्पात का ही विस्तार हो जायगा क्योंकि सब समझ लेंगे कि कितने ही दुराचार मैं करूं कितने ही पाप मैं क्यों न करूं अन्त में काशी प्रयाग जाकर सब महापातकों को धोकर साफ सुथरा बन जाऊंगा। अब आप सब इसको समझ सकती हैं कि काशी में केवल मरण से ही मुक्तिमानी जाय तो कितने अनर्थ प्राप्त होंगे।

और भी-काशीनगर विजन बढ़ता जाता है। कई एक लाख जन संख्या इस समय है। कुकर्मी, सुकर्मी, साधु, असाधु, सदाचारी और अत्यन्त दुराचारी इत्यादि २ सब प्रकार के मनुष्य इसमें

हैं। यहां मृत्यु से ही यदि अपवर्गलाभ हो तो, कहो, ईश्वर के राज्य में कितना अन्याय होगा। किन्तु आश्चर्य्य की बात यहहै कि कितने ही सुहेतु, कितनीही युक्तियां बतलाई जांय किन्तु लोग नहीं मानेंगे, न सुनेंगे प्रत्युत उस उपदेशक को मारने के लिये लाठी लेकर दौड़ेंगे।

एवमस्तु-यदि यह पूछा जाय कि इन स्थानों का इतना माहात्म्य क्यों होगया। इस प्रश्न का उत्तर विद्वानोंके लिये इतना कठिन नहीं है। यह तो प्राकृत नियम है कि किसीका उदय और किसी का प्रलय होता ही रहता है। तथापि कारणविशेष से भी किसी वस्तु की प्रतिष्ठा और माहात्म्य होजाता है। १-काशी-इस नगर का माहात्म्य इस लिये बढ़गया कि यह अत्यन्त प्राचीन नगर है क्योंकि इस का वर्णन श्रुति में पाया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि यहां ब्रह्मवेत्ता राजा अजातशत्रु रहते थे जिनके निकट अनूचान (विद्वान्) दृप्तबालाकि जाकर अपनी विद्या की पूर्ण न्यूनता समझ लज्जित हो राजा के शिष्य बन बहुत दिनों तक ब्रह्मज्ञान की शिक्षा लेते रहे। इस से यह भी विदित होता है कि यह काशी पूर्व समयमें अभ्युदयशालिनी महती राजधानी थी और उस राजवंश में अच्छे अच्छे ज्ञानी नृपति हुआ करते थे। बुद्धमहाराज के समय में भी यह काशी सर्वगुण सम्पन्न थी। आज भी वहां सर्वत्र से अच्छे विद्वान् रहते हैं। एक प्रकार इस समय भी विद्यापीठ इस दीन हीन भारतवर्ष में काशी है। अतः इस की कीर्त्ति बढ़ती गई यहां तक कि "काशीमरणान्मुक्तिः" लोग कहने लग गए। इस समय इस देश में अविद्यादेवी का ही प्रधान राज्य है, अतः कोई भी किसी की बात नहीं सुनता जो प्रथा चल गई वह चल गई। ऐ पुत्रियो! तुम निश्चय जानो कि मुक्ति का एक ही साधन ज्ञान है अन्य नहीं क्योंकि श्रुति कहती है-

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

इसी प्रकार २-कुरुवंशियों की राजधानी कुरुक्षेत्र था। ३-सूर्य-वंशी नृपतियों की विशाल राजधानी अयोध्या थी। जनक महाराज की नगरी जनकपुर थी यह अतिप्रसिद्ध है। ४-मथुरा में यदुवंशी भूपतिगण रहते थे यह प्रख्यात ही है। इन कारणों से उन स्थानों का माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

प्रयागादिस्थान

प्राकृत दृश्य मनुष्य की अज्ञानता ये दो कारण भी किसी २ स्थान के माहात्म्य के प्रवर्धक हैं। प्रयाग में गङ्गा और यमुना दोनों वृहती नदियां आकर मिली हैं दोनों की धाराएं दो प्रकारकोमालूम होती हैं। एक श्वेतधारा दूसरी श्याम धारा। साधारण मन्द जन इस सङ्गम में कुछ विलक्षण दैवीशक्ति समझ इस का माहात्म्य बढ़ाने लगे किन्तु वे मनुष्य अपने आत्मा के माहात्म्य से वञ्चित रहे। यदि अपनी चेतनता और श्रेष्ठता और नदी की जडता और परतन्त्रता समझते तो स्वापेक्षा से इस जड़ वस्तु की इतनी कीर्त्ति न गाते। अतः श्रुति कहती है कि-

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"

हरद्वार-गङ्गा कहां से निकलती है। इस का प्रवाह इतना विशाल और चौडा कैसे बन गया और यहां इतनी शीतलता कैसे बहती है इत्यादि का पूरा पता लगाने से मन्द बुद्धि जन हरद्वारस्थ गङ्गाप्रवाह पर अति मोहित होने लगे। अतः क्रमशः उन मन्द जनों ने उस की श्रेष्ठता धर्मभाव से बहुत बढ़ा दी। इसी प्रकार अन्यान्य कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, गङ्गासागर आदिकों का भी माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

ऐ पुत्रियों! वास्तव मे मनुष्य अपने योद्धा आत्मा से सुपरिचित नहीं है। इस पृथिवी पर मनुष्य जाति सब से श्रेष्ठ बनाई गई है यह बोध लोगों में नहीं है अतः अपने अज्ञानवश यह जाति नाना-क्लेशों को भोग रही है। गङ्गा, यमुना, समुद्र हिमालय बट, पीपल,

सूर्य, चन्द्र इत्यादि बोध रहित पदार्थ हैं और मैं बोधगुण सम्पन्न जीवात्मा हूं इसको लोग नहीं समझते। हम मनुष्य गङ्गा आदि नदियों को स्वेच्छानुसार अपने काम में ला सकते हैं किन्तु गङ्गा आदि पदार्थ कदापि भी हमको अपने काम में नहीं ला सकते इस भेद को मन्दजन नहीं समझ सकते।

हिमालय–हिमालय पर्वत को भी लोग अच्छी तरह से नहीं समझ सके अतः अनेक अज्ञान की इस सम्बन्ध में उत्पत्ति हुई। यह पर्वत सदा हिमों से आवृत रहता है। अनेक महती नदियां इस से निकलती हैं। इसका उल्लंघन करना अतिशय कठिन है क्योंकि मनुष्य हिम में गड़ जाता है। इसके उत्तर भाग में कोई मनुष्य-जाति रहती है अथवा नहीं। इसका पूरा पता सबको यहां नही था। इसकी लम्बाई और चौड़ाई का भी बोध मन्दजनो को नही था। इत्यादि कारण से यहां के अज्ञानी जन समझने लगे कि इस पर देवतागण निवास करते हैं। यहां गन्धर्व किन्नर अप्सरा इत्यादि अत्यन्त भोगशाली देवगण रहते हैं अतः इस गिरिवर में जाकर मरने से अवश्य पापक्षय और पुण्योदय होगा। इतना ही नही किन्तु यहां के नाना भोग भोगते हुए इसी मार्ग से स्वर्ग भी जा पहुंचेंगे। इन बातों का कारण केवल अज्ञान है। किन्तु हे पुत्रियो! इन अज्ञानान्धकारोंका नाश कैसे हो। कितनी ही युक्तियां बतलाओ। मन्दमति कदापि न मानेंगे। जिनके जन्मजन्मान्तर के पुण्यों के प्रबल सुसंस्कार हैं वे ही इन अविद्याओं को छोड़ इस परम पवित्र वेदैकगम्य ज्ञानमार्ग में आते हैं। वे अपने आत्मा को पवित्र कर अपने कुलपरिवार को भी शुद्ध करते हैं अतः इसी ज्ञानसरोवर में स्नान करो और इसीके तटपर मरकर मुक्तिभागिनी होओ। इति।

यमपुरी

वेदादिक शास्त्रों में यम का, वर्णन बाहुल्येन आया है। यथाः—

१—यमस्य माता पर्युह्यमाना।
महो जाया विवस्वतो ननाश। ऋग्वेद।

(पर्युह्यमाना) सूर्य्य से नोय माना (यमस्य माता) यमकी माता और (सहः) महातेजस्वी (विवस्वतः) सूर्य्यकी (जाया) भार्या (ननाश) कहीं नष्ट हो गई ।

यहां यम के मातापिता दोनोंका वर्णन आया है २-अगले मन्त्रों में यमके साथ पितरों का वास कहा है ।

यमो नोगातुं प्रथमो विवेद ।
नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ ॥
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
एना जज्ञाना पथ्या अनुस्वाः ॥ ऋग्

(प्रथमः+यमः) प्रथम यम (नः) हम लोगों के (गातुम्) शुभाशुभनिमित्तक मार्ग और कर्मों को (विवेद) जानता है (एषा) इस (गव्यूतिः) मार्ग को कोई भी (न) नहीं (अपभर्तवै उ) उठा नही सकता । (यत्र) जिस यम के निकट (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व (पितरः) पितृगण (परेयुः) पहुचे हुए हैं । (एना) इस मार्ग से जाते हुए (जज्ञानाः) प्राणी (स्वाः) निजनिज । (पथ्याः) पथ सम्बन्धी नाना दुःख सुखों को (अनु) क्रमशः भोगते जाते हैं ।

३-सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन । ऋग्

हे पितः तू (पितृभिः) पितरों के साथ (सं गच्छस्व) जा मिल । तथा (यमेन) यम के (सम्) साथ भी जामिल ।

४-यौते श्वानौ यम रक्षितारे ।
पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्या मेनं परिदेहि राजन् ।
स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि । ऋग्०

हे राजन् ! हे यम ! (ते) तेरे (यौ+श्वानौ) जो दो कुत्ते हैं ।

(ताभ्याम्) उनके समीप (एनम्) इस मृत पुरुष को रक्षार्थ (परि-देहि) रखदे । वे कुत्ते कैसे हैं ? (रक्षितारौ) रक्षा करने वाले पुनः (पथिरक्षी) मार्ग के रक्षक पुनः (नृचक्षसौ) मनुष्यों से प्रशंसनीय । और इस प्रेत पुरुष को (स्वस्ति) कल्याण दो और (अस्मै) इस को (अनमीवम्) नैरोग्य भी (धेहि) दो ।

यहां यम के दो श्वानों का भी वर्णन आता है । ५-पुनः वेदान्त सूत्र में भी इसकी चर्चा आती है:-

संयमने त्वनुभूयेतरेषा मारोहावरोहौ ।

तद्गतिदर्शनात् वेदान्तसू० ३ । १ । १३ ।

(संयमने) यमालय में जाकर (अनुभूय) सुकृत और दुष्कृत के अनुसार यमयातनाओं को भोगकर (इतरेषाम्) इष्टादि यज्ञों को न करने वाले पुरुषों के (आरोहावरोहौ) ऊपर चढ़ना और उतरना होते हैं क्योंकि (तद्गतिदर्शनात्) श्रुतियों में यमलोक गमन पाया जाता है । कठोपनिषद् में इसका विस्तार से सम्पादन है । यथ :—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं ।

प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥

अयं लोकोनास्ति पर इति मानी ।

पुनः पुनर्वश मापद्यते मे ॥

(वित्तमोहने) धन के मोह से (प्रमाद्यन्तम्) प्रमाद करते हुए (मूढम् बालम्) मूढ जन को और अत्यन्त अज्ञ को (साम्परायः) स्वर्ग फल (न प्रतिभाति) भासित नहीं होता । (अयम् लोकः) वे मूढ इसी लोक को मानते किन्तु (नास्ति + परः + इति + मानी) परलोक नहीं है-ऐसे मानने वाले (पुनः पुनः) वारवार (मे + वशम्) मेरे वश में (आपद्यते) आते रहते हैं । नाचिकेतोपाख्यानादिक अति प्रसिद्ध हैं ।

६—अपिच सप्त। वेदान्त सू०

इस वेदान्त सूत्र में सात नरकों की सिद्धि बतलाई गई है। श्री शङ्कराचार्य्य का भाष्य देखो।

समालोचना

हे पुत्रियों! वास्तव में यमलोक कौन वस्तु है क्या, जिस प्रकार यह पृथिवी लोक है। तद्वत् कोई लोक है अथवा इस वेदवचन का कुछ अन्य ही आशय है। यदि कहो कि इसमें शङ्का करनी ही व्यर्थ है क्योंकि जब ऋग्वेदादिशास्त्र तथा उपनिषदादिकों में भी यमपुरुष माना गया है और वेद साक्षात् प्रमाण है। तब उस में किञ्चित् भी सन्देह करना नास्तिकता है। वेदके निन्दक को ही नास्तिक कहते हैं निःसन्देह, वेद स्वतः प्रमाण है तथापि वैदिकार्थ विचार में कोई दोष नहीं। वेद स्वतःअपना अर्थ प्रकाश नहीं करते। विविधविद्वान् सब मन्त्रों का समान ही अर्थ नहीं करते और एक २ मन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं इस विषय को यास्काचार्य्य और सायणाचार्य्य आदि भी बतलाते हैं। यदि इस पर कहाजाय कि वेदका एक अर्थ नियत न होने से तब वेद भी प्रमाण न होंगे। अपनी २ इच्छा के अनुसार मन्त्रों का अर्थ कर लिया करेंगे। तब वेद की प्रमाणता क्या रही। इस का उत्तर सहज है आचार्य्यों की जिह्वा कोई रोक नहीं सकता इसमें गति ही कौन है। तथापि जो प्रत्यक्ष अर्थ प्रकरण के अनुसार भासित होगा वही माना जायगा अन्यथा नहीं। लौकिक और वैदिक शब्द प्रायः समान ही हैं जैसे लोक में पृथिवी, जल, वायु, सिंह, व्याघ्र, शुक, सारस, मत्स्य, घास, दूर्वा आदि शब्द हैं। वेद में भी वेही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किया आदि की भी समानता है अतः बहुत स्थलों में अर्थ भेद कदापि नहीं होगा। जहां किसी रूपक द्वारा किसी विशेष अर्थ का प्रतिपादन हुआ है वहां अर्थ में भेद हो सकता है। जैसे सांख्यवाद निराकरण प्रकरण में अनेक श्रुतियों का अर्थ भेद दिखलाया गया है जैसे-

अज.मेकां लोहित शुक्ल कृष्णां
वह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः ॥
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते ।
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।

रज, सत्व, तम इन तीन गुणों से युक्त और अपने सदृश बहुत प्रजा को उत्पन्न करती हुई एक अजा है उस को एक अज सेवता हुआ सुखी दुःखी हो संसार में प्राप्त होता है और दूसरा अज उस को छोड देता है ।

यहां रूपक द्वारा वर्णन किया गया है सांख्यवादी इस का आशय जैसा समझते हैं वेदान्ती वैसा नहीं समझते । तत्समान बहुत से मन्त्र दिखलाये जा सकते हैं ।

यमशब्दार्थ

इस हेतु वेद में यम शब्द को लेकर रूपक में वर्णन पाया जाता है रूपक के इस में बहुत से चिह्न पाए जाते हैं । १-क्योंकि यम नाम मृत्यु का है इसी को अन्तक और काल कहते हैं । मृत्यु नाम मरण का, अन्त करने वाले का नाम अन्तक और समय का नाम काल है । २-यह यम सूर्य्य का पुत्र माना गया है इस हेतु इस को वैवस्वत कहते हैं । विवस्वान् जो सूर्य्य उस का जो पुत्र वह वैवस्वत । (विवस्वतोऽपत्यं वैवस्वतः) सूर्य एक अचेतन वस्तु है यह सर्व प्रमाणों से सिद्ध है । तब उस के पुत्र का तात्पर्य्य क्या । ३-पुनः यम के दो कुत्तों का वर्णन आता है उन का क्या तात्पर्य्य । इत्यादि अनेक समीक्षाओं से भासित होता है कि किसी रूपक द्वारा किसी विशेष वस्तु का वर्णन है । वह यह है-यम नाम सम्पूर्ण काल का है अर्थात् एक पल से लेकर वर्ष रूप जो अखण्डात्मक काल है उस का नाम यम है और वह सूर्य्य का पुत्र इस लिये है कि सूर्य्य के उदय अस्त के कारण यह वर्षात्मक समय होता है । जिस हेतु

प्राणियों की आयु का हिसाब पल से लेकर वर्षों से होता है और तदनुसार ही मरने पर कहा जाता है कि यह पुरुष सौ वर्ष की आयु भोग कर मरा है। वह बालक दश वर्ष की अवस्था में मृत्यु के मुख में जा गिरा। इन ही हेतुओं से यम को काल और अन्तक कहते हैं। क्योंकि इसी काल के अभ्यन्तर प्राणी उत्पन्न होता और मरता है। (अन्त करोतीत्यन्तकः) अब यम के दो कुत्तों का भी आशय समझना कठिन नहीं। यह दिन एक श्वान (कुत्ता) है और दूसरा रात्रिरूप श्वान है। अतएव वेद में इस प्रकार का वर्णन आया है-

अति, द्रव, सारमेयौ श्वानौ।
चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। ऋक्

हे अग्ने (साधुना + पथा) समीचीन मार्ग से (श्वानौ) यम के दोनों कुत्तों को (अतिद्रव) लांघ कर जा। वे दोनों कुत्ते कैसे हैं (सारमेयौ) सरमा के पुत्र और (चतुरक्षौ) चार नेत्र वाले पुनः (सबलौ) श्वेत और श्याम। पुनः-

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ
यमस्य दूतौ चरतो जनां अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय
पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्। ऋक् १०।१४।१२

(यमस्य दूतौ) यम के दूत दो कुत्ते (जनान् + अनु) मनुष्यों के पीछे २ (चरतः) चलते हैं। जो (उरूणसौ) देखने में सुन्दर हैं पुनः (असुतृपौ) प्राणियों के प्राणों से तृप्त होने वाले पुनः (उदुम्बलौ) बड़े बलवान्। (तौ) वे दोनों (सूर्याय + दृशये) सूर्य के देखने के लिये (अस्मभ्यं) हम लोगों को (भद्रं + असुम्) समीचीन प्राण (अद्य + इह) आज इस शुभ कर्म में (दाताम्) देवें।

इस का आशय यह है कि यम जो वर्षात्मक काल उसके दिन और रात्रि, मानो दो दूत हैं जो मनुष्यों के सब कर्म देख रहे हैं।

दिन में दो भाग होते हैं एक पूर्वाह्न और दूसरा अपराह्न पूर्वाह्न और अपराह्न इन दोनों में भी दो दो भाग हैं। इसी प्रकार रात्रि के भी विभाग हैं। अतएव चार प्रहरों का दिन और चार प्रहरों की रात्रिमानी गई है। वे ही चार प्रहर उस कुत्ते के चार नेत्र हैं अतः चतुरक्ष श्वान कहा जाता है वे अद्भुतरूप हैं। यह विस्पष्ट ही है क्योंकि प्रतिक्षण मनुष्यों की आयु घटती जाती है मानो यही कुत्ते का भोजन है। इत्यादि सरमा का पुत्र इस लिये यह कहलाता है कि सरमानाम प्रातः कालिक उषा का है। इसी को सरण्यु कहते हैं जो सूर्य्य की अलंकारद्वारा पत्नी मानी गई है। इत्यादि वर्णन से विस्पष्टतया आलङ्कारिक अर्थ प्रतीत होता है।

अन्यथा यम के दो ही दूत क्यों माने जायं। ये दिन और रात्रि दो भिन्न २ पदार्थ प्रतीत होते हैं यह प्रत्यक्ष है। पुनः एक श्वेत और दूसरा शवल। दिन ही श्वेत और रात्रि ही शवल (श्याम) है और ये चार नेत्र वाले ही क्यों? आठयामात्मक अहोरात्र माना जाता है। यह अति प्रसिद्ध है चार २ याम एक २ के चार २ नेत्र हैं। याम शब्द भी उसी अर्थ का द्योतक है क्योंकि यम सम्बन्धी वस्तु का नाम याम है।

सप्तनरक

वेदान्तसूत्र द्वारा सात नरक दिखलाए गए हैं वेद में नियत वाचक शब्द होते हैं। अनियत वाचक नहीं। तदनुसार वे सात नरक भी कोई नियत होने चाहियें। वे ये हैं दो नयन दो कान दो नासिकाएं और मुखान्तर्वर्त्तिनी रसना ये ही सात बिगड़ जाने पर नरक होते हैं। नरक शब्द का अर्थ नीचे लेजाने वाला है " नरकम्=नीचैर्गमनम् " अथवा जहां रमणीय स्थान न हो उस को नरक कहते हैं (नरमणकम्=नरकम्)।

चित्रगुप्त

पुराणादिकों मे यम का लेखक चित्रगुप्त माना गया है। यह

चित्रगुप्त प्राणियों का अन्तःकरण है। प्राणी जो कुछ शुभाशुभ करते हैं उस का चित्र गुप्त रीति से इसी अन्तःकरण के ऊपर अ-ङ्कित होजाता है। इसीका नाम संस्कार है और इसी कारण पूर्वा-नुभूत वस्तु का स्मरण भी होता है। पुत्रियों! क्या तुम इसी लोक में स्वर्ग और नरक दोनों नहीं देखती हो और जिस २ रूप मे दोनों भासित होते हैं उसी रूप में सर्वत्र स्वर्ग और नरक हैं। क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् पाञ्चभौतिक ही माना गया है इस कारण सर्वत्र कि-ञ्चित् त रतम्यसे समान ही सृष्टि है यह तुम निश्चय जानो। शूकर, श्वान, क्षुद्र, सरीसृप, बिच्छू, सर्प, घोंघा, केंकड़ा और मेंडक आदि प्राणियों के ऊपर ध्यानदो। कभी जल बिन कोटि २ प्राणी एक दो दिनों में मर जाते हैं। कभी गङ्गा,यमुना आदि नदियों की बाढ़ आने पर असंख्य अर्थ सर्व जन्तु दो चार दिवसों में छटपटाकर मर जाते हैं। हिमपात से अगण्य क्षुद्र प्राणी नाना क्लेश सह मरने लगते हैं शीत ऋतु में गृह मक्षिकाएं और खटमल इत्यादि जन्तुओं का एक प्रकार सर्व निपात होजाता है। मैं इस को अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझती। तुम सब अपने चारों तरफ़ ध्यान से देखो। मैं देखती हूं और समझती हूं कि इस भूमि पर यम यातकों के शतशः स्थान खुले हुए हैं। सुहृदय नर इस दुःख को देख २ रो दिते हैं। दुर्भिक्ष पीड़ित प्लेग दग्ध और अन्यान्य बहुविध भयङ्कर रोगों से सन्तप्यमान और रोरूपमाण जनों की ही दुर्दशा यहां देखें। ये पुत्रियों! वास्तव में इस पृथिवी पर भी नरक और स्वर्ग विद्यमान हैं किन्तु आंख के अन्धे पुरुष उन्हे नहीं देखते। वैसे ही स्वर्ग और नरक अन्यान्य लोकों में भी स्थापित हैं। जिन२ लोकोंमें प्राणिसृष्टि है वहां वहां सर्वत्र दण्डालय बने हुए हैं।

यदि कहो कि तब परलोक का वेदविहित वर्णन व्यर्थ हो जाता है। नहीं मैं कब कहती हूं कि परलोक नहीं है। अयि पुत्रियों! मैं यह कहती हूं कि परलोक हैं। इस पृथिवी के समान वा इससे भी उत्तमोत्तम लोक इस सृष्टि में अनन्त २ हैं। मैं यह कह रही हूं कि

यदि पुनर्जन्म न हो तब भले ही अनन्त लोक बने रहें उन से जीवों की हानि वा लाभ ही क्या हो सकता है। इस शरीर को छोड़ना और दूसरे शरीर में जाना यही परलोक में गमन है। इस पृथिवीके ऊपर हो अथवा अन्यलोक में जाकर शरीर धारण करना पड़ता हो। शरीर धारण करना आवश्यक है। बिना शरीर से सुख दुःख का भोग नहीं हो सकता। वह लिङ्ग शरीर अथवा स्थूलशरीर हो। मुक्ति में ही यह जीव निःशरीर होता है। विशेषकर मैं यह कहती हूं कि सर्वत्र पञ्चभूतों से जगत् बना हुआ है। मूल कारण अविद्या अथवा माया ही है। तब विषमा सृष्टि केवल कर्मजन्य ही सकती है। यह यहां भी विद्यमान है। अन्यत्र भी ऐसी ही होगी यह सुगम अनुमान हो सकता है। क्योंकि कारण की सर्वत्र समानता है।

हे पुत्रियों! निश्चय, तुम यह जानो कि अविद्यावश से भी यह मानव देव अतिशय उच्च है। यदि इस के द्वारा आत्म परिचय न हुआ तो महान् अधःपात अवश्यम्भावी है। पुनः २ मैं कहती हूं कि सर्वभाव से तुम अपने को ईश्वर के निकट समर्पित कर दो। देखो इतने से ही तुम में कितना बल आजाता है। आगे ईश्वर के अविश्वासी जन ही इधर उधर मारे २ फिरते हैं दिखलाती हूं ध्यान से सुनोः—

ईश्वर में अविश्वास

क्या हम ईश्वर में पूर्ण विश्वासी हैं? नहीं यदि ईश्वर के भक्त और पूर्णविश्वासी हम मानव होते तो ध्रुव-जानो, कि हम लोगों की ऐसी दुर्दशा न होती। जब समस्त वेद तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थ बड़ी उत्कण्ठा से और सत्यता पूर्वक दृढ़ता के साथ उपदेश दे रहे हैं कि वह परमात्मा हम लोगों का जन्मदाता परमपिता है। हम उस के प्रिय पुत्र हैं वह प्रेम और दया का पारावारीण है। सब कर्मों का फल दाता ही नहीं किन्तु जिस २ अन्यान्यदेवरूप में यह भ्रान्त मानवगण पूजता उपासना करता और प्रेम भक्ति से तीर्थादिक रटन करता है उस २ देवादि द्वारा परमात्मा ही फल देने

वाला है। जब सब प्रमाणों से यह निश्चित और ध्रुव सिद्धान्त है तब उस दयालु की उपासना और शरण छोड़ इतस्ततः भ्रमण करना केवल मूढ़ता है। निश्चय तुम जानो, जिन्हें अपने परमपिता भगवान् में विश्वास नहीं वेही कभी जगन्नाथ, रामेश्वर, मथुरा, प्रयाग, काशी, वृन्दावन, कभी गङ्गा, गोदावरी, नर्मदा और कृष्णा, कभी सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण कभी नीचातिनीच भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि २ की ओर दौड़ते हैं। पापी जन मरने के समय अपने पापों का स्मरण कर काशी प्रयाग से उद्धार समझ वहां किसी प्रकार जाकर मरना चाहते हैं किन्तु वे मूढ़ सर्वान्तर्य्यामी परमपिता को अपने हृदय में ही नहीं देखते हैं। वे छली, कपटी, महापातकी मूढ जन मृत्यु समय भी अपने को ईश्वर में समर्पित नहीं करते। उस समय भी लोकैषणा को लक्ष्य करके गङ्गा और काशी जाना चाहते हैं एवमस्तु। अब इस को आगे न बढ़ा कर तुमको हिततम उपदेश यह देती हूं कि सर्वभाव से अपने आत्मा का समर्पण उस परमात्मा में कर देओ। अब आगे पञ्चाग्नि विद्या का सक्षेप वर्णन बतलाती हूं ध्यान से श्रवण करो।

अथ पञ्चाग्निविद्या-विवेक

एक समय अरुण गोत्रोत्पन्न श्वेतकेतु नामा कोई कुमार पञ्चाल देश के अधिपति प्रवाहण नामा नृपति की समिति (सभा) में आ पहुंचा। राजा प्रवाहण ने वक्ष्यमाण पांच प्रश्न उस से पूछे वे ये प्रश्न हैं:-

१-हे कुमार यहां से प्रजाएं ऊपर को जहां जाती हैं उसे क्या तू जानता है?

कुमार-राजन् नहीं।

प्रवाहण-२-ये प्रजाएं पुनः जैसे लौट आती हैं क्या तू जानताहै?

कुमार-नहीं।

प्रवाहण-३-देवयान और पितृयाण मार्गों का वियोग स्थान जानता है।

कुमार-हे भगवन् मैं नहीं जानता।

प्रवाहण-४-जिस कारण यह लोक नहीं भर जाता है उस को तू जानता है।

कुमार-हे भगवन् मैं नहीं जानता।

प्रवाहण-५-जिस कारण पांचवीं आहुति में जल पुरुषवाची होता है इसे तू जानता है।

कुमार-भगवन् नहीं जानता।

तब राजा ने कहा कि विदित होता है कि तेरे पिता ने तुझ को अच्छी शिक्षा नहीं दी है। एवमस्तु। तू कुछ काल यहां ही निवास कर मैं यथाशक्ति तुझे शिक्षा दूंगा किन्तु वह श्वेतकेतु लज्जित होकर अपने पिता के निकट जा बोला कि पिता जी आप ने मुझको क्या सिखलाया। प्रवाहण राजा ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे थे उन में से एक प्रश्न का भी समाधान मैं न कर सका॥ प्रश्न ये थे। श्वेतकेतु के पिता उन पांचों प्रश्नों को सुन कर पुत्र से कहने लगे कि मैं स्वयं इनको नहीं जानता। यह कह कर पुत्र को साथ ले प्रवाहण के निकट जा पहुंचे। राजा भी उनका अच्छी तरह स्वागत कर बोले कि हे ब्राह्मण गौतम आप मनुष्य सम्बन्धी जो धन चाहते हों वह मुझ से मांग लें मैं उसे देने के लिये उपस्थित हूं। इस वचन को सुन गौतम ने राजा से कहा कि आप ने जो प्रश्न मेरे कुमार से पूछे थे उनका ही समाधान आप से सीखनेके लिये आया हूं। आप की कृपा से मुझे मानुष धन प्राप्तहै। इस पर राजा ने कहा कि यह विद्या अभी तक क्षत्रियों में ही थी आज से आप के द्वारा ब्राह्मण में भी पहुंचेगी। किन्तु मैं क्षत्रिय और आप ब्राह्मण तब आप मेरे शिष्य कैसे होंगे। गौतम ने कहा कि राजन्! विद्या जहां कहीं से मिले अवश्य सीखलेनी चाहिये मैं अन्तःकारण से आप का शिष्य होता हूं मुझे शिक्षा दीजिये।

प्रथम आहुति

हे गौतम! यह लोक एक अग्नि है। उसका सूर्य्य समिधा है।

रश्मि (किरण) धूम है। दिन ज्वाला, चन्द्रमा अंगार, नक्षत्रवि-स्फुलिङ्ग (चिनगारियां) हैं। इस अग्नि में देवगण श्रद्धा की आहुति देते हैं उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है।

द्वितीय आहुति

हे गौतम ! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है। उसको वायु ही समिधा, अभ्र (एक प्रकार का मेघ) धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अंगार, मेघ शब्द विस्फुलिङ्ग हैं। इस द्वितीय अग्नि में सोमराजा की आहुति देवगण देते हैं उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है।

तृतीय आहुति

हे गौतम ! यह पृथिवी तृतीय अग्नि है। उस का सम्वत्सर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएं अंगार, और अवान्तर दिशाएं विस्फुलिंङ्ग हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा की आहुति देते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है।

चतुर्थ आहुति

हे गौतम ! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है। उस की वाणी ही समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अंगार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्नि में देवगण अन्न की आहुति देते हैं। उस आहुति से रेत (वीर्य्य) उत्पन्न होता है।

पञ्चम आहुति

हे गौतम ! यह स्त्री पञ्चम अग्नि है। इस अग्नि में देवगण रेत की आहुति देते हैं। उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है। हे गौतम! इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुषवाची होता है वह गर्भ नौ वा दश मास उल्वावृत हो पेट में रह बालकरूप से उत्पन्न होता है पुनः अपनी आयुभर सुख दुःख भोग मर जाता है। उसको बन्धु बान्धव अग्निमें जला देते हैं। इस प्रकार मानव जीवन का एक चक्र समाप्त हो जाताहै।

देवयान

जो कोई श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं वे अर्चि में प्राप्त होते हैं इत्यादि देवयान का वर्णन पूर्व में कर आई हूं।

पितृयाण

जो कोई ग्राम में इष्ट (अग्निष्टोम आदि यज्ञ) आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाक इत्यादि) और दान की उपासना करते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं वे दक्षिणायन छः मासों में प्राप्त होकर संवत्सर में प्राप्त नहीं होते यही भेद देवयान और पितृयान में है जहां से सर्वथा भिन्न २ मार्ग होते हैं। इत्यादि वर्णन पूर्व में हो चुका है।

अवरोह

अवरोह नाम नीचे उतरने का है। जो पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक में आते हैं वे सुकृत दुष्कृत वहां भोग कर उसी मार्ग से पुनः लौटते हैं। प्रथम आकाश में प्राप्त होते, उससे वायु होते, वायु होकर धूम होते, धूम होकर अभ्र, अभ्र होकर मेघ, मेघ होकर बरसते हैं तत्पश्चात् यव औषधि वनस्पति तिल, माश इत्यादि ५ योनियों में प्राप्त होते हैं। हे गौतम! उनसे उन जीवों को निकलना अत्यन्त कठिन होता है।

कर्मफलभोग

उस के आगे उपनिषद्में राजा कहतेहैं कि जो कोई इस संसार में आकर अच्छे शुभकर्म करते हैं वे ब्राह्मण योनि में अथवा क्षत्रिय योनि में अथवा वैश्य योनि में संप्राप्त होतेहैं और जो कोई कुत्सित चौर्य्यादि कुकर्म करते हैं वे श्वान योनि में, शूकर योनि में और चण्डाल योनि इत्यादि योनियों में संप्राप्त होते हैं।

तृतीयपथ

तृतीय पथ का नाम " जायस्वम्रियस्व " है। जायस्व=जन्मले। म्रियस्व=मरजा। जो कोई न तो देवयान से और न पितृयाण से ऊर्ध्वगमन करते हैं वे इसी तृतीय मार्ग में घूमते रहते हैं इस हेतु

यह लोक जीवों से भरता नहीं। हे गौतम! इस प्रकार जानकर सदा इस जन्ममरण प्रवाह से घृणा रखनी चाहिये।

समीक्षा

राजा के पांचों प्रश्नों का आशय यह है। १-यहां से प्रजा कहां जाती है इस प्रश्न के तीन उत्तर हुए। कुछ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म लोक को जाते हैं। द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्र लोक को जाते हैं। तृतीय सर्वथा जन्म मरण प्रवाह में डूबते और उगते रहते हैं। २-द्वितीय राजा का प्रश्न यह है कि वहां से पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इस का उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोक से आकाश में, आकाश से वायु में इत्यादि। ३-तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयाण का भेद कहां होता है इस का उत्तर यह है कि देवयान का पथ अर्चि से आरम्भ होता है और पितृयाण का धूम से पुनः देवयान गामी सम्वत्सर में जाते हैं किन्तु पितृयाणगामी उस में नहीं ४-चतुर्थ प्रश्न यह है कि यह लोक क्यों नहीं भर जाता। इस का उत्तर यह है कि मर कर सब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्म लोक में ही अथवा चन्द्र लोक में ही नहीं पहुंचते किन्तु बहुत से जीव मरते ही तत्काल ही अन्य योनियों में प्राप्त हो जन्म लेते और मरते रहते हैं। इसहेतु यह लोक नहीं भरता है। ५-पञ्चम प्रश्न यह है कि पांचवीं आहुतिमें जीव वाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है इस का उत्तर यह है कि आदित्य लोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पांच अग्नि हैं। स्त्रीरूप अग्निमें जो आहुति दी जाती है उस से जल पुरुष वाची होजाता है।

इस पञ्चाग्नि विद्या के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न और उत्तर हैं उन को श्रीशङ्कराचार्य्यकृत भाष्यके आशय अनुसार पीछे बतलाऊंगी। किन्तुयहां यह विचार उपस्थित होताहै कि वेदान्त शास्त्रमें इसकी कौनसी ऐसी आवश्यकता थी जिस के लिये एक ब्राह्मण विद्वान् को भी क्षत्रिय का शिष्य होना पड़ा।

पुनर्जन्म

यह विद्या इस लिये वेदान्त में अपेक्षित हुई कि पुनर्जन्म के लोक पूर्ण विश्वासी हों। पुनर्जन्म अनेक तरह से सन्दिग्ध हो रहा है बहुत से नास्तिक इस शरीर से भिन्न आत्मा को नही मानते। आस्तिकों में भी मत बाहुल्य है। इस जीव को भी विभु मानने वाले बहुत से आचार्य्य हैं। जब आत्मा विभु है तब इस का परलोकादि में गमन क्या, और वेदान्त में भी बहुत से सिद्धान्त पाये जाते हैं जिन से जन्म की ही सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि विभु आत्मा का जन्म और मरण कैसे हो सकता है। जो सर्व व्यापी आत्मा है वह अत्यन्त क्षुद्र, गर्भ में कैसे समा सकता है। और भी-जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा असम्भव है। क्योंकि अनेकता रहने ही पर जन्म मरण हो सकता है। और भी-किन ही श्रुतियों का तात्पर्य्य यह है कि यह जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। अविद्यांशमें जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव है अथवा जैसे सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अथवा आभास घटों में पड़े वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणों में पड़ता है वही जीव कहलाता है। इन दृष्टान्तों से भी पुनर्जन्म की सिद्धि नही होती क्योंकि घट के फूटने से घटस्थ बिम्ब किसी अन्य रूपको धारण कर कहीं अन्यत्र नही जाता न इस प्रतिबिम्ब की कोई भिन्न सत्ता ही होती है। जैसे पुरुष से भिन्न छाया की भिन्न सत्ता नहीं, दर्पण में मुखादि की जो छाया पड़ती है उस की सत्ता मुखसे पृथक् नहीं अतः घट फूटने पर सूर्य्यप्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों बना रहता है। तद्वत् ब्रह्म प्रतिबिम्ब जो जीव वह अन्तःकरण के छिन्न भिन्न होने पर ज्यों का त्यों बना रहे कैसे कहीं जाय।

इत्यादि कारणों से पुनर्जन्म में लोगों को सन्देह न हो। अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पुनर्जन्म पञ्चाग्निवर्णनद्वारा दिखलाती है। आत्मविवेक प्रकरण पुनर्जन्मादि का प्रतिपादन कर आई हू। अतः पिष्टपेषण करना उचित नही। यदि पुनर्जन्म न माना

जाय तो आत्मा का अस्तित्व भी मानना व्यर्थ है। ईश्वर का शासन भी निष्प्रयोजन समझा जायगा। तब सर्वथा धर्म्मसम्प्रदाय का ही उच्छेद हो जायगा। परमन्यायी परमात्मा इस विषमा सृष्टि को क्यों बनाता है। यदि सब जीव तुल्य ही हैं और पूर्वके उपार्जित उन में कोई कर्म नहीं तो किसी जीव को नीच योनि मे और किसी को उत्तम योनि में ईश्वर क्यों भेजे। पुनः किसीके लिये नरक और किसी के लिये स्वर्ग क्यों बनावे। इत्यादि बहुशः हेतु और युक्तियां आत्मविवेक प्रकरण में दिखलाई गई हैं।

अब मृत्यु के पश्चात् इस जीवात्मा के साथ कौन २ पदार्थ जाते हैं इस का वर्णन वेदान्त के तृतीय अध्याय के आरम्भ से ही किया गया है लिङ्ग शरीर इस के साथ रहता है पूर्व प्रज्ञा और प्राणादिक भी साथ रहते हैं। देह के बीज जो भूत सूक्ष्म इत्यादि भी इस के साथ २ जाते हैं। हे पुत्रियो! इस विद्या के प्रदर्शन से श्रुति का तात्पर्य्य शरीर से घृणा करने का है। अतः जिन २ उपायों से आत्मोद्धार हो वह कर्त्तव्य है।

इति पञ्चाग्नि विद्याविवेकः समाप्तः

अथ आनन्दमयकोषविवेकः

भृगु ऋषि अपने पिता वरुण के निकट जा बोले कि भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये। इस के उत्तर में वरुण ने कहा-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।

जिस से ये भूत उपजते हैं उपज कर जिस से जीते हैं और जिस में प्रविष्ट होते हैं उस की जिज्ञासा कर यह ब्रह्म है। इस के पश्चात् पिता के आदेशानुसार तप कर के भृगु ने प्रथम अन्न को, तब प्राण को, तब मन को, तब विज्ञान को, तब आनन्द को ब्रह्म

जाना इस प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों को जान कर तत्पश्चात् पूर्णब्रह्म को जान वह भृगु आत्मदर्शी हुए। इस हेतु इस का विवेक थोड़ा सा पञ्चदशी के अनुसार बतलाती हूं।

अन्नमयकोष

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्द्धते ।
देहसोऽन्नमयोनात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥

मातृ पितृ से भुक्त अन्न द्वारा उत्पन्न जो वीर्य्य और रज उस से यह शरीर होता है और पुनः अन्न, फल,मूल, कन्द आदि के भोजन से इस शरीर की वृद्धि होती है। इसीका नाम अन्नमयकोष है। यह कोष आत्मा नहीं। क्योंकि यदि यह स्थूल देह आत्मा हो तो अकृताभ्यागम कृत प्रणाशरूप दोष होगा। भाव यह है कि यह देह प्रत्यक्षरूप से उत्पन्न होता और पुनः नष्ट होजाता है। इस में अतिपामर जनको भी सन्देह नहीं है। तब इस देह को पाकर नाना क्लेश लोग क्यों सहें अथवा सहाये जांय। क्योंकि इसके पूर्व कोई कर्म न था जिस के अनुसार इस प्राण समूह को सुखदुःख मिले। अतः अकृत कर्म्मों का आगमन होने से अकृताभ्यागमदोष होगा। और इस शरीर द्वारा जो शुभाशुभ कर्म किये जायंगे, वे देह के साथ ही नष्ट होजायंगे। उनका सुखदुःखरूप फल कुछ भी आगामी जन्म में न होगा। तब लोग शुभाशुभ कर्म में ही प्रवृत्त क्यों हों। धर्म्मव्यवस्था ही क्यों की जाय ईश्वर भी विषमाख्रष्टि करके अन्यायी होगा। इत्यादि दोष उपस्थित होंगे। यदि यह शरीर ही आत्मा मान लिया जाय इसी का नाम कृतप्रणाश है किये हुए कर्म्मों का जो नाश वहकृतप्रणाश है।

प्राणमयकोष

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्त्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥

जो वायु पैर से लेकर मस्तक पर्य्यन्त सम्पूर्ण देह में व्याप्त है और जो इन्द्रियों को बल देता हुआ उन्हे काम में भी लगाता है वह प्राणमयकोष है। इसी प्राण को बहुत आचार्य्य आत्मा मानते हैं। वे कहतेहैं कि शरीर में जब तक यह प्राण गमनागमन करता रहता है तब तक ही यह जीता रहता है। इसके निकल जाने पर नाडियों में गति नहीं पाई जाती। अतः यह प्राण ही जीवात्मा है दूसरा नही। और भी-अणु कीट से लेकर गजादि शरीर तक जितने देह हैं इन सब में यदि एक पृथक् २ जीव माना जाय तो सब देहों में एक ही प्रकार का बोध होना चाहिये जैसे एक विद्वान् कुटी में निवास करे अथवा राजकीय प्रासाद में अथवा किसी बन में रहे सर्वत्र इस का बोध समान ही होगा। इस दृष्टान्त के अनुसार गृहरूप किसी शरीर में सम्प्राप्त हो बोध तुल्य होना चाहिये। किन्तु बोध की तुल्यता है नहीं। अतः सब में जीवात्मा नही। किन्तु प्राण ही सब शरीर में व्यापक है। यदि इस पर कोई कहे कि जैसे इन्द्रिय मनुष्य देह में हैं वैसे पटु और निपुण इन्द्रियगण अन्यान्य देहों में नहीं है। अतः बोध का तारतम्य हो सकता है किन्तु यह कथन अतितुच्छ है। व्याघ्रादि के इन्द्रियों की प्रवलता मनुष्य की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। चोंटी में घ्राणशक्ति कितनी है इस को सब कोई जानते हैं। विहगादियों में भी इन्द्रियों की प्रवलता प्रत्यक्ष है। गृध्र अनेक कोश दूरस्थ वस्तु को देख लेता है। काक की चेष्टा प्रसिद्ध है बहुत से विहग आहारार्थ समय २ पर उस २ देश में पहुंच जाते हैं जहां उस २ समय में आहार पूर्णतया प्राप्त होता है। इस प्रकार थोडा बहुत तारतम्य अवश्य है किन्तु उस से भिन्नता सिद्ध नहीं होती। अतः सब प्राणियों में तुल्य बोध की प्राप्ति होती है। और प्राण जड़ वस्तु है उसका विकाश सर्वत्र तुल्य नहीं। इन हेतु प्राण को जीवात्मा मान लेने से कोई दोष नही होता इत्यादि प्राण वादियों का सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का खण्डन सर्व आस्तिक ग्रन्थों में विद्यमान है। अकृताभ्यागमकृत प्रणाशरूप दोष इस में भी तुल्य ही है। यदि

कहा जाय कि अज्ञानकृत यह संसार है परिस्थिति के अनुसार जहां तहां जीव उत्पन्न होकर अपना २ पोषण पालन कर के मर जाते हैं। इस में पूर्व जन्मार्जित पुण्य पाप हेतु नहीं। इस लिये अकृताभ्यागमकृतप्रणाश का भी बखेड़ा व्यर्थ है। इस पर कहा जा सकता है कि तब यह सृष्टि ही कैसे हुई। यदि सम्पूर्ण सृष्टि जड़मयी है और इसको चालक कोई चेतन नहीं तब इस जड़मयी सृष्टि की स्वय प्रवृत्ति और निवृत्ति कैसे हो सकती है। इत्यादि विचार नास्तिक कारणवाद खण्डन में देखो।

मनोमयकोष-

अहन्ताम्ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमय.॥

जो देह में अहंभ व और गृहादि में ममता करता है उसे मनोमयकोष कहते हैं। बहुत से आचार्य्य इसी को आत्मा समझते हैं। किन्तु यह आत्मा नहीं क्योंकि इस में नाना विकार देखतेहैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि अनेक विकार इस में पाए जाते हैं। मन की चञ्चलता का वर्णन बड़ा २ कवि भी नहीं कर सकते। अविवश मनही महादुःख का कारण होता और वशीभून मन ही परमानन्द का हेतु होता है॥

"मन एव मनुष्याणां कारणम्बन्धमोक्षयोः"

मन को वश्य और अवश्य करने से ही मनुष्यों में मनुष्यसे लेकर देव राक्षस पिशाच असुर आदि सज्ञाएं होती हैं। हे पुत्रियों! इस मदोन्मत्त मनोगज को वश करके सुखी बनो।

विज्ञानमयकोष-

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमय शब्दभाक्॥

जो निद्राभासयुक्त बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन हो जातीहै । और जागरण काल में नखसे लेकर शिखा पर्य्यन्त व्याप्त होजाती है। उसी का नाम विज्ञानमय कोष है । यह भी आत्मा नहीं यद्यपि मनोमय और विज्ञानमय कोषों में उतना अन्तर प्रतीत नहीं होता । तथापि विचार दृष्टि से इन दोनों में बहुत भेद है । मन एक प्रकार से उभयात्मक इन्द्रिय है और ज्ञान शक्ति का नाम विज्ञान है ।

आनन्दमयकोष—

काचिदन्तर्मुखावृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् ।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥
कादाचित्कत्वतोऽनात्मास्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्मासौ सर्वदा स्थितेः ॥

पुण्यकर्म के फलों के अनुभव काल में कोई बुद्धि वृत्ति अन्तर्मुख होकर आत्मस्वरूप आनन्द के प्रतिबिम्ब को प्राप्ति करती है और वही पुण्य कर्म के फलों के भोग की शान्ति होने पर निद्रारूप से लीन होजाती है उसी वृत्ति का नाम आनन्दमयकोष है । यह आनन्दमयकोष भी आत्मा नहीं । क्योंकि यह आनन्द भी कादाचित्क है । तब इस प्रकार देह से लेकर आनन्दपर्य्यन्त यदि आत्मा नहीं तो आत्मा कौन, इस पर कहा जाताहै कि इस सब से भिन्न बिम्बभूत परम प्रिय जो देहावच्छिन्न आत्मा वही आनन्दमयहै । परमात्मा ही आनन्दमय है क्योंकि जिसकी एक मात्रा लेकर यह समस्त जगत् आनन्द भोग रहा है वही आनन्दमय है । वह यही आत्मा है अतः यह आनन्दमय है ।

यदि कहा जाय कि देह प्रभृतियों का अनुभव सब करते हैं। इन से भिन्न कोई पुरुष है ऐसा साक्षात् अनुभव किसी को नहीं होता तब आत्मास्तित्व कैसे विदित हो । इस का उत्तर सहज है यह तो ठीक है कि देहादि का अनुभव होता है किन्तु इन देहादिको का

अनुभव करने वाला कौन पुरुष है । यह मैं पूछती हूं । ध्रुव, जो सब का अनुभव करता है वही तो आत्मा है । इस अनुभवयिता की सत्ता को कौन दूर कर सकता है । वह जब स्वयम् अनुभव-स्वरूप है तब वह अनुभाव्य कैसे बनेगा । स्वयम् प्रकाशस्वरूप आत्मा है जिस से सब जानते हैं उस को किस साधन से जानों। जिस की ज्योति से यह भास्कर भी ज्योतिष्मान् होता है जिस के भय से मृत्यु भी कम्पायमान होता है जो सब रूप में तन् तत् रूप हो रहा है उस को कैसे जानें । वह विदित अविदित दोनों से पृथक् है। ऐ पुत्रियो ! आत्मा को समाधि द्वारा जानो अथवा वह अपने से ही जाना जाता है ॥

प्रियंवदा-मात यहां यह एक शङ्का होती है कि इसी मानवदेह में ये अन्नमयादि पञ्चकोश हैं अथवा इतर जीवों में भी । तथा जरायुज में ही हैं अथवा अण्डज, ऊष्मज और उद्भिज्ज प्रभृति योनियों में भी ये पञ्चकोश हैं ।

रूपकुमारी-प्रियंवदा ! अभी तक तुझे पञ्चकोश का वास्तव में विवेक नहीं हुआ है । यह सब जीवों में पञ्चकोश हैं यह निश्चयरूप से तू जान । अयि ! मैं वारंवार कहती आई हूं कि पांचभौतिक देह सब जीवों का है । ये पांचों कोश भी पांचभौतिक हैं । इस से भिन्न आनन्दमय आत्मा है । वह आत्मा भी सब में तुल्यरूप से स्थित है । मानवदेह की विशेषता इतनी है कि इस में विवेक की अधिकता है । यह परस्पर कथोपकथन से मनोभाव समझता है अतः इस देहद्वारा व्यावहारिक इतनी उन्नति हुई है और होरही है अन्य शरीरस्थ जीव एक प्रकार कारागार में बद्ध है । केवल कर्म भोग भोग रहा है । नूतन २ कर्म नहीं करता । यद्यपि पुराणादिकों में पशु ,पक्षी प्रभृतियों में भी कश्चित् ज्ञानोदय की कथा आती है, तथापि इस को शापवश जानना, वास्तव में मनुष्येतर जीवों में विवेक नहीं है । अब इस पर ध्यान दे । पशु पक्षी भी खाते पीते और उसी से उनका देह बढ़ताहै अतःअन्नमयकोष वहां भी है। प्राणमयकोष भी प्रत्यक्ष ही है.

मन और बुद्धि भी सब में थोडी बहुत विद्यमान है। अतः मनोमय और विज्ञानमयकोष भी उन में स्थित हैं। अति क्षुद्रतम जन्तु भी यत्किञ्चित् आनन्द का अनुभव करते हो हैं अतः उन में आनन्दमय कोश का भी सद्भाव है। उद्भिज्ज वृक्षादिकों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि–

जीवेनात्मनानुद्भूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति । छा० उ० ।

जीवात्मा से व्याप्त यह वृक्ष भी रसों को पीता हुआ आनन्द पूर्वक स्थित है। इस प्रमाण से उद्भिज्ज योनियों में भी पञ्चकोशों की विद्यमानता सिद्ध है। हे पुत्रियो! आश्चर्य्यमय यह संसार है जिस ओर तुम जाओगी उसी ओर इस की अद्भुतता पाओगी। यदि तुम्हारी दृष्टि अज्ञानता की ओर जाती है तो इस जगत् में अज्ञान का ही राज्य विदित होगा। यदि तुम ज्ञान की गवेषणा में तत्पर हो तो सर्वत्र ज्ञान का ही शासन देखोगी। क्योंकि चीटी भी ज्ञान पूर्वक ही अपने बिल से निवासार्थ मिट्टी निकाल बाहर फेंक रही है। मकड़ी दूसरे जीवों को फंसाने के लिये तथा अपने निवास हेतु जाल ज्ञान पूर्वक ही बनाती है। अब यदि तुम आनन्द की अन्वेषणा करने वाली हो तो देखो किस आमोद प्रमोद से ये क्षुद्र मत्स्य बड़े वेग से दौड़ते हुए जल में क्रीडा कर रहे हैं। ये दोनों विहङ्गमिथुन परस्पर विलास में कितना आनन्द लूट रहे हैं। क्या शूकर और कूकर आनन्द भोग नहीं करते। इनका भोग विलास प्रख्यात है। इसीप्रकार दुःखों का महासागर तरङ्गायमान है। ज्वर, प्लेग, हैजा और अन्यान्य शतशः रोग दुर्भिक्ष दीनता परस्पर हिंसा द्वेष आदि दुःख कितने हैं, उनको कौन गिन सकता है। सर्वत्र तारतम्य है अतः मानव देह पाकर इस आत्मा का साक्षात् करो। यही आदेश यही उपनिषद् है।

इति पञ्चकोषविवेकः समाप्तः

अथ भूमाविवेक

एक समय नारद ऋषि सनत्कुमार के निकट जाकर निवेदन करने लगे कि भगवन्! मुझे विद्या पढ़ाइये। सनत्कुमार ने उन से कहा कि जितना आप जानते हैं उतना सुना दीजिये उस से आगे मैं कहूंगा। नारद कहने लगे कि हे भगवन्! मैं-

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ, आथर्वणवेद, पञ्चम इतिहास पुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, इतनी विद्याओं को मैं जानता हूं। हे भगवन् तथापि मैं मन्त्रवित् हो हूं आत्मवित् नहीं। आप के समान विद्वानोंसे सुना है कि आत्मवित् पुरुष शोक का उल्लंघन करजाते हैं किन्तु हे भगवन्! मैं सर्वदा शोकग्रस्त रहता हूं। मुझ को उस शोक से पार उतारें। यह निवेदन है।

सनत्कुमार कहते हैं कि आपने जो कुछ अध्ययन किया है वह नाम मात्र है ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि नाम हो हैं नाम की उपासना करो। सो जो कोई नामरूप ब्रह्म की उपासना करता है वह नाम की गति पर्य्यन्त विचरण करता है। उस से आगे नहीं बढ़ता।

नारद पूछते हैं कि हे भगवन्! नाम से भी जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे दोजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! नाम से बड़ी वाणी है क्योंकि वाणी ही ऋग्वेद को जनाती। यजुर्वेद इत्यादि सकल विद्याओं को वाणी जनाती है। द्युलोक पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव मनुष्य पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, व्याघ्र से लेकर कीट, पतंग, पिपीलिका इत्यादि जन्तु, धर्म्म, अधर्म्म, सत्य, अनृत, साधु, असाधु, हृदयज्ञ, अहृदयज्ञ इन सकल वस्तुओं को वाणी जनाती है। यदि वाणी न होती तो धर्म, अधर्म, सत्य, अनृत, साधु, असाधु, हृदयज्ञ और अहृदयज्ञ इत्यादिकों का बोध न होता। सब को वाणी ही जनाता है। इस लिये वाणी का उपासना करो। सो जो कोई वाणीरूप ब्रह्म

की उपासना करता है वह वाणी की गतिपर्य्यन्त काम चारी होता है।

नारद-भगवन्! वाणी से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे कीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! वाणी से बड़ा मन है जैसे दो आमलकों को अथवा किन्हीं दो वस्तुओं को मुट्ठी अनुभव करतीहै इसी प्रकार वाणी और नाम को मन अनुभव करता है। जब मनुष्य मन मे मनन करता है कि मैं मन्त्रों को पढ़ूं तब वह पढ़ता है। कर्मों को करूं तब वह कर्म करता है। पुत्रों और पशुओं को चाहूं तब वह चाहताहै। इस लोक को और उस लोक को मैं चाहूं तब उनको चाहता है। हे नारद! मन ही आत्मा, मन ही लोक मन ही ब्रह्म है। मन की उपासना करो सो जो कोई मनोरूप ब्रह्म की उपासना करता है वह मन की गति पर्य्यन्त काम चारी होता है।

नारद-भगवन्! मन से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! मन से बड़ा सकल्प है क्योंकि जब संकल्पकरता है तब उस के पश्चात् मनन होता है। मनन के पश्चात् वाणी नामों में लगाई जाती है। नाम में सब मन्त्र प्रयुक्त होते हैं और मन्त्रों में कर्म प्रयुक्त होते हैं। द्युलोक से लेकर पृथिवी तक, ईश्वर से लेकर पिपीलिका तक सब में सकल्प विद्यमान है। सो जो कोई संकल्पात्मक ब्रह्म की उपासना करता है वह सकल्प की गतिपर्य्यन्त स्वेछाचारी होता है। हे नारद! आप भी सकल्प ब्रह्म की उपासना करो।

नारदः-हे भगवन्! संकल्प से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझ को दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! संकल्प से भी बड़ा चित्त है क्योंकि जब मनुष्य चेतता है तब वह सकल्प करता है। तब मनन करताहै। तब वाणी को काममें लाताहै। तब उस वाणीको नाममें लगाता है। नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं। मन्त्रों में कर्म इकट्ठे होते हैं। इस

कारण पूर्वोक्त सब ही चित्ताश्रित और चित्तात्मक हैं । अर्थात् वे सब ही चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इस हेतु लोक में भी देखा जाता है कि यद्यपि वह पुरुष बहुवित् तथा बहुसम्पत्तिशाली हो तथापि उसका यदि चित्त स्वस्थ नहीं है अर्थात् चित्त में कोई विक्षेप अथवा उन्माद है तब लोग उसे देखकर कहते हैं कि यदि यह विद्वान् होता तो यह ऐसा न करता इसका चित्त विक्षिप्त होगया है। इसके विपरीत यदि कोई अल्पवित् हो किन्तु चित्तवान् हो तो उसकी लोग शुश्रूषा करते हैं। क्योंकि चित्त ही इसका एकाश्रय है । चित्त आत्मा है, चित्त प्रतिष्ठा है। हे नारद चित्त की उपासना करो। सो जो कोई चित्तब्रह्म की उपासना करता है वह ध्रुवों मे ध्रुव, प्रतिष्ठितों में प्रतिष्ठित, अव्यथमनों में अव्यथमना होता है और जहां तक चित्त की गति है वहां तक वह स्वेच्छाचारी होता है।

नारद–हे भगवन्! चित्त से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को देवें।

सनत्कुमार–हे नारद! चित्तसे भी बड़ा ध्यान है। यह पृथिवी मानो, ध्यान कर रही है, अन्तरिक्ष, द्युलोक,जल इत्यादि भी, मानो, ध्यान कर रहे हैं। पर्वत, मानो ध्यानावस्थित हैं। इस कारण हे नारद! जब कोई मनुष्यों में महत्व को पाते हैं वह माहात्म्य ध्यान का ही एक अंश है और अल्प कलह करने वाले, पिशुन और निन्दक आदि हैं वे ध्यानांश से विहीन हैं इस हेतु हे नारद! ध्यान की उपासना करो । सो जो कोई ध्यान ब्रह्म की उपासना करता है वह "ध्यान की जहां तक गति है" वहां तक कामचार होता है।

नारद–हे भगवन्! ध्यान से भी जो बड़ा है उस का उपदेश मुझे दीजिये।

सनत्कुमार–हे नारद! ध्यान से बड़ा विज्ञान है।। क्योंकि विज्ञान से ऋग्वेद जानता है। यजुर्वेद, सामवेद आथर्वण इत्यादि लिखित विद्याओं को विज्ञान से ही जानता है । केवल विद्याओं को ही नहीं किन्तु पृथिवी, जल,तेज, वायु, आकाश, देव, मनुष्य, पशु,

पक्षी, तृण, पर्वत, नदी, कीट, पतङ्ग आदि जितने पदार्थ हैं वे सब विज्ञान से ही जाने जाते हैं। अतः नारद ! विज्ञान की उपासना कीजिये। जो कोई विज्ञानब्रह्म की उपासना करता है वह विज्ञानवान् होता है और विज्ञान की गति-पर्य्यन्त कामचार होता है।

नारद-हे भगवन्! विज्ञान से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमारः-हे नारद ! विज्ञान से भी बड़ा बल है। क्योंकि सैंकड़ों विज्ञानवान् पुरुषों को एक ही बलवान् कंपा देता है वह जब बलवान् होता है तब उठ कर चलने वाला होता है। उठनेहारा चलता है। चलनेहारा विद्वानों के निकट जा बैठता है वही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता होता है बल से ही पृथिवी स्थित है। बल से अन्तरिक्ष, बल से द्यौ, बल से पर्वत, बल से देव, बल से मनुष्य, बल से पशु विहङ्ग, बल से, तृण वनस्पति, बल से, श्वापद और कीट पतङ्ग आदि सब ही लोक स्थित हैं। नारद! आप बल की उपासना कीजिये। जो बल ब्रह्म की उपासना करता है वह बल की गति पर्य्यन्त स्वेच्छाविहारी होता है।

नारद-भगवन्! बल से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! बल से बड़ा अन्न है, क्योंकि यदि कोई दश अहोरात्र भोजन न करे यदि वह जीता रह गया तो वह, अश्रोता, अद्रष्टा, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता और अविज्ञाता हो जाता है यदि पुनः क्रमशः अन्न खाकर बल बढ़ा लेता है तो वही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा कर्त्ता और विज्ञाता पूर्ववत् हो जाता है। अत नारद! अन्न की उपासना कीजिये जो कोई अन्न की उपासना करता है। वह अन्न की गति तक स्वेच्छाचारी होता है।

नारद-भगवन् अन्न से भी जो बड़ा हो उस को उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार–हे नारद! अन्न से बड़ा जल है। क्योंकि जब सुवृष्टि नहीं होती तब अन्न अवश्य थोड़ा होगा। वह अनुमान कर सब के प्राण सूखने लगते हैं। अन्नाभावसे लोग रोगी होने लगते हैं और जब सुवृष्टि होती है तब अन्न बहुत होगा यह अनुमान कर सब के प्राण आनन्दी होते हैं। अन्न खाकर सब ही जीव बड़े प्रसन्न हृष्टपुष्ट और विहारी होते हैं। जलसे ही यह पृथिवी शोभा पातीहै अन्तरिक्ष भी जलमय मेघ से मनोहर बनता है। जल पाकर ही सब जीव अपनी सत्ता स्थिर रखते हैं। जल जीवन है, जलवर्धकहै, जल सबका प्राणरूपहै। अतः नारद! आप जल की उपासना करें। जो कोई जल रूप ब्रह्म की उपासना करता है वह सब काम को पाता है। तृप्तिमान् होता और जल की गति तक इस का स्वेच्छा विहार होता है।

नारद–भगवन्! जल से भी जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझसे कीजिये।

सनत्कुमार–नारद! जल से भी बड़ा तेज है जब यह तेज वायु को लेकर आकाश में फैलता है तब लोग कहते हैं कि इस समय अधिक उष्णता बढ़ती जाती है सूर्य्य तप रहा है वर्षा बहुत होगी। इस को तेज ही पहले दिखला जल उत्पन्न करता है। वही तेज ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, तिर्य्यक् गामिनी विद्युत् के साथ महाघोरनाद को पैदा करता है जो कुछ विद्युत् रूप से द्योतित होता गरजता और बरसताहै यह सब तेज का ही विलासहै। नारद! तेज की उपासना कीजिये। जो कोई तेजोब्रह्म को उपासताहै वह तेजस्वी होकर तेजस्वी भास्वान् और तमो रहित लोकों को पाता है। और तेज की गति तक उसका काम चार होता है।

नारद–भगवन्! तेज से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार–नारद! तेज से बड़ा आकाश है क्योंकि तेजःकारणभूत सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र आदिक स्थित हैं आकाश से

ही पुकारता, आकाश से सुनता. आकाश से प्रत्युत्तर देता, आकाश में ही पृथिव्यादिक लोक भी स्थित हैं। आकाश में ही उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं. नारद! आप आकाश की उपासना करें। जो कोई आकाश ब्रह्म की उपासना करता है वह आकाशवान्, प्रकाशवान् बाधा रहित और अनन्तलोक को पाता है और आकाश की गति पर्य्यन्त वह स्वेच्छाचारी होता है।

नारद-भगवन्! जो आकाश से भी बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को दीजिये।

सनत्कुमार-नारद! आकाश से भी बड़ा स्मर (स्मृति,स्मरण) है क्योंकि स्मरणशक्ति विहीन पुरुष न किसीको सुन सकते न मनन न विज्ञान ही कर सकते हैं। स्मरणशक्ति वाले ही श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता होते हैं। स्मरण से ही पुत्रों और पशुओं को जानते हैं, नारद! आप स्मरण की उपासना कीजिये। जो कोई स्मरण की उपासना करता है वह स्मरण की गति तक कामचारी होता है।

नारद-भगवन्! स्मरण से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार-नारद! स्मरण से भी बड़ा आशा है क्योंकि आशा से युक्त पुरुष मन्त्र पढ़ता, कर्म करता, पुत्र, पशु, इहलोक, परलोक इत्यादि सकल अभीष्ट वस्तुओं की इच्छा आशा बद्ध पुरुष ही करता है। अतः नारद! आप आशा की उपासना करें जो कोई आशा ब्रह्म की उपासना करता है उस के सब काम समृद्ध होते हैं उस की आशा अमोघ होती और वह आशा की गतिपर्य्यन्त स्वेच्छाचारी होता है।

नारद-भगवन्! आशा से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार-नारद! आशा से भी बड़ा प्राण है क्योंकि जैसे नाभि में अर्पित शकट (गाड़ी) के सब अरे (अरगज) होते हैं

वैसे ही इस प्राण में सब समर्पित हैं। प्राण से प्राण जाता, प्राण प्राण को देता, प्राण ही पिता, प्राण माता, प्राण भ्राता, प्राण स्वसा, प्राण आचार्य्य, प्राण ब्राह्मण है। यदि कोई पिता, माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य्य अथवा ब्राह्मण को धिक्कारता है तो उस को लोक कहते हैं कि तू पितृहा (पितृघाती) मातृहा, भ्रातृहा, स्वसृहा, आचार्य्यहा और ब्राह्मणहा है। किन्तु जब पिता, माता इत्यादिकों के प्राण निकल जाते हैं तब उन को शूल से अथवा किसी अन्यान्य तीक्ष्ण आयुधों से भोंके, काटे अथवा आग में जला दे तो कोई भी उस को पितृघाती, मातृघाती इत्यादि नहीं कहता। क्योंकि वास्तव में प्राण ही माता, पिता इत्यादि होते हैं। जो कोई इसको देखता, विचारता और इस प्रकार जानता है वह अतिवादी होता है अर्थात् तत्त्ववित् होता है। यदि ताने से उसको कोई कहे कि तू अतिवादी है तो वह स्वीकार करे कि "मैं अतिवादी हूं" इस को न छिपावे। वही अतिवादी है जो सत्य के साथ भाषण करता है।

नारद–भगवन्! मैं सत्य के साथ भाषण करूंगा।

सन०–सत्य की जिज्ञासा करें।

नारद–भगवन्! मैं सत्य की जिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब अच्छी तरह जानता है तब सत्य बोलता है। बिना जाने हुए सत्य नहीं बोल सकता। अतः विज्ञानही विजिज्ञासितव्य (जानने योग्य) है।

नारद–मैं विज्ञान की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब मननकरता तब विज्ञाता होता बिना मननसे विज्ञाता नहीं होता। अतः मनन विजिज्ञासितव्य है।

नारद–भगवन्! मैं मनन की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब श्रद्धा करता तब वह मननकर्त्ता होता अश्रद्धालु मन्ता नहीं होता। अतः श्रद्धा विजिज्ञासितव्य है।

नारद–मैं श्रद्धा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब निष्ठाकरता तब श्रद्धालु होता बिना निष्ठासे श्रद्धालु नहीं होता। अतः निष्ठा विजिज्ञासितव्य है।

नारद-मैं निष्ठा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब कर्म करता तब निष्ठावान् होता बिना कर्म से निष्ठावान् नहीं होता अतः कर्म विजिज्ञासितव्य है।

नारद-मैं कर्म की जिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब सुख का लाभ करता तब कर्म करता सुख के लाभ बिना कर्म नहीं करता। अतः सुख विजिज्ञासितव्य है।

ना०-भगवन्! मैं सुख की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जो भूमा है वह सुख है अल्प में सुख नहीं भूमा ही सुख है। भूमा ही विजिज्ञासितव्य है।

ना०-भगवन् मैं भूमा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जहां अन्य नही देखता, अन्य नहीं सुनता, अन्य नहीं जानता वह भूमा है। जहां अन्य देखता, अन्य सुनता, अन्यजानताहै वह अल्प है। निश्चय, जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है।

ना०-भगवन्! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है?

सन०-अपने महिमा में अथवा महिमामें नहीं क्योंकि गो, अश्व, हस्ती, हिरण्य, दास, भार्य्या और क्षेत्र इत्यादि यहां महिमा कहे जाता है, इस प्रकार के महिमा में वह प्रतिष्ठित नहो है किन्तु वह अपने में प्रतिष्ठित है।

परोक्षदर्शन-

वह नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण, उत्तर, विद्यमान है। यही यह सब है।

अहंकारादेश-

मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दक्षिण, मैं उत्तरमें हूं। मैं ही यह सब हूं।

आत्मादेश-

आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दक्षिण, आत्मा उत्तर में है। आत्मा ही यह सब है।

विद्याफल

जो कोई इसविद्याको इस प्रकार देखता हुआ, मननकरता हुआ और जानता हुआ आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है वह स्वराट् होता है अर्थात् अपनी इच्छानुसार सर्वत्र विराजमान होता है। उस का सब लोकों मे स्वेच्छानुसार गमन होता है उसका दूसरा राजा नहीं होता। और जो इस से विपरीत बोद्धा हैं उन के दूसरे राजा होते हैं, उन के लोक क्षयशील होते हैं सब लोक में उन का स्वेच्छा गमन नहीं होता।

इस प्रकार मन्ता, द्रष्टा और विज्ञाता पुरुष के आत्मा से प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भावतिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्तसंकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र और सब कर्म होते हैं। आत्मा से ही सब होता है-यहां एक श्लोक है-

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वंह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥

वह द्रष्टा न मृत्यु, न रोग, न दुःख को देखता है। वह द्रष्टा सब देखता और सर्वत्र सब पाता है।

यह एक, तीन, पांच, सात और नौ प्रकार होता है वह एकादशवां कहा गया है। शत, दश, एक, सहस्र और विंशति होता है।

आहार शुद्धि में सत्वशुद्धि, सत्वशुद्धि में ध्रुवा स्मृति, स्मृतिलाभ में सर्व ग्रन्थों का मोचन होता है।

इस प्रकार निष्पाप नारद को भगवान् सनत्कुमार तम के पार ले गये ॥

इति श्रीरूपकुमारिकृते वेदान्तपुष्पाञ्जलौ
प्रकीर्णविवेकः

समाप्तः

अथ चित्स्वरूप विवेकः

१-भूमा-नाम-विवेक-

प्रियंवदा-श्रीमती भगवती जी ! सनत्कुमार और नारद का सम्वाद सुन कर अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त हुई !! मैं बहुत दिनों से स्वयम् विचार रही थी कि ये समस्त विद्याएं कैसे उत्पन्न हुईं । क्या ईश्वर अवतीर्ण होकर संस्कृत भाषामें भारतजनों के उद्धार के लिये सब शास्त्र बनागए अथवा यहां के अस्मत् सदृश मनुष्यों ने-ही इन को अपने आत्मा-से निकाल बाहर किया है । अब यह सन्देह दूर हो गया । इसी आत्मा से ये ऋग्वेदादि समस्त शास्त्र विनिःसृत हुए हैं किन्तु ब्रह्मी भूतआत्मा से ये निकले हैं केवल रागद्वेष परिपूर्ण जीव से नहीं क्योंकि अभी श्रीभगवती के मुखारविन्द से सुनचुकी हूं कि-

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानऽ स्यैवं विजानत आत्मनो मन्त्राः । आत्मतः सर्वाणि इत्यादि ।

जो कोई इस प्रकार देखता, मनन करता और अच्छे प्रकार जानता उस के आत्मा से सब मन्त्र, और सब ही निःसृत हुए हैं ।

किन्तु मातः ! एक सन्देह यह है कि नारद जी ऋग्वेदादि सब शास्त्र पढ़गए थे तथापि मन्त्रवित् ही थे आत्मवित् नहीं हुए थे और शोकान्वित थे । इस से यह अनुमान होता है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ है । केवल महापुरुषों के निकट जाय और उन से उपदेश ग्रहण करे इस सन्देह की निवृत्ति कीजिये ।

रूपकुमारी-प्रिय पुत्री !-तेरा सन्देह उचित ही है । केवल पठन पाठन से कुछ भी नहीं होता किन्तु जब तक एकान्त में बैठ कर

मनन और निदिध्यासन न करे तब तक वह केवल शुकवत् पाठक है। गर्दभवत् भारवाही है। आज सहस्रशः वैयाकरण, नैयायिक, ज्योतिषी, वेदान्ती और पौराणिक देख पड़ते हैं किन्तु वे सर्वथा आत्म विमुख हैं। वे अपने को न पहचान वट, तुलसी, गङ्गा, गोदावरी, सूर्य्य चन्द्र की ओर दौड़ते हैं। कभी देहको चन्दनादिकों से रङ्ग कर और इस शरीर को जला माला मुद्रा ले लोगों को ठगने में लगे हुए हैं। अतः केवल पढ़ने से क्या होता है। स्वयम् वेदभगवान् कहते हैं कि-

"किमृचाकरिष्यति यस्तन्नवेद०"

वह ऋग्वेद से क्या करेगा जो उस को नहीं जानता। पुनः-

"न तं विदाथ य इमाजजान०"

उक्थासश्चरन्ति। इत्यादि

ऐ मनुष्यों तुम उसको नहीं जानते जिस ने इस सबको बनाया है। वेद पढ़कर भी तुम्हारे अन्तःकरण से अज्ञान नहीं गया। लोगों से कहते हो कि हम वेद जानते हैं। हम मन्त्र जानते हैं। इस प्रकार तुम यावदूक बन गए हो कि उस परमदेव को नहीं जानते। हे पुत्री! इस प्रकार स्वयम् वेदभगवान् ही केवल मन्त्रवित् पुरुषों का तिरस्कार बतलाते हैं। निःसन्देह तू प्रथम अपरा और परा विद्याओं का भेद जान जिससे तेरा सन्देह सर्वथा दूर हो जायगा। वह यह है-

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में यह प्रसङ्ग आया है कि सर्व विद्याओं की प्रतिष्ठा जो ब्रह्म विद्या है उसका उपदेश ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व से किया। उस विद्या को अथर्व ने अङ्गी नाम अपने पुत्र को दिया। उस ने भरद्वाज से कहा। भरद्वाज ने अङ्गिरा से कहा। एक समय महाविद्वान् शौनक अङ्गिरा के निकट विधिवत् शिष्य बन कर निवेदन करने लगे कि भगवन्! किस एकके विज्ञान से यह सब विज्ञात होताहै। मुझ को इसविषय का, भगवान् उपदेश

करें। क्योंकि मेरे इतने अध्ययन से भी यह विषय विदित नहीं हुआ: तत्पश्चात् अङ्गिरा ने शौनक से यह उपदेश दिया—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति । परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

हे शौनक! दो विद्याएं जाननी चाहियें ऐसा ब्रह्मवित् कहते हैं १—पराविद्या दूसरी अपराविद्या। अपराविद्याएं ये हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष और पराविद्या वह है जिस से वह अक्षर (परमात्मा) प्राप्त होता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अहस्त और अचरण है। जो नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म और अव्यय है। उसी को धीरगण संसार का कारण समझते हैं।

पुत्री! तू अब समझगई होगी कि ऋग्वेदादि भी केवल अपरा विद्या है पराविद्या नहीं। तब पराविद्या कौन सी है उस का क्या नाम है इस प्रकार यदि कोई जिज्ञासा करे तो उसके उत्तर में यह कहा जायगा कि वह विद्या यह है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों के पढ़ने के पश्चात् मनन और निदिध्यासन करने से जो आत्मविद्या इस अपने ही हृदय से निकलती है वही परा विद्या है दूसरी नहीं। इस का नाम सर्व विद्या प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या है। नारद अथवा

शौनक इत्यादि वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कर गये थे किन्तु मनन और निदिध्यासन उन में नहीं थे इस हेतु वे आत्मवित् भी न हुए।

प्रियंवदा–मातः ! अन्त में सनत्कुमार ने नारद से कहा कि सुख ही जिज्ञासितव्य है। इस पर पुनः सनत्कुमार ने कहा कि भूमा सुख है इस के पश्चात् अन्य जिज्ञासा नहीं की गई। और उस भूमा की बहुत सी प्रशंसा भी गाई गई है। यह समझ में नहीं आया कि यह भूमा कौन है। प्राण का नाम भूमा है, या परमात्मा का। क्योंकि भूमा शब्द का अर्थ बहुत्व है–" बहोर्लोपो भू च बहोः " इस पाणिनि सूत्र के अनुसार इमन् प्रत्यय के परे बहु शब्द के स्थान में भू आदेश और इमन् प्रत्यय के इकार का लोप होकर भूमन् शब्द बनता है। जैसे लघिमन् से लघिमा, गरिमन् से गरिमा, महिमन् से महिमा इत्यादि शब्द कहे जाते हैं तद्वत् भूमन् से भूमा कहा जाता है। शब्दार्थ इसका बहुत्व है। और "प्राणो वा आशाया भूयान्" आशा से बड़ा प्राण है इस हेतु बहुत्व भी इसमें संघटित होता है। अतएव भूमा शब्द का अर्थ प्राण प्रतीत होता है। पुनः

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु।

आप के समान विद्वानों से मैंने सुना है कि आत्मवित्पुरुष शोक को पार कर जाते हैं किन्तु मैं शोच रहा हूं मुझे भगवान् शोक से पार उतारें। इस प्रकरण से भूमा शब्द का अर्थ परमात्मा प्रतीत होता है तब किस का ग्रहण और किस का त्याग किया जाय यह संशय होता है। तथापि प्राण ही भूमा है प्रकरण से विदित होता है क्योंकि प्रकरण में पूछा गया है कि नाम से बड़ा कौन। नाम से बड़ी वाणी, वाणी से बड़ा मन, मनसे बड़ा सङ्कल्प, सङ्कल्प से बड़ा चित्त इत्यादि स्थलों में उत्तरोत्तर बड़ा शब्द का प्रयोग किया गया है इस प्रकार प्राण तक प्रश्न और प्रतिवचन का प्रवाह चला है।

किन्तु प्राण से भी बड़ा कौन ऐसा प्रश्न न पूछा गया। किन्तु नाम से लेकर आशा पर्य्यन्त कह कर सब से बड़ा प्राण को कहा है। और प्राणदर्शी को अतिवादी भी कहा गया है। नाम से लेकर आशा तक को छोड़ प्राण को ही जो श्रेष्ठ कहे उस को अतिवादी कहते हैं और इसी अतिवादी के उद्देश से सत्यवचन, ध्यान, मनन, श्रद्धा आदि धर्म का उपदेश करके भूमा का उपदेश किया गया है। इस हेतु और प्रकरणस्थ बहुत सी ऐसी बातें हैं जिस से प्राण का नाम ही भूमा प्रतीत होता है। इस शङ्का का निवारण श्रीमती करें।

श्रीरूपकुमारी–ऐसी शङ्का पूर्व समय में भी लोक किया करते थे। अतः वेदव्यास–

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्।

धर्मोपपत्तेश्च।

इन दो वेदान्तसूत्रों से सिद्ध करते हैं कि भूमा नाम परमात्मा का ही है। क्योंकि संप्रसाद के पश्चात् उस भूमा का उपदेश किया गया है। संप्रसाद नाम सुषुप्त स्थान का है "सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन्निति संप्रसादः" जिस अवस्था में जीवात्मा सम्यक् प्रसन्न हो उस को संप्रसाद कहते हैं। और बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वप्न और जागरित शब्द के साथ संप्रसाद शब्द के पाठ से भी यह सुषुप्त स्थान वाची सिद्ध होता है। उस संप्रसादावस्था मे प्राण जागता रहता है इस हेतु प्राण का भी नाम संप्रसाद है। इस प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश किया गया है यदि प्राण ही भूमा होता तो प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश करना व्यर्थ होगा। क्योंकि नाम से बड़ा नाम है यह कहना सर्वथा असङ्गत है और नाम से बड़ा नाम ही है इस को दिखलाने के लिये प्रकरण का आरम्भ नहीं हुआ है। किन्तु अर्थान्तर दिखलाने के लिये उत्तरोत्तर प्रकरण आरब्ध है। तद्वत् प्राण से ऊर्ध्व उपदिश्यमान भूमा भी प्राण से भिन्न वस्तु है यह सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि "हे भगवन्!

प्राण से भी कोई बड़ा है" ऐसा प्रश्न न नारद ने किया और न सनत्कुमार ने प्राण से भी बड़ा भूमा है ऐसा उत्तर दिया है। तब प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश दिया गया यह कैसे माना जाय। और प्राणवित् को ही अतिवादी कहा है इस हेतु शङ्का तदवस्थित ही रह जाती है। इस पर सक्षेप से भामती का जो विचार है वह दिखलाती हूं-

एषतु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति।

जो सत्य के साथ अति भाषण करता है वह अतिवादी है। इस से परमात्माही भूमा सिद्ध होता है। क्योंकि सत्य शब्द परमार्थ में रूढ़ है श्रुति परमार्थ का उपदेश देती है। परमार्थ परमात्मा ही है उस से भिन्न सकल विकार अनृत है। और "एषतुवा अतिवदति यःसत्येनातिवदति" इस वाक्य से ब्रह्म को कहने वाला अतिवादी कहाता है। तब कथञ्चिन् प्राणवित् में अतिवादित्व सिद्ध भी हो। तो भी प्राण का परमार्थत्व न होने से सत्य परमात्मा का ही भूमन् शब्द से ग्रहण है इस में सन्देह नहीं। इस प्रकार परमात्मा के जिज्ञासु अनात्मवित् नारद के प्रश्न पर "मैं इस को परमात्मा दिखलाऊंगा" यह मन रख सनत्कुमार ने सोपानारोहणन्याय से, स्थूल से आरम्भ कर उससे बड़ा वह, उससे बड़ा वह इत्यादि दिखलाते हुए अन्त में परम सूक्ष्म परमात्मा का उपदेश भमन् शब्द से किया है। अतः भूमा परमात्मवाची है। पुनः भूमा में जो धर्म कहे गए हैं वे केवल परमात्मा ही में घट सकते हैं किन्तु अन्यत्र नहीं। जैसे-

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।

जहां दूसरा नहीं देखता, दूसरा नहीं सुनता, दूसरा नहीं जानता वह भूमा है। इस से दर्शनादिव्यवहाराभाव भूमा में दिखलाया गया है। वह धर्म केवल परमात्मा ही में घटता है और "एषाऽस्य परम आनन्द - एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" इस

आनन्दमय परमात्माके आनन्दकी एक मात्रासे सकल प्राणी जीवित हो रहे हैं। यह परमात्मा के विषय में कहा गया है और-

" यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् " ॥

यहां सुख स्वरूप भूमा को कहा है। अतः यह धर्म भी ब्रह्म में घटता है इस प्रकार प्रकरणानुसार सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इत्यादि धर्म जो भूमा में कहे गये हैं वे केवल परमात्मा में ही घटते हैं। अतः भूमा नाम परमात्माका है यह सिद्ध हुआ।

यदि कहो कि परमात्मा का नाम भूमा क्यों रक्खा गया क्योंकि भूमा शब्द का अर्थ बहुत्व है। यदि बहुत्व का अर्थ ' बहु ' लेलिया जाय तो परमात्मा एक है बहु नहीं। अतः यह नाम असङ्गत प्रतीत होता है। इस का उत्तर संक्षेप से यह है कि यद्यपि परमार्थरूप से परमात्मा एक ही है किन्तु व्यवहाररूप से सूर्य्य से लेकर कीट पर्य्यन्त परमात्मा के कितने रूप हैं इस की गणना ब्रह्मा भी नहीं कर सकता। इस लिये परमात्मा ही "बहु" है इस में सन्देह क्या। जब सर्वश्रुति प्रतिपादित यह सिद्धान्त है कि उसी परमात्मा से आकाशादिक सब उत्पन्न हुये हैं तब वह वास्तव में भूमा है जैसे एक बीज से सहस्रों शाखाए पत्र, पुष्प, फल इत्यादि होते हैं तद्वत् उस एक परमात्मा से यह सकल नाना शाखा संयुक्त जगत् है। अतः वह भूमा है श्रुति कहती है।

" तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय "

उसने देखा कि मैं बहुत होजाऊं। यहां परमात्मा का ही बहुत्व सिद्ध है।

हे पुत्री ! इस से यह आत्मोपदेश दिया गया है कि परमात्मा से भिन्न अन्यवस्तु को मत समझ। जो कुछ व्यवहार में बहुत्व

देखते हैं वह परमात्मा ही का रूप है जो कोई इस तत्व को नहीं समझते वही दुःख में वारवार निमग्न होते हैं। भूमा शब्द का दूसरा अर्थ महान् है, सब से बड़ा है जैसे अल्प जल मे रहकर मत्स्य सुखी नहीं होता। जब गम्भीर गङ्गादि नदियों से होता हुआ महासमुद्र में प्राप्त होता है तब वह सर्वथा सुख पाता है। जैसे पञ्जर निबद्ध विहङ्ग सुखी नहीं होता किन्तु महान् आकाश में आकर परम सुखी होता है। जैसे अल्प धन से सुख न पाकर बहुत धन से लोग सुखी होते हैं, तद्वत् हे पुत्री! इन सब वस्तुओं में उतना सुख नहीं क्योंकि परमात्मा की अपेक्षा यह आकाशादिक जगत् अत्यन्त अल्प है। अतएव इस अल्प संसार को त्याग अति महान् परमात्मा की ओर लोग आवें। अतः भूमा नाम परमात्मा का है।

इति भूमानामविवेकः समाप्तः

अथवैश्वानरनाम विवेकः

एक समय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नाम के महाशाल महाश्रोत्रिय ये सब मिल कर विचार करने लगे कि आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है। वे परस्पर निर्णय करने में असमर्थ हो उद्दालक के निकट गए उद्दालक भी इस विषय में अपने को असमर्थ पा उन पूर्वोक्त पांचों के साथ केकयदेशाधिपति अश्वपति राजा के निकट जा उन से बोले कि आप वैश्वानर आत्मा का अध्ययन करते हैं। हम लोगों से भी उस आत्मा का उपदेश कीजिये, तत्पश्चात् राजा ने एक एक से वक्ष्यमाण क्रम से प्रश्न पूछा।

राजा—हे औपमन्यव! प्राचीनशाल आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

प्राची०—हे राजन्! मैं द्युलोक की उपासना करता हूं।

राजा—यह आत्मा का मूर्धा (मस्तक) है। यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का मूर्द्धा गिर जाता। यह द्युलोक सुतेजा आत्मा वैश्वानर है। हे सत्ययज्ञ आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

सत्ययज्ञ—हे राजन्! मैं आदित्य की उपासना करता हूं।

राजा-यह विश्वरूप (सब रूप वाला) आत्मा वैश्वानर है यह आत्मा का चक्षुमात्र है। यदि आप मेरे निकट न आते तो अन्ध हो जाते। हे इन्द्रद्युम्न! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

इन्द्रद्युम्न-मै वायु की उपासना करता हूं।

राजा-यह पृथक्वर्त्मा (पृथक् २ मार्ग वाला) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का प्राण है यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का प्राण निकल जाता। हे जन आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

जन-राजन्! मैं आकाश की उपासना करता हूं।

राजा-यह बहुल (सर्वगत) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का मध्यभाग है। यदि आप मेरे निकट न आते तो आपका मध्य-भाग विशीर्ण होजाता। हे बुडिल! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

बुडिल-राजन्! मैं जल की उपासना करता हूं।

राजा-यह रै (धनप्रद) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का बस्ति (मूत्रस्थान) है यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का बस्ति छिन्न भिन्न होजाता। हे उद्दालक! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

उद्दालक-राजन्! मैं पृथिवी की उपासना करता हूं।

राजा-यह प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का चरण है यदि आप मेरे निकट न आते तो आपका चरण म्लान होजाता। हे विद्वानो! आप सब इस वैश्वानर आत्मा को पृथक् २ रूप में उपासना करते हैं। तथापि आप सब कल्याण भागी हैं। किन्तु यह उचित नहीं। इस को आप इस प्रकार जानें।

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।

जो इस आत्मा को प्रादेशमात्र = अत्यन्तसूक्ष्म और अभिविमान सम्पूर्ण जगत् को प्रत्यक्षरूप से देखने वाला समझ कर उपासना करता है वह सब द्युलोक प्रभृतिलोकों में सब स्थावरजङ्गमभूतों में सब देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवआत्माओं में फल पाता है। पुनः—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राण पृथग् वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा-वुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥

इस वैश्वानर का द्युलोक सुतेजा मूर्धा है, आदित्य विश्वरूप चक्षु है, वायुपृथग्वर्त्मात्मा प्राण है, आकाश सर्वगत मध्यभाग है। जल रै बस्ति है, पृथिवी चरण है, उरु वेदि, लोम, कुश, हृदय, गार्हपत्य, मन, अन्वाहार्य्यपचन और मुख आहवनीय अग्नि है। इत्यादि उपदेश श्रवण कर उद्दालक आदि सब तृप्त हो अपने २ गृह लौट गये और उस दिन से " ब्रह्म कौन वस्तु है ".इसतत्व को समझ परमानन्दित हुए।

श्रीरूप०—ऐ पुत्रियो! तुम इस तत्वको समझ गई होंगी वैश्वानर यह परमात्मा का नाम है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् विश्वानर कहलाताहै इस में अभेदरूप से व्याप्त जो परमात्मा उसको वैश्वानर कहते हैं। अब सम्वाद का आशय संक्षेप से समझो। सब से प्रथम औपमन्यव प्राचीनशाल ने अपना उपासना स्थान द्युलोक बतलाया यह द्युलोक सब से उर्ध्वस्थान माना गया है। जिस से परे कोई अन्यलोक न हो उसी की संज्ञावेदान्त में "द्यौ" है। मानो, इस के नीचे आदित्य है, आदित्य के नीचे वायु है, वायु के नीचे आकाश है, आकाश के नीचे जल है, जल के नीचे यह पृथिवी है

जिस के नीचे दूसरा लोक न हो उसका नाम "पृथिवी है"। यद्यपि यह संसार अनन्त और अनादि है तथापि वेदान्त दृष्टि से अनादि और सान्त है क्योंकि इसका कारण माया अनादि-और सान्त है। वास्तव में यह है भी वैसा ही। तब प्रत्यक्षदृष्टि से और वर्णन की सुगमता के लिये सब से ऊर्ध्व द्युलोक और सबसे अधः-स्थित पृथिवीलोक मान लिया गया है। और रूप के द्वारा उस परमात्मा का द्युलोक मूर्धा और पृथिवी चरण माना गयाहै। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् मानो ब्रह्म है इसको समष्टिरूप से ब्रह्म मान कर जो उपासना करताहै वह आत्मतत्ववित्‌है। पृथक् २ उपासना करने वाले आत्मवित् नही। ऐ पुत्रियों! इसी का नाम विराट् रूप है इस की उपासना करो।

प्रियंवदा-मातः वेदान्ती वैसे शब्द क्यों प्रयुक्त करते हैं जो अने-कार्थक हों। वैश्वानर शब्द जठराग्नि में रूढ़ है भूताग्नि को भी वैश्वानर कहते हैं और अभिमानी देवता भी वैश्वानर वर्णित हैं। परमात्मा का नाम वैश्वानर कोई नहीं जानता। इस हेतु यहां यदि वैश्वानर शब्द से जठराग्नि ही समझ लें तो कोई क्षति है।

श्रीरूप०-श्रुति ब्रह्म का उपदेश करती है इस लिये प्रकरण के अनुसार अर्थ की संगति हो तो ब्रह्म अर्थ मान लेना उचित है। प्रक-रण में यह आया है कि "ब्रह्म कौन है" इस के ज्ञान के लिये छः प्राचीनशाल आदि राजा अश्वपति के निकट आए और उसी ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्होंने प्रश्न भी पूछा। तब यदि ब्रह्म छोड़ कर अन्यविषय का राजा उपदेश देते तो आम्र! पूछने वाले को यदि कोई कदली बतलावे तद्वत् राजा का उत्तर होता। अतः ब्रह्मसम्बन्ध के प्रश्न का उत्तर ब्रह्म ही होना चा-हिये। यहां राजा को विस्पष्ट रूप से यह दिखलाना है कि जो वि-श्वरूप ब्रह्म है वह तू है तुझ से वह भिन्न नही। जब यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है तब उस में स्थित प्रत्येक जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। अत-एव आप सब विद्वान् व्यष्टिरूप से ब्रह्म ही हैं तब ब्रह्म कौन है इस

भ्रम में क्यों आप लोग पड़े हुए हैं। और देहादिक को बाध करके इस में स्थित जो प्रादेशमात्र जीव है वह ब्रह्म है इस को समझें यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्व (जगत्) ब्रह्मरूप है तथापि इस शरीर में जीव रूप से स्थित जो सर्वान्तर्य्यामी है वह भी तो आप का आत्मा ब्रह्म है। तब इससे अन्यत्र आत्मा का अन्वेषण करना अज्ञ न है इस भाव को दिखलाने के लिये ही श्रुति में आत्मा के विशेषण प्रादेशमात्र और अभिविमान ये दो शब्द आए हैं। वैश्वानर-शब्द का प्रयोग इस लिये ब्रह्मार्थ में किया गया कि रूपक द्वारा ब्रह्म का उपदेश विस्पष्ट हो। जैसे नर के मूर्धा से लेकर चरण तक अवयव होते हैं तद्वत् मानो, उस ब्रह्म के भी मस्तक से लेकर चरण तक अवयव हैं। कौन वस्तु, कौन अवयव है इस अपेक्षा में श्रुति दिखलाई गई है। स्मृति यह है—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः।

जिस परमात्मा का अग्नि मुख, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि पृथिवी चरण, सूर्य्य चक्षु, दिशा श्रोत्र है, उस सर्वलोकात्मक परमात्मा को नमस्कार हो। हे पुत्रियों! इस विश्व को ब्रह्मरूप में समझ चिन्तन करो।

इति वैश्वानरविवेकः समाप्तः

अथ आकाशनामविवेकः

श्री रूपकुमारी—यदि परमात्मा के अनेक नाम हैं, और उन नामों की व्याख्या भी थोड़ी बहुत ग्रन्थों में पाई जाती है। विष्णुसहस्र नाम अति प्रसिद्ध है तथापि वेदान्त सूत्रों में जिन नामों पर विशेष शङ्का समाधान किये गए हैं और जिन नामों का वर्णन अथवा जिन नामों से किसी विषय का सिद्धान्त किया गया है। ऐसे दश पांच

नामों की व्याख्या दिखलाई जाती है। भूमा और वैश्वानर इन दो शब्दों से दो विषयों का सिद्धान्त स्थापित किया गया है। अतः उन का वर्णन संक्षेप से किया गया। अब आकाश शब्द का सम्बन्ध किस प्रकार उपनिषदों में आया है और किस प्रकार यह ब्रह्मवाचक सिद्ध होता है इसका अतिसंक्षेप वर्णन यहां करतो हूं।

इसका प्रसङ्ग छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार आया है कि उद्गीथ विद्या में शालावत्य, दाल्भ्य और जैवलि ये तीनों परम कुशल हुए। एक समय उद्गीथ विद्या में वार्त्तालाप तीनों करने लगे। शालावत्यने दाल्भ्यसे पूछा कि सामवेद की गति कौनसी है।

दाल्भ्य—साम की गति स्वर है।

शाला—स्वर की गति कौन है?

दाल्भ्य—स्वर की गति प्राण है।

शाला—प्राण की गति कौन है?

दाल्भ्य—प्राण की गति अन्न है।

शाला—अन्न की गति कौन है?

दाल्भ्य—जल।

शाला—जल की गति कौन है?

दाल्भ्य—वह लोक है।

शाला—उस लोक की गति कौन है?

दाल्भ्य—उस लोक से मेरा तात्पर्य्य स्वर्ग है, स्वर्ग से पर साम को नहीं ले जाते।

इस पर शालावत्य ने दाल्भ्य से कहा कि आप का सामवेद अप्रतिष्ठित है। यदि कोई आप से कहे कि आप का शिर इस अज्ञान के कारण गिर जायगा तो अवश्य आप का शिर गिर जायगा। इस पर दाल्भ्य ने शालावत्य से निवेदन किया कि आप से मैं यह विद्या जानना चाहता हूं।

शालावत्य—उस लोक की गति यह लोक है।

दाल्भ्य—इस लोक की गति कौन है?

शाला—हे दाल्भ्य ! यह लोक सब की प्रतिष्ठा है । इस लिये इस लोक से कहीं अन्यत्र सामवेद को नहीं लेज ते । शालावत्य का, यह प्रतिवचन सुन जैवलि ने कहा । हे शालावत्य ! आप का भी साम अन्तवान् (विनश्वर) है । तब शालावत्य ने जैवलि से निवेदन किया कि भगवन् ! आप ही कृपा कर इस लोक की गति बतलावें मैं आप से यह सीखना चाहता हूं । इस पर जैवलि ने यह उत्तर दिया:—

आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।

इस लोक की गति आकाश है । क्योंकि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं आकाश ही इन सभों से बड़ा और आकाश ही परायण है ।

इस प्रकार शालावत्य दाल्भ्य और जैवलि तीनों एकत्रित हो ब्रह्मविद्या में सम्वाद कर इस सिद्धान्त तक पहुंचे कि परम्परया सामवेद की गति आकाश है जिस आकाश से यह सकल जगत् उत्पन्न और जिसमें लीन होताहै। इतना कहकर यह सम्वाद समाप्त हो जाताहै । इस लिये यह आकाश शब्द ब्रह्मवाचकहै इस में सन्देह नहीं । क्योंकि ब्रह्म के जो उत्पत्ति, विनाश, पालन करने धर्म हैं वे इस आकाश में पाए जाते हैं । अतः आकाश का वाच्य परमात्मा है इस में सन्देह नही रह जाता । अतएव वेदव्यास—

आकाशस्तल्लिंगात् ।

इस सूत्र से इस प्रकरण में आकाशशब्द ब्रह्मवाचक है यह दिखलाते हैं । इस सूत्र के ऊपर शङ्कर भाष्य बहुत ही रोचक विचार कर जो निश्चय करता है उसका आशय दिखलाती हूं ।

शिष्य–यहां आकाशशब्द से क्या परमात्मा का ग्रहण है अथवा भूताकाश का ।

शङ्कर–यह संशय क्यों होता है ।

शिष्य–दोनों अर्थों में आकाश शब्द का प्रयोग देखता हूं भूताकाश में आकाश शब्द अति प्रसिद्ध है पञ्चभूतों में एक आकाश की गणना होती है। कहीं २ ब्रह्म में भी प्रयुक्त आकाश शब्द देखता हूं। जहां वाक्य शेष से अथवा असाधारणगुणों के श्रवण से यह शब्द ब्रह्मवाचक न हो अन्यवाचक नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्मवाचक ही हो सकता है। यथा—

यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। तै० २ । ७ । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म । छा० ८ । १४ । १

यदि आकाश आनन्द न होता तो निश्चय आकाश ही नाम-रूप का उत्पत्ति, स्थिति हेतु है वे नाम और रूप जिस से भिन्न कल्पित हुए हैं वह ब्रह्म है। इत्यादि स्थलों मे आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म ही होगा अन्य नहीं इस हेतु संशय है।

शङ्कर- तो क्या युक्त है यहां आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म वा महाभूत लेना चाहिये।

शिष्य–महाभूत ही लेना चाहिये क्योंकि प्रसिद्धतर प्रयोग से आकाशशब्द का अर्थ महाभूत है यही बुद्धि मे आती है। और भी यह आकाश शब्द दोनों अर्थों मे साधारण नहीं हो सकता। क्योंकि तब वैदिक शब्दो में भी अनेकार्थता का दोष आवेगा। वैदिक शब्द अनेकार्थकनहीं होते। यदि वैदिक शब्द भी अनेकार्थक हों तो लोग सदा सन्देह में पड़े रहेंगे और परमात्माके कोष में शब्दों की कमी नहीं। अतः लोगों के उद्धारार्थ परमात्मा सदा एकार्थक शब्द ही प्रयोग करता है बह्वर्थक नहीं। इस हेतु ब्रह्म में गौण आकाश शब्द होगा। क्योंकि विभुत्वादि बहुत धर्मों के कारण ब्रह्म आकाश का

सदृश कहा जाता है। जब मुख्य संभव हो तब गौणार्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। यहां मुख्य आकाश का ग्रहण सम्भव है। यदि भूताकाश ग्रहण से "वाक्य शेष उचित रीति से सङ्कुटित न होगा" ऐसा कहा जाय तो यहां न होगा क्योंकि वाक्यशेष में यही कहा गया है कि "आकाश से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं" यह भूताकाश में भी घट जाता है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है, कि इस आत्मा से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि इत्यादि। इस प्रकार वायु प्रभृति का उत्पत्ति कारण आकाश है यह प्रत्यक्षहै और वायु आदि की अपेक्षा से आकाश बड़ा है और सब का आश्रय है यह भी प्रत्यक्ष ही है। अतः आकाश शब्द का प्रसिद्ध मुख्य अर्थ महाभूत है।

शङ्कराचार्य्य-आकाश शब्द से इस प्रकरण में ब्रह्म का युक्त है क्योंकि ब्रह्म का चिह्न पाया जाता है "सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं" यह ब्रह्म का ही चिह्न है क्योंकि परब्रह्म से भूतों की उत्पत्ति वेदान्त में मानी गई है यही मर्य्यादा है।

शिष्य-वायु आदि का कारण भूताकाश भी तो कहा गया है।

शङ्कर-ठीक, कहा गया है तथापि मूल कारण ब्रह्म के न ग्रहण करने से आकाश से ही यहां अवधारण करना और सर्व शब्द का भूत विशेषण में आना ये दोनों अनुकूल नहीं हो सकते। अर्थात् संस्कृत का एव शब्द अवधारणार्थक है और सर्व शब्द भूत के विशेषण में आया है। उन सब भूतों में आकाश की भी गणना हो जाती है। अतः अवधारणार्थक एव शब्द और विशेषण सर्व शब्द दोनों मिल कर आकाश शब्द की यहां ब्रह्मवाचकता सिद्ध करतेहैं। पुनः "आकाशमें वे लीन होते हैं" यह ब्रह्म लिङ्ग है। पुनः "आकाश ही इन से ज्यायान् (ज्येष्ठ श्रेष्ठ) है, आकाश परायण है"। यहां ज्येष्ठत्व और परायणत्व दोनों ब्रह्म के लिङ्ग हैं। पुनः अनापेक्षिक ज्येष्ठत्व परमात्मा में ही कहा गया है। यथा-

ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्या-
यान्दिवोज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।

छा० ३ । १४ । ३

पृथिवी से वह ज्यायान् (श्रेष्ठ) है, अन्तरिक्ष से ज्यायान् है, द्यौ से ज्यायान् है। इन लोकों से ज्यायान् है। पुनः परायणत्व आदि धर्म भी परमात्मा में बहुशः दिखलाए गए हैं। इत्यादि अनेक कारणों से आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म है इस में सन्देह नहीं। पुनः आकाशवाची अन्यान्य शब्दों का भी प्रयोग ब्रह्म में पाया जाता है। यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा
अधिविश्वे निषेदुः । ऋग्वेद

ऋग्वेदके जिस अविनश्वर परम परमात्मा में सब देव प्रतिष्ठित हैं। और भी—

सैषा भार्गवी वारुणीविद्या परमे व्योमन्
प्रतिष्ठा तै० ३ । ६ ।

ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म । छा० ४ । १० । ५

खं पुराणम् । वृ० ५ । १ ।

इत्यादि प्रमाणों में व्योमन् और ख शब्द जो आकाशवाची हैं यहां ब्रह्मवाचक हैं।

रूपकुमारी—पुत्रियो ! मैं अनुमान से समझतीहूं कि इन श्रुत्यर्थों का तात्पर्य्य तुम सब अच्छी तरह से समझती होंगी। ब्रह्मके स्वरूप का परिचय भी इन शब्दों से होता जाता होगा। अच्छा, अब तुम सब अपनी २ आंखें बन्द कर अनुमान तो करो कि कौनसी वस्तु आकाश है। थोड़ी देर तक अपने मन में यह समझ लो कि यहां न पृथिवी, और न पृथिवी, परके कोई पदार्थ न ऊपर के मेघ, न सूर्य्य

चन्द्रादिक कुछ पदार्थ हैं, तब कोई वस्तु रह जायगी या नहीं। जो पदार्थ रह जायगा उस का आकार कीदृश होगा यह अनुमान तो करो। ध्रुव, जो वस्तु सब के विनाश होने के पश्चात् रहेगा उस के स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। सब वस्तुओं की विद्यमानता रहने से ही हमें आकाश का बोध होता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण इत्यादि व्यवहार भी वस्तुओं की विद्यमानता से ही होता है। मैं कहां तक इस सूक्ष्म वस्तु का वर्णन करूं जो इस भूताकाश का निरुपाधिकरूप है वही सच्चिदानन्द का रूप है। इतना ही नहीं किन्तु इस से भी बड़ा, सूक्ष्म और अज्ञेय परमात्मा का रूप है। अतः सूक्ष्म विचार से ही यह जाना जाता है। और उस से लाभ होता है। और भी—जो जो गुण परमात्मा में इस दृश्य जगत् द्वारा स्थापित किये जातेहैं उन गुणोंको अपनेमें भी स्थापित करना चाहिये यह श्रुतिका तात्पर्य्य है। जैसे 'यहां' आकाश में मुख्यतया ज्यायस्त्व और परायणत्व दो गुण स्थापित किये गये हैं उन दोनों को तुम सब अपने में स्थापित करो अच्छे २ सदाचार, सुकर्म, सुभाषण, नम्रता, ज्ञान, विज्ञान, सुशीलता आदिकों की वृद्धि से सब में श्रेष्ठ बनो और लोगों में साहाय्य पहुंचाना, यथाशक्ति दान देना निष्कारण विद्याप्रदान करना इत्यादि की उन्नति से लोगों का परायण (आश्रय) बनो॥ इति संक्षेपतः।

इति आकाशनामविवेकः समाप्तः।

अथ प्राणनामविवेकः

रूपकुमारी—यद्यपि उपनिषदों में प्राण शब्द वायु विकार और परमात्मा इन दोनों अर्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है और प्रकरण के अनुसार जहां तहां दोनों अर्थ प्रतीत हो जाते हैं। तथापि अनेक स्थलों में सन्देह भी उपस्थित होता है। अतः इस शब्द के ऊपर भी अति संक्षेप व्याख्यान सूत्र-भाष्यानुसार पूर्ववत् दिखलाऊंगी। ध्यान पूर्वक तुम सब इस को सुनो प्रसङ्ग से अन्यान्यविषय भी बहुत से विदित हो जायेंगे प्रसङ्ग इस प्रकार है। एकसमय कुरुदेशमें

महादुर्भिक्ष से लोक अत्यन्त पीड़ित होगये वहां एक ब्रह्मवादी उषस्ति नाम के एक ऋषि रहते थे। वे अपनी स्त्री को साथ ले कुरुदेश से भाग किसी धन सम्पन्न ग्राम में जा पहुंचे। वे अत्यन्त क्षुधित हो गये थे उस ग्राम में कहीं एक हाथीवान् (महावत) कुछ कुल्माष (एक प्रकार का अन्न) खा रहे थे। उषस्ति ने उस महावत से कुल्माष मांगा। उस ने कहा जो मैं खा रहा हूं येही कुल्माष हैं। यदि इन उच्छिष्ट कुल्माषों में से आप लेना चाहते हैं तो इन्हें लीजिये। ऋषि उन्हें लेकर चलने लगे, तब गजरक्षक ने कहा कि इस जल को भी लीजिये। इस के उत्तर में उषस्ति ने कहा कि यह उच्छिष्ट है इस को न लूंगा।

गजरक्षक-क्या ये कुल्माष उच्छिष्ट नहीं हैं।

उषस्ति-निश्चय ये कुल्माष भी उच्छिष्ट हैं किन्तु यदि इन को मैं न खाऊं तो मैं जीवित नहीं रह सकता। जल तो यहां बहुत मिलता है तब उच्छिष्ट जल क्यों ग्रहण करूं।

इस प्रकार गजरक्षक से उच्छिष्ट कुल्माष ले उन्हें खा और उन में से कुछ बचा अपनी स्त्री के लिये घर पर ले आए। उनकी स्त्री पहले ही भिक्षा मांग खा चुकी थी। इस लिये उन कुल्माषों को रख लिया। प्रातःकाल उषस्ति उठ कर अपनी स्त्री से कहने लगे कि आज इस ग्राम का राजा यज्ञ करेगा मैं वहां जाना चाहता हूं। वह मुझ को अवश्य ही वरण देगा यदि तुम्हारे पास कुछ अन्न हो तो लाओ खालूं तब वहां जाऊंगा। स्त्री ने कहा हे पते! बहुत शोक की बात है कि घर में दूसरा अन्न नहीं कल आप जो कुल्माष ले आए थे वे ही हैं। तब चाक्रायण उषस्ति उन्ही कुल्माषों को खाकर उस यज्ञमें पहुंचे। वहां जहां उद्गातृगण बैठ थे बैठ गये और प्रस्तोता नाम ऋत्विक् से पूछा।

उषस्ति-हे प्रस्तोता प्रस्ताव में जो देवता अन्वायत्त हैं अर्थात् प्रस्ताव में जिस देवता का आवाहन होता है उस को क्या आप जानते हैं। उस को विना जाने हुए यदि आप प्रस्ताव करेंगे तो

आप का मस्तक गिर पड़ेगा। इसी प्रकार उद्गाता से पूछा कि उद्गीथ सम्बन्धी देवता को आप जानते हैं। इसी प्रकार प्रति हर्ता नाम के ऋत्विक से भी पूछा किन्तु वे सब चुप रह गए कुछ भी उत्तर उन लोगों से न हुआ।

तब राजा यजमान ने उन से जिज्ञासा की कि आप कौन हैं। उत्तर मिला कि मैं उषस्तिचाक्रायण हूं। यह सुन प्रसन्न हो यजमान बोले कि मैंने आप का अन्वेषण बहुत करवाया किन्तु आप जब न मिल सके और पता भी कुछ न लगा तब मैंने इस यज्ञ का आरम्भ किया। कृपया अब मुख्य ऋत्विक् होकर इस की समाप्ति कीजिये इस प्रकार यज्ञ आरम्भ हुआ।

प्रस्तोता–आप ने प्रस्ताव देवता के सम्बन्ध में मुझ से जो प्रश्न पूछा था उस का उत्तर प्रथम दीजिये।

उषस्ति–वह प्राण देवता है क्योंकिः–

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता।

हे प्रस्तोता! उस प्राण में ही सब भूत लीन होते और उसी से उदित होते हैं। वही प्राण रूप देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है।

उद्गाता–हे उषस्ति! मेरा भी उत्तर आप दीजिये उद्गीथ से किस देवता का सम्बन्ध है।

उषस्ति–उद्गीथ का देवता आदित्य है क्योंकि इसी को सब भूत उच्च स्वर से गाते हैं और यही सब से उच्च भी है।

प्रतिहर्त्ता–भगवन्! आपने मुझ से जो प्रश्न पूछा था उस का उत्तर क्या है।

उषस्ति–प्रतिहार का देवता अन्न है उसी को खाकर सब प्राणी जीते हैं।

यहां पुनः शङ्का होती है कि प्रस्ताव का देवता प्राण कहा गया है और उसी प्राण में निखिल भूतों का प्रवेश और उसीसे उद्गमन भी कहा गया है। यहां भी पूर्ववत् शङ्का समाधान होता है "अतएव प्राणः" इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने जैसी शङ्का और समाधान की है उस का आशय दिखलाया जाता है।

शिष्य—

"प्राणबन्धनम् हि सोम्य मनः। प्राणस्य प्राणम्"।

इत्यादि वचनों से प्राण शब्द ब्रह्मवाची देख पड़ता है और लोक वेद में वायुविकार वाचक प्राण शब्द प्रसिद्धतर है। तब किस अर्थ का ग्रहण और किसका त्याग किया जाय। इसहेतु संशय होता है।

शङ्कराचार्य्य—तो तुम यहां क्या युक्तितर समझते हो।

शिष्य—वायुविकार पञ्चवृत्ति वाले प्राण का ग्रहण करना मुझे उचित प्रतीत होता है। क्योंकि उसी में प्राण शब्द प्रसिद्ध है।

शङ्कर—पूर्ववत् यहां भी ब्रह्म के चिह्न पाए जाते हैं। क्योंकि वाक्यान्त में भूतों के प्रवेश और उद्गमन जो दो धर्म कहे गये हैं वे पारमेश्वर कर्म हैं। तब तुझे पुनः शङ्का क्यों हुई।

शिष्य—मुख्य प्राण में भी भूत प्रवेश और उद्गमन दोनों धर्म घट सकते हैं इसलिये मुझे सन्देह हुआहै। क्योंकि श्रुति कहती है—

यदा वै पुरुष स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते।

श० ब्रा० १०। ३। ३। ६

जब पुरुष सोता है तब वाणी प्राणमें लीन होतीहै। प्राणमें चक्षु, प्राणमें श्रोत्र और प्राणमें मन प्रविष्ट होते हैं। और जब पुरुष जागता है तब प्राण से ही पुनः वे वागादि उत्पन्न होते हैं। यहां प्रत्यक्ष ही स्वाप काल में प्राणवृत्ति की क्रिया और उसमें इन्द्रियों का लय और

प्रबोध काल में उसी प्राण से उन सब इन्द्रियों का प्रादुर्भाव देखते हैं। अतःप्राण शब्द वायुविकार प्रतीत होता है। और भी-उद्गीथका देवता आदित्य और प्रतिहार का देवता अन्न कहा गया है। ये दोनों ब्रह्म नहीं। अतः इन की समानता से भी प्राण शब्द ब्रह्मवाची नहीं।

शङ्कर-इस में सन्देह नहीं कि ऐसा सन्देह पूर्वकाल में भी लोगों को हुआ था। अतएव इस के निर्णय में व्यासदेव को प्रवृत्त होना पड़ा किन्तु वेदार्थ पर अधिक मनन न करनेसे ही यह संशय उत्पन्न होता है। एवमस्तु अब इस का निर्णय सुनो। यहां प्रकरण के अनुसार प्राण शब्द ब्रह्मवाचक है क्योंकि ब्रह्म के मुख्य चिह्न इस में पाए जाते हैं क्योंकि प्राण में यहां सब भूतों का प्रलय और उदय रूप जो दो धर्म माने गए हैं वे ब्रह्म चिह्न हैं। और जहां प्राण में वागादिकों का लय और उदय कहा है वहां केवल इन्द्रियों का ही ग्रहण है। सर्व भूत शब्द का वहां प्रयोग नहीं अतः वहां प्राण शब्द वायविकारवाची और यहां ब्रह्म वाची है। इस में सन्देह करना व्यर्थ है।

वेदान्त के अर्थ करने का संकेत यह है कि ब्रह्म के विशेषरूप से तीन धर्म कहे गए हैं। १-इससे सब भूतों की उत्पत्ति। २-इस से सब भूतों का पालन। ३-और इससे सब भूतों का संहार। इन तीनों धर्मों से जो जो वर्णन हो उसको ब्रह्मपरक जानो।

अब यह एक विचार उपस्थित होगा कि ब्रह्म का नाम प्राण क्यों हुआ। इसकाभी समाधान सहज और सरल है। मैं देखता हूं कि यदि प्रत्येक जीवमें जब प्राण रहता है तब वह जीवित और प्राणके निकलने वह मृतक होता। लोग भी नाड़ी परीक्षा से इसी का निश्चय करते हैं अतः इसव्यष्टिशरीर में मुख्यता प्राण की ही देखती भी हैं, क्योंकि बहुत से मनुष्य अत्यन्त अन्ध हैं तौ भी जी रहे हैं। एवं बधिर, घ्राणशक्तिविहीन, स्पर्शशक्तिरहित और रसनासामर्थ्य से क्षीण, हाथ पैर रहित अर्थ बहुत इन्द्रियों से रहित, भी जीव जीते रहते हैं किन्तु प्राणविहीन कोई जीव जीवित नहीं रहसकता अतः

व्यष्टिदेह में प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता है यह सब को प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। इस हेतु जो समष्टि जगत् में चैतन्य देरहा है उसका भी तदनुगनाम होना उचित है। अतः प्राण भी उस परमात्मा का नाम है। अतः—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह
वाचं सउ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः॥

वह श्रोत्र का श्रोत्र, मनका मन, वाणी का वाणी और प्राण का प्राण है। वही चक्षु का भी चक्षु है इत्यादि वर्णन सुसगत होता है।

पुत्रियो! इस से उपदेश यह मिलता है कि प्रत्येक ब्रह्मवादी को प्राणवत् रहना चाहिये। यद्यपि इस की भी व्याख्या और भाष्य बहुत विस्तर हैं तथापि संक्षेप से यह समझो। जैसे इस शरीर में प्राण का कोई नियत स्थान नहीं, जैसे नेत्रादिकों के स्थान नियत हैं तथापि यह प्राण सब इन्द्रियों को वहां वहां व्याप्त होकर चिता रहा है चैतन्य उन में दे रहा है। सबमें वह उसी २ रूपसे विद्यमान है। यह प्राण नेत्र में नेत्र रूप से, पैर में पैर रूप से ही यह स्थित रहता है। ब्रह्म भी प्राणवत् ही सब में वही रूप हो रहा है। इसी प्रकार ब्रह्मवादी भी अपना कोई नियत स्थान न रक्खे और सर्वत्र जा जाकर सब मनुष्यों को भी सत्पथ में लायाकरें। वे कभी श्रान्त न हों। महान् न हों किन्तु सदा प्रसन्न चित्त होकर ही आलस्य, निद्रा, तन्द्रा आदि अवगुणों को त्याग सर्वत्र पहुंच सब को जगाते रहें। ऐ पुत्रियो! ज्ञान बिना मनुष्य मानो मृतक ही हैं। उन्हे ज्ञान देकर जिलाना ब्रह्मवादियों का कार्य्य है। इति सक्षेपतः

इति प्राणनामविवेकः समाप्तः।

अथ आपद्धर्म विवेकः

प्रियंवदा—भगवती जी! उषस्ति के उपाख्यान में एक यह संशय उत्पन्न हुआ कि ऐसे ब्रह्मवादी होकर गजरक्षक के उच्छिष्ट अन्न को

खाने में क्यों उषस्ति प्रवृत्त हुए। और अन्यत्र भी सुनती हूं कि ब्रह्म-वेत्ता को कोई दोष नहीं लगता। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है किः—

न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति।

ऐसे ब्रह्मवेत्ता के निमित्त कुछ भी अनन्न नहीं होता किन्तु सब अन्न ही होता है। पुनः वाजसनेयियों का यह कथन है।

न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्।

इस का भी यही आशय है कि इस ब्रह्मवित् का कुछ अनन्न न खाया जाता, न गृहीत होता अर्थात् वह जो कुछ खाता है वह सब खाद्य ही हैं। यहां यह संशय होता है कि जैसे शमदमादिक विद्या के एक एक अङ्ग हैं क्या वैसे ही सर्वान्न भक्षण भी कोई विधि है। ज्ञात होता है कि सर्वान्न भक्षण भी कोई विधि ही है क्योंकि प्रवृत्ति के लिये ही उपदेश होता है। यह प्राण विद्या का उपदेश है अतः उस का यह भी कोई अङ्ग प्रतीत होता है। यदि इस पर कोई कहे कि तब भक्ष्याभक्ष्य विभाग शास्त्र व्यर्थ हो जायगे। यह दोष यहां न होगा क्योंकि सामान्य और विशेषविधि के उपदेश से बाध हुआ करेगा। जैसे सामान्यरूप से पशु हिंसा का प्रतिषेध है किन्तु यज्ञ में पशु हिंसा के विधान से सामान्य का विशेष से बाध होजाता है और भी—" न कांचन परिहरेत् तद्व्रतम् " यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। वामदेव विद्या का यहां प्रसङ्ग है श्रुति का आशय यह है कि वामदेव विद्या में प्राप्त पुरुष किसी स्त्री को न त्यागे। यहां सर्व स्त्रियों का ग्रहण करना विशेष विधि है। इस से सामान्य विषयक जो गम्यागम्य विभाग शास्त्र उस का बाध इसी प्रकार प्राणविद्या विषयक सर्वान्न भक्षण वचन से भक्ष्याभक्ष्य विभाग शास्त्र बाधित होगा। ऐसी शङ्का होती है। इस की निवृत्ति श्रीमती जी करें।

श्रीरूपकुमारी—हे पुत्रियों! इस सन्देह को दूर करने के लिये व्यासदेव अपने वेदान्त शास्त्र मे इस सूत्र को रचते हैं:—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्ययेतद्दर्शनात् ।

वे० । ३ । ४ । २८

यहां सर्वान्न भक्षण की कोई विधि नहीं, यहां विधायक शब्द कोई नहीं "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्न भवति" यहां "भवति" वर्तमानकाल का प्रयोग है । अतः जहां विधि न भी प्रतीत हो वहां प्रवृत्ति विशेष के लिये विधि मानना उचित नहीं । इस प्राण विद्या का प्रसङ्ग इस प्रकार है—सब वागादि इन्द्रियों को जीतकर मुख्य प्राण उन से बोला कि मेरा अन्न क्या होगा । इस के उत्तर में सब इन्द्रिय बोले कि इस लोक में कुत्ता तक और पक्षी तक सर्व प्राणियों का जो जो अन्न है वह २ सर्व अन्न आप का भक्ष्य है । अतः मनुष्यदेह से सब पदार्थों का भक्षण सर्वथा असंभव है अतः यह मनुष्य सम्बन्धी वर्णन नहीं किन्तु प्राण का वर्णन है । और यह उचित ही है क्योंकि सर्व जीवों में यह मुख्य प्राण स्थित है । कोई शूकर आदि जीव मल भी खा लेते हैं, बहुत से कीट पतङ्ग अन्यान्य क्षुद्रतर कीट पतङ्गों को खा जाते हैं इस प्रकार प्राण के सब ही पदार्थ भक्ष्य हैं । मनुष्य का नहीं, इसी को श्रुति भी दिख- लाती है । तू ऐ प्रियंवदा ! स्मरण रखती होगी कि जब चाक्रायण उषस्ति मरने लगे हैं तब उस गजरक्षक के उच्छिष्ट अन्न का भक्षण किया और वहां ही यह भी लिखा है कि उच्छिष्ट जल का ग्रहण ऋषि ने नहीं किया । इस से सिद्ध है कि (प्राणात्यये) प्राण की सङ्कटावस्था में (सर्वान्नानुमति) जहां अन्न मिले वहां खाले दोष नहीं । इसी का आपत्तिधर्म नाम है । प्राण के सङ्कट में भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे ऐसा स्मृति भी कहती है यथा—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥

इस प्रकार आपद्‌गत विश्वामित्र, वामदेव और अजीगर्त आ- दिकों ने भी प्रतिषिद्ध कर्म किये थे । अतः आपत्काल और सामान्य

कालिक धर्मविधि में भेद है। प्रत्येक विषय की मीमांसा बारंबार मनन से होती है। हे पुत्रियों! वह मनन केवल आत्मा से निकल समुन्नत होता है। आत्मा ही अन्वेष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, मीमांसीय और समाधेय है।

इति आपद्विवेकः समाप्तः

अथ अक्षरनामविवेकः

श्रीरूप०—' अक्षर ' यह नाम भी उस परमात्मा का है यह शब्द दो धातुओं से सिद्ध हो सकता है " नक्षरतीत्यक्षरम् " जो कभी विनष्ट न हो अर्थात् जो नित्य हो वह अक्षर यहां क्षरधातु से अक्षर कहा गया और " अश्नुते=व्याप्नोतीत्यक्षरम् " जो सर्वत्र व्याप्त हो वह अक्षर यहां अशधातु से भी अक्षर सिद्ध करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य अपने भाष्य में इन दो धातुओं से दो अक्षरशब्द सिद्धकर नित्य और व्यापी अर्थ करते हैं। प्रथम इस शब्द का जैसे प्रसंग वाजसनेयी उपनिषद् में आया है उसे दिखला तब सूत्र और भाष्य का भी आशय दिखलाऊंगी। तुम सब सावधान हो इसे सुनो क्योंकि ये औपनिषद् प्रसंग अनेक पापों का हरण करने वाला और परमज्ञान देने हारा है। वह यह है:—

एक समय विदेहाधिपति जनक के यज्ञ में नाना देशों से सब प्रकार के मनुष्य इकट्ठे हुए। कुरु और पञ्चालदेश से बहुत से ब्रह्मवित् ब्राह्मण और ब्रह्मवादिनी स्त्रियां भी आई थीं। जनक महाराज के मुख्य आचार्य श्री याज्ञवल्क्यजी थे और वह ऋषि अपने समय में बड़े प्रसिद्ध और ब्रह्मवादी विख्यात थे अतः इनसे अन्यान्य विद्वान् और अविद्वान् द्वेष और ईर्ष्या रखतेथे। इस कारण सभामें आए हुए ब्रह्मवादियों ने परीक्षा के लिये याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे। उनका उत्तर याज्ञवल्क्य देते गए। उस यज्ञ में प्रसिद्धविदुषी और ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गी भी आई थी। उन्होंने भी बहुतसे प्रश्न ऋषि से पूछे थे। इन हो गार्गी और याज्ञवल्क्य के सम्वाद में अक्षरशब्द का प्रसंग आया है। सभामें गार्गी इस प्रकार बोली.—

हे माननीय तथा पूज्य ब्राह्मणो ! मैं दो प्रश्न श्रीयाज्ञवल्क्य जी से पूछती हूं। यदि उन दोनों प्रश्नों का यथोचित उत्तर ये दे सकेंगे तो मुझको निश्चय हो जायगा कि आप में से कोई भी इन महाभाग विद्वान् से न जीतेंगे। श्री भगवन् याज्ञवल्क्य जी यदि आपकी आज्ञा और कृपा हो तो मैं आपसे पूछूं।

याज्ञवल्क्य-हे गार्गी ! अवश्य आप स्वेच्छानुसार प्रश्न पूछ सकती हैं। मैं अन्तःकरण से आज्ञा देता हूं।

गार्गी-मैं आप से दो प्रश्न पूछूंगी १-प्रथम प्रश्न यह है, हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोक से जो ऊर्ध्व है और पृथिवी से जो नीचे है और जिस के मध्य मे ये दोनों द्यौ और पृथिवी स्थित हैं और जो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कहाते हैं। वे सबही किस में ओत और प्रोत हैं यह मेरा प्रथम प्रश्न है इस का समाधान कृपया कीजिये।

याज्ञवल्क्य-श्रीमती गार्गी ! ये सब ही आकाश में ओत और प्रोत हैं।

गार्गी-नमस्तेऽस्तु भगवन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने बड़ी योग्यता और सावधानता से इस का समाधान किया मुझे बहुत हर्ष प्राप्त हुआ। किन्तु मेरे द्वितीय प्रश्न का समाधान करें २-वह यह है कि सब तो आकाश में ओत और प्रोत हैं किन्तु वह आकाश किस में ओत और प्रोत है ?

याज्ञ०-हे गार्गी ! वह आकाश भी उस अक्षर में ओत और प्रोत है जिस अक्षर को ब्राह्मण—

" अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अछाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और अवाह्य कहते हैं। उस को कोई नहीं पाता, कोई नहीं पाता " पुनः—

हे गार्गी ! निश्चय, तू जान कि इसी अक्षर के प्रशासन (आज्ञा, नियम) में सूर्य और चन्द्र दोनों विधृत हो स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में द्यौ और पृथिवी दोनों विधृत हो स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और सम्वत्सर विधृत हो स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में पूर्व दिशा की नदियां श्वेत पर्वतों से निकल कर बह रही हैं और पश्चिम की नदियां उस २ दिशा में जा रही हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में मनुष्य, देव, पितर और अन्यान्य सब ही प्राणी स्थित हैं।

हे गार्गी ! इस अक्षर को अच्छी तरह से न जान कर जो इस लोक में हवन, यजन और दान इत्यादि कर्म करते अथवा सहस्रों वर्षों तक तप, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना इत्यादि करते हैं वे सब कर्म निष्फल होते हैं उन का कुछ भी फल नहीं होता।

हे गार्गी ! इस अक्षर को न जान कर जो इस लोक से प्रस्थान करता है वह कृपण है और इस को जान कर जो मरता है वही ब्राह्मण है।

हे गार्गी ! यह अक्षर अदृष्ट, द्रष्टा, अश्रुत, श्रोता, अमत, मन्ता, अविज्ञात, विज्ञाता है। इस से अन्य द्रष्टा नहीं, इस से अन्य श्रोता नहीं, इससे अन्य मन्ता नहीं, इससे अन्य विज्ञाता नहीं। हे गार्गी! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोत हैं।

ऐ पुत्रियों ! याज्ञवल्क्य के यथोचित प्रश्नोत्तर को सुन वाचक्नवी गार्गी ने सब ब्राह्मणों से कहा कि आप सब इस ब्रह्मवादी को नमस्कार कर के अपना २ दोष क्षमा करवाइये। इनसे पुनः द्वेष और ईर्ष्या कभी मत कीजिये। यह कह कर गार्गी चुप चाप बैठ गई। अब श्री शङ्कराचार्य्य के भाष्य का जो आशय है उसको संक्षेपरूप में वर्णन करूंगी। वेदान्त के ये वक्ष्यमाण तीन सूत्र अक्षर के सम्बन्ध में हैं—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥ सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

वेदां० १ । ३

शिष्य–भगवन् गार्गी के सम्वाद में आए हुए अक्षर शब्द से वर्ण का अथवा परमेश्वर का ग्रहण है। क्योंकि "अथ अक्षरसमाम्नायः" इत्यादि स्थलों में अक्षर शब्द का अर्थ अ आ क ख इत्यादि वर्ण प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध को छोड़ अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। और भी–"ओंकार एवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर में ओंकार वर्ण की उपासना विहित है क्योंकि यह ओंकार सर्वात्मक और आकाश पर्य्यन्त सब के धारण करने वाला है इस हेतु इस अक्षर शब्द का अर्थ वर्ण ही प्रतीत होता है।

शङ्कराचा०–हे शिष्य! यहां अक्षर शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है। क्योंकि "अम्बरान्तधृतेः" पृथिवी से लेकर आकाशान्त सकल विकारजात की धारणा इसी अक्षर में कही गई है। उसी अक्षर में अयविभक्त पृथिव्यादि समस्त विकारकी "आकाश एव तदोतञ्च प्रोतञ्च" इस श्रुति से आकाश में प्रतिष्ठा कह कर "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" यह आकाश किस में ओत और प्रोत है। इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा किः–

"एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च"

हे गार्गी! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोतहै। यह कहाहै यह आकाशान्त धारणाब्रह्मातिरिक्त अन्य वर्णादिकमें नहीं घटसकती इस हेतु इस अक्षर का वाच्य परमात्मा है और जहां ओंकार अक्षर की प्रशंसा की गई है वहां भी ब्रह्म वाचक ओंकार के होने से वह की गई है। अतः क्षर् और अश् धातु यह अक्षर शब्द सिद्ध होता है और नित्य और व्यापी इस के अर्थ हैं।

और भी–प्रकरण के अनुसार अनेक हेतु दिये जा सकते हैं जिस से अक्षर वाच्य परमेश्वर ही सिद्ध होगा। प्रकरण में आया है कि इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि सबही चल रहेहैं। यह प्रशासन केवल परमेश्वर का कर्म है अचेतन प्रधान आदिकोंका नहीं। क्योंकि अचेतन घटादिक कारण मृत्तिकादि घटादि विषयों का शासन नहीं करते। और भी—प्रकरण में कहा गया है कि यह

अक्षरही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता इत्यादिकहैं। औरभी-यहअक्षर अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अमन इत्यादि भी कहा गया है। इत्यादि धर्म केवल परमात्मा में ही घट सकते हैं अन्यान्य जीवादिकों में नहीं।

उपदेश

हे पुत्रियों ! इस ब्रह्म वाचक अक्षरशब्द से कौन उपदेश ग्रहण करने योग्य है। वास्तव में वेदान्त दृष्टि से यह विषय बहुत ही गम्भीर और सुख प्रद है। तथापि अति सक्षेप से इस को मैं दिखलाऊ गी। प्रथम वर्णात्मक अक्षर क्या हैं और इनकी गति कहांतक है इन को विचारो। क्या मनुष्यों के मुख से उच्चार्य्यमाण अक्षर और पशु पक्षियों के मुख से उच्चार्य्यमाण अक्षर दोनों समान हैं ? और अक्षर शब्द के प्रकृति आदि भी अनेक अर्थ होते हैं। वास्तवमें मनुष्यों के मुख से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित न होते तो निःसन्देह यह जाति भी पशुवत् अङ्गल में रहती। पश्वादिकों से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित नही होते इसलिये मनुष्येतर जातियां स्वाभिप्रायः परस्पर प्रकट नहीं कर सकतीं। अतएव सृष्टि की आदि से अब तक उन में समानावस्था ही बनी रही और मनुष्य में विस्पष्ट अक्षर उच्चरित होते हैं इस हेतु वे परस्पर अपना भाव प्रकट कर इस अचिन्तनीय उन्नति तक प्राप्त हुए हैं। वास्तव में यह अक्षर भी अनादि है क्योंकि वेद अक्षरमय हैं और वे नित्य और अनादि कहे गए हैं। जब वेदी वेद परमेश्वर को कृपा से ऋषियों के हृदय द्वारा मनुष्य जाति में आए तब से ही मनुष्य विस्पष्ट भाषी हुआ। यदि आदि गुरु परमात्मा इस जाति को विस्पष्ट भाषण न सिखलाता तो सम्भवतः यह जाति भी पशुवत् अविस्पष्टभाषी बनी रहती। एवमस्तु इस से शिक्षा क्या ग्रहण करनी चाहिये यह मुझे यहां दिखलाना है। जैसे मुखोच्चरित अक्षर निरवयव नीरूप और व्यापक वस्तु है किन्तु उन अक्षरों के स्थान में कल्पित जो अ आ क ख इत्यादि अक्षर हैं वे बहुविध और साकार हैं इसी प्रकार निरवयव व्यापी, नित्य, विभु, परमात्मा के स्थान में अथवा उससे कल्पित यह समस्त विकारजात

सावयव और परिच्छिन्न हैं किन्तु जैसे क ख इत्यादि लिपि कल्पित है तद्वत् यह जगत् भी कल्पित ही है। दूसरी बात यह है जैसे अक्षर मनुष्यजाति की शोभा है तद्वत् अपने समुदाय में भी सदाचार से शोभा बढ़ाते हुए प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिये।

इति अक्षरनामविवेकः समाप्तः

अथ भूतयोनिनाम विवेकः

भूतयोनि नाम भी परमात्मा ही का है। यह शब्द जिस प्रसङ्ग में आया हुआ है उसमें भी लोग अनेक प्रकार शङ्का समाधान करते हैं। इस लिये प्रथम उस प्रसङ्ग को दिखला कर पश्चात् सूत्र और भाष्य का आशय दिखलाऊंगी प्रसङ्ग इस प्रकार है—

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में यों लिखा है कि ब्रह्मा ने सर्व विद्या प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या का अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा से उपदेश किया। अथर्वा ने अङ्गी से, और अङ्गी ने अङ्गिरा से वह ब्रह्मविद्या कही तब शौनक ऋषि अङ्गिरा के निकट विधिवत् पहुंच बोले कि—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"॥

हे भगवन्! किस एक के जानने से यह सब विदित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में अङ्गिरा कहने लगे कि—

"दो विद्याएं जाननी चाहियें। १—परा और दूसरी अपरा। अपरा विद्याएं ये हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष परा विद्या वह है जिस से उस अक्षर का बोध हो जो॥

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"

(अद्रेश्यम्) बुद्धीन्द्रिय का अविषय है (अग्राह्यम्) जो कर्मेन्द्रियों का अगोचर है (अगोत्रम्) वश और कारण रहित है (अवर्णम्) ब्राह्मणत्वादि वर्णविहीन है वह न केवल इन्द्रियोंका अविषय है किन्तु इस के इन्द्रिय हैं ही नहीं। अतः आगे कहते हैं (अचक्षुश्रोत्रम्) चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय रहित है तथा (अपाणिपादम्) हस्त चरण रहित है इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से रहित है। पुनः नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म और जो भूतयोनि है धीरगण उस को अदृश्यादि धर्मों से युक्त देखते हैं। पुनः-

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्"

जैसे मकरा सूत्र बनाता और समेट लेता है, जैसे पृथिवी में औषधियां बनस्पति वृक्षादिक होते हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम होते हैं वैसे ही इस अक्षर ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् होता है। और जो-

"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यज्ञानमयंतपः"

"जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिस का तप ज्ञानमय है" इत्यादि उपदेश अङ्गिरा ने शौनक से किया। इस पर सूत्र और भाष्य का जो आशय है उसको सम्वादरूप से दिखलाती हूं।

शिष्य-भगवन्! यहां अदृश्यत्वादि गुण वाला और भूतयोनि सांख्याभिमत प्रधान है अथवा जीव है अथवा परमेश्वर है। यहां प्रधान ही भूतयोनि है यह मुझे प्रतीत होता है। क्योंकि समस्त आकाशादि भूतों का जो योनि अर्थात् उपादान कारण है उस को भूतयोनि कहते हैं वह प्रकृति है ब्रह्म नहीं। और आगे अचेतनों का दृष्टान्त भी दिया है। यहां तीन दृष्टान्त हैं मकरा, पृथिवी और पुरुष। यदि कोई कहे कि ऊर्णनाभि (मकरा) और पुरुष ये दोनों चेतन हैं केवल पृथिवी अचेतन है। अतः दृष्टान्त में चेतन अचेतन दोनों का

ग्रहण है इस लिये अचेतन प्रकृति का ग्रहण नहीं हो सकता। यह दोष यहां नहीं क्योंकि केवल चेतन ऊर्णनाभि अथवा पुरुष शरीर सूत्र का और केश, लोम का कारण नहीं। किन्तु चेतनाधिष्ठित अचेतन जो ऊर्णनाभि शरीर वह सूत्र का कारण होता है। इसी प्रकार पुरुष शरीर केशलोमों का कारण होता है। इस लिये यहां अचेतन प्रधान ही भूतयोनि प्रतीत होता है।

और भी–वह नित्य कहा गया है क्या वह परिणामी नित्य है अथवा कूटस्थ नित्य है। दोनों नित्यताएं चेतन परमात्मा में संघटित न होंगी। क्योंकि–

परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मनास्तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते॥
जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिःप्रतीयताम्।
योनिशब्दोनिमित्तं चेत्कुतोजोवनिराक्रिया॥

सरूप (समान रूप वाले) का परिणाम वा विवर्त्त होता है चित्स्वरूप परमात्मा के साथ जड़ जगतों की सरूपता नहीं है अतः यहां जड़ प्रधान ही जगद्योनि है ऐसा समझना चाहिये। यदि कहो कि योनि शब्द निमित्त कारण परक है तो जीव जगत् योनि हो सकता है। भाव इस का यह है कि परिणाम समानरूप से होता है। जैसे ऊर्णनाभि की लाला (लार) का परिणाम तत्समान ही जाल है। बीज के समान ही वृक्ष परिणाम है। दूध के समान ही दधि परिणाम है। इसी प्रकार विवर्त्त भी विवर्त्तमान के सदृश ही होता है जैसे रज्जु में विवर्त्त सर्पादिक रज्जु के समान ही है। रज्जु में कुंजर का भ्रम कदापि नहीं होता। सुवर्णपिण्ड का परिणाम कदापि भी लूतातन्तु (मकरा का जाल) नहीं होता। तब अत्यन्त विरूप परमात्मा का परिणाम यह जड़ जगत् कैसे होगा इस हेतु जड़ प्रधान ही इस जड़ जगत् की योनि हो सकता है। इत्यादि शङ्का मेरे हृदय में उठ रही हैं। वेद भगवान् का परमार्थ

क्या है हम अज्ञानी पुरुषों को नहीं होना अतः इस का समाधानकीजिये।

श्रीशङ्कर-ऐसी २ शङ्का की निवृत्ति के लिये ही वेदान्त शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। श्री वेदव्यास इस उपलक्ष में कहते हैं कि:-

अदृश्यत्वादिगुण को धर्मोक्तेः। वे०१।२।२१

इसका आशय यह है कि जो यह अदृश्यत्व, अग्राह्यत्वादिगुणों से युक्त भूतयोनि है वह परमेश्वर ही है अन्य नही। कैसे यह ज्ञात होता है इसपर कहतेहैं कि (धर्मोक्तेः) क्योंकि परमेश्वर का ही ध उच्यमान यहां देखा जाता है। क्योंकि श्रुति यहां कहती है कि "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" अचेतन प्रधान का वा शरीरस्थ अतएव उपाधि-परिछिन्न जीवात्मा का सर्वज्ञत्व और सर्ववित्व संभवित नहीं। अतः भूतयोनि वाच्य ईश्वर है।

द्वितीय शङ्का इस प्रकार है कि प्रकरण में प्रथम अक्षर शब्द आया है और उसी को भूतयोनि कहा है। तत्पश्चात् "यः सर्वज्ञः" इत्यादि वर्णन है। अतः यहां यह विदित होता है कि भूतयोनि कोई अन्यवस्तु है और सर्वज्ञ कोई अन्य पदार्थ है। इस विभाग से भूतयोनि प्रधान और सर्वज्ञ परमात्मा है। इस प्रकार के व्याख्यान से सुसमन्वय हो सकता है। इस शङ्का का उत्तर है कि यह संभव नहीं क्योंकि "अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" इस वाक्य से प्रकृत भूतयोनि को दिखला अनन्त वाक्यों से भी उसी को सर्वज्ञ कहती है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते॥

इस निर्देश की समता से प्रत्यभिज्ञायमान प्रकृत अक्षर को ही भूतयोनि कहकर उसमें सर्वज्ञत्वादि धर्मों का निर्देश श्रुति करतीहै। पुनः जो यह शङ्का की जाती है कि इसी मुण्डकोपनिषद् में आगे कहा है कि " अक्षरात् परतः परः " अक्षर से भी वह पर है यह कैसे-यहां भी प्रकृत भूतयोनि अक्षरसे पर अन्य कोई नहीं कहा जाता, कैसे यह जाना जाता है। इस पर कहते हैं कि-

"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"।

इस वाक्य से प्रकृत अक्षर को ही भूतयोनि, कह अदृश्यत्वादि गुण उस में स्थापित करते हैं। अक्षर ही यहां प्रतिज्ञात है। तब "अक्षरात् परतःपरः" यह वाक्य कैसे कहा जाता है। इस का उत्तर सूत्र में कहूंगा।

यहां भूतयोनि परमात्मा है इस में सन्देह किञ्चित् भी नहीं। निरर्थक सन्देह उठाया गया है क्योंकि आदि में ही कहा गया है कि "दो विद्याएं जाननी चाहियें" यह कह कर आगे कहते हैं कि एक अपराविद्या। दूसरी पराविद्या ऋग्वेदादि अपराविद्या है और पराविद्या वह है जिससे अक्षर का ज्ञान होता है। अतः पराविद्या का विषय यहां अक्षर है। अब विचारना चाहिये कि यदि परमेश्वर से भिन्न अदृश्यत्वादिगुणवाला अक्षर हो तो वह पराविद्या कदापि नही कही जासकती। विद्या का जो यह परा अपरारूप विभाग किया गया है वह अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिये है। प्रधान॰ विद्या का फल कहीं भी निःश्रेयस नही कहा गया है और तब तीन विद्याओं के ज्ञान की प्रतिज्ञा होनी चाहिये क्योंकि तुम्हारे पक्ष में भूतयोनि अक्षर से पर परमात्मा का कथन है। किन्तु "द्वेएवतुविद्ये वेदितव्ये" ऐसी ही प्रतिज्ञा है। पुनः "हे भगवन् किस एक के विज्ञान से यह सब विदित होता है" एक प्रश्न पूछा गया है। वह एक विज्ञान से सर्वज्ञानका होना केवल ईश्वरमें ही घट सकेगा अचेतन प्रधान में अथवा जीवात्मा में नही। और भी–

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।

उसने सर्वविद्याओं की प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा से कहा। यहां ब्रह्म विद्या का आरंभ कर परापरविभाग से,

पराविद्या को अक्षर सम्बन्धिनी दिखलाते हुए वह पराविद्या ब्रह्म विद्या है यह दिखला रहे हैं। इसी पराविद्या से अक्षर का अधिगम कहा है यदि यह अक्षर कोई दूसरा हो तब ब्रह्मविद्या का बोध होजायगा। ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये ही ऋग्वेदादिकोंको अपरा- विद्या नाम से पुकारते हैं क्योंकि वे सब ऋग्वेदादि कर्म परक हैं। कर्म को अश्रेष्ठता वहां दिखलाई गई है यथाः—

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तम- वरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापयन्ति। मुण्डक।

ये यज्ञरूप नौकाएं अदृढ़ हैं जिन में १६ सोलह ऋत्विक्, एक यजमान और यजमान पत्नी मिल कर अष्टादश कार्य्यकर्ता होते हैं और वे अवर अर्थात् ज्ञानापेक्षा अतिनिकृष्ट हैं, जो मूढजन इसी कर्म को मुक्तिप्रद समझते हैं वे जन्म मरणप्रवाह में सदा गिरते रहतेहैं।

इत्यादि निन्दावाचक वहां ही उक्त हैं तब अपरा विद्या की निन्दा कर विरक्त सन्यासी के लिये परा विद्याका अधिकार दिख- लाते हैं। यथा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोनि- र्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ मुण्ड०।

कर्मसञ्चित लोकों की पूरी परीक्षा कर ब्राह्मण उन से वैराग्य ही रक्खे क्योंकि कर्म से वह मुक्तिभागी नहीं हो सकता। उस ब्रह्मके ज्ञान के लिये समित्पाणि हो ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट पहुंचे।

यहां कर्मों से ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण सदा विरक्त रहे यह एक उपदेश है। दूसरा उपदेश इस में यह है कि विरक्त होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप पहुंच ब्रह्म का उपदेश नम्रता से लेवे।

अब जो यह शङ्का की गई थी कि अचेतन पृथिवी आदिकों के दृष्टान्त दिए गए हैं इसहेतु दार्ष्टान्तिक को भी अचेतन होना चाहिये वही अचेतन भूतयोनि है। यह दोष वास्तव में अदोष है क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों समान हों यह कोई नियम नहीं। और इस पर ध्यान दो कि पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों का दृष्टांत दिया गया किन्तु दार्ष्टान्तिक भूतयोनि स्थूल ही अपेक्षित नहीं है। इस हेतु अदृश्यत्वादिगुणक भूतयोनि परमेश्वर ही है।

अब जो एक यह शङ्का की गई थी कि सारूप्य में परिणाम वा विवर्त होता है। यहां चेतन, शुद्ध कहा है अतः उस का विवर्त अचेतन अशुद्ध यह जगत् कैसे इसका समाधान इसप्रकार होता है-

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥

अपरिणामी ब्रह्म का यह प्रपञ्च विवर्त है इस में सन्देह नहीं। अनादि वासना से उद्भूत जो यह प्रपञ्च वह सरूपता की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि सब ही विभ्रम बाह्यसारूप्यके कारण से ही होता है यह कोई नियमनिमित्त नहीं। किन्तु आन्तर जो काम, क्रोध, भय, उन्माद और स्वप्नादिक जो मानसिक अपराध हैं वे सारूप्य की अपेक्षा न करके अनेक विभ्रमों को बनाया करते हैं यह लोक में अतिप्रसिद्ध है। और भी-हेतुयुक्त विभ्रम में हेतुका अन्वेषण होसकता है किन्तु अनादि विद्या की वासना के महाप्रवाह में पतित यह प्रपञ्च है। इसके लिये सारूप्यका प्रश्न नहीं हो सकता। इसहेतु परमात्मा का विवर्त यह प्रपञ्च है और इसी कारण इस का यह योनि है यह सिद्ध होता है। इति संक्षेपतः।

वक्ष्यमाण कारण से भी परमेश्वर ही भूतयोनि है अन्य अचेतन प्रधान अथवा जीव नहीं क्योंकि व्यासदेव कहते हैं कि:-

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। वे०१।२।२२

(विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्) प्रकृत भूतयोनि को शरीर=जीव से विलक्षण कहते हैं। वहां ही लिखा है कि:-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। मु०। २।१।२

वह परमेश्वर दिव्य, अमूर्त, पुरुष=पव शरीररूप पुरी में रहने वाला बाह्य और अभ्यन्तर भी वही है। वही अज, अप्राण, अमनस्क और परम शुद्ध है।

इत्यादि विशेषण इस शरीर (जीव) में कैसे घट सकते हैं क्यों कि अविद्या से परिकल्पित जो नाम और रूप इन दोनो से यह शरीर परिछिन्न है और अविद्या कृत धर्मों को अपने में यह जीवात्मा मान लेता है अतएव यह अल्पज्ञ परिछिन्न अशुद्ध जीव दिव्यत्वादिगुणक नहीं हो सकता। अतः यहां साक्षात् औपनिषद पुरुष ही भूतयोनि कहा गया है। तथा प्रधान को भी इस परमेश्वर से भिन्न बतलाते हैं। यथा "अक्षरात्परतः परः"। अव्याकृत, नाम रूप बीजशक्ति संयुक्त, ईश्वराश्रय भूतसूक्ष्म को यहां अक्षर कहते हैं और उसी का उपाधिभूत और सर्व विकार से पर जो अविकार है वह उस अक्षर से पर और उस से भी पर परमेश्वर है। इस वर्णन से विस्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि प्रधान से भी परमेश्वरवाच्य भूत योनि का भेद है। पुनः—

रूपोपन्यासाच्च ॥ वेदा० १।२।२३

"अक्षरात्परतः परः" इस के अनन्तर "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि वचन से पृथिवी पर्यन्त तत्वों की सृष्टि कह कर उसी भूत योनि के सर्वविकारात्मक रूप का उपन्यास करते हैं यथा-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रं वाग्विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणोहृदयंविश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषु सर्वभूतान्तरात्मा॥ मु० २।१।४

उस अन्तरात्मा परमेश्वर का मूर्धा द्युलोक है। नेत्र सूर्यचन्द्र हैं, श्रोत्र दिशाएं हैं, वाणी वेद है, प्राण वायु है, हृदय यह जगत् है, पैर पृथिवी है। यही सर्वभूतान्तरात्मा परमेश्वर है। यह रूपोपन्यास केवल परमेश्वर में ही घट सकेगा इतर प्रकृति अथवा शरीर में नहीं।

श्रीरूपकुमारी–ऐ पुत्रियो! इस प्रकार उपनिषद् के एक एक शब्द की विवेचनामें अनेक सूत्र और उनका सविस्तर शांकर भाष्य और उस भाष्य के ऊपर भी भामतिप्रभृति अनेक टीकाटिप्पणी की गई है। वे अध्ययन अध्यापन के लिये परमोपयोगी हैं किन्तु सब का अन्तिम फल केवल आत्मसाक्षात्कार है। यदि इन नाना उपायों से भी वह परमप्रिय आत्मा उपलब्ध न हुआ तोये सब साधन व्यर्थ ही होंगे। केवल गुरुमुख से सुन लेने मात्र से ज्ञाननहीं होता किन्तु श्रवण, मनन, और निदिध्यासन से और इन के उपयोगी शम, दम, तितिक्षा इत्यादि और यमनियम ईश्वरप्रणिधानादिक सर्वथा आकांक्ष्य और धार्य हैं आस्तिकों के सहस्रशः ग्रन्थों से परमेश्वर ही जगत्कारण सिद्ध किया गया है। अब दो एक नामों की और भी व्याख्या सुनो॥

इति भूतयोनिनामविवेकः समाप्तः।

अथ अत्तृनामविवेकः।

जैसे श्रोतृ से श्रोता, धातृ से धाता इत्यादि शब्द कहे जाते हैं तद्वत् अतृ शब्द से अत्ता कहा जाता है। इसका भक्षिता, भक्षयिता, भोक्ता, संहर्ता इत्यादि अर्थ है। "अद्भक्षणे"=भक्षणार्थक अद्धातु से अत्ता बनता है। अत्ता नाम भी परमात्मा का है। यदि इस शब्द का केवल प्रख्यात भोक्ता अर्थ लिया जाय तो वास्तव में जीववत् परमात्मा भोक्ता नहीं क्योंकिः–

" अनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति"

इस श्रुति से वह अभोक्ता सिद्ध होता है किन्तु उपचार से यदि

परमेश्वर में अतृत्व कल्पित किया जाय तो वास्तवमें वही अत्ता अर्थात् भक्षक है। क्योंकि वही पुनः २ सृष्टि रचता और उसका संहार भी कर लेता है। अतः सङ्हर्तृत्व रूप से वह भोक्ता है। इस से बढ़ कर दूसरा अत्ता ही कौन? अग्नि, जीव, भी अत्ता कहलाते हैं सही किन्तु जो भुवन का अत्ता है उस के निकट ये क्षुद्र अग्नि और जीव क्या हैं। उपनिषद् के जिस प्रकरण से यह विषय उत्थित हुआ है प्रथम उस का श्रवण करो। वह यह है:-

यस्यब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेद यत्र सः॥

जिस परमात्मा का ओदन ब्राह्मण और क्षत्रिय होते हैं और सर्व प्राणियों का मारक मृत्यु ही जिस के ओदन पर घृत समान उपसेचन होता है वह आश्चर्य्यरूप भोक्ता कौन है उसको इस रूप से कौन जानता है।

यह कठवल्ली उपनिषद् का वचन है। यहां शङ्का हो सकती है कि यह वर्णन कदाचित् अग्नि का हो क्योंकि "अग्निरन्नादः", अग्नि अन्न का भोक्ता कहा गया है। अथवा जीव का ही यह निरूपण हो क्योंकि "तयोरन्यः पिप्पलम् स्वाद्वत्ति" परमेश्वर और जीव इन दोनों में से जीव ही सुख दुःख फलों को खाता है। इत्यादि सन्देह की निवृत्ति के लिये वेदव्यास सूत्र रचते हैं कि—

अत्ता चराचर ग्रहणात्। वेदान्त १।२।९।

समस्त जगत् का संहारकर्ता केवल वह परमदेव है। अतः वही अत्ता हो सकता है अन्य नहीं। और भी देखो-ब्राह्मण और क्षत्रिय येही दो वर्ण सर्वत्र प्रख्यात हैं। ज्ञान विज्ञानादि से युक्त ब्राह्मण और शौर्य, बलादि गुणों से समेत क्षत्रिय कहलाता है। ये दोनों जिसके ओदन (भात) हों वह परमेश्वर ही हो सकता है क्योंकि इनके गर्व का विध्वंस समय २ पर वही किया करता है। और भी-मृत्यु जिस का उपसेचन (घृत आदि) हो वह कौन है? वह ईश्वर ही है अन्य नहीं और इसी का प्रकरण भी है। यथाः—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।

न वह जन्मता न वह मरता वही सर्व द्रष्टा विज्ञानी है । अतः अत्ता नाम भी परमेश्वर का है । इस पर विचार करो ।

इति अत्तृनामविवेकः समाप्तः

अथ अन्तर्यामिनामविवेकः ।

श्रीरूपकु०-हे पुत्रियो ! अनन्त नामों में से एक अन्तर्यामी नाम भी परमात्मा का है । जो सर्वजगत् के भीतर रह कर सबको कार्य्य में लगावे अर्थात् जो सब का प्रेरक हो उसे अन्तर्यामी कहते हैं । अन्तः = अभ्यन्तर । यामी = प्रेरक, शासक, कराने वाला, भ्रमयिता, कारयिता इत्यादि । जो सबके भीतरमें स्थित होकर प्रेरक हो वह अन्तर्यामीहै। यह नाम परमेश्वर का है । श्रुति में जिस प्रसंग से इस का प्रयोग आया है प्रथम उसका श्रवण करो । उससे आत्मा पवित्र और ईश्वराभिमुख होगा । वह प्रसंग इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में आम्नात है:-

" अरुणपुत्र उद्दालक ने जनक महाराज की महासभा में याज्ञवल्क्य से यों पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! हम सब कतिपय विद्यार्थी कपिगोत्रोद्भव पतञ्चल के गृह में निवास करते थे और उनसे ही यज्ञविद्या का भी अध्यन कर रहे थे । वे काप्य पतञ्चल मद्रदेश के रहने वाले थे उनकी भार्य्या भी किसी उत्तम गन्धर्व अध्यापक से पढ़ती थी । वह अथर्वा का पुत्र था नाम उसका कबन्ध था । उस गन्धर्व अध्यापक ने एक समय किसी प्रसङ्ग से काप्य पतञ्चल को तथा हम लोगों को भी पूछा कि आप लोग क्या उस सूत्र को जानते हैं-

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति । बृ० ३ । ७।१।

जिस से यह लोक, और लोक और सब पृथिव्यादिभूत ग्रथित हैं ।

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतःश्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥

अदृष्ट और द्रष्टा है, अश्रुत और श्रोता है, जो अमत और मन्ता है, जो अविज्ञात और विज्ञाता है, इस से अन्य द्रष्टा नहीं, इस से अन्य श्रोता नहीं, इस से अन्य मन्ता नहीं, इस से अन्य विज्ञाता नहीं, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस आत्मविज्ञान से भिन्न विज्ञान दुःखप्रद है। याज्ञवल्क्य का उत्तर सुन आरुणि उद्दालक चुप हो गया। इत्यादि वर्णन यहां है।

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि अधिदैवत, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म इन सब का वर्णन है। यद्यपि यहां भी शङ्का करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो सब में स्थित है वह परमात्मा ही हो सकता है अन्य नहीं। और भी-जो किसी से न देखा जाय, सब को देखे इत्यादि अदृष्टत्व द्रष्टृत्व अश्रुतत्व श्रोतृत्व आदि धर्म उसी परमेश्वर में घट सकते हैं। तो भी शङ्कासमाधान करके-

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।

इत्यादि सूत्रों और भाष्य द्वारा यही सिद्ध किया गया है कि यह अन्तर्यामी परमेश्वर ही है।

उपदेश

इस अन्तर्यामी शब्द से हम कौनसे उपदेश ग्रहण करसकती हैं, इस पर थोड़ासा विचार किया जाता है। प्रथम यह प्रत्यक्ष है कि परमेश्वर सब में स्थित है और वही हमारा भी आत्मा है इस से भी अभेद ही सिद्ध होता है। किन्तु इस से एक अन्य संशय यह

उत्पन्न होता है कि जब वही उर प्रेरक है तो जीव को पाप पुण्य क्यों होना चाहिये। यह शङ्का भी व्यर्थ ही है क्योंकि यह जीव भी तो उस परमात्मा से भिन्न नहीं केवल घटाकाश और महाकाश के समान भेद है वास्तव में नहीं। बारंबार मैं कह चुकी हूं कि यह जीव अविद्या में फंसकर अपने स्वरूप को भूल "मैं सुखी, मैं दुखी हूं" इत्यादि व्यवहार भाग होता है। निःसन्देह जब यह जीव अपने उपाधियों को जान लेगा तब यह संसार ही इस के साथ न होगा। पुनः पुण्य पाप का विभाग ही क्या और जीवही क्यों पुण्यपापकरे।

अब ईश्वर की प्रेरकता की ओर ध्यान दो। सब मनुष्य ही समान क्यों न होते। यदि कहो कि देश, काल, अवस्था, परिस्थिति और उद्योग आदि अनेक कारण हैं जिन से मनुष्य जाति में इतनी भिन्नता पाई जाती है। इस पर मैं पूछती हूं कि किसी को परमोद्योगी बनने की उत्कट इच्छा होती है और कोई आलसी निरुद्योगी सदा बना रहता है। एक ही गृह में प्रत्येक भ्राता का भिन्न २ विचार और भिन्न २ कर्म देखते हैं, यह भेद क्यों ? अतः वही प्रेरक है इस में सन्देह नहीं। तब यदि कहो कि व्यभिचारी, लम्पट और बालघाती आदि महापातकी क्यों दण्डनीय हों। हे पुत्रियो ! इसी को समझना चाहिये। अरे ! यह तो देखो किस की प्रेरणा से दण्ड शास्त्र की रचना हुई। कहना पड़ेगा कि इस का भी तो प्रेरक वह परमेश्वर ही है। अतः दण्ड्य पुरुष को दण्ड भोगना इत्यादि सर्व लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है।

तब यदि कोई प्रश्न करे कि मैं आज से सकल व्यवहार से उपरत हो बैठ जाता हूं। देखें ईश्वर कैसे मुझ को कार्य्य में लगाता है और उस की प्रेरणा भी कैसे होती है। इस का भी समाधान सहज है। क्योंकि उस की ऐसी बलवती प्रेरणा है कि वह किसी को एक क्षण बैठने नहीं देती। पशुपक्षियों को देखो ! यदि परीक्षार्थ मनुष्य बैठ भी रहे तौ भी आन्तरिक क्रिया अवश्य होती रहेगी और क्षुधा पिपासा ये दोनों ऐसी बलवती प्रेरणाएं हैं कि बड़े २ विज्ञानी और

योगी को भी नचाया करती हैं। तुम सब देखती हो कि विश्राम सब ही प्राणी करना चाहते हैं किन्तु करते नहीं। मरण क्षण तक लोग चिन्तानिमग्न रहते हैं अनेक मुमूर्षुजन मृत्यु समय रोने लगते हैं जब तक कण्ठावरोध नहीं होता तब तक पुत्र पौत्रादिकों को कुछ समझाते रहते हैं। ईश्वरीय माया अत्यन्त प्रबला है। उस से कोटियों में एक ही आध बच जाता है।

एवमस्तु। इस शब्द से विशेष शिक्षा यह लेनी चाहिये कि हम मनुष्य भी अपने अबोध भाइयों को सुकर्ममें लगाया करें और जहां तक हो ज्ञान विज्ञान के प्रसार में बहुत तत्पर रहें। लोगों के दुःख हरणार्थ पाठशाला, चिकित्सालय, व्यापार, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य इत्यादि की उन्नति के लिये मनुष्यों को प्रोत्साह न देवें। इन सबसे बढ़कर लोगो को परमार्थ की ओर आने के लिये भूयोभूयः प्रेरणा किया करें और मन में सदा यह ध्यान रक्खें कि हमारे निखिल क्रियमाण कर्मों को वह आत्मस्वरूप अन्तर्यामी देखता है। यदि दुष्कर्मों से हम निवृत्त न रहे तो अत्यन्त अधःपतन अवश्यम्भावीहै अतः सर्वभाव से उस की शरण में अपने को समर्पित करकेंव्यावहारिक अथवा पारमार्थिक कार्य्य करते रहें।

इति अन्तर्यामीनामविवेकः समाप्तः

अथ गुहाप्रविष्टनाम विवेकः

श्रीरूपकुमारी—कठवल्ली उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन आता है कि:—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ॥
छायातपौ ब्रह्मविदोवदन्ति ।
पञ्चाग्नयो येच त्रिणाचिकेताः ॥

(परमे) उत्कृष्ट (परार्धे) हृदय में स्थित जो गुहा उस (गुहाम्) गुहा में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट दो पदार्थ हैं। जो (सुकृतस्य) सुकर्म के (लोके) लोक में अर्थात् सुकर्मसे प्राप्त इस देह में (ऋतम्) अवश्यंभावी कर्मफल को (पिबन्तौ) भोगते हुए वर्तमान हैं। इन दोनों को (ब्रह्मविदः) ब्रह्म वादी गण और (पञ्चाग्नयः) कार्मिकगण और जो (त्रिणाचिकेताः) त्रिणाचिकेत हैं वे सब (छायातपौ) छाया और आतप के समान (वदन्ति) भिन्न २ कहते हैं। परार्ध = पर = परमात्मा। अर्ध = स्थान। परमात्मा का जो स्थान उसको परार्ध कहते हैं। यह हृदय भी परमेश्वर का स्थान है अतः यह भी परार्ध कहाता है। त्रिणाचिकेत = नाचिकेत अग्निको जो तीनस्थानों में स्थापित करे वह त्रिणाचिकेत। अर्थात् नाचिकेत वाक्यों का अध्ययन, तदर्थज्ञान और तदनुष्ठान इन तीनों से तात्पर्य है। यहां पर इस प्रकार शङ्का और समाधान होता है।

शिष्य-भगवन्! यहां यह सन्देह होता है कि बुद्धि और जीव यहां कहे गए हैं अथवा जीव और परमात्मा। इन दोनों पक्षों में से कौन पक्ष समीचीन है। यदि बुद्धि और जीव। तब इस कार्य्य कारण समूहात्मक बुद्धियुक्तशरीर से जीव भिन्न है यह भी दिखलाना चाहिये क्योंकि श्रुति कहती है किः-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥

हे यम! मनुष्य समाज में जो यह जीवात्मसम्बन्धी संशय है कि कोई कहते हैं कि यह जीव शरीर से भिन्न है और कोई कहते हैं कि इस शरीर से पृथक् जीव नहीं है। इस विषय को भी मैं आप से जानना चाहता हूं यह मेरा तृतीय वर है। यहां बुद्धिविशिष्ट शरीर से भिन्न आत्मसम्बन्धी प्रश्न है।

यदि गुहा प्रविष्ट जीव और परमेश्वर अभिप्रेत हो तो जीव से

विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है इस को भी विस्पष्टरूप से दिखलाना चाहिये। क्योंकिः-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

जो धर्म, अधर्म, कृत, अकृत, भूत और भविष्यत् इत्यादि सबसे विलक्षण हो उसको आप देखते हैं। उसका उपदेश मुझको कीजिये। इत्यादि वर्णन से जीव विलक्षण ईश्वर सिद्ध होता है। यहां आक्षेप कर्ता कहते हैं कि यहां दोनों पक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि ऋतशब्द का अर्थ कर्मफल है उसका पान चेतन जीव करता है अचेतना बुद्धि नहीं। किन्तु " पिबन्तौ " यह द्विवचनान्त है। दोनों पी नहीं सकते अतः बुद्धि और जीव नहीं हो सकते। इसी कारण परमात्मा और जीव भी नहीं हो सकते। क्योंकि परमात्मा यद्यपि चेतन है तथा कर्मफल भोक्ता वह नहीं। श्रुत्यन्तर में कहा है " अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " न खाता हुआ वह सब देख रहा है। यदि इस पर कोई कहे। जैसे एक राजा छत्रलगाकर चलता है वहां लोग कहते हैं कि " छत्रिणोगच्छन्ति " सब छत्रवाले जाते हैं। समस्तराजसमाज में छत्रित्वका आरोप करके वैसा प्रयोग करते हैं। तद्वत्उपचार से एक पीने वाले के साथ द्वितीय भी पीने वाला समझा गया है। यद्वा जीव पीता है उसको ईश्वर पिलाता है। पाययिता (पिलाने वाला) भी पाता (पीने वाला) कहलाता है यह लोक व्यवहार है। पकवाने वाले को भी पकाने वाला कहते हैं। इसी प्रकार बुद्धि और जीव भी अर्थ हो सकते हैं यद्यपि जीवकर्ता और बुद्धि करण है तथापि करण में भी कर्तृत्व का कथन होता है। जैसे " एधांसि पचन्ति " इन्धन पकाते हैं। यह संस्कृतप्रयोग होता है और अध्यात्माधिकार में दो अन्य नहीं कहे जा सकते। अतः या तो यहां बुद्धि और जीव का या जीव और परमात्मा का ग्रहण हो सकता है।

किन्तु मुझको बुद्धि और जीव ये ही दोनों यहां अभिप्रेत हैं यही समीचीन पक्ष प्रतीत होता है क्योंकि 'गुहा में प्रविष्ट' ऐसा विशेषण यहां उक्त है। गुहा शरीर हो अथवा हृदय हो दोनों प्रकारों से गुहा में प्रविष्ट जीव बुद्धि हो सकती है। जब यह अर्थ सुसंगत हो सकता है तब सर्वगत ब्रह्म का एक देश में स्थान कल्पना करना उचित नहीं। यहां सुकृत और दुष्कृत लोक में ये दोनों कर्मफल भोगते हैं ऐसा भी कहा है किन्तु परमात्मा इन दोनों से रहित है।

"नकर्मणा वर्धते नो कनीयान्"

वह कर्मसे न बढ़ता और घटता है इत्यादि श्रुति प्रमाण है। और छाया और आतप ये दोनों शब्द चेतनत्व अचेतनत्वरूप विलक्षणता दिखलाते हैं। इस कारण बुद्धि और जीवका ग्रहण यहां समीचीन है। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये-

गुहां प्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात्। वेदा०१।२।११

इस सूत्र को व्यास रचते हैं। भाष्य में शङ्कराचार्य्य कहते हैं यहां विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा का ही ग्रहण है क्योंकि वे दोनों चेतन आत्मा समानस्वभाव वाले हैं जहां संख्या श्रवण होता है वहां समान स्वभाव वालों में ही प्रतीति होती है। जैसे इस बैल का जोड़ा दूसरा खोजो। यहां द्वितीय बैल को ही लोक अन्वेषण करते हैं। अश्व वा गजका अन्वेषण नहीं होता इस कारण ऋतपान से जीवात्मा की सिद्धि होने पर द्वितीय की अन्वेषणा में समान स्वभाव चेतन परमात्माही होगा अन्य नहीं। यदि कहो कि सर्वगतपरमेश्वर की हृदय देशमें स्थिति की कल्पना अन्याय है तो यह दोष नहीं। गुहा में प्रवेश के दर्शन से ही परमेश्वर सिद्ध होता है क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में गुहाप्रविष्ट परमेश्वर को वारम्वार कहा है। यथा—

१—गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। कठ० १।२।११

२—यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्। तै०२।१

२—आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम् ॥

इत्यादि अनेक वचनों में परमात्मा को गुहा में प्रविष्ट कह रहे हैं, इस हेतु सर्वगत परमात्मा का भी स्थान उपासना के लिये हृदय देश में कहा गया है तो कोई क्षति नहीं और सुकृत लोक में दोनों का रहना "छाते वाले जाते हैं" इस न्याय के समान हो सकता है। इस कारण विज्ञानात्मा और परमात्मा का ही यहां ग्रहण है। और भी—

विशेषणाच्च ॥ वेदा॰ १। २। १२

यहां उन दोनों के विशेषण भी आगे कहे गए हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ॥

इत्यादि उत्तर ग्रन्थ से आत्मा को रथी और इस शरीर को रथ इस लिये कहा है कि संसार मोक्षके पार और पाने वाला जीवात्मा है पुनः—

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्।

वह जीवात्मा मार्ग का पार पहुंचता है वही परमात्मा का परमपद है। यहां गन्ता जीवात्मा और गन्तव्य परमात्मा है तथा—

तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

धीरबुद्धिमान् विद्वान् यागादिद्वारा उस देवको जानकर हर्ष और शोक त्याग देते हैं। जो अत्यन्त दुर्दर्शनीय, गूढ, सब में प्रविष्ट गुहा में स्थित, चिरन्तन और नित्यत्वादि गुण युक्त है। यहां देखती हैं कि मन्ता जीवात्मा और मन्तव्य परमेश्वर है। येही दोनों पूर्व प्रसङ्ग में भी कहे गए हैं। अतः जीव और परमात्मा का ही यहां ग्रहण है अन्य का नहीं इसी प्रकार—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"

इत्यादि स्थलों में सङ्गति लगानी चाहिये।

उपदेश

श्रीरूपकुमारी—ऐ पुत्रियों! इस महाप्रविष्ट शब्द का व्याख्यान और शङ्का समाधान आदि सूत्र और भाष्य के अनुसार दिखलाया गया है। किन्तु इस परमात्मावाची शब्द से तुम कौनसी शिक्षा ग्रहण करती हो। यहां पुनः उस अन्तर्यामी शब्द का स्मरण करती आओ। जो परमेश्वर हमारे हृदय में व्यापक है वह क्या हमसे भिन्न है नहीं कदापि नहीं जो यहां भेद दिखला करके द्विवचनान्त शब्द आया है। वह केवल उपाधिमात्र भेद है। घटाकाश और महाकाशवत्। अब आगे देखो। श्रुति इस प्रकार सर्वव्यापी को अल्पदेशस्थित क्यों कहती है इस पर ध्यान देना चाहिये। जब वह सर्वगत है तब हमारे हृदय में भी है यह श्रुति का कथन सर्वथा उचित ही है किन्तु ऐसे २ वर्णन पर अधिक विचार क्योंकर किया गया है। इस में सन्देह नहीं कि श्रुति के अनेक भाव हैं। यहां एक-दो आशय बतलाए जाते हैं। १-प्रथम जब परमेश्वर हमारे हृदय में ही स्थित है तो इस का अन्वेषण अन्यत्र करना अज्ञानियों का काम है। जैसे हमारे प्राण; वाणी और आत्मादिक में वह स्थित है वैसे ही सूर्य्य चन्द्र, तारका, पृथिवी आदि में भी वह स्थित है। तब इसकी प्राप्ति के लिये सूर्य्यादिक प्रतीक में उस की उपासना क्यों की जाय और सूर्य्यादि देवताओं की अपेक्षा से मनुष्य-शरीर सर्वथा श्रेष्ठ है। यह कई स्थलों में उपदिष्ट हुआ है। इसीकारण तब अन्यत्र जगन्नाथादिक तीर्थों में उसकी अन्वेषणा करनी भी वैसी ही अज्ञानता है। अतएव वारंवार श्रुति कहती है कि इस आत्मा से अन्यत्र अन्वेषण करने वाले अज्ञानी हैं। और अभेद सूचनार्थ "अहम् ब्रह्मास्मि" अयमात्मा ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का उपदेश किया गया है।

२-द्वितीय यह है कि परमात्मा सबके हृदय में स्थित होकर सब

के शुभाशुभ कर्म देखरहा है। हे मनुष्यों! तुम्हारे साक्षी स्वयं परमात्मा हैं अतः पाप कर्मों में मत प्रवृत्त हो। जब एक सज्जन धर्मात्मा, माता, पिता, आचार्य्य, गुरु, राजा, पुरोहित इत्यादि के समीप दुष्कर्म नहीं करते तब सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञाता परमात्मा के निकट क्योंकर पाप कर्म करने चाहियें। यहां वही शासक, वही साक्षी, वही दण्डविधाता, वही न्यायाधीश आदि है। अतः वारंवार श्रुति कहती है कि वह तेरे हृदय में स्थित है। ३–तृतीय बात यह है कि ये जीव और परमेश्वर समान, साथ रहने वाले, सखा इत्यादि भी कहे गए हैं। इस से जीवों को चितौनी दी जाती है कि ऐ जीवो! तुम्हारा परममित्र तुम्हारे साथ ही है। तुम क्योंकर सोचते और क्योंकर महादुःखसागरमें पतित हो। वहां ही वह परेशस्थित है उसको साक्षात् देख निज भ्रम दूर करो। इत्यादि अनेक उपदेश मिलते हैं। हे पुत्रियो! मनुष्य में कितनी अज्ञानता है इस का वर्णन कोई नहीं कर सकता। अपने आत्मा को अथवा तत्समीपस्थ परमात्मा को न जानकर इधर उधर मारे फिरते हैं। जो परमानन्दस्वरूप निज आत्मा है उस में आनन्द न ढूंढ कर पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, भोग विलास, आदिकों में सुख खोजते हैं। पुत्रियो! तुम गुहाप्रविष्ट आत्मा को जानो।

इति गुहाप्रविष्टनामविवेकः समाप्तः

अथ अङ्गुष्ठमात्रनाम विवेकः

श्रीरूपकुमारी–वेद के अनेक स्थानों में इस प्रकार उपदेश आता है:—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

तथा

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य सएवाद्य स उश्वएतद्वैतत्॥

शरीर के मध्य में अंगुष्ठमात्र पुरुष विद्यमान है। वह पुरुष

अंगुष्ठमात्र है, धूम रहित ज्योति के समान है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान का वह शासक है, वही आज, वही कल, वही सदा रहने वाला है। इत्यादि स्थल में जो यह अंगुष्ठमात्र शब्द आत्मा है वह जीवात्म वाचक है अथवा परमात्मवाचक है? यह संशय प्रायः सब को होगा। अतः इस का निर्णय वेदान्तशास्त्र में किस प्रकार है इस को संक्षेपरूप से यहां दिखलाती हूं। तुम सब मन को एकाग्र कर सुनो।

शिष्य–यहां अंगुष्ठमात्र परिमाण कहा जाता अतः विज्ञानात्मा जीव का ही प्रतिपादन प्रतीत होता है। क्योंकि अनन्त आयाम और विस्तारयुक्त परमेश्वर का अंगुष्ठमात्र परिमाण कहना सर्वथा अयुक्त है। जीवात्मा उपाधि परिच्छिन्न है अतः किसी कल्पना द्वारा उसको अंगुष्ठमात्र कह सकेंगे। यहां स्मृति भी कहती है।

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥

सत्यवान् के शरीर से यम ने बलात्कार उस अंगुष्ठमात्र जीवको निकाल लिया। इत्यादि प्रमाण से भी जीव ही प्रतीत होता है क्यों कि परमेश्वर को कोई भी खैंच नहीं सकता। हे गुरु! इस सन्देह की निवृत्ति कृपया आप करें।

श्रीशङ्कर–यहां अंगुष्ठमात्र शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है जीवात्मा का नहीं अतएव वेदव्यास कहते हैं–

शब्दादेव प्रमितः। वे॰ सू॰। १। ३। २४

वेद के प्रकरणस्थ शब्द से यहां अंगुष्ठमात्र ईश्वर ही है क्योंकि "ईशानो भूत भव्यस्य" भूत और भविष्यत् का वही शासक है ऐसा कहा है। परमेश्वर को छोड़ अन्य कोई भी भूत और भव्य का शासक नहीं हो सकता। और भी–वहां ही कहा गया है कि:–

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।

वह धर्म से, अधर्म से, कृत से, प्रकृत से, भूत से और भव्य से पृथक् है। हे यम आप कदाचित् उसको देखते हैं उसका उपदेश मुझको भी दीजिये। इत्यादि कठवल्ली उपनिषद् में जो वर्णन आया है। वह केवल ईश्वर में ही घट सकता है।

तब यदि पूछो कि सर्वगत ईश्वर का परिणामोपदेश कैसे? इस सन्देह को दूर करने के लिये वेदव्यास इस सूत्र को रचते हैं:-

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्। वेदा०१।३।२५

सर्वगत भी परमेश्वर का हृदय में स्थान है इस अपेक्षा से वह अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। जैसे किसी छिद्रगत आकाश को कहें कि यहां अति अल्पआकाश है। यदि कहो कि अनन्त जीवों के अनन्त हृदय हैं सब का हृदय तुल्य नहीं तब पुनः वह अंगुष्ठमात्र कैसे? इसके उत्तर में (मनुष्याधिकारत्वात्) यह कहते हैं। आशय इसका यह है कि यद्यपि सबके लिये शास्त्र प्रवृत्त है तथापि शास्त्र केवल मनुष्य के लिये ही है। क्योंकि यज्ञादि और उपासनादि यही कर सकता है। यही फलका प्रार्थी भी होता है। मनुष्य का काम नियतपरिमाण वाला है प्रायः उचितरूप से वही परिमाण होता है और शास्त्र में केवल मनुष्य का ही अधिकार सिद्ध होता है अतः मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से परमात्मा अंगुष्ठमात्र कहा गया है।

इति संक्षेपतः।

इति अंगुष्ठमात्रनामविवेकः समाप्तः।

अथ ज्योतिःस्वरूपनाम विवेकः

पुनः उपनिषदों में यह वर्णन आता है कि—

न तत्र सूर्यो भाति नचन्द्रतारकं-
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा-
सर्वमिदं विभाति। मु० २।२।१०।

इस का आशय यह है कि उसको सूर्य्य प्रकाशित नहीं करता, उसको चन्द्र और ताराएं भासित नहीं करतीं, उसको ये विद्युत भासित नहीं करती। तब यह क्षुद्र अग्नि वहां किस गणना में है। वही प्रकाशित हो रहा है। उसी के प्रकाश से सब ही प्रकाशित होते हैं। यहां भी संशय हो सकता है कि जिसके प्रकाश के पश्चात् सब प्रकाश पाता है वह कोई तेजोधातु है अथवा प्राज्ञ आत्मा है। यहां भी प्रायः प्रथम तेजोधातु ही कहा जायगा। क्योंकि तेजोधातु जो सूर्य्यादिक पदार्थ हैं उन के भान का वहां प्रतिषेध है। चन्द्र तारक आदि भी तेज स्वभाव वाले हैं। दिन में तेजोरूप सूर्य्य के भासमान होनेसे वे चन्द्र तारक आदि अभिभूत होकर भासित नहीं होते। तब जिसको भासमान होने से ये सूर्य्यादिक भी भासमान न होतेहैं अर्थात् अभिभूत होजातेहैं वह भी कोई महा-तेजस्वी धातुमय पदार्थ ही होना चाहिये। यहांभी यही निश्चय करना चाहिये कि वह परमदेव ही है। यद्यपि सूर्य्यादिवत् वह प्रत्यक्ष-रूप से प्रकाशित नहीं होता तथापि इस के आधार पर यह सम्पूर्ण जगत् है। वही सबका जीवन है। इसी प्रकार सूर्य्यचन्द्रादिक में भी उसी की शक्ति है जिससे वे भासरहे हैं "तेजोऽसितेजोमयि धेहि" इत्यादि प्रमाण से वही वास्तव में ज्योतिःस्वरूप है। सूर्य्यादिक में परमात्मा का ही तेज है। गीता कहती है—

न तद्भासयते सूर्य्यो नशशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

उस ब्रह्म को न सूर्य्य, न चन्द्र, न अग्नि, प्रकाशित करता है जहां जा कर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है। जो सूर्य्यगत तेज इस अखिल जगत् को भासित कर रहा है और चन्द्र और अग्नि में जो तेज है वह सब मेरा ही है। इतिसङ्क्षेपतः।

इसी प्रकार—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते वि-श्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोके ष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।

छा० ३। १३। ७

(यद्+ज्योतिः) जो ज्योति (अतः दिवः) इस द्युलोक से (परः) पर (दीप्यते) प्रदीप्त हो रहा है। जो (विश्वतः+पृष्ठेषु) सब के ऊपर स्थित है (अनुत्तमेषु) सब से उत्तम लोकों में और उत्तम लोकों में प्रकाशित हो रहा है वह ज्योति यह है जो पुरुष के अभ्यन्तर में स्थित है।

इत्यादि स्थलों में भी ज्योतिः शब्द से उसी परमात्मा का ग्रहण है। इस पर "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादि वेदान्त सूत्रों को देखो। यहां मैं अनेक ईश्वरीय नामों की व्याख्या दिखलाकर ईश्वर का स्वरूप बतलाआई हूं इनसब पर अधिकमनन करने से ही ईश्वरीय महिमा प्रतीत होती है। वेदान्तशास्त्र पितृस्वरूप होकर सब को, उत्तम उपदेश देकर मुक्ति की ओर लेजाना चाहता है। जो कुछ इस में है और जो कुछ इस से पर है वह सब ही ईश्वर का ही अंश है यह निश्चय समझो।

इस प्रकरण में भूमा, वैश्वानर, आकाश, प्राण, अक्षर, भूतयोनि, अन्तर्यामी, अत्ता, अंगुष्ठमात्र और गुहाप्रविष्ट आदि अनेक नामों की व्याख्या की है ये नाम विशेष कर वेद से सम्बन्ध रखते हैं इस के अतिरिक्त आनन्दमय, विज्ञानमय, इन्द्र, यम, अग्नि, मित्र, वरुण आदि भी बहुत से नाम हैं। महाभारत में विष्णु के एक सहस्र नाम कहे गए हैं। तन्त्रादिकों में भगवतीके नाम एक एक सहस्र गिनाए गए हैं। जितनी मानव भाषाएं इस पृथिवी पर हैं उतने नाम भी ईश्वर के होंगे इस में भी सन्देह नहीं। अपनी २ भाषा में कविगणों ने अच्छे २ नाम ईश्वर के बनाए हैं। पृथिवीस्थ सब ही मनुष्य इस

ईश्वर का गुण किसी न किसी नामसे गाते हैं किन्तु वेदान्तशास्त्र का विलक्षण सिद्धान्त है। वह नाम और रूप को कल्पित मानता है। केवल नाम से इस का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। स्वरूप ज्ञान से प्रयोजन सिद्ध होता है यह वेदान्तका परमार्थ है। अतः किसी प्रकार आत्मबोध करो इस आत्मा को न गिराओ॥

इति श्री रूपकुमारी कृते वेदान्त-
पुष्पाञ्जली चित्स्वरूपविवेकः
समाप्तः।